

ब्रह्मसूत्राणि ।

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

~~~~~

ग्रन्थाङ्कः ६७

ब्रह्मामृतवर्षिणीशंकरानन्दकृतदीपिकाभ्यां समेतानि

## ब्रह्मसूत्राणि ।

~~~~~

एतत्पुस्तकम्

आनन्दाश्रमस्थपण्डितैः संशोधितम् ।

तच्च

हरि नारायण आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्धुद्रयित्वा

प्रकाशितम् ।

~~~~~

वाहनशकाब्दाः १८३३

साब्दाः १९११

पुण्याख्यपत्तने



## आदर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।



अस्या ब्रह्मामृतवर्षिण्याः शंकरानन्दकृतदीपिकायाश्च पुस्तकानि यैः  
परहितैकपरतया संशोधनार्थं दत्तानि तेषां नामादीनि संज्ञाश्च कृतज्ञ-  
तया प्रकाश्यन्ते

( क. ) इति संज्ञितम्—आनन्दाद्यमस्थम् ।

( ख. ) इति संज्ञितम्—इन्दूरपुरनिवासिनां रा० रा० किवेसाहेब इत्येते-  
षाम् ।

( ग. ) इति संज्ञितम्—वे० शा० रा० रा० वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर इत्ये-  
तेषाम् ।

( क. ) इति संज्ञितम्—इन्दूरपुरनिवासिनां रा० रा० किवेसाहेब इत्येते-  
षाम् ।

( ख. ) इति संज्ञितम्—मुद्रितम् । वे० शा० सं० रा० वासुदेवशास्त्री अभ्यं-  
कर इत्येतेषाम् ।

समाप्तेयमादर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।

## अथ ब्रह्मसूत्रीयपादगतविषयानुक्रमणी ।

प्रतिपाद्यविषयाः ।

अध्यायाङ्काः । पादाङ्काः । पृष्ठाङ्काः ।

|                                                                                                                                  |   |   |     |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---|---|-----|
| सुस्पष्टब्रह्मबोधकश्रुतिवाक्यानां समन्वयः ...                                                                                    | १ | १ | १   |
| उपास्यब्रह्मवाचकास्पष्टश्रुतिवाक्यानां समन्वयः                                                                                   | १ | २ | ४८  |
| ज्ञेयब्रह्मप्रतिपादकास्पष्टश्रुतिवाक्यानां समन्वयः                                                                               | १ | ३ | ७५  |
| अव्यक्तादिसंदिग्धपदमात्राणामेव समन्वयः ....                                                                                      | १ | ४ | ११७ |
| सांख्ययोगकाणादादिस्मृतिभिः सांख्यादिप्रयुक्त-<br>तर्कैश्च वेदान्तसमन्वयस्य विरोधपरिहारः ...                                      | २ | १ | १४५ |
| सांख्यादिमतानां दुष्टत्वप्रदर्शनम् ... ..                                                                                        | २ | २ | १६९ |
| पूर्वभागेण पञ्चमहाभूतश्रुतीनामुत्तरभागेण च<br>जीवश्रुतीनां परस्परविरोधपरिहारः, ...                                               | २ | ३ | १९५ |
| लिङ्गशरीरश्रुतीनां विरोधपरिहारः, .... ..                                                                                         | २ | ४ | २२६ |
| जीवस्य परलोकगमनागमनविचारपूर्वकवैराग्य-<br>निरूपणम्, ... ..                                                                       | ३ | १ | २४४ |
| पूर्वभागेण त्वंपदार्थस्योत्तरभागेण च तत्पदार्थ-<br>स्य च शोधनम्, .... ..                                                         | ३ | २ | २६२ |
| सगुणविद्यासु गुणोपसंहारस्य, निर्गुणे ब्रह्मण्य-<br>पुनरुक्तपदोपसंहारस्य च निरूपणम्, ...                                          | ३ | ३ | २८६ |
| निर्गुणज्ञानस्य बहिरगङ्गसाधनभूतानामाश्रमय-<br>ज्ञादीनामन्तरङ्गसाधनभूतानां च शमदमश्रव-<br>णमननादीनां निरूपणम् .... ..             | ३ | ४ | ३४३ |
| श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणमुपासनया सगुणं वा<br>ब्रह्म साक्षात्कृतवतो जीवतः पुण्यपापलेप-<br>विनाशलक्षणाया मुक्तेरभिधानम्, .... .. | ४ | १ | ३७५ |
| म्रियमाणस्योत्क्रान्तिप्रकारदर्शनम्, ... ..                                                                                      | ४ | २ | ३८७ |
| सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरमार्गाभिगमनम्, ...                                                                                     | ४ | ३ | ४०१ |
| पूर्वभागेण निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यप्राप्तेः,<br>उत्तरभागेण च सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोक-<br>स्थितेर्निरूपणम्, ... ..         | ४ | ४ | ४१० |

समाप्तेयं ब्रह्मसूत्रीयपादगतविषयानुक्रमणी ।

## अथ व्यासाधिकरणगतविषयानुक्रमणी ।

### समन्वयाख्यप्रथमाध्यायस्य प्रथमपादे—

प्रतिपाद्यविषयाः ।

सूत्राङ्काः । अधि० । पृष्ठाङ्काः ।

|                                                   |              |      |      |      |       |   |    |
|---------------------------------------------------|--------------|------|------|------|-------|---|----|
| ब्रह्मणो विचार्यत्वम्                             | ...          | ...  | ...  | ...  | १     | १ | १  |
| ब्रह्मणो लक्ष्यत्वम्                              | ...          | ...  | ...  | .... | २     | २ | ५  |
| ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वं                             | } १ वर्णकम्, | ...  | ...  | ...  | ३     | ३ | ६  |
| ब्रह्मणो वेदकमेयता                                |              |      |      |      |       |   |    |
| वेदान्तानां ब्रह्मबोधकत्वं                        | } १ वर्णकम्, | ...  | ...  | ...  | ४     | ४ | ८  |
| वेदान्तानां ब्रह्मण्यवसितत्वम्                    |              |      |      |      |       |   |    |
| प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वाभावकथनम्                   | ....         | .... | .... | .... | ५-११  | ५ | १६ |
| आनन्दमयकोशस्य परमात्मत्वं                         | } १ वर्णकम्, | ...  | ...  | ...  | १२-१९ | ६ | २४ |
| ब्रह्मण आनन्दमयजीवाधारत्वम्                       |              |      |      |      |       |   |    |
| आदित्यान्तर्गतहिरण्यमयपुरुषस्याक्ष्यन्तर्गतपुरुष- |              |      |      |      |       |   |    |

|                                        |     |     |     |     |       |    |    |
|----------------------------------------|-----|-----|-----|-----|-------|----|----|
| स्य चेश्वरत्वम्                        | ... | ... | ... | ... | २०-२१ | ७  | ३० |
| परब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वम्           | ... | ... | ... | ... | २२    | ८  | ३२ |
| ब्रह्मण आकाशशब्दवत्प्राणशब्दवाच्यत्वम् | ... | ... | ... | ... | २३    | ९  | ३४ |
| परब्रह्मणो ज्योतिःशब्दवाच्यत्वम्       | ... | ... | ... | ... | २४-२७ | १० | ३५ |
| ब्रह्मणः प्राणशब्दप्रतिपाद्यत्वम्      | ... | ... | ... | ... | २८-३१ | ११ | ४० |

### उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे—

मनोमयः प्राणशरीर इत्यादिच्छान्दोग्यवाक्येन

|                                                   |     |     |     |     |       |   |    |
|---------------------------------------------------|-----|-----|-----|-----|-------|---|----|
| ब्रह्मण उपास्यत्वविचारः                           | ... | ... | ... | ... | १-८   | १ | ४८ |
| ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वम्                           | ... | ... | ... | ... | ९-१०  | २ | ५३ |
| चेतनयोर्जीवेश्वरयोर्हृद्गुहागतत्वम्               | ... | ... | ... | ... | ११-१२ | ३ | ५४ |
| छायाजीवान्यदेवान्हित्वा परब्रह्मण एवोपास्यत्वम्   | ... | ... | ... | ... | १३-१७ | ४ | ५६ |
| प्रधानजीवेतरस्येश्वरस्यैवान्तर्यामिशब्दवाच्यत्वम् | ... | ... | ... | ... | १८-२० | ५ | ६१ |
| प्रधानजीवौ निराकृत्येश्वरस्य भूतयोनित्वम्         | ... | ... | ... | ... | २१-२३ | ६ | ६३ |
| ब्रह्मणो वैश्वानरशब्दवाच्यत्वम्                   | ... | ... | ... | ... | २४-३२ | ७ | ६७ |

### उक्ताध्यायस्य तृतीयपादे—

सूत्रात्महिरण्यगर्भप्रधानभोक्तृजीवेश्वराणां मध्ये

|                                                      |     |     |     |     |     |   |    |
|------------------------------------------------------|-----|-----|-----|-----|-----|---|----|
| केवलमीश्वरस्यैव सर्वाधिष्ठानभूतत्वम्                 | ... | ... | ... | ... | १-७ | १ | ७५ |
| प्राणपरेशयोर्मध्ये परेशस्यैव सत्यशब्देन श्रेष्ठत्वम् | ... | ... | ... | ... | ८-९ | २ | ७९ |

|                                                     |              |    |     |
|-----------------------------------------------------|--------------|----|-----|
| प्रणवब्रह्मणोर्मध्ये ब्रह्मण एवाक्षरशब्दवाच्यत्वम्, | १०-१२        | ३  | ८१  |
| अपरपरब्रह्मणोर्मध्ये परब्रह्मण एव त्रिमात्रेण       |              |    |     |
| प्रणवेन ध्येयत्वम्                                  | ... .. १३    | ४  | ८३  |
| दहराकाशत्वेन प्रतीयमानानां वियज्जीवब्रह्मणां        |              |    |     |
| मध्ये ब्रह्मण एव तदाकाश[शब्द]वाच्यत्वम्             | १४-१८        | ५  | ८४  |
| अक्षिपुरुषत्वेनाऽऽपाततः प्रतीयमानयोर्जीवपरे-        |              |    |     |
| शयोः परेशस्यैव तत्पदवाच्यत्वम्                      | ... .. १९-२१ | ६  | ८८  |
| जगत्प्रकाशकत्वेनोपलब्धयोः सूर्यादितेजःपदार्थ-       |              |    |     |
| चैतन्ययोश्चैतन्यस्यैव तत्प्रकाशकत्वम्               | ... .. २२-२३ | ७  | ९२  |
| जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एवाङ्गुष्ठमात्र-   |              |    |     |
| पुरुषशब्देन प्रतिपादनम्                             | ... .. २४-२५ | ८  | ९४  |
| देवानां निर्गुणविद्यायामधिकारनिरूपणम्               | ... .. २६-३३ | ९  | ९६  |
| शूद्राणां वेदानधिकारकथनपूर्वकः शोकाकुलत्वे-         |              |    |     |
| न शूद्रनाममात्रधारिणो जानश्रुतेर्वेदविद्याधि-       |              |    |     |
| गमः                                                 | ... .. ३४-३८ | १० | १०५ |
| प्राणत्वेनाऽऽम्नातानां वज्रवायुपरेशानां मध्ये परे-  |              |    |     |
| शस्यैव तादृशप्राणशब्दवाच्यत्वम्                     | ... .. ३९    | ११ | ११० |
| ब्रह्मणः परत्वज्योतिष्टे                            | ... .. ४०    | १२ | ११२ |
| ब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वम्                          | ... .. ४१    | १३ | ११३ |
| ब्रह्मणो विज्ञानमयशब्दवाच्यत्वम्                    | ... .. ४२-४३ | १४ | ११४ |
| उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे—                           |              |    |     |
| कारणावस्थापन्नस्य स्थूलशरीरस्यैवाव्यक्तशब्द-        |              |    |     |
| वाच्यत्वम्                                          | ... .. १     | १  | ११७ |
| श्रुतिप्रमितप्रकृतिस्मृतिसंमतप्रधानयोर्मध्ये तादृ-  |              |    |     |
| शप्रकृतेरेवाजाशब्दवाच्यत्वम्                        | ... .. ८१०   | २  | १२४ |
| प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोज्ञानां पञ्चपञ्चजनशब्दवा-      |              |    |     |
| च्यत्वम्                                            | ... .. ११-१३ | ३  | १२७ |
| ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तवाक्यसमन्वयानां युक्तियु-     |              |    |     |
| क्तत्वम्                                            | ... .. १४-१५ | ४  | १३१ |
| प्राणजीवपरात्मनां मध्ये परात्मन एव कृत्स्नजग-       |              |    |     |
| त्कर्तृत्वेन बालाकिना ब्रह्मत्वेनोक्तानां षोड-      |              |    |     |

|                                               |       |   |     |
|-----------------------------------------------|-------|---|-----|
| शपुरुषाणां कर्तृत्वनिराकरणम् ... ..           | १६-१८ | ५ | १३४ |
| संशयितजीवपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एव श्रव-   |       |   |     |
| णमननादिविषयत्वम् ... ..                       | १९-२२ | ६ | १३७ |
| ब्रह्मणो निमित्तोपादानोभयकारणत्वम्, ... ..    | २३-२७ | ७ | १४० |
| परमाणुशून्यादीनां श्रुत्युक्तानामपि जगत्कारण- |       |   |     |
| त्वमपहाय ब्रह्मण एव प्रतिनियतजगत्कारण-        |       |   |     |
| त्वम् ... ..                                  | २८    | ८ | १४३ |

इति प्रथमाध्यायस्य विषयानुक्रमणी ।

अविरोधाख्यद्वितीयाध्यायस्य प्रथमपादे—

|                                                     |       |    |     |
|-----------------------------------------------------|-------|----|-----|
| सांख्यस्मृत्या वेदसंकोचस्यायुक्तत्वम् ... ..        | १- २  | १  | १४५ |
| योगस्मृत्याऽपि वेदसंकोचस्यायुक्तत्वम् ... ..        | ३     | २  | १४७ |
| बैलक्षण्याख्ययुक्तिद्वाराऽपि वेदान्तवाक्यानाम-      |       |    |     |
| बाध्यत्वम् ... ..                                   | ४-११  | ३  | १४८ |
| काणादबौद्धादीनां स्मृतियुक्तिभ्यामपि वेदवा-         |       |    |     |
| क्यानामबाध्यत्वम् ... ..                            | १२    | ४  | १५३ |
| भोक्तृभोग्यभेदवतोऽपि परब्रह्मणोऽद्वैतत्वस्याबा-     |       |    |     |
| ध्यत्वम् ... ..                                     | १३    | ५  | १५४ |
| ब्रह्मणि भेदाभेदयोर्व्यावहारिकत्वमद्वितीयत्वस्य     |       |    |     |
| च तात्त्विकत्वम् ... ..                             | १४-२० | ६  | १५५ |
| सर्वज्ञत्वेन जीवसंसारमिथ्यात्वं स्वनिर्लेपत्वं च    |       |    |     |
| पश्यतः परमेश्वरस्य हिताहितभाक्त्वदोषाभावः २१-२३     |       | ७  | १५८ |
| अद्वितीयस्यापि ब्रह्मणः क्रमेण नानाकार्याणां        |       |    |     |
| सृष्टिसंभावना ....                                  | २४-२५ | ८  | १६० |
| ईश्वरस्योपादानरूपपरिणामिकारणत्वव्यवस्थाप-           |       |    |     |
| नम् ... ..                                          | २६-२९ | ९  | १६२ |
| ईश्वरस्याशरीरित्वेऽपि मायावित्त्वम् ... ..          | ३०-३१ | १० | १६४ |
| नित्यतृप्तस्येश्वरस्यापि प्रयोजनं विनाऽशेषजगदु-     |       |    |     |
| त्पादकत्वम् ... ..                                  | ३२-३३ | ११ | १६५ |
| कर्मनियन्त्रितानां जीवानां सुखदुःखनिमित्तमा-        |       |    |     |
| त्रस्य जगत्संहरतश्चेश्वरस्य नैर्घृण्यदोषाभावः ३४-३६ |       | १२ | १६५ |

निर्गुणस्यापि ब्रह्मणो विवर्तरूपेण प्रकृतित्व-

सिद्धिः .... ३७ १३ १६७

उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे—

सांख्यानमतप्रधानस्य जगद्धेतुत्वखण्डनम् ... १-१० १ १६९

असदृशोद्भवे काणाददृष्टान्तस्यास्तित्वम् ... ११ २ १७४

परमाणूनां संयोगेन जगदुत्पत्तेर्युक्तिविरुद्धत्वम् १२-१७ ३ १७५

ईश्वराद्विज्ञानां बाह्यवस्त्वस्तित्ववादिबौद्धविशे-

षसंमतानां परमाणूनां शब्दस्पर्शादीनां च

जगदुत्पादकत्वमतखण्डनम् ... १८-२७ ४ १७९

विज्ञानवादिबौद्धसंमतविज्ञानस्य जगत्कर्तृत्वादि-

खण्डनम् .... २८-३२ ५ १८४

जीवादिसप्तपदार्थवादिनां बौद्धान्तराणां मतख-

ण्डनम् ... ३३-३६ ६ १८७

तदस्थेश्वरवादस्यायुक्तत्वम् ... ३७-४१ ७ १९१

जीवोत्पत्त्यादेरयुक्तत्वम् .... ४२-४५ ८ १९३

अविरोधाख्यद्वितीयाध्यायस्य तृतीयपादे ।

वेदान्तवादिमत आकाशस्यानित्यत्वकथनम्, ... १-७ १ १९५

खरूपवतो ब्रह्मणो वायोरुत्पत्तिकथनम्, ... ८ २ १९९

सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽजन्यत्वं जगज्जनकत्वं च, ... ९ ३ १९९

कार्यकारणयोरभेदेन वायुभूतस्य ब्रह्मणस्तेजः-

सृष्टिः, ... १० ४ २००

वेदोक्ततेजोरूपब्रह्मणो जलोत्पत्तिसिद्धिः, ... ११ ५ २०१

छान्दोग्योपनिषदुक्तजलोत्पन्नान्नशब्दस्य पृथि-

व्यर्थकत्वम् .... १२ ६ २०१

पूर्वपूर्वकार्योपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्ति-

सिद्धिः, ... १३ ७ २०२

प्रलयकाले पृथिव्यादीनां विपरीतक्रमकल्पनम् १४ ८ २०३

प्राणादीनां भूतेष्वन्तर्भावान्न तेषां सृष्टिक्रममङ्गः, १५ ९ २०४

वपुषो जन्ममरणयोर्मुख्यत्वेन जीवस्यैतयोर्भा-

कत्वम्, ... १६ १० २०५

जीवजन्मन औपाधिकत्वेन तस्य वस्तुतो नित्य-

त्वम् ... .. १७ ११ २०६

जीवस्याचिद्रूपत्वखण्डनपूर्विका तच्चिद्रूपत्व-

सिद्धिः,.... .. १८ १२ २०७

जीवस्याणुत्वखण्डनपूर्वकं तत्सर्वगतत्वप्रतिपाद-

नम् ..... १९-३२ १३ २०८

जीवस्याकर्तृत्वनिरसनपूर्वकं तत्कर्तृत्वप्रतिपादनम्, ३३-३९ १४ २१५

जीवकर्तृत्वस्याध्यस्तत्वेनावस्तविकत्वम् ... ४० १५ २१८

जीवस्येश्वरप्रवृत्तत्वेन न रागप्रवृत्तत्वम्... .. ४१-४२ १६ २१९

औपाधिककल्पनैर्जीवेशयोर्जीवानां च परस्परं

व्यवहारव्यवस्था .... ४३-५३ १७ २२१

उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे ।

इन्द्रियाणामनादित्वनिराकरणपूर्वकं तेषामात्म-

समुत्पन्नत्वम् ... .. १-४ १ २२६

इन्द्रियाणामेकादशसंख्याकत्वस्य वेदान्तसंमत-

त्वम् ... .. ५-६ २ २२८

सांख्यसंमतेन्द्रियसर्वगतनिराकरणपूर्वकं तेषां

परिच्छिन्नत्वकथनम् ... .. ७ ३ २३१

प्राणस्यानादित्वखण्डनपूर्वकं तदुत्पत्तिसमाधानम् ८ ४ २३१

प्राणवायोः स्वतन्त्रताकथनम्, ... .. ९-१२ ५ २३२

प्राणस्य समष्टिरूपेणाऽऽधिदैविकी विभुताऽऽध्या-

त्मिकी तु तस्याल्पताऽदृश्यता चेन्द्रियवदिति १३ ६ २३५

इन्द्रियगणस्य देवताविशेषाधीनत्वकथनम् ... १४-१६ ७ २३५

विलक्षणत्वेन प्राणादिन्द्रियाणां पृथक्त्वम् ... १७-१९ ८ २३८

सर्वजगत्सर्जने जीवस्याशक्तत्वादीशस्यैव सर्वशक्ति-

मत्त्वात्तस्यैव तन्निर्मातृत्वम्, ... .. २०-२२ ९ २४१

इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

साधनाख्यतृतीयाध्यायस्य प्रथमपादे ।

जीवस्य भाविशरीरबीजरूपसूक्ष्मभूतवेष्टितस्यैवे-

तो गमनम् ... .. १-७ १ २४४

कर्मान्तरैः सानुशयस्य जीवस्य लोकान्तरारो-

|                                                 |       |   |     |
|-------------------------------------------------|-------|---|-----|
| हणम्, ... ..                                    | ८-११  | २ | २४९ |
| पापिनां याम्यलोकममनम्, ... ..                   | १२-२१ | ३ | २५२ |
| अवरोहिणो जीवस्य वियदादिसमानत्वम्, ....          | २२    | ४ | २५७ |
| स्वर्गादवतरणकाले स्वर्ग-वृष्टि-पृथिवी-पुरुष-यो- |       |   |     |

षित्सु क्रमशो जनिष्यतो जीवस्य स्वर्गे वृष्टौ  
च जन्मनि त्वरा, तदितरेषु च जन्मनि वि-

|                                             |       |   |     |
|---------------------------------------------|-------|---|-----|
| लम्ब इति, .... ..                           | २३    | ५ | २५९ |
| सस्यादौ जीवस्य न मुख्यजन्म किंतु संश्लेषमा- |       |   |     |
| त्रमिति, ... ..                             | २४-२७ | ६ | २५९ |

उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे ।

|                                                        |      |   |     |
|--------------------------------------------------------|------|---|-----|
| स्वप्नदृष्टेर्मिथ्यात्वकथनम् ... ..                    | १- ६ | १ | २६२ |
| सुषुप्तिस्थानरूपस्य हृत्स्थब्रह्मण एकत्वस्थापनम्, ७- ८ | ७- ८ | २ | २६६ |
| स्वप्नावस्थितस्यैव जीवस्य तस्मात्समुद्बोधो नाप-        |      |   |     |

|                                                               |       |   |     |
|---------------------------------------------------------------|-------|---|-----|
| रस्येति, ... ..                                               | ९     | ३ | २६७ |
| मूर्च्छाया जाग्रदाद्यवस्थान्तरभिन्नत्वम्, ....                | १०    | ४ | २६९ |
| ब्रह्मणो नीरूपभावस्य वेदान्तसमतत्वम्, ... ११-२१               | ११-२१ | ५ | २६९ |
| ब्रह्मणो निषेधातीतत्वेन सत्यत्वस्थापनम्, ... २२-३०            | २२-३० | ६ | २७५ |
| ब्रह्मणोऽन्यस्यावस्तुत्वव्यवस्थापनम्, ... ३१-३७               | ३१-३७ | ७ | २८० |
| कर्मफलोत्पत्तिं प्रतीश्वरस्यैव कर्तृत्वं नापूर्वस्येति, ३८-४१ | ३८-४१ | ८ | २८४ |

उक्ताध्यायस्य तृतीयपादे ।

छान्दोग्यबृहदारण्यकश्रुत्युक्तयोः पञ्चाग्निविद्यो-

|                                                          |      |   |     |
|----------------------------------------------------------|------|---|-----|
| पासनयोर्विध्यनुष्ठानफलसाम्येनैकत्वम् ... १- ४            | १- ४ | १ | २८६ |
| गुणोपसंहारस्य कर्तव्यत्वम्, ... ..                       | ५    | २ | २८९ |
| छान्दोग्यकाण्वशास्त्रयोरुद्गीथविद्याभेदकथनम्, ६- ८       | ६- ८ | ३ | २९० |
| ब्रह्मदृष्टेर्हेतुत्वेनाक्षरोद्गीथयोरेकत्वसंपादनम् ... ९ | ९    | ४ | २९३ |
| वसिष्ठत्वादिगुणानामुपसंहर्तव्यत्वम् ... ..               | १०   | ५ | २९४ |

आनन्दसत्यत्वादीनां ब्रह्मगुणानां प्रतिपत्तिफल-

त्वेन सर्वशाखासु समानत्वाद्यवस्थापकविध्य-

|                                       |       |   |     |
|---------------------------------------|-------|---|-----|
| भावाच्च तेषामुपसंहर्तव्यत्वम्, ... .. | ११-१३ | ६ | २९५ |
|---------------------------------------|-------|---|-----|



पुरुषज्ञानस्य संसारकारणाज्ञाननिवर्तकत्वात्पुरु.

|                                                    |               |       |        |
|----------------------------------------------------|---------------|-------|--------|
| षस्यैव वेद्यत्वम्, ... ..                          | १४-१५         | ७     | २९६    |
| ईश्वरस्यैवाऽऽत्मशब्दवाच्यत्वं न विराज इति, ....    | १६-१७         | ८     | २९८    |
| काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोर्द्वयोर्वस्त्वेकत्वम्, ...  | १८            | ९     | ३००    |
| प्राणोपासनं प्रति प्राणविद्याप्राप्तयोरनग्नताबु-   |               |       |        |
| द्ध्याचमनयोरनग्नताबुद्धेरेव विधेयत्वम्, ...        | १९            | १०    | ३०२    |
| काण्वानामग्निरहस्यब्राह्मणबृहदारण्यकयोः पठि-       |               |       |        |
| तायाः शाण्डिल्यविद्याया एकविधात्वम्, ...           | २०-२२         | ११    | ३०३    |
| अहरित्यादित्यगतस्याहमित्यक्षिगतस्य च वेद्य-        |               |       |        |
| पुरुषस्यैकत्वेऽपि स्थानविशेषे तन्नामविशेषस्य       |               |       |        |
| युक्तत्वम्, ... ..                                 | २३            | १२    | ३०४    |
| विद्यैकत्वाभावात्संभृत्यादीनां गुणानां शाण्डि-     |               |       |        |
| ल्यविद्यादिष्वनुपसंहार्यत्वम् ....                 | २४            | १३    | ३०५    |
| तैत्तिरीयकताण्डिनोः पुरुषविद्यायाः पृथक्त्वम्      | २५            | १४    | ३०६    |
| वेदमन्त्रप्रवर्गादीनां विद्यानङ्गत्वम्,            |               |       |        |
| अर्थवादत्वेन पापपुण्ययोरुपा-                       | } १ वर्णकम् } | २६    | १५ ३०७ |
| यनस्य हानावुपसंहर्तव्यत्वम्                        |               |       |        |
| पापपुण्यविधूननस्य हानार्थ-                         | } २ वर्णकम् } |       |        |
| कत्वमेव न चालनार्थकत्वम्                           |               |       |        |
| मरणात्प्रागुपास्ये साक्षात्कृते                    | } ....        | २७-२८ | १६ ३११ |
| सुकृतदुष्कृतक्षयः,                                 |               |       |        |
| उपासकस्यैवाचिरादिमार्गो न ज्ञानिन इत्यस्य          |               |       |        |
| व्यवस्था, ... ..                                   | २९-३०         | १७    | ३१३    |
| सर्वासूपासनासूत्रमार्गविधानम् ....                 | ३१            | १८    | ३१४    |
| ब्रह्मतत्त्वज्ञानिनां मुक्तिर्नियता न तु पाक्षिकी- |               |       |        |
| त्यस्य प्रतिपादनम्, ... ..                         | ३२            | १९    | ३१५    |
| आत्मस्वरूपलक्षकाणां निषेधानां परस्परोपसंह-         |               |       |        |
| र्तव्यत्वम्, ... ..                                | ३३            | २०    | ३१६    |
| ऋतं पिबन्ताविति द्वा सुपर्णाविति च मन्त्रयोर्वे-   |               |       |        |
| द्यैकत्वम्, ....                                   | ३४            | २१    | ३१८    |
| एकशाखास्थयोरुपस्तकहोलयोर्ब्राह्मणयोर्विद्यैक्य-    |               |       |        |
| प्रतिपादनम्, ... ..                                | ३५-३६         | २२    | ३१९    |

# [ ९ ]

प्रतिपाद्यविषयाः ।

सूत्राङ्काः । अधि० । पृष्ठाङ्काः ।

|                                                     |                |       |       |
|-----------------------------------------------------|----------------|-------|-------|
| उपासनायै पृथक्त्वेनोपास्यस्य द्वैधज्ञानम् , ....    | ३७             | २३    | ३२१   |
| सत्यविद्याया एकत्वप्रतिपादनम्, ... ..               | ३८             | २४    | ३२२   |
| दहराकाशहार्दाकाशयोरुपसंहर्तव्यत्वम् , ....          | ३९             | २५    | ३२३   |
| उपासकस्य भोजने प्राणाहुतिलोपापत्तिः, ... ४०-४१      | २६             | ३२४   |       |
| उद्गीथकर्माङ्गीभूतदेवतोपासनाया अनियतत्वम्           | ४२             | २७    | ३२५   |
| संवर्गविद्योक्ताधिदैववाय्वध्यात्मप्राणयोरनुचिन्त-   |                |       |       |
| नस्य पृथक्त्वम्, ... ..                             | ४३             | २८    | ३२७   |
| मनश्चिदादीनां स्वतन्त्रविद्यात्वस्वीकारः, ... ४४-५२ | २९             | ३२८   |       |
| भौतिकस्याऽऽत्मत्वनिराकरणपूर्वकतदन्यस्याऽऽ-          |                |       |       |
| त्मत्वप्रतिपादनम्, ... ..                           | ५३-५४          | ३०    | ३३५   |
| ऐतरेयगतोक्तयोपासनायां पृथिव्यादिदृष्टेः कौपीत-      |                |       |       |
| क्यामपि समानत्वम् ,... ..                           | ५५-५६          | ३१    | ३३६   |
| विराड्रूपवैश्वानरस्य कृत्स्नस्यैव ध्यातव्यत्वं न    |                |       |       |
| तदंशस्येति... ..                                    | ५७             | ३२    | ३३७   |
| अनुष्ठातव्यशाण्डिल्यदहरादिविद्यानां वेद्यब्रह्म-    |                |       |       |
| भिन्नत्वेन भिन्नत्वम् ,.... ..                      | ५८             | ३३    | ३३८   |
| आत्मनः सगुणोपासनायामेकस्य द्वयोर्बहूनां             |                |       |       |
| चोपासनानां वैकल्पिकनियमकथनम्, ...                   | ५९             | ३४    | ३३९   |
| विकल्पेन समुच्चयेन वा प्रतीकोपासनाया ऐच्छि-         |                |       |       |
| कत्वम् ,... ..                                      | ६०             | ३५    | ३४०   |
| विकल्पसमुच्चययोर्थाकाङ्क्ष्यम्, ... ..              | ६१-६६          | ३६    | ३४०   |
| उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे ।                          |                |       |       |
| आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रत्वं न कृत्वर्थत्वम्... ..    | १-१७           | १     | ३४३   |
| ऊर्ध्वरेतोरूपाभमाणामस्तित्वव्यव-                    | } १ वर्षाकम् } | १८-२० | २ ३५० |
| स्थापनम् ... ..                                     |                |       |       |
| लोककामिनामाभमिणां ब्रह्मनिष्ठा-                     |                |       |       |
| नर्हत्वम्... ..                                     | } २ वर्षाकम् } |       |       |
| उद्गीथावयवस्थोकारस्य ध्येयत्वम् ... ..              | २१-२२          | ३     | ३५२   |
| औपनिषदाख्यानानां विद्यास्तावकत्वम् ....             | २३-२४          | ४     | ३५३   |
| आत्मबोधस्य कर्मानपेक्षत्वम् ... ..                  | २५             | ५     | ३५५   |
| विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मसापेक्षत्वम्, ....        | २६ २७          | ६     | ३५६   |
| आपदि सर्वाज्ञाभ्यनुज्ञानम् ... ..                   | २८ ३१          | ७     | ३५७   |

विद्यार्थानामाश्रमधर्माणां च यज्ञादीनां सकृदनु-

|                                                      |       |    |     |
|------------------------------------------------------|-------|----|-----|
| ष्ठानम् .....                                        | ३२-३५ | ८  | ३५९ |
| अनाश्रमिणो ज्ञानसंभावनम्, ...                        | ३६-३९ | ९  | ३६२ |
| आश्रमिणामवरोहाभावनिरूपणम्, ...                       | ४०    | १० | ३६४ |
| भ्रष्टोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तसद्भावः, ...           | ४१-४२ | ११ | ३६५ |
| भ्रष्टोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तस्याऽऽमुष्मिकशुद्धिजन- |       |    |     |

|                                              |       |    |     |
|----------------------------------------------|-------|----|-----|
| कत्वं तादृशशुद्धिमतो व्यवहारानर्हत्वं च, ... | ४३    | १२ | ३६७ |
| उपासनस्य ऋत्विक्कर्मत्वम्, ...               | ४४-४६ | १३ | ३६८ |
| मौनस्य विधेयत्वम्, ...                       | ४७-४९ | १४ | ३६९ |
| बाल्यस्य भावशुद्धित्वं न वयःकामचारोभय-       |       |    |     |
| त्वम्, ...                                   | ५०    | १५ | ३७२ |

इह वा जन्मान्तरे वा ज्ञानोत्पत्तिरिति ज्ञानो-

|                                              |    |    |     |
|----------------------------------------------|----|----|-----|
| त्पत्तेः पाक्षिकत्वम्, ...                   | ५१ | १६ | ३७२ |
| सालोक्यादिमुक्तीनां जन्यत्वेन सातिशयत्वं ... |    |    |     |
| निर्वाणमुक्तेश्च निरतिशयत्वम् ...            | ५२ | १७ | ३७३ |
| इति तृतीयोऽध्यायः ॥                          |    |    |     |

अथ फलारूपचतुर्थाध्यायस्य प्रथमपादे ।

|                                                     |      |    |     |
|-----------------------------------------------------|------|----|-----|
| श्रवणादीनामावर्तनीयत्वम्, ...                       | १-२  | १  | ३७१ |
| ज्ञात्रा जीवेन स्वात्मतया ब्रह्मणो ग्राह्यत्वम् ... | ३    | २  | ३७६ |
| प्रतीकेऽहंदृष्ट्यभावः, ....                         | ४    | ३  | ३७७ |
| अब्रह्मणि प्रतीके ब्रह्माधियः कर्तव्यत्वम्, ....    | ५    | ४  | ३७८ |
| कर्माङ्गेष्वदित्यादिवृष्टीनां कर्तव्यत्वम्, ....    | ६    | ५  | ३७८ |
| उपासनायामासनस्य नियतत्वम्, ...                      | ७-१० | ६  | ३७९ |
| ध्यानसाधनस्यैकाग्र्यस्य प्रधानत्वेन दिग्देशका-      |      |    |     |
| लानामनियमः, ...                                     | ११   | ७  | ३८० |
| उपास्तीनामामरणमावृत्तिः, ...                        | १२   | ८  | ३८१ |
| ज्ञानिनः पापलेपाभावः, ...                           | १३   | ९  | ३८२ |
| ज्ञानिनः पुण्यलेपाभावः, ....                        | १४   | १० | ३८३ |
| संचितयोरिवाऽऽरब्धयोः पुण्यपापयोर्ज्ञानोदयस-         |      |    |     |
| मये विनाशाभावः, ...                                 | १५   | ११ | ३८३ |

अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणो विद्योपयोग्यंशस्या-

विनाशः ... १६-७ १२ ३८४

सोपासनस्य निरुपासनस्य च नित्यकर्मणस्तार-

तम्येन विद्यासाधनत्वम्, ... १८ १३ ३८६

अधिकारिणां मुक्तिसद्भावः, ... १९ १४ ३८६

उक्ताध्यायस्य द्वितीयपादे ।

वागादीनां मनसि वृत्तिप्रविलयो न स्वरूपेण... १-२ १ ३८७

मनसः प्राणे वृत्त्या प्रविलयः .... ३ २ ३८९

प्राणस्य जीवे लयानन्तरं पुनर्भूतेषु लयः, ... ४-६ ३ ३९०

ज्ञान्यज्ञानिनोरुत्क्रान्तेरपि साम्यम् .... ७ ४ ३९१

तेजःप्रभृतीनां भूतानां परमात्मनि वृत्त्या लयः, ८-११ ५ ३९२

देहादेव प्राणोत्क्रान्तेर्निषेधः, ... १२-१४ ६ ३९४

तत्त्वज्ञानिनो वागादीनां परमात्मनि लयः ... १५ ७ ३९६

तत्त्वविदो वागादीनां निःशेषेण परमात्मनि लयः १६ ८ ३९६

उपासकस्योत्क्रान्तेर्विशेषवत्त्वम्... १७ ९ ३९७

निशायामपि मृतानां रश्मिप्राप्तिः, .... १८-१९ १० ३९८

दक्षिणायनमृतस्योपासकस्य ज्ञानफलप्राप्तिः .... २०-२१ ११ ३९९

उक्ताध्यायस्य तृतीयपादे ।

अर्चिरादिकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्यैकत्वम्, ... १ १ ४०१

संवत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ संनिवे-

शयितव्यौ ... २ २ ४०२

वरुणादीनां संनिवेशादर्चिरादिमार्गस्य व्यवस्था-

पितृत्वम्... ३ ३ ४०३

अर्चिरादीनामातिवाहिकत्वम्, ... ४-६ ४ ४०४

उत्तरमार्गेण कार्यब्रह्मगमनम्, ... ७-१४ ५ ४०५

प्रतीकोपासकानां ब्रह्मलोकाप्रापणम्, .... १५-१६ ६ ४०९

उक्ताध्यायस्य चतुर्थपादे ।

मुक्तिरूपस्य वस्तुनः पुरातनत्वम्, ... १-३ १ ४१०

मुक्तस्य ब्रह्मणोऽभिन्नत्वम् ... ४ २ ४११

मुक्तस्वरूपभूतस्य ब्रह्मणो युगपत्सर्वविशेषत्वनि-

विशेषत्वे, ... ५-७ ३ ४१२

## [ १२ ]

प्रतिपाद्यविषयाः ।

मूत्रङ्काः । अधि० । पृष्ठाङ्काः ।

अर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य

भोग्यवस्तूनां सृष्टौ मानससंकल्पस्यैव हेतुत्वम् ८-९ ४ ४१३

एकस्यापि पुरुषस्य देहभावाभावयोरैच्छिकत्वम् १०-१४ ५ ४१४

सर्वेषां देहानां सात्मकत्वम् ... १५-१६ ६ ४१६

ब्रह्मलोकगतानामुपासकानां जगत्सृष्टौ स्वात-

न्ध्याभावेऽपि भोगमोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्य-

सिद्धिः .... १७-२२ ७ ४१७

इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

समाप्तेयं व्यासाधिकरणगतविषयानुक्रमणी ।

॥ समाप्तमिदं व्यासाधिकरणार्थदर्शननिर्घण्टपत्रकम् ॥



ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीरामकिंकरकृतया

## ब्रह्मामृतवर्षिणी

इत्यभिधया वृत्त्या श्रीशंकरानन्दमगवद्विरचितया दीपिकया च  
समेतानि श्रीमद्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्राणि ।

श्रीरामचरणद्वंद्वमद्वयानन्दसाधनम् ।

नमामि यद्गजयोगात्पाषाणोऽपि सुखं गतः ॥ १ ॥

संगतिः संशयः पूर्वपरपक्षौ तयोः फलम् ।

भाष्यस्थाः श्रुतयः सर्वाः सूत्राण्यनवशेषतः ॥ २ ॥

व्याख्यायन्ते स्फुटं न्यायैर्मतभेदोऽपि कुत्रचित् ।

उच्यते सुखबोधार्थं श्रीरामो वीक्षतामिदम् ॥ ३ ॥

इह खलु नित्याध्ययनविधिनाऽधीतस्वाध्यायमापातज्ञानवन्तं पुरु-  
षार्थकाममैहिकामुष्मिकफलेषु विरक्तमुपलभमानः परमकारुणिको मुनिः  
सूत्रयामास—

( ब्रह्मणो विचार्यत्वम् । अधि० १ )

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा (१)

अत्राथशब्देन साधनचतुष्टयसंपत्त्यानन्तर्यमुच्यते । ‘तद्यथेह कर्म-  
चितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते’ [ छा० ८  
१ । ६ ] इत्यादिना कर्मफलानामनित्यत्वम् । ‘परीक्ष्य लोकान्कर्मचि-  
तान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन’ [ मु० १ । २ । १२ ] इति  
वैराग्यं कर्मफलेषु दर्शितम् । ‘शान्तो दान्तः’ इत्यादिना शान्त्यादिः ।  
‘न च स पुनरावर्तते’ [ छा० ८ । १५ । १ ] इत्यादिना मोक्षस्य नित्य-  
त्वेन तत्रेच्छा । एतदानन्तर्यमेव साधनचतुष्टयसंपत्त्यानन्तर्यम् ।  
अर्थान्मोक्षकामोऽधिकारी सूच्यते । अतःशब्देन साधनचतुष्टयस्य संमा-

\* नमस्तुभ्यं महामाये वरदे कामरूपिणि ।

विद्यारम्भं करिष्यामि सिद्धिर्भवतु मे सदा ॥ १ ॥

\* अकृतो मोक्षः ।

वना । ब्रह्मजिज्ञासेत्यनेनाज्ञातत्वेन विषयत्वं ज्ञातत्वेन प्रयोजनत्वं ब्रह्मण उक्तं भवति । एवं च प्रेक्षावत्प्रवृत्त्यङ्गभूताधिकार्यादिसमर्पकत्वेन समन्वयाद्यखिलविचारोपोद्घातत्वादादावस्य सूत्रस्य संगतिः । श्रवणविधिविषयवेदान्तवाक्यैः स्वार्थनिर्णयायास्यापेक्षणाच्छ्रुतिसंगतिः । एवं सर्वेषां सूत्राणां श्रुतिसङ्गतिः । विशेषतो ब्रह्मपरवाक्यतात्पर्यनिर्णायकन्यायसूचकत्वाद्वह्नविचारात्मकशास्त्रसंगतिः । एवमग्रेऽपि शास्त्रसंगतिरुह्या । अथातो ब्रह्मजिज्ञासेत्यादिभिः सूत्रैः सर्वे वेदान्ता ब्रह्मपरा इति समन्वयप्रतिपादनात्तेषामाध्यायं समन्वयाध्यायसंगतिः । प्रथमपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गानां वाक्यानां विचार्यत्वादापादं पादसंगतिः । प्राथम्यादस्य सूत्रस्याधिकरणसंगतिर्नापेक्षिता । एतदानन्तर्यं त्वितरेषामपेक्षितं तच्च तत्तदधिकरणप्रस्तावे वक्ष्यामः । तत्र तावत् 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृ० २।४।५] इति वाक्यं द्रष्टव्य इत्यात्मसाक्षात्कारफलमनूद्य तत्साधनत्वेन श्रवणं विदधाति । श्रवणं नाम सर्वेषामुपनिषद्वाक्यानामद्वितीये ब्रह्माणि तात्पर्यावधारणानुकूलन्यायविचारस्तादृशविचारात्मकं वेदान्तशास्त्रमारम्भणीयं न वेति संदेहः । सर्वत्र पूर्वोत्तरपक्षयुक्तिद्वयं संशयबीजं द्रष्टव्यम् । तत्र पूर्वपक्षः—शास्त्रं नाऽऽरम्भणीयं विषयप्रयोजनशून्यत्वात् । \*तथाहि संदिग्धं हि विषयः । ब्रह्म तु जीवात्मना ब्रह्मात्मना वा न संदिग्धम् । अहंप्रत्ययेन 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [तै० २।१] । इति वाक्येन निश्चितत्वात् । न च तत्त्वमस्यादिवाक्येनैक्यप्रतिभासनादहंप्रत्ययेन भेदावभासनात्संशयः । अबाधिताहंप्रत्ययविरोधेनैक्यश्रुतेरुपचरितार्थत्वात् । नचाध्यस्तात्मविषयत्वमहं प्रत्ययस्य । स्वयंप्रकाश आत्मन्यध्यासायोऽगात् । नापि प्रयोजनम् । उक्तरूपब्रह्मज्ञानेऽपि मुक्तेरदर्शनात् । तस्माच्छास्त्रं नाऽऽ-

शंकरस्य नमस्कारं कृत्वा शंकरभाष्यगा ।

सूत्रव्याख्या हि तच्छ्रोतुमुस्वार्था क्रियते मया ॥ २ ॥

\* तदेव विषयप्रयोजनशून्यत्वमेव दर्शयति । + ननु अध्यस्तात्मविषयत्वेन भ्रान्तोऽहंप्रत्यय इत्याशङ्क्य निराकरोति । न चेति । × अयोगादिति । तमःप्रकाशवद्विरुद्धस्वभायोर्जेडाजडयोर्देहात्मनोः शुक्तिरजतवदन्योन्यतादात्म्याभ्यासस्यानिरूपणादिति भावः ।

रम्भणीयमिति प्राप्ते राद्धान्तः—शास्त्रमारम्भणीयम् । विषयप्रयो-  
जनयोः संभवात् । श्रुत्यहंप्रत्ययविरोधेन जीवाभिन्नब्रह्मणः संदिग्ध-  
त्वेन विषयत्वात् । न च श्रुतेरुपचरितार्थत्वम् । \* उपक्रमादितात्पर्यलि-  
ङ्गसहकृतानेकवाक्यानामुपचरितार्थत्वायोगात् । मनुष्योऽहमित्यादौ परै-  
रपि भ्रमत्वेन + स्वीकारात् । × कर्तृत्वाद्यंशेऽपि श्रुतिबलाद्भ्रमत्वमास्थे-  
यमिति नाध्यासानुपपत्तिः । न केवलं संदिग्धत्वेनापि तु विपर्यस्तत्वे-  
नापि विषयत्वम् । ननु स्वयंप्रकाश आत्मनि कथं संदेहादिरिति चेत् ।  
नानाद्यविद्यावशात्तादृशेऽप्यात्मन्यध्यासस्यानुभवसिद्धतया स्वरूपज्ञा-  
नस्य तदविरोधित्वान्नापि ÷ फलाभावः । यथावत्स्वरूपसाक्षात्कारस्ये-  
दानीमसंभवेऽप्यसंभाषनादिशङ्काकलङ्कितत्वेन = निवर्तकत्वाभावेऽपि  
श्रवणमनननिदिध्यासनैः शङ्कायां निरस्तायां ब्रह्मसाक्षात्कारेणाविद्या-  
निवृत्तौ प्रतिबन्धकाभावात् । तथा च श्रुतिः—‘ तरति शोकमात्म-  
वित् ’ [ छा० ७ । १ । ३ ] ‘ एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्या-  
ग्रन्थि विकिरतीह सोम्य ’ [ मु० २ । १ । १० ] । इति । तस्माद्विषय-  
फलसंभवाच्छास्त्रमारम्भणीयम् । अत्र कृत्स्नशास्त्रप्रतिपाद्यं ब्रह्म ।  
अध्यायैस्तु प्रतिपाद्यानि समन्वयाविरोधसाधनफलानि । तदुक्तम्—

शास्त्रं ब्रह्मविचाराख्यमध्यायाः स्युश्चतुर्विधाः ।

समन्वयाविरोधौ द्वौ साधनं च फलं तथा ॥ १ ॥ इति ।

तत्र विवरणमतानुसारिणः सूत्रे कर्तव्येति पदमध्याहर्तव्यमिति  
वदन्ति । तथा हि ॥ द्रष्टव्य इति परमपुरुषार्थसाधनं ज्ञान-

वेदान्तमीमांसाशास्त्रस्य व्याचिरव्यासितस्येदमादिमं सूत्रम् । अधी-  
तस्वाध्यायेनाकर्तृत्वादिरूपस्याऽऽत्मनोऽनवधारणात्तदवधारणाच्चावि-  
द्यानिवृत्तेर्मोक्षस्य सिद्धेरित्यात्मनो ब्रह्मणो विचारस्य कर्तव्यतामाह—  
अथेति । अथशब्दः साधनचतुष्टयसंपत्त्यानन्तर्यमाह । अतःशब्दो हेत्वर्थः ।  
ज्ञातुमिच्छा जिज्ञासा ब्रह्मणो जिज्ञासा ब्रह्मजिज्ञासा । यस्मादग्निहो-

\* उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम् । अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये ।  
+ स्वीकारादिति अहं मनुष्य इत्यादि बुद्धेर्देहतादात्म्याध्यासेनैवोपपत्तेरिति भावः । × तेन  
कर्तृत्वादिनाऽपि न जीवस्यासंदिग्धत्वं तस्य भ्रमत्वादित्यर्थः । ÷ फलं प्रयोजनम् । = अवि-  
द्येत्यादि । ॥ द्रष्टव्य इति दर्शनमुद्दिश्य श्रवणादि विधीयते ।



मनुवादं कृत्वा तत्र 'द्वा सुपर्णा' [मु० ३।१।१] इत्यादिना 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [मु० ३।२।९] इत्यादिना च भिन्ना-भिन्नविचारयोः साधनत्वेन पक्षप्राप्तौ श्रोतव्य इत्यनेन प्रकृतिलक्षण-याऽभिन्नात्मविचार एव साक्षात्कारसाधनमिति नियम्यते। एवं च 'नावे-दविन्मनुते तं बृहन्तं\* तं त्वौपनिषदं पुरुषम्' इत्यादिना ब्रह्माणि प्रमा-णान्तराभावात्मनननिदिध्यासनसहकृतं विचारितवेदान्तवाक्यमेव हेतु-रिति संपद्यते। तथा च विचारविध्यपेक्षिताधिकार्यादीनामागमिक-त्वेऽपि न्यायेन निर्णयार्थमिदं सूत्रम्। तस्यानुवादकत्वं आनर्थक्यं स्यादिति कर्तव्यपदाध्याहारः शास्त्रे पुरुषप्रवृत्तिसिद्धये श्रुतिसारूप्याय वा। एवं सति जिज्ञासेत्यत्र प्रकृत्या+साध्यं ज्ञानमजहल्लक्षणया प्रत्ययेने-च्छासाध्यविचारो जहल्लक्षणया बोध्यत इति नवीनमतम्। विवरण-टिप्पण्यां तु प्रकृतेः ×सिद्धं ज्ञानमात्रवाचकत्वमङ्गीकृत्य साध्यज्ञानेऽपि जहल्लक्षणैवेत्युक्तम्। तथा चायं सूत्रस्य श्रौतोऽर्थः—साधनचतुष्टयसंप-न्नस्य ब्रह्मज्ञानाय विचारः कर्तव्य इति ज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वं वेदान्तानां विचार्यत्वं चार्थालुभ्यते। तथा चोक्ताधिकारिणो मोक्षसाधनब्रह्मज्ञा-नाय वेदान्तवाक्यविचारः कर्तव्य इत्यर्थिकार्थ इति। मिश्रमतानुसा-रिणस्तु श्रुतिसूत्रयोरैकरूप्यनियमाभावं विषयप्रयोजनज्ञानादेव पुरुष-प्रवृत्तिसिद्धिं श्रवणविध्यसंभवं च मन्यानाः कर्तव्येति पदं नाध्याहर्त-मिति वदन्ति। तेषां मते साधनचतुष्टयसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मज्ञानेच्छा भवति कर्मफलस्यानित्यत्वाद्ब्रह्मज्ञानात्परमपुरुषार्थश्रवणाच्चेति श्रौतोऽर्थः। ज्ञानस्य विचारसाध्यत्वाद्विचारकर्तव्यताऽऽक्षिप्यत इति विचारकर्तव्य-ताऽऽर्थिक्येवेति। अत्र विचारानारम्भवादिन उपायान्तरसाध्या मुक्ति-रिति फलम्। सिद्धान्तिनस्तु विचारसंभवाद्ब्रह्मज्ञानसाध्यैव मुक्ति-रिति फलफलभावः॥ १ ॥

त्रादिकैमनित्यफलं ब्रह्मज्ञानं चानन्तफलं तस्माच्छ्रमदमादिसाधनचतु-ष्टयसंपत्त्यनन्तरं ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य जिज्ञासा कर्तव्येति वाक्य-शेषः॥ १ ॥

\* जानातीत्यर्थः। + ज्ञाधातुसाध्यमजहल्लक्षणया। तत्राजहल्लक्षणा वाच्यार्थापरित्या-गेनार्थान्तरे वृत्तिः। यथा शोणस्तिष्ठति शोणो धावतीति वैशिष्टे लक्षणा। साध्यविशिष्टं ज्ञानमजहल्लक्षणया बोध्यते। × विचारेण सिद्धं निष्पन्नं ज्ञानं न तु निष्पद्यमानमित्यर्थः।

एवं प्रथमसूत्रे ब्रह्ममीमांसायाः प्रतिपादितत्वात्तस्याश्च लक्षणप्रमाण-  
समन्वयाविरोधसाधनफलविषयतयाऽनेकविधत्वेऽपि प्रथमं ब्रह्मणः  
प्राधान्यात्तल्लक्षणार्थमिदं सूत्रम्—

( ब्रह्मणो लक्ष्यत्वम्, अधि० २ )

जन्मायस्य यतः ॥ २ ॥

अस्य पूर्वाधिकरणेन संदिग्धत्वाद्ब्रह्म विचार्यमित्युक्तम् । जन्मादेरन्य-  
निष्ठत्वेन ब्रह्मणो लक्षणाभावेन स्वरूपस्यैवाभावादित्येवंरूपाक्षेपसंगतिः ।  
एवं पूर्वाधिकरणसिद्धान्तयुक्तिमुत्तराधिकरणपूर्वपक्षयुक्तिं चावेक्ष्य  
यथासंभवमाक्षेपसंगतिस्तत्र तत्रोह्या । दृष्टान्तप्रत्युदाहरणसंगती च  
सर्वत्र भवतः । प्रकृते तु यथा संदिग्धत्वेन हेतुना ब्रह्म विचार्यम् ।  
एवं जन्मादेरन्यनिष्ठत्वेन हेतुना ब्रह्मणो लक्षणं नास्तीति दृष्टान्तसंगतिः ।  
यथा विचार्यत्वे हेतुर्न तथा लक्षणसद्भावे हेतुरस्तीति प्रत्युदाहरणसं-  
गतिः । पूर्वसूत्रस्थब्रह्मलक्षणपरीक्षणात्तदेवात्र फलम् । अस्येदं विषय-  
वाक्यम् । ' यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति ।  
यत्प्रयन्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद्ब्रह्मेति ' [ तै० ३ । १ ] ।  
प्रयन्ति म्रियमाणानीत्यर्थः । अत्र श्रूयमाणं जन्मादिकं ब्रह्मलक्षणं न  
वेति संदेहः । जन्मादेः प्रपञ्चनिष्ठत्वेन ब्रह्मसंबन्धाभावाच्च तल्लक्षणत्व-  
मिति प्राप्तम् । न च ' सत्यं ज्ञानम् ' [ तै० २ । १ ] इत्यादिवाक्यस्थ-  
सत्यत्वादिकं लक्षणं भवत्विति वाच्यम् । अप्रसिद्धत्वादिति प्राप्तेऽभि-  
धीयते—जगज्जन्मादिकारणत्वं ब्रह्मणो लक्षणं तटस्थं\* सत्यादिकं स्वरूप-  
लक्षणम् । न च लोके सिद्धभिन्नार्थत्वात्सत्यादीनामेकब्रह्मलक्षणत्वं न  
प्रसिद्धमिति वाच्यम् । +सत्यादिपदानाम खण्डा×र्थत्वेनैकब्रह्मपर्यवसायि-

पूर्वाधिकरणे ब्रह्म जिज्ञास्यमित्युक्तम् । किंलक्षणं पुनस्तद्ब्रह्मेत्यत  
आह भगवान्सूत्रकारः—जन्मेति । जन्मोत्पत्तिरादिर्यस्य तदिदं जन्म-

\* अभावलक्ष्यभावि लक्षणं तटस्थम् । यथा शाखा चन्द्रस्य । यावल्लक्ष्यभावि  
लक्षणम् । यथा गोः सास्त्रादिमत्त्वम् । + सत्यादिपदानामिति । भिन्नार्थकानामपि पितृसुत-  
भ्रातृजायामात्रादिशब्दानामेकदेवदत्तवर्मवाचित्वे ( पर्यवसायित्वे ) यथा न विरोधस्तथा  
लोकसिद्धभिन्नार्थानां सत्यादिशब्दानामखण्डब्रह्मपर्यवसायित्वे स्वरूपलक्षणासिद्धिरिति भावः ।  
× अखण्डार्थत्वं नाम स्वपदोपस्थितपदार्थसंसर्गागोचरप्रमाजनकत्वम् । यथा प्रकृष्टप्रकाश-  
श्चन्द्र इत्यादिलक्षणवाक्यानां लोके लक्षणया चन्द्रादिव्यक्तिमात्रहेतुत्वात्सर्वपदलक्षणा  
चाविरुद्धा सर्वैर्यथादपदैरेकस्याः स्तुतेर्लक्षकत्वाङ्गीकारात्तथा सत्यज्ञानादिपदैरखण्डं ब्रह्म  
भातीति च पक्षासिद्धिः । नापि हेत्वसिद्धिः । उपक्रमादिलिङ्गैर्वेदान्तानामद्वितीयाखण्डब्रह्मणि  
तात्पर्यनिश्चयसत्त्वादिति भावः ।

त्वेन लक्षणत्वसंभवादिति । सूत्रार्थस्तु—जन्माऽऽदिष्येति \* तद्गुणसंवि-  
ज्ञानो बहुव्रीहिः । जन्मस्थितिभङ्गं समासार्थः । पूर्वसूत्रस्थब्रह्मपदानु-  
षङ्गस्तत्पदाध्याहारस्तेनास्य प्रत्यक्षाद्युपस्थितस्य प्रपञ्चस्य जन्मस्थिति-  
भङ्गं यतो भवति तद्ब्रह्मेत्यर्थः । यद्यप्यव्यभिचारा+जन्मादिकारणत्वं  
प्रत्येकं लक्षणं संभवति तथाऽप्युत्पादकत्वमात्रं निमित्तेऽपीत्युपादा×नत्व-  
सिद्ध्यर्थं त्रयग्रहणम् । न च ल+यग्रहणेनैव तत्सिद्धौ शेषवैयर्थ्यमिति  
वाच्यम् । न ह्युपादानत्वं कुलालधर्मतयोच्यते किंतु प्रकृतिविका=रन्याये-  
नाद्वितीयब्रह्मसिद्ध्यर्थमेवं च भवतु ब्रह्मोपादानं कुला+लवदधिष्ठाताऽन्य  
एवास्तु । राज्यस्थितौ राजवच्चान्य एव स्थितौ कर्ताऽस्त्वित्याशङ्का मा  
भूदिति त्रितयग्रहणं कृतमिति ॥ २ ॥

एवं जगत्कारणत्वेन ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वमर्थादुक्तं तदार्थिकं सर्वज्ञत्वं  
हेत्वन्तरेण समर्थयितुमाह—

( ब्रह्मणो वेदकर्तृत्वम्, अधि० ३ )

शास्त्रयोनित्वात् ॥ ३ ॥

शास्त्रं वेदस्तद्योनित्वं तत्कर्तृत्वं सर्वज्ञकरूपवेदकर्तृत्वाद्यपि ब्रह्म सर्वज्ञ-  
मित्यर्थः । अत्र सर्वज्ञत्वानिर्धारणं पूर्वपक्षफलं तन्निर्धारणं सिद्धान्त-

स्थितिभङ्गं जन्माद्यस्य प्रत्यक्षाद्युपस्थापितस्य विचित्रस्य जगतो यतो  
यस्मात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः कारणान्भवति तद्ब्रह्मेति वाक्यशेषः ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणे सत्यज्ञानादिरूपस्य ब्रह्मणो विसृष्टजगज्जन्मादिकार-  
णत्वं तदस्थलक्षणमुक्तम् । अर्थात्सर्वज्ञता च । इदानीं वेदस्याजायमान-  
नत्वेन तामाक्षिप्य 'अस्य महतः' इत्यादि वाक्याद्वेदजन्मनः प्रमितेरुक्तां

\* विधेयान्वयिस्वघटकावयवार्थकत्वं तद्गुणत्वम् । यथा लम्बकर्णमानयेति । विधे-  
यानन्वयिस्वघटकावयवार्थकत्वमतद्गुणत्वम् । यथा चित्रगुः । + ब्रह्मान्यगामित्वाभाव-  
दिति भावः । ×उपादानत्वसिद्धीति । जन्मकारणत्वस्य स्थितिकारणत्वस्य च निमित्तकारण-  
साधारण्यादुपादानत्वप्रत्यायनाय प्रपञ्चस्य ब्रह्मणि लयो दर्शित इति भावः । ÷ तर्हि  
श्रुतौ जन्मादिकारणत्वप्रतिपाद्यं व्यर्थं लयमात्रप्रतिपादनादेवेष्टसिद्धेरित्याह नचेति । = यत्प्र-  
कृतिको विकारः स तदभिज्ञ इत्यर्थः । + कुलालादिवदिति । घटजन्मनि मृदतिरिक्तकुलाल  
इव जगज्जन्मन्यप्युपादानब्रह्मापेक्षयाऽन्यत्कर्तृरूपनिमित्तं भविष्यतीति तस्यैव ब्रह्म  
भवष्यतीति तस्यैव ब्रह्मणः श्रुतौ जगज्जननकर्तृत्वमुक्तं तथा राज्यस्थेऽपि पालनरूपे  
पालनीयप्रजाद्युपादानातिरिक्तराजवज्जगतः स्थितौ जगदुपादानब्रह्मापेक्षयाऽन्यन्निमित्तं भवि-  
ष्यतीति तन्मा भूदिति त्रितयग्रहणमिति भावः ।

फलम् । अथवा वेदनित्यत्वाद्ब्रह्मणो विश्वयोनिता नेति शङ्कामपाकर्तुं शास्त्रयोनित्वमुच्यते । अस्मिन्पक्षे श्रौतप्रतिज्ञयैवं संगतिः । पूर्वसूत्रोक्तजगत्कारणत्वस्यैव समर्थनात् । 'अस्य महतो भूतस्य निःश्वासितमेवेतद्यद्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः' [ बृ० २ । ४ । १० ] इत्यादिवाक्यमस्य सूत्रस्य विषयः । अस्य नित्यसिद्धस्य ब्रह्मणो निःश्वास इवानायासेनैव वेदः सिद्ध इत्यर्थः । अत्र ब्रह्म वेदं करोति न वेति संदेहे न करोति 'वाचा विरूप नित्यया' इति नित्यत्वश्रवणात् । अस्मिन्मन्त्रे विरूपेति देवतां संबोध्य नित्यया वाचा स्तुतिं प्रेरयेति प्रार्थयते ।

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

इति स्मृतेः । अतो न वेदकर्तृत्वं ब्रह्मण इति न जगद्योनित्वमिति प्राप्ते ब्रूमः—निःश्वासितन्यायेन वेदोत्पत्तिश्रवणात् । 'तस्माद्यज्ञात्सर्व-  
हुत ऋचः सामानि जज्ञिरे' इति सर्वैयज्ञैर्हूयमानाद्यज्ञशब्दवाच्याद्ब्रह्मणो जज्ञिरे' इति वेदकर्तृत्वप्रतीतिर्विश्वयोनित्वम् । एतदनुरोधेन वाचेत्यादिश्रुतिस्मृत्योरर्थवादत्वम्\* । न च वेदस्य सकर्तृकत्वे पौरुषेयत्वमुपलभ्य विरचितत्वानङ्गीकारादिति । अस्य सूत्रस्य द्वितीयं वर्णकम्—  
पूर्वसूत्रे जन्मादिकारणत्वकथनेनाङ्कुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वादघटब-  
दित्यनुमानमपि ब्रह्मणि प्रमाणमित्याशङ्का स्यात् । त(सोमा)न्मा भूदिति-  
दमुच्यते । ब्रह्म न मानान्तरवेद्यं कुतः शास्त्रयोनित्वात् । शास्त्रं वेदो  
योनिः प्रमाणं यस्य तत्त्वादित्यर्थः । 'तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि'  
[ बृ० ३ । ९ । २६ ] इत्युपनिषद्वेद्यत्वप्रतीतेर्नवेदविन्मनुते तं बृहन्त-

सर्वज्ञतां समाधत्ते—शास्त्रेति । विचित्रस्य ऋग्वेदादेः शास्त्रस्य योनिः  
कारणं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ।

प्रवृत्तिश्च निवृत्तिश्च पुंसां येनोपदिश्यते ।

तद्धर्माश्चोपदिश्यन्ते शास्त्रं शास्त्रविदो विदुः ॥

\* अर्थवादत्वमिति । तथा चानित्यत्वाभिधानं वेदस्य स्तावकत्वेनेति भावः । × उपल-  
भ्येति । परमेश्वरः स्वकृतपूर्वकल्पीयसजातीयक्रमवन्तं वेदं तदर्थीश्च जानन्नेव करोति । यत्र  
हि अर्थज्ञानपूर्वकं वाक्यरचना तत्रैव पौरुषेयता । अत्र यौगपद्यान्न सा युक्तेति भावः ।

मिति श्रुत्या स्पष्टं मानान्तरनिषेधाच्च । अनुमानं तु अनुकूलतर्कतयैवोप-  
युज्यते न स्वातन्त्र्येणेत्यभिप्रायः । ननु ' यतो वाचो निवर्तन्ते ' [ तै०  
२ । १ । १ ] इति श्रुतेर्वेदवेद्यत्वं कथमिति चेन्न । लक्षणावृत्तिविषय-  
त्वेन शास्त्रयोनित्वं चैतन्याविषयत्वेनाप्रमेयत्वमित्यविरोधात् । पूर्वसूत्रे  
द्वितीयवर्णके ब्रह्मणः शास्त्रप्रमाणकत्वमुक्तं तदाक्षिप्य समाधीयते  
तथा चाऽऽक्षेपसंगतिः । फलं तु पूर्वपक्ष उपनिषत्सु मुमुक्षुप्रवृत्त्यनुप-  
पत्तिः सिद्धान्ते प्रवृत्तिसिद्धिरिति ॥ ३ ॥

वेदान्ताः कर्मशेषभूत\*कर्त्रादिपरा उत नित्यशुद्धबुद्धमुक्तब्रह्मपरा  
वेति संशये न ब्रह्मपरा अहेयानुपादेयसिद्धब्रह्मपरत्वे निष्प्रयोजन+त्व-  
सापेक्षत्वयोः प्रसङ्गात् । तदुभयनिवारणाय कर्तृदेवतादिप्रतिपादनद्वारा  
कर्मपरत्वमिति प्राप्ते राद्धान्तः—

( वेदान्तानां ब्रह्मबोधकत्वम्, अधि० ४ )

तत्तु समन्वयात् ॥ ४ ॥

तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तद्ब्रह्म वेदान्तेषु तात्पर्येण प्रतिपाद्यते  
कृतः समन्वयात् । सम्यगन्वयः समन्वयस्तस्मात् । अन्वयस्य × सम्यक्त्वं  
तात्पर्यवत्त्वम् । वेदान्ता न कर्त्रादिप्रतिपादका भिन्न=प्रकरणस्थत्वाद् ।  
न च प्रकरणभेदादुपासनाविधिपरा इति वाच्यम् । तत्त्वमस्यादीनां  
विधिरहितानां बहुलमुपलब्धेः ० स्वरूपज्ञानादपि नायं सर्प इत्यादिवद-  
नर्थनिवृत्तेः प्रयोजनस्य सद्भावादपि विधिशेषत्वकल्पनायोगात् । न  
च ॥ सापेक्षत्वं रूपादिविहीनस्य ब्रह्मणः प्रमाणान्तरागम्यत्वेन तत्प्रति-

अथ वा पूर्वाधिकरणे यतो वेत्यादि शास्त्रं न विचारितं किं तु क्षित्या-  
दिकं सकर्तृकमित्यनुमानमुक्तमिति शङ्कां निवर्तयितुमक्षयाद्यगम्यत्वेन  
ब्रह्मणः शास्त्रैकप्रमाणतामाह—शास्त्रेति ॥ ३ ॥

पूर्वाधिकरणे शास्त्रव्यतिरिक्तप्रमाणागम्यत्वमुक्तम् । साक्षादेव शास्त्र-

\* तत्र त्वंपदवाच्यानां कर्तृस्तावकत्वं तत्पदार्थानां देवतास्तावकत्वं विविदिषादि-  
वाक्यानां फलस्तावकत्वम् । + निष्प्रयोजनेति । लोके सिद्धार्थप्रतिपादकानां घटः  
सुन्दर इत्यादीनां निष्फलत्वदर्शान्मानान्तरवेद्यत्वेन तज्ज्ञानापेक्षत्वाच्चेति भावः ।  
× अखण्डार्थकत्वम् । = भिन्नेति । कर्मविशेषमनारम्य प्रकरणान्तराधीतानां कथं तच्छेषत्वं  
मानाभावादिति भावः । ÷ उपासनेति । मोक्षकामः सद्ब्रह्मास्तीति भावयेदिति विधि-  
परा इत्यर्थः । ० हेयोपादेयरहितत्वादुपदेशानर्थक्यमिति तत्राऽऽह—स्वरूपज्ञानादिति ।  
॥ सिद्धस्य मानान्तरप्रत्यक्षादिगम्यत्वमाशङ्क्य निराकरोति— न चेति ।

(ब्र०व०) पादकवेदान्तानां सापेक्षत्वाभावात् । तस्मादुपक्रमादिलिङ्गैर्वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वमेवेति । उपक्रमादिकं च दृश्यते 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ।' [ छा० ६ । २ । १ ] 'एकमेवाद्वितीयम् ।' [ बृ० २ । ५ । १९ ] 'आत्मा वा इदमग्र आसीत् ।' [ ऐ० २ । ४ । १ ] 'तदेव तद्ब्रह्मा-पूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यमयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः ।' [ बृ० २ । ५ । १९ ] 'ब्रह्मैवेदमसृतं पुरस्तात् ।' [ मु० २ । २ । ११ ] इत्यादिश्रुतीनामयमर्थः—सदित्यस्तितामात्रं बोध्यते । एवेत्यवधारणे । किं तदवधियते तदाह—इदमिति । यद्विदं व्याकृतं जगत्तदग्र उत्पत्तेः प्राक्सदेवाऽऽसीद्व्याकृतं सत्कारणात्मकं सदेवाऽऽसीदित्यर्थः । हे सोम्य प्रियदर्शनेति पित्रा पुत्रः संबोध्यते ।

बुद्धिग्राह्यं स्थूलं पृथिव्यादि प्रागुत्पत्तेर्मा भूत् । अन्यत्तु महदादिसूक्ष्ममासीदेषेति नेत्याह—एकमिति । सतोऽन्यत्कार्यं नाऽऽसीदेषेत्यर्थः । तथा सुवो घटाकारपरिणमयितुकुलालवज्जगन्निमित्तं सतोऽन्यदासीदित्याशङ्क्याऽऽह—अद्वितीयमिति ।

ततोऽपि चित्त्वं विना प्रधानवन्न हेतुतेत्याशङ्क्य श्रुत्यन्तरमुदाहृतम्—आत्मा वा इति । आप्नोतीत्यात्मा मूलकारणम् । वैशब्देन प्रागवस्था स्मर्यते । अवशिष्टमुक्तार्थम् ।

तस्य निर्विशेषत्वार्थं श्रुत्यन्तरम्—तदेतदिति । तच्छब्देन 'इन्द्रो मायामिः' इति प्रकृतात्मोक्तः । विधेयब्रह्मापेक्ष्य नपुंसकमेतद्यत्तद्ब्रह्मेत्यर्थः । तत्किंलक्षणकं तन्नाऽऽह—अपूर्वमिति । पूर्वं कारणं यस्य नास्ति तदपूर्वमकार्यमित्यर्थः । अपरं कार्यं वास्तवं नास्तीत्यनपरमकारणमित्यर्थः । अन्तरं जात्यन्तरमन्तराले नास्तीत्यनन्तरमेकरसमित्यर्थः । तथाविधमन्यदपि तटस्थमस्ति किं नेत्याह—अबाह्यमिति । बाह्यमनात्मभूतमेवाविधमस्य नास्तीत्यबाह्यमद्वितीयमित्यर्थः । तस्यापरोक्षतामाह—अयमिति । तत्सर्वसिद्ध्यर्थं चित्स्वरूपत्वमाह—सर्वेति । ब्रह्मात्मना सर्वमनुभवतीति अनुभूः ।

अनुभाव्यस्य पृथक्त्वाद्वा द्वैतमित्याशङ्क्य श्रुत्यन्तरं ब्रह्मेति । यत्पुरस्तात्पूर्वस्यां दिश्यब्रह्मेवाविदुषां भाति तत्सर्वमिदमसृतं ब्रह्मेव वस्तुत इत्यर्थः । एवं लौकिकवाक्यानां सिद्धेऽर्थेऽप्रामाण्यमभ्युपगच्छतां वेदान्तेषु विधिपरत्वं विनाऽनपेक्षत्वं फलवत्त्वं च न लभ्यत इति वदतां

(दी०) कर्तृत्वेन चार्थासिद्धम् । तदिदानीं सिद्धार्थं शास्त्रस्य संगतिग्रहणार्थ-

(ब० व०) वेदान्तेभ्यो ब्रह्मसिद्धिमनङ्गीकुर्वतां मतं ब्रह्मणो मानान्तरागम्य-  
त्वात्सिद्धवस्तुज्ञानात्फललाभाच्च प्रत्युक्तम् । संप्रति सिद्धे व्युत्पत्तिमनि-  
च्छतामुपास्तिविधिद्वारा वेदान्तेभ्यो ब्रह्मसिद्धिमिच्छतां मतनि-  
रस्त्याय वर्णकान्तरमारभ्यते । तत्र वेदान्ता विधेयोपासनाविषयत्वेन  
ब्रह्म समर्पयन्ति उत साक्षादिति सिद्धे व्युत्पत्त्यभावभावाभ्यां संशये  
पूर्वपक्षः । प्रवृत्त्यादिलिङ्गाभावाच्च सिद्धे व्युत्पत्तिः संभवतीति न  
सिद्धब्रह्मपरा वेदान्ताः । किं च प्रवृत्तिपरस्यैव शास्त्रत्वेन सिद्धब्रह्मप-  
रत्वे शास्त्रत्वं च न संभवति नापि प्रयोजनवस्त्वम् । अहं ब्रह्मास्मीति  
ज्ञाने सत्यपि प्रयोजनस्य संभवादर्शनात् । यद्येवंभूतज्ञानात्प्रयोजनसि-  
द्धिस्तर्हि मननाविविधानं न स्यात्तस्मात् 'आत्मेत्येवोपासीत' [ बृ०  
१ । ४ । ७ ] 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' [ मु० ३ । २ । ९ ] ब्रह्मभ-  
वनकामो ब्रह्मवेदनं कुर्यात् । इत्येवमादिविधिषु कोऽसावात्मेत्याकाङ्क्षार्या  
तत्समर्पकत्वेन सर्वे वेदान्ता उपयुज्यन्ते । उपासनासाध्यश्च मोक्ष  
इत्युच्यते । 'तत्तु समन्वयात्' तद्वद्ब्रह्म साक्षाद्वेदान्तप्रतिपाद्यं कुतः  
समन्वयादित्यर्थः । न तावदुपासनासाध्यो मोक्षः । उपासनायास्तारत-  
म्येन तत्साध्यमोक्षस्यापि तारतम्यमनित्यत्वं च स्याद्विधेयकर्मफलभोग-  
दृश्यां शरीरस्याऽऽवश्यकत्वेन मोक्षेऽपि शरीरं स्यात् । किंच 'अशरीरं  
वाच सन्तं प्रियाप्रिये न स्पृशतः' [ छा० ८ । १२ । १ ] इति मुक्तस्य  
प्रियाप्रियस्पर्शनिषेधो न स्यात् । मोक्षस्य धर्मफलत्वेन तस्यैव प्रियस्य  
विद्यमानत्वात् । श्रुत्यर्थस्तु—वस्तुतोऽशरीरं तमात्मानं वैषयिके सुखदुःखे  
नैव स्पृशतः । वावेत्यवधारणादिति । ननु धर्मजन्याशरीरत्वाख्यमोक्षा-  
तिरिक्तसुखादिनिषेधपरमिदं वाक्यमिति चेन्न । 'अशरीरं शरीरेष्वन-  
वस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति' [ काठ-  
२ । २२ ] 'अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः' [ मु० २ । १ । २ ] असङ्गो ह्ययं  
पुरुषः [ बृ० ४ । ३ । १५ ] इत्यादिश्रुतिभ्योऽशरीरत्वस्य स्वाभावि-  
कत्वावगमात् । श्रुतीनामयमर्थः—वस्तुतो नास्ति स्थूलं शरीरं [ यस्ये-  
त्यर्थः । ] तत्र हेतुः—शरीरेष्विति । अनवस्थेष्वनित्येषु अवस्थितं  
नित्यम् । तत्रैव हेत्वन्तरं महान्तमिति । आपेक्षिकमहत्त्वं वारयति—  
विभुमिति । मन्तुमन्तव्यभेदं प्रत्याह—आत्मानमिति । ईदृशमात्मानं  
मत्वा धीरो भवति । न हि तन्मतिं विना धीरत्वम् । [ स च धीरः ]

(दी०) भावाज्जैमिनीयवचनविरोधाच्चाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तत्त्विति । तुशब्दः

(ब्र० व०) शोकोपलक्षितं संसारं नानुभवतीत्यर्थः । सूक्ष्मशरीराभावे श्रुतिः—  
अप्राण इति । क्रियाशक्तिमान्प्राणोऽस्य वस्तुतो नास्तीति तन्निषेधा-  
त्तत्प्रधानानि सार्थानि कर्मेन्द्रियाणि निषिद्धानि तदभिप्रायेण हि-  
शब्दः । ज्ञानशक्तिमन्मनोऽस्य वस्तुतो नास्तीति तन्निषेधात्तत्प्रधानानि  
ज्ञानेन्द्रियाणि सार्थानि निषिद्धानि । अत एव शुभ्रः शुद्ध इत्यर्थः ।  
स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवतीति स्वप्नादिकृतकर्मस्व-  
कर्ताऽऽत्मेति उक्तेऽर्थे हेतुरुच्यते ‘असङ्ग’ इति श्रुत्या । मूर्ते मूर्तान्त-  
रेण पुज्यमानं स्पन्दते आत्मा तु पूर्णत्वान्न मूर्तेन स्थूलसूक्ष्मशरीरादिना  
केनचिद्युज्यतेऽतो न कर्तेत्यर्थः । एवं स्वाभाविकाशरीरत्वापरपर्यायमो-  
क्षाख्यब्रह्माणि सुखादिसंस्पर्शाभावे श्रुत्यन्तरमपि—

अन्यत्र धर्मादम्यघ्राधर्मादन्यघ्रास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्पश्यसि तद्वद् [ क० १।२।१४ ]

इति । धर्मात्तत्फलाच्च सुखादधर्मात्तत्फलाच्च दुःखात्कृतात्कार्यादिकृ-  
तात्कारणाद्भूतादतीताद्द्वयान्धाविनः । चशब्देन विद्यमानादम्यघ्रा-  
न्यदित्यर्थः । एतत्सर्वासंस्पर्शिति यावत् । एवंभूतं यत्पश्यसि तद्वदेति  
मृत्युं प्रति नचिकेतसो वचनम् । अपि च मोक्षस्य कर्मफलत्वे स्वर्गा-  
दिवन्मुमुक्षूपावेयत्वं न स्वात् । ‘ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति’ [ मु० ३।  
२।९ ] ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे’ [ मु० २।  
२।८ ] ‘आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चनेति ।’ [ तै०  
२।९ ] ‘अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि’ [ बृ० ४।२।४ ] ‘तदा-  
त्मानमेवावेदं ब्रह्मास्मीति’ [ बृ० १।४।१० ] ‘तस्मात्तत्सर्वम-  
भवत् ।’ [ बृ० ४।२।४ ] ‘तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुप-  
श्यतः ।’ [ ईशा० ७ ] तद्वैतत्पश्यन्नृषिर्वाग्देवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं  
सूर्यश्च [ बृ० १।४।१० ] इत्येवमादीनां ब्रह्मविद्याकाल एव मोक्षं  
दर्शयन्तीनां बाधश्च स्यात् । कर्मफलानां कालान्तरभावित्वनियमात् ।  
श्रुतीनामर्थस्तु—यो ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन वेद साक्षात्करोति स तदैव वेद्यं  
ब्रह्म भवति । तस्मिन्परमात्मनि परं कारणमवरं कार्यं तद्रूपे तदधिष्ठाने  
प्रत्यक्त्वेन साक्षात्कृते सत्यस्य विदुषोऽभुक्तफलानि कर्माणि क्षीणानि  
भवन्ति । ब्रह्मणो रूपमानन्दं विद्वान्भयहेत्वभावाग्निर्भयो भवति । इति  
शब्दः श्लोकपूरणार्थः । हे जनक त्वमभयं ब्रह्म प्राप्तोऽसि । तत्त्वसाक्षात्का-

(दी०) पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । तदुक्तं न कुतः । तद्यथोक्तं ब्रह्म वेदान्तशास्त्रादेवा-



(ब्र० व०) रवत्त्वाद्यदस्मिन्नेहे जलसूर्यवत्प्रविष्टं ब्रह्म जीवाख्यं तदाचार्येण बोधितमात्मानमेव सर्वकल्पनातीतमवेद्विदितवत्कथमहं ब्रह्माद्वितीयमस्मीति । तस्माज्ज्ञानादज्ञानकृतासर्वज्ञत्वादिनिवृत्त्या तद्ब्रह्म पूर्णात्मना स्थितमासीत् । ' यस्मिन्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ' [ईशा० ७] इति यः सर्वात्मभावो विद्या\*व्यङ्ग्यत्वेनोक्तस्तत्राऽऽत्मनि तद्धीकाले तदात्मैक्यमुपदेशेन पश्यतः शोकाद्युपलक्षितः संसारो नास्ति । तत्पदलक्ष्यं ब्रह्मतत्त्वात्मत्वेनावस्थितमहमस्मीति पश्यन्नस्मादेव दर्शनाद्विर्वाग्देवाख्यः परं ब्रह्माविद्याध्वंसद्वारा प्रतिपेदे प्रतिपन्नधाम्निकलेति हृशब्धो व्यवधानेन संबध्यते । स चास्मिन्दर्शने स्थितः सर्वात्मभावप्रकाशकानहं मनुरभवमित्यादीन्मन्त्रांश्च वददर्श । इतश्च ब्रह्मधीर्न विधेया + तत्फलं च न वैधमिति गम्यते । तथा हि—' त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसि ' । [प्र० ६। ८] ' श्रुतं ह्येवं मे भगवद्बृहशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवान्शोकस्य पारं तारयतु ' [छा० ७। १। ३] तस्मै मृदितकपायाय तमसः पारं दर्शयति भगवान्सनत्कुमारः ' [छा० ७। २। २] इत्याद्याः श्रुतयो ब्रह्माविद्याया अविद्यानिवृत्तिद्वारा मोक्षहेतुत्वं दर्शयन्ति । अविद्यानिवर्तकत्वं च प्रमाणवस्तुपरतन्त्रज्ञानस्यैवेति न विधेया ब्रह्माविद्या तत्फलं च न विधिसाध्वमिति श्रुतीनामेषोऽर्थः— भरद्वाजादयः षड्भक्तयः परविद्याप्रदं पिप्पलादाख्यं गुरुं विद्यानिष्क्रयार्थमन्यदनुरूपं पश्यन्तः पादयोः प्रणम्योचिरे । त्वं खल्वस्माकं पिता ब्रह्मदेहस्याजरामरणस्य विद्यया जनयितृष्यात् । पितरौ तु हेयदेहमात्रमेव जनयतः । जनयितृत्वमपि सिद्धस्यैवाविद्यानिरासादित्याह । यस्त्वमस्मानविद्यामहोदधेः परमपुनरावृत्तिरूपं पारं तारयसि प्रापयसि विद्याप्लवेनेति । श्रुतं हीत्यादितारयत्वित्यन्तमुपक्रमस्थं शेषमुपसंहारस्थमिति भेदः । मे मम भगवद्बृहशेभ्यो भगवत्तुल्येभ्यः श्रुतमेवं यदात्मविच्छोकं मनस्तापमकृतार्थबुद्धिं तरतीति । सोऽहमनात्मविच्छोचामि अतस्तं मां शोचन्तं शोकसागरस्य पारमन्तं तारयतु प्रापयतु भगवानात्मज्ञानोद्भवेनेति नारदेन प्रेरितः सनत्कुमारस्तस्मै नारदाय मृदि-

(दी०) वगम्यते । कथम् । समन्वयात् । सम्यगन्वयः षड्विधतात्पर्यलिङ्गं

\* विद्यागम्यत्वेनोक्तः । + विधेया विधिविषयका विधिप्रतिपाद्या वा न भवेदित्यर्थः । तत्फलं मोक्षाख्यं तदपि न वैधं नाम विधिविषयकं विधिप्रतिपाद्यं वा न भवेदित्यर्थः ।

(ब्र० व०) तद्व्याप्याय वैराग्यादिना क्षालितरागादिसमस्तदोषाय योग्याय तमसोऽविद्यायाः पारं परमात्मतत्त्वं दर्शितवानिति । ननु ब्रह्मैव विधेयः-मस्तु मुक्तेः फलस्य सत्त्वात् । न च ब्रह्मणोऽकारकत्वाद् विधेयता ब्रह्म वेदेत्यादिना कर्मत्वप्रतीतेरिति चेन्न । फलासंभवस्योक्तत्वाद्ब्रह्मणः कृत्य-साध्यत्वेन विधेयत्वानुपपत्तेश्च । नापि कर्मत्वम् । किं विदिक्रियाकर्म-त्वमुतोपासनाकर्मत्वम् । नाऽऽद्यः । ‘अन्यदेव तद्विदितादथो अविदिता-दधि’ [ केन० १।३ ] ‘येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्’ । [ बृ० २।४।१३ ] इत्यादिना विदिक्रियाकर्मत्वप्रतिषेधात् । न द्वितीयः । ‘तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते’ [ केन० १।४ ] इत्युपासनाकर्मत्वप्रतिषेधात् । श्रुत्यर्थस्तु-तद्ब्रह्म विदितात्कार्यादन्य-देवाथो अप्यविदितात्कारणादप्यन्यदेवाध्युपरिष्ठादप्यन्यदेवेति । येन प्रमात्रेदं सर्वं वस्तु लोको जानाति तं केन करणेन जानीयात्करणस्य ज्ञेयविषयत्वाज्ज्ञातार्थप्रवृत्तेस्तस्मान्न ज्ञाता ज्ञेयः किंतु साक्षीति । ‘यद्वा-चाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते’ [ केन० १।४ ] इति अविषयत्व-मुक्त्वा तदेवेति प्रमात्रादेः कल्पनामपोह्याऽऽत्मभूतं ब्रह्म महत्तममिति त्वं विद्धि यदुपाधिविशिष्टं देवतादिकमिदमित्युपासते जना नेदं त्वं ब्रह्म विद्धीत्यर्थः । इतश्च ब्रह्मणोऽकर्मत्वं गम्यते-‘यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः । अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्’ । [ केन० २।३ ] ‘न दृष्टेर्द्रष्टारं पश्येर्न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः’ [ बृ० ३।४।२ ] इत्यादिश्रुतयोऽविषयत्वं बोधयन्ति । यस्य ब्रह्मामतम-विषय इति निश्चयस्तस्य तन्मतं सम्यग्ज्ञातं यस्य मतं विषयतया ज्ञातुं शक्यं ब्रह्मेतिधीनांसौ तद्वेद भेदधीमत्त्वात् । एवमेवेति नियमार्थमुक्तार्थ-मनुवदति-अविज्ञातमिति श्रुतिः । विषयतयाऽज्ञातमेव ब्रह्म सम्यग्ज्ञातं विशेषज्ञानवतां ज्ञातमेव विषयतया यथावदजानतामिति । बुद्धिमा-न्विषयतया न जानाति मूर्खस्तु विषयतया जानातीति तात्पर्यार्थः । दृष्टेश्चक्षुर्जन्यायाः कर्मभूताया द्रष्टारं स्वभाषभूतनित्यदृष्ट्या व्याप्तारं दृश्ययाऽनया दृष्ट्या न पश्येर्विज्ञातेर्बुद्धिधर्मस्य निश्चयस्य विज्ञातारं साक्षिणं तथैव वेद्यया विज्ञात्या न विजानीया इति मैत्रेयीं प्रति पाज्ञ-वल्क्यवचनम् । नन्वविषयत्वे कथं शास्त्रप्रमाणकत्वमिति चेन्न । तज्ज्ञान्या

(दी०) तस्मात् ॥ ४ ॥

(ब्र० व०) विद्याभ्रान्तिध्वंसरूपातिशयवत्त्वेन तद्विषयत्वसंभवादिति । किंच न तावद्विधेयक्रियोत्पाद्यत्वं मोक्षस्य स्वरूपमनादित्वात् । न विकार्यत्वम्—‘ अविकार्योऽयमुच्यते ’ [ भ० गी० २।२५ ] इति श्रुतेः । नाप्याप्यत्वं नित्यासत्वात् । नापि संस्कार्यत्वं निर्गुणत्वेन गुणाधानलक्षणसंस्काराभावात् । नापि दोषापनयः संस्कारः संभवति । ब्रह्माणि क्रियाया अभावेन स्वनिष्ठक्रियया दोषापगमायोगात् । अन्यनिष्ठक्रिययाऽन्यत्र संस्कारायोगात् । न च देहनिष्ठक्रिययाऽऽत्मनि संस्कारो दृष्ट इति वाच्यम् । देहादिसंहतिनिष्ठक्रियया तस्यैव संस्कार्यत्वं तत्फलभोक्तृत्वं चेत्यवगमात् । तथा च श्रुतिः—‘ आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ’ [ का० १।३।४ ] इति आत्मीयं शरीरमात्मेत्युच्यते । तथा च शरीरादिसंयुक्तमात्मानं भोक्तेति मनीषिण आहुरित्यर्थः । यद्वाऽऽत्मा भोक्तेत्याहुरिति संबन्धः । इन्द्रियेत्यादि क्रियाविशेषणम् । आत्मानि दोषाभावाच्च न दोषनिवृत्तिसंस्कारः संभवति । निर्गुणत्वे निर्दोषत्वे श्रुतिरेव मानम् । यथा हि—‘ एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ’ [ श्वेता० ६।११ ] स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्त्राविर\* शुद्धमपापविद्धम् ’ [ ईशा० ८ ] अनयोर्मन्त्रयोरयमर्थः—मूर्तित्रयस्य ब्रह्मरुद्राद्यात्मना भेदं प्रत्याह—एक इति । जाड्यं प्रत्याह—देव इति । ज्ञानघन इत्यर्थः । आदित्याद्वैषम्यमाह—सर्वेति । तर्हि किमिति न प्रतीयते तत्राऽऽह—गूढ इति । अनादिमायया छन्न इत्यर्थः । तत्तद्भूतावच्छिन्नत्वेन परिच्छिन्नत्वं नेत्याह—सर्वव्यापीति । न भोवत्ताटस्थं वारयति—सर्वभूतान्तरात्मेति । सर्वेषु भूतेष्वन्तःस्थितस्य तत्तत्क्रियाकर्तृत्वं नास्तीत्याह—कर्माध्यक्ष इति । सर्वकर्मसाक्षीत्यर्थः । सर्वभूतेष्वित्यादिना भूतानां पृथगुक्तेः सद्वितीयत्वमाशङ्क्याऽऽह—सर्वेति । सर्वेषां भूतानामधिवासोऽधिष्ठानम् । न च कल्पितमधिष्ठानादर्थान्तरमित्यर्थः । न केवलं कर्मणामेवाध्यक्षोऽपि तु तत्कर्तृणामपीत्याह—साक्षीति । साक्षित्वे हेतुमाह—चेतेति । चित्स्वभाव इत्यर्थः । केवलो दृश्यविषर्जितः । अद्वितीयः । निर्गुणो ज्ञानादिरहितः । चकारो दोषाभावसमुच्चयार्थः । गुणदोषाभावे मन्त्रान्तरं स पर्यगादिति । सः । यस्तु सर्वाणि भूतानीति प्रकृत आत्मा परितः समन्तादगात्सर्वतो गत इत्यर्थः । शुक्रमित्यादिशब्दाः पुंलिङ्गत्वेन नेयाः स इत्युपक्रमात् । शुक्रो दीप्तिमान् । अकायो लिङ्गशरीररहितः । अव्रणोऽक्षतः । अस्त्राविरोऽ-

(ब० व०) नाशी । आभ्यां स्थूलदेहमाव उक्तः । शुद्धो रागादिगुणरहितः । अपापविद्धो धर्माधर्मविधुरः । तस्मान्न संस्कार्यो मोक्षस्तस्मान्न कर्तव्यविधिशेषतया ब्रह्मोपदेशसंभवः । यत्तु सिद्धे प्रवृत्त्यादिलिङ्गामावाञ्छा शक्तिग्रह इति तन्न । प्रवृत्तिनिवृत्ती एव लिङ्गमिति न निर्बन्धः । पुत्रस्ते जात इत्यादौ हर्षादिलिङ्गेऽपि शक्तिग्रहसंभवात् । यत्तु प्रवृत्त्यादिपरमे (स्यै) व शास्त्रत्वमिति तदपि न । हितशासनाद्वेदान्तानां शास्त्रत्वोपपत्तेः । नापि फलाभावः । ब्रह्मात्मसाक्षात्कारस्य मोक्षफलकत्वात्तादृशसाक्षात्कारार्थं मननादिसार्थक्यं चेति न कथंचिदपि विधिप्रवेशः । ब्रह्मात्मावगतेः प्रवृत्त्यादिनिरपेक्षाया मोक्षहेतुत्वं श्रुतिरपि दर्शयति—‘आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः । किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्’ [ बृ० ४ । ४ । १२ ] इति । अयं परमात्माऽहमस्मीत्यपरोक्षतया यदि कश्चित्पुरुषो विजानीयात् । आत्मसाक्षात्कारदौर्लभ्यद्योती चेच्छब्दः । स स्वातिरिक्तमात्मनः किं फलमिच्छन्कस्य वा पुत्रादेः कामाय फलाय तदलाभेन शरीरं तप्यमानमनु तदुपाधिः सन्संज्वरेत्संतपेतेति । नन्वशरीरत्वाख्यमोक्षस्य स्वाभाविकत्वं सिद्धवत्कृत्य न धर्मजन्यत्वमित्युक्तं तद्युक्तं शरीरदशायामशरीरत्वस्याभावेन धर्मजन्यत्वसंभवादिति चेन्न । सशरीरत्वस्य मिथ्यात्वेनाशरीरत्वस्य स्वाभाविकत्वात् । तथा च ब्रह्मविद्विषया श्रुतिः—‘तद्यथाऽहिनिर्लव्यनी घल्मीके मृता प्रत्यस्ता शयीतैवमेवैषः शरीरः शोतेऽथायमशरीरोऽमृतः प्राणो ब्रह्मैव तेज एव’ [ बृ० ४ । ४ । ७ ] इति । ‘सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव सवागवागिव समना अमना इव सप्राणोऽप्राण इव’ इति च । अनया श्रुत्याऽहं ब्रह्मास्मीति ज्ञाने सत्यपि मुक्तिर्न दृश्यते किं तु यथापूर्वं संसारित्वमेवेति शङ्काऽपि परिभूता भवति । श्रुत्योर्थस्तु—‘अत्र ब्रह्म समश्नुते’ इति पूर्ववाक्ये जीवन्मुक्तिरुक्ता स जीवन्मुक्तो देहज्ञोऽपि पूर्ववन्न संसरतीत्यत्र दृष्टान्तमाह—तद्यथेति । तत्तत्र जीवन्मुक्तदेहे । ईदृशदेहे दृष्टान्तो यथेति । यथा लोकेऽहिनिर्लव्यनी सर्पयिमुक्ता त्वग्बल्मीके प्रत्यस्ता प्रक्षिप्ता मृता

\* कन्या ते गर्भिणीत्यत्र मुखमालिन्यं पुत्रस्ते जात इत्यत्र मुखविकासेन सिद्धेऽप्यर्थे व्युत्पत्तिः संभवति । व्युत्पत्तिर्ज्ञानम् ।

(ब० व०) पूर्वमिव सर्पेणाऽऽत्मत्वेनागृहीता वर्तत एवमेवेवं विदुषः शरीरं प्राग्विवाऽऽत्मत्वेनागृहीतं तिष्ठतीत्यर्थः । त्वच्चा साम्यं शरीरस्योक्त्यां सर्पसाम्यं विदुषो दर्शयति—अथेति । तथार्थकोऽथशब्दः । यथा प्रत्यस्तां त्वचमहिरहमिति नामिमन्यते तथाऽयं जीवन्मुक्तो देहज्ञोऽपि न तत्राहं धियमादधातीत्यशरीरः । अशरीरत्वादेवामृतो देहाभिमान-वतो हि मृतिर्निरुपाधिकः सन्प्राणितीति जीवति प्राणः साक्षी स च ब्रह्मैव तच्च तेजो विज्ञानज्योतिः । अनया स्थूलदेहस्य मिथ्यात्वं दर्शयित्वा सचक्षुरचक्षुरिति श्रुत्या लिङ्गशरीरस्य मिथ्यात्वं दर्शयति—वस्तुतोऽचक्षुरपि बाधितचक्षुराद्यनुवृत्त्या सचक्षुरिवेत्यादियोजना । तस्माद्वेदान्ताः साक्षादेव ब्रह्माणि समन्वयं गता न विधिद्वारेति सिद्धं ब्रह्म स्वतन्त्रमेव शास्त्रप्रमाणकमिति ॥ ४ ॥

एवं चतुर्भिः सूत्रैः सर्वज्ञं सर्वशक्तिजगत्कारणं वेदान्तप्रतिपाद्यं ब्रह्म-त्युक्तं वस्तुतस्तच्चेतनमचेतनं वेति संशयस्तत्र सांख्याः कूटस्थब्रह्मणो ज्ञानशक्त्यभावाच्च जगत्कारणं प्रधानस्य तु तत्सत्त्वात्कारणं सत्त्वगुण-मादाय ज्ञानशक्तित्वं त्रिगुणत्वात्क्रियाशक्तिमत्त्वं च ब्रह्मण एकत्वाच्च क्रियाशक्तिस्तस्मात्सर्वज्ञं सर्वशक्तिप्रधानमेव तदनुवादका वेदान्ता इति वदन्ति तन्मतनिरासार्थमिदं सूत्रमारभ्यते—

( प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वाभावकथनम्, अधि० ५ )

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ ५ ॥

सांख्यपरिकल्पितं प्रधानं जगत्कारणं न भवति तत्र हेतुरशब्दमिति । हेतुगर्भं विशेषणमेतत् । अशब्दत्वादवेदप्रमाणकत्वादित्यर्थः । वेदाप्रमा-णकत्वे हेतुरीक्षतेरिति । धातुवाचकेक्षतिशब्दो लक्षणया धात्वर्थेक्षण-परः । ईक्षितृत्वश्रवणादित्यर्थः । अस्य चाऽऽक्षेपसंगतिः फलं च प्रधा-नैक्यसंपदुपास्तिः पूर्वपक्षे सिद्धान्ते तु ब्रह्मैक्यप्रमितिरेति विवेकः । एवं हि श्रूयते—‘सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ [ छा० ६ । २ । १ ] इत्युपक्रम्य ‘तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति [ छा० ६ । २ । ३ ]

(दी०) पूर्वाधिकरणे पुत्रस्ते जात इत्यादौ संगतिग्रहणस्य रज्जुरिप्यं नायं सर्प इत्यादौ प्रयोजनस्य च दर्शनाज्जैमिन्यादिवचनानां कर्माभिप्रायक-त्वात्सर्वज्ञे सर्वशक्तौ ब्रह्माणि शास्त्रमेवप्रमाणमेव समन्वयादित्युक्तम् । न च ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं सर्वशक्तित्वं च । ज्ञानस्वभावत्वाद्वितीयत्वाच्च ।

( ब्र० व० । ) तत्र प्रधानस्यैवोपक्रम ईक्षितृत्वश्रवणं विरुध्येत । ईक्षणस्य चेतनधर्मत्वात् । न च ब्रह्मणो ज्ञानक्रियाशक्त्यभावः । अविद्यामहिम्ना सर्वस्याप्युपपत्तेः सत्त्वप्रधानपरमाणुप्रेरक ईश्वरः सद्वितीय ईक्षितेति पात-  
ञ्जलादिमतनिराकरणार्थं श्रुतावेकपदमुपादानस्य चेतनत्वार्थं तदैक्षतेति उपादानत्वार्थं बहु स्यामिति । एवमैतरेयश्रुतिः—आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान् सृजा इति । स इमाँल्लोकानसृजत [ ऐत० १ । १ । १ ] इतीक्षणपूर्विकामेव सृष्टिमाचष्टे । मिषञ्चलत्सस्वाक्रान्तमिति यावत् । एवं सर्वत्रेक्षणपूर्वकसृष्टिश्रवणा-  
द्ब्रह्मैव जगत्कारणमिति ॥ ५ ॥

नन्वीक्षणमात्रेण न ब्रह्मजगत्कारणमिति निश्चयः । ‘ तत्तेज ऐक्षत ’ [ छा० ६ । २ । ३ ] ‘ ता आप ऐक्षन्त ’ [ छा० ६ । २ । ४ ] इत्ये-  
तनयोरस्तेजसोरीक्षणश्रवणात्तत्समभिध्याहारात्प्रधानेऽपीक्षतिर्गौण इति प्राप्त उच्यते—

गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् ॥ ६ ॥

अस्तेजसोरिव प्रधान ईक्षतिर्गौण इति चेन्न । कुतः । आत्मशब्दादा-  
त्मशब्दश्रवणादित्यर्थः । ‘ सदेव सोम्येदमग्र आसीत् । ’ [ छा० ६ । २ । १ ] इत्युपक्रम्य ‘ तदैक्षत ’ [ छा० ६ । २ । ३ ] ‘ तत्तेजोऽसृजत ’ [ छा० ६ । २ । ३ ] इति तेजोबद्धानां सृष्टिमुक्त्वा तदेव प्रकृतं सदीक्षितु तानि च तेजोबद्धानि देवताशब्देन परामृश्याऽऽह—‘ सेयं देवतैक्षत हस्ता-  
हमिमास्तिस्त्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकर-  
वाणि ’ [ छा० ६ । ३ । २ ] इति श्रुतिः । तत्र यद्यचेतनं प्रधानमवेक्षितु तदा सेयं देवतेति तस्यैव परामर्शात्तदात्मत्वेन जीवकीर्तनमनुपपन्नं स्यात् । आत्मा हि स्वरूपं न च चेतनो जीवोऽचेतनस्याऽऽत्मा । ब्रह्माणि तु जीवविषय आत्मशब्द उपपद्यते । ‘ य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं स सर्वं तत्सत्यं स

( दी० । ) तस्मादुपचारात्प्रधानादिकमेव सर्वज्ञं सर्वशक्तिं च । अतस्तत्रैव समन्वय इति प्राप्त इदं सूत्रम्—ईक्षतेरिति । न सांख्यादिपरिकल्पितं प्रधा-  
नादि वेदान्तेषु प्रतिपाद्यते । कुतः । अशब्दं हि तत् । कथम् । ईक्षतेः । चेतनत्वश्रवणादित्यर्थः ॥ ५ ॥

‘ तत्तेज ऐक्षत ’ ‘ ता आप ऐक्षन्त ’ इतिवत्तदैक्षतेत्यत्रापि उपचारादय-  
मीक्षणशब्दस्तेजआदिवदिति प्राप्त इदं सूत्रम्—गौणश्चेदिति । गौ(गु)-  
णयोगादुपचारात्प्रवृत्तो गौणश्चेद्यदि प्रधानादीनामिति ब्रूषे तन्न । कुतः ।

( ब्र० व० । ) आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [छा० ६।८।७] इति श्वेतकेतोर्जी-  
वस्याऽऽत्मतादात्म्योपदेशात् । न हि चेतनस्य चेतनाभेदे \* शङ्का-  
शूकः । न चात्तेजसोर्गौणैक्षणश्रवणात्तत्प्रायपठितत्वेन तदैक्षतेत्यादौ  
गौणैक्षणमेवेति वाच्यम् । संशयस्थल एव प्रायपाठस्य निश्चा-  
यकत्वम् । प्रकृते तु गौणमुख्ययोर्गौणस्य अघन्यत्वेन संशयाभावात् ।  
अत एव भगवाञ्जैमिनिर्विशये प्रायदर्शनात् । [ जै० सू० २ । ३ ।  
६ । ] इति संशयस्थले प्रायदर्शनस्य निश्चायकत्वमाह । अत्तेजसोऽस्तु  
नैवं मुख्यत्वे किञ्चित्कारणमस्तीति गौणमीक्षणं कूलं पिपतिषतीतिवत् ।  
श्रुत्यर्थस्तु—आकाशं वायुं च सृष्ट्वा तत्सदेवेत्युपक्रान्तं सच्छब्दवाच्यं  
ब्रह्म तेजः सृष्टवदिति प्रकृतसदात्मा परामृश्यते सेयमिति संनिहितेक्षितु-  
परामर्शो देवतेत्यलौकिकत्वमुक्तम् । ईक्षणमभिनयति—हन्तेति । सृष्टि-  
वाक्येनोक्तानि तेजोब्रह्मानि परामृशति—इमा इति । सूक्ष्मभूतास्तस्रो  
देवता मया सृष्टा इत्यर्थः । सूक्ष्मत्वेन परोक्षत्वाद्देवताशब्दप्रयोगः ।  
तासां व्यवहाराङ्गत्वं कथमित्यत आह—अनेनेति । पूर्वसृष्ट्यनुभूतेन  
प्राणवृत्तिहेतुना जीवेनाऽऽत्मना तद्रूपेणोक्तदेवतासर्गानन्तरं नाम रूपं  
चेति विस्पष्टमा समन्तात्करवाणीति पराधिदेवतेक्षितवतीत्यर्थः । यः  
सदाख्यः स एषोऽणिमाऽणुरित्यर्थः । तुर्विज्ञेय इति यावत् । ऐतदात्म्य-  
मेतदात्मकं भावभावित्रोरभेदात् । परमसूक्ष्मं सर्वात्मकं सदेव सत्यं  
पारमार्थिकं तत्त्वं स एव सर्वस्याऽऽत्मा + निरुपचरितस्वरूपं हे श्वेत-  
केतो त्वं च संसारी नासि किंतु तदेव ब्रह्मेत्यक्षरयोजना ॥ ६ ॥

नन्वात्मशब्दोऽपि प्रधाने गौणोऽस्तु नानार्थकतया मुख्यो वेत्यत  
आह—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ ७ ॥

न प्रधानमात्मशब्दवाच्यम् । ' तत्सत्त्व\* स आत्मा [ छा० ६।८।७ ]

( दी० । ) आत्मशब्दात् । आत्मेति शब्द आत्मशब्दस्तस्मात् । तथा हि—  
'अनेन जीवेनाऽऽत्मना' इति देवतायामात्मशब्द इति ॥ ६ ॥

नन्वात्मशब्दोऽप्ययं ममाऽऽत्मा भद्रसेन इतिवच्चेतनाचेतनवाची ज्योतिः-

\* अङ्कुर इत्यर्थः । + पारमामार्थिकम् ।

१ ग. 'णवृतिहे' । २ ग. 'नासद्' । ३ ख. वद्धत्वाची भूतात्मेन्द्रियात्मेति । ४ ख. 'ची  
वा' । इत्यधिकम् ।

( ब० व० । ) इति प्रकृतं सद्गणिमानमादाय 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' [ छा० ६ । ८ । ७ ] इति चेतनस्य श्वेतकेतो \* मोक्षयितव्यस्य तन्निष्ठतामुपदिश्य 'आचार्यवान्पुरुषो वेद' 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इति मोक्षोपदेशात् । यदि ह्यवेतनं प्रधानं सच्छब्दवाच्यं मुमुक्षुं श्वेतकेतुं तत्त्वमसीति शास्त्रं ग्राहयेद्धे श्वेतकेतो चेतनाचेतनोऽसीति तदा शास्त्रप्रामाण्यादचेतनोऽस्मीति ध्यायमानो मोक्षाद्याहन्येतानर्थं चेयात्तथा च शास्त्रमुन्मत्तप्रलापो भवेत्तच्चानिष्टं तस्मादात्मशब्दश्चेतनपर इति । ऐक्यापरोक्षप्रतिबन्धकनिवृत्तिमाह श्रुतिः 'आचार्यवान्पुरुषः' इति + उक्तप्रमित्या सर्वबन्धनिवृत्त्या देहादिद्विष्टिरपि निवृत्तिं प्राप्ता । प्रारब्धकर्मणा तददृष्ट्यनुवृत्तिमाह—तस्येति । कथं तर्हि प्रारब्धकर्मनिवृत्तिरित्याशङ्क्य भोगादित्याह—यावदिति । प्रारब्धध्वस्तावपि कथं देहादिध्वंस इत्याशङ्क्याप्रतिबन्धादित्याह—अथेति । उत्तमपुरुषस्तूभयत्र प्रथमपुरुषे छान्दसत्वादिति ॥ ७ ॥

ननु × स्थूलारुन्धतीन्यायेन प्रधानोपदेशद्वाराऽऽत्मोपदेशोऽयमस्तु तत्राऽऽह—

हेयत्वावचनाच्च ॥ ८ ॥

यद्यनात्मैव प्रधानं सच्छब्दवाच्यम् । 'स आत्मा तत्त्वमसि' इतीहोपदिष्टं स्यात्स तदुपदेशश्रवणादनात्मज्ञतया तन्निष्ठो मा भूदिति मुख्यमात्मानमुपदिदिषु शास्त्रं तस्य हेयत्वं ब्रूयात् । यथाऽरुन्धतीं दिदर्शयिषुस्तत्समीपस्थताराया हेयत्वं ब्रूते तद्वदित्यर्थः । एकविज्ञानात्सर्धविज्ञानोपक्रमविरोधसमुच्चयार्थश्चशब्दः । तथा हि—'उत तमादेशमप्राक्ष्यो

( दी० ) शब्दो यथा क्रतुज्वलनवाचीत्यत आह—तदिति । नेत्यनुवर्तते । तदुक्तं न कुतः । तस्मिन्प्रकृते सद्गणिमादिगुणे निष्ठा तादात्म्यबुद्धिर्यस्य सोऽयं तन्निष्ठस्तस्य श्वेतकेतोः 'तत्त्वमसि' इति वाक्याप्रतिबुद्धस्य चेतनस्य मोक्षोऽविद्यातत्कार्यनाशः 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' इत्युपदेशः श्रुत्या कथनं तस्मात् ॥ ७ ॥

अरुन्धतीदर्शनन्यायेन तन्निष्ठतेत्यत आह—हेयेति । यद्यरुन्धती-

\* मोक्षयोग्यस्य । + ज्ञानेन । × स्थूलारुन्धतीति । यथाऽरुन्धतीं प्रदिदर्शयिषुः स्थूलास्ताराः प्रदर्शयति तद्वत् ।



( ब० व० ) येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम्' [छा० ६।१।२] इति । ' कथं नु भगवः स आदेशो भवति ' इति । ' यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ' [ छा० ६।१।२ ] ' एवं सौम्य स आदेशो भवति ' [ छा० ६।१।६ ] इति वाक्य एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानोपक्रमः श्रूयते स विरुध्येत प्रधानज्ञानात्तद्विकारज्ञानेऽपि भोक्तृवर्गज्ञानासंभवादिति । श्रुत्यर्थस्तु—हे श्वेतकेतो येन श्रुतेन शास्त्रतोऽन्यदश्रुतमपि श्रुतं भवति । येन मतेन तर्कतोऽन्यदमतमपि मतम् । येन विज्ञातेनान्यदपि विज्ञातं भवति । तमादेशमादिश्यत इत्यादेशः शास्त्राचार्योक्तिगम्यं वस्तु अप्राक्ष्यः पृष्ठवानसि त्वमाचार्यमिति पितृवाक्यार्थः । अन्यज्ञानादन्यन्न ज्ञेयमिति पुत्रो ब्रूते—कथं नु भगव इति । कार्यस्य कारणान्नान्यत्वमित्याह—यथेति । ज्ञातेऽपि मृत्पिण्डे कथं तद्विकारधीरित्यत आह—वाचेति । यो विकारः स वागालम्बनमुच्यते परं वस्तुतो नास्तीत्यर्थः । तत्र हेतुर्नामधेयमिति । नाममात्रमेव नार्थोऽस्तीत्यर्थः । तर्हि मृदघटयो-रभेदे घटनाशे मृदोऽपि नाशः स्यादत आह—मृत्तिकेति । घटो मृद्भिन्नत्वेन निर्वक्तुं न शक्यत इति स ततोऽभिन्न एष मृत्तु घटाद्भिद्यत इति न दोष इति ॥ ८ ॥

सदेव सोम्येति सच्छब्दवाच्यं प्रधानमितोऽपि न भवतीत्याह—

स्वाप्ययात् ॥ ९ ॥

तदेव सच्छब्दवाच्यं कारणं प्रस्तुत्य श्रूयते—' यत्रैतत्पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा संपन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते स्वं ह्यपीतो भवति ' [ छा० ६।८।१ ] इति । एषा श्रुतिः पुरुषस्य लोकप्रसिद्धं स्वपिति नाम निर्वक्ति । स्वशब्देन सच्छब्दवाच्यात्मा परामृश्यते । स्वं प्रत्यपीतो भवतीति लीनो भवति ।

( दी० । ) न्यायेनानात्मन्यात्मशब्दः स्यात्तदा हानयोग्यं हेयं तस्य भावो हेयत्वं नायमात्मेति ब्रूयात् । न च तस्य वचनमभिधानं तस्मान्नारुन्धती-न्यायः । चकारस्त्वन्यदोषार्थः ॥ ८ ॥

संयोगा विप्रयोगान्ता इति न्यायेनावचनमित्यत आह—स्वेति । एतदेव कारणं प्रकृत्य यत्रैतदित्युपक्रम्य स्वपितिनामनिर्वचनेन ' स्वं

( ब्र० व० । ) अपिपूर्वस्यैतेर्लयाथत्वात्सुषुप्त्यवस्थायामुपाधिकृतविक्षेपाभावात्स्वात्मनि प्रलीन इवेति स्वं ह्यपीतो भवतीत्युच्यते । तथा च सूत्रार्थः— तस्मिन्प्रकृतसच्छब्दवाच्यात्मनि अप्ययाह्वयश्रवणादिति । तत्र यदि प्रधानमेव सच्छब्देनोच्येत तदा चेतनोऽचेतनमप्येतीति विरुद्धं स्यात् । श्रुत्यन्तरं च— ‘तद्यथा प्रियया श्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरम् [ बृ० ४ । ३ । २१ ] इति सुषुप्त्यवस्थायां चेतनेऽप्ययं दर्शयति अतो यस्मिन्नप्ययः सर्वेषां चेतनानां तच्चेतनं सच्छब्दवाच्यं जगत्कारणम् ॥ ९ ॥

किंच—

गतिसामान्यात् ॥ १० ॥

गतेः सर्वेषु वेदान्तेषु चेतनकारणावगतेः समत्वादित्यर्थः । न हि कचिदपि विरुद्धमुपलभ्यते । कुञ्चचिद्वाक्ये चेतनं कारणं कुञ्चचिदचेतनमिति । किंतु सर्वत्र चेतनमेव कारणमुपलभ्यते । ‘यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवा देवेभ्यो लोकाः’ [ कौ० ३ । ३ ] इति । ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः’ [ तै० २ । १ ] इति । ‘आत्मन एवेदं सर्वम्’ [ छा० ७ । २ । ६ ] इति । ‘य आत्मन एष प्राणो जायते’ [ प्रश्न० ३ । ३ ] इत्याद्याः श्रुतय आत्मन एव कारणत्वं दर्शयन्ति । आत्मशब्दश्चेतनपर इत्युक्तम् ॥ १० ॥

किंच—

श्रुतत्वाच्च ॥ ११ ॥

ज्ञशब्देनैव सर्वज्ञेश्वरो जगतः कारणमिति श्रूयते । श्वेताश्वतराणां

( दी० । ) ह्यपीतो भवति ’ इति स्वस्मिन्नात्मनि चेतनस्याप्ययो लयः स्वाप्ययस्तस्मात् ॥ ९ ॥

कस्मिंश्चित्कल्पे प्रधानादि जगत्कारणं स्यादित्यत आह—गतीति । स्यादेवं यदि कचिद्वेदान्तेषु तदप्यवगम्येत न त्ववगम्यते । सर्वेष्वपि वेदान्तेषु गतिरवगतिश्चेतनकारणत्वस्यैव समाना तस्या भावः सामान्यम् । तस्मान्न त्वदुक्तम् ॥ १० ॥

नन्वस्तु चेतनं कारणं मा भूत्सर्वज्ञमित्यत आह—श्रुतेति । श्रुतस्य

(ब० व० ।) मन्त्रोपनिषदि 'ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः' [श्वे० ६।९] इति सर्वज्ञमीश्वरं प्रकृत्य 'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्ज-  
निता न चाधिपः' [श्वे० ६।९] इति । यथाऽग्नेरित्पादेरयमर्थः—  
विस्फुलिङ्गप्रसङ्गात् ज्वलत इति । विप्रतिष्ठेरन्नानागतिर्येन दिशो विप्र-  
मृताः स्युः । प्राणाश्चक्षुरादयो यथायतनं यथागोलकं विप्रतिष्ठन्ते विवि-  
धमुद्गच्छन्तीति यावत् । प्राणेभ्योऽनन्तरमादित्यादयो देवास्तदनुग्राहका-  
स्तेभ्योऽनन्तरं लोक्यन्त इति लोका विषया भवन्तीत्यर्थः । प्राणो हिर-  
ण्यगर्भः । ज्ञः सर्वज्ञः । स कारणमिति कारणत्वोक्तेः सर्वज्ञता । विशे-  
षतः सर्वविद्यः स सर्वज्ञः कारणम् । तस्य सर्वेश्वरत्वमाह—कारणेति ।  
कारणानीन्द्रियाणि । तेषामधिपाः स्वामिनो जीवास्तेषामधिपः परमे-  
श्वरस्तस्य सर्वहेतुत्वमाह सर्वजीवान्प्रतीश्वरत्वं हिरण्यगर्भस्याप्यस्तीति ।  
ततो विशेषमाह—न चाधिप इति । तस्य निषन्ता स्वयं न स्वस्य निय-  
न्ताऽस्तीत्यर्थः । तस्मात्सर्वज्ञं ब्रह्म जगतः कारणं न चाचेतनं प्रधानम-  
न्यद्वेति सिद्धम् । इतीक्षत्यधिकरणम् । अस्मिन्नधिकरणे सूत्राणि  
षट् ॥ ११ ॥

नन्वेवमथात इत्यारभ्य श्रुतत्वाच्चेत्येतदन्तैः सूत्रैः सर्वेषां वेदान्तानां  
सर्वज्ञसर्वशक्तिब्रह्मपरत्वं समर्थितं किमपरमवशिष्टं यदर्थमुत्तरसूत्रसंदर्भं  
इति । उच्यते—निर्विशेषब्रह्मणः स्वरूपेणोपदेशायोगात्किंचिदुपाध्युप-  
हितत्वेनोपदेश इति वक्तव्यम् । तत्र कस्मिन्वाक्ये उपाधिर्विवक्षितः  
कस्मिन्वाक्ये न विवक्षित इत्याकाङ्क्षायां तद्विवेचनार्थमुत्तरसूत्रसंद-  
र्भोऽर्थवानिति । तथैव सविशेषं निर्विशेषं च ब्रह्म श्रूयते—'यत्र हि  
द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' । [बृ० ४।५।१५] 'अथ  
यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ  
यदल्पं तन्मर्त्यम् । [छा० ७।२४।१] सर्वाणि रूपाणि विचित्य धीरो  
नामानि कृत्वाऽभिषदन्यदास्ते' [तै० आ० ३।१२।७] इत्यादीनि  
सविशेषवाक्याणि 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मेवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ।

( दी० । ) श्रुतत्वं तस्मात्सर्वज्ञकारणत्वस्य साक्षाद्देवेनोक्तत्वादित्यर्थः ।  
चकारस्तु रचनानुपपत्त्यादिकं समुच्चिनोति ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणेऽस्तेजसोर्गौणेश्वरो ( णे ) तत्प्रापयति तस्यापि ब्रह्मणो

(ब्र० व० ।) [बृ० ४।५।१५] 'यत्र नान्यत्पश्यति नान्यश्चृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा' [ छा० ७ । २४ । १ ] 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम्' [श्वे० ६ । १९] 'स एष नेति नेत्यात्मा' [ बृ० २ । ३ । ६ ] 'अस्थूलमनणु' [बृ० ३ । ८ । ८] इत्यादिनिर्दिशेषवाक्याणि ब्रह्मणो द्विरूपतां दर्शयन्ति । तत्र कानिचित्कममुक्त्यर्थान्युपासनानि कानिचिदभ्युदयाद्यर्थानीति बोध्यम् । श्रुत्यर्थस्तु—यत्र यस्यां खल्वविद्यावस्थायां तुच्छमपि द्वैतं सदिव भाति तत्रेतरः संसारी सन्नितरं पश्यति दृष्ट्यादिगोचरमुपाधिमद्वस्तु भवतीत्यर्थः । यस्मिन्नात्मनि द्रष्टव्यादि चक्षुरादिनाऽनुसंधत्ते तदल्पं परिच्छिन्नमुपहितमिति यावत् । भूम्नोऽप्यस्य च विशेषान्तरमाह— यो वा इति । अथेति द्योतितविशेषोऽनेन प्रकटितः । सर्वज्ञ ईश्वरो नामरूपादिकं विश्वं निर्माय तत्र प्रविश्य जीवरूपेणाभिवदनादि कुर्वन् योऽवतिष्ठतेऽन्तर्यामी तं विद्वानिहैवामृतो भवतीत्यर्थः । यत्र यस्यां विद्यावस्थायामस्य विदुषः सर्वं कर्त्राद्यात्मातिरेकेणासदेवाऽऽसीत्तत्र केन करणेन कं विषयं को वा कर्ता पश्येदित्याक्षेपादव्यवहार्यमनौपाधिकं तत्त्वमित्यर्थः । यत्र भूम्नि स्थितो विद्वानन्यद्दृष्टव्यं चक्षुषा न पश्यति अन्यच्छ्रोतव्यं श्रोत्रेण न शृणोति न चान्यन्मन्तव्यं ज्ञातव्यं वा मनसा बुद्ध्या वा मनुते जानाति स भूमा दृष्ट्याद्यगोचरो निरतिशयमहत्त्वसंपन्नः परमात्मेत्यर्थः । निष्कलं निरंशमत एव निष्क्रियं निष्क्रियत्वादेव शान्तं परिणामरहितं निरवद्यं रागादिरहितं धर्मादिरहितं निरञ्जनमित्यर्थः । यथा मृद्धारुमयः सेतुर्नदीकुल्यादिपरकूलप्राप्तेरुपायस्तथा संसारसागरस्य परं ब्रह्म तद्भावस्यामृतवाक्योत्थबुद्ध्यभिष्यक्तं सत्साधनं सेतुवदवस्थितम् । वाक्योत्थज्ञानस्य कथं नाशस्तत्राऽऽह—दग्धेन्धनमिवेति । यथा दग्धेन्धनो वह्निः शाम्यति तथाऽज्ञानमपीत्यर्थः । इतिरिदमर्थः । इदं नेदं नेति निषेधावधिभूत आत्मेत्यर्थः । तथा सविशेषनिर्दिशेषपरं वाक्यान्तरमपि—न्यूनमन्यत्स्थानं संपूर्णमन्यत् ।' इति । अस्यार्थः—निष्प्रपञ्चादन्यदुपास्यं गुणानां स्थानं न्यूनं परिच्छिन्नं ततोऽन्यन्निष्प्रपञ्चं मुक्तोपमृत्यं त्रिधापरिच्छेदशून्यं सच्चिदानन्दात्मकमिति । एवं च यत्र सगुणवाक्ये गुणविवक्षा तत्रोपासना भवति यत्र तु श्रूयमाणोऽपि गुणो न विवक्षितस्तद्वाक्यं ज्ञेयब्रह्मपरमेवेति निर्णयार्थमुत्तरसूत्रसंदर्भ इति फलितम् ।

(आनन्दमयकोशस्य परमात्मत्वम्, अधि० ६ )

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १२ ॥

(ब्र० व० ।) पूर्वं तावत्सर्वेषां वेदान्तानां निर्गुणब्रह्मपरत्वमुत्सर्गतः सिद्धं तत्सगुणवाक्यदर्शनेनापोद्य सगुणवाक्यविचारः प्राप्तस्तमपोद्येदमधिकरणं निर्गुणविचारात्मकमारभ्यते । पद्यप्यपवादकापवादकत्वादस्य सगुणविचारानन्तर्यमुचितं तथाऽपि पूर्वाधिकरणे संशयाभावात्प्रायपाठो न निश्चायक इत्युक्ते 'अग्न्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' [ तै० २ । ५ । १ ] इत्यत्र मयटो विकारे प्राचुर्ये च मुख्यत्वात्संशये विकारप्रायपाठो निश्चायकोऽस्तिवति पूर्वाधिकरणसिद्धान्तयुक्त्यभावेन प्रवृत्तत्वात्प्रत्युदाहरणलक्षणसंगतिरस्तीति सगुणविचारात्प्रागिदमारभ्यते । पूर्वपक्षे जीवस्याऽऽनन्दमयत्वेनोपास्तिः फलं सिद्धान्ते निर्गुणब्रह्मप्रमितिरिति सिद्धान्तगत्यैकदेशिमते तूमयत्रोपास्तिरिति विवेकः । तैत्तिरीयकेऽन्नमपप्राणमयमनोमयविज्ञानमयकोशचतुष्टयानन्तरं 'तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् । अग्न्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' [ तै० २ । ५ । १ ] इति श्रूयते । तत्र संशयः—किमानन्दमयशब्देन सत्यं ज्ञानमिति प्रकृतं परं ब्रह्मोच्यत उताऽऽनन्दमयादिविकारवद्ब्रह्मणोऽर्थान्तरं जीव इति । तत्रान्नमयादिविकारप्रायपाठात्तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः' [ तै० २ । ५ ] । इत्यादिना प्रियाद्यवयवयोगात्तस्यैव एव शारीर आत्मेति शारीरत्वश्रवणाच्च जीव इति प्राप्तम् । तस्य पूर्वोक्तस्य विज्ञानमयस्यैव आनन्दमय एव शारीर आत्मेति श्रुत्यर्थः । एवं प्राप्त उच्यते—आनन्दमयोऽभ्यासात् । आनन्दमयः परमात्मा भवितुमर्हति कुतोऽभ्यासात् । आनन्दमयशब्दस्य ब्रह्मण्येव बहुकृत्वोऽभ्यासादित्यर्थः । तथा हि आनन्दमयं प्रस्तुत्य 'रसो वै सः' इति तस्यैव रसत्वमुक्त्युच्यते—'रसः ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति । को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् । यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवाऽऽनन्दयाति' [ तै० २ । ७ ] । 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति' [ तै० २ । ८ ] । 'एतमानन्दमय-

(दी० ।) मुख्यमीक्षणमुक्तमात्मशब्दादिभिः । अत्र तु मयटो विकारे प्राचुर्ये च तुल्यत्वात्प्रायदृष्ट्या विकारार्थतैवेत्यानन्दमयो जीवः प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य प्रथममेकदेशिनां मतेन समाधानं ब्रूमः—आनन्देति । 'अग्न्योऽ-

(ब० व० १) मात्मानमुपसंक्रामति' [तै० २। ८] 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् । न बिभेति कुतश्चेनेति' [तै० २। ९] । 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । [तै० ३। ६] इति बहुधाऽभ्यासः श्रूयते । न चाऽऽनन्दपदस्यैवाभ्यासो नाऽऽनन्दमयपदस्येति वाच्यम् । वसन्ते ज्योतिषा यजेतेत्यत्र ज्योतिषपदस्य ज्योतिष्टोमपरत्ववदानन्दपदस्याऽऽनन्दमयपरत्वात् । श्रुत्यर्थस्तु—रसः सार आनन्द इत्यर्थः । अयं जीवः पूर्णानन्दः सर्वसाक्षी सर्व-प्रेरको न स्याच्चेत्तर्हि प्राणादेरचेतनस्य चेष्टा न युक्त्याह—को हीति । अन्याज्जीवेत् । यद्यदि । आनन्द इत्यनन्तरं प्रेरक इति शेषः । आनन्द-यितृत्वापि परमानन्दत्वमित्याह—एष हीति । आनन्दयतीत्यर्थः । स्वयं धनी परं धनिनं करोति लोके तद्वत्स्वयमानन्दः परमानन्दयतीति । यत्तु प्रायपाठादानन्दमयस्य विकारित्वमिति तन्न । स्थूलारुन्धतान्याये-नान्नमयादिविकारामुख्यात्मप्रदर्शनस्याऽऽत्मज्ञानार्थत्वेनाऽऽनन्दमयस्य सर्वान्तरत्वात् । स एवाऽऽत्मेत्यवधारणादनन्तरमन्यस्याऽऽत्मनोऽनुपदेशा-त्सर्वान्तरत्वमवगम्यते । विज्ञानकोशवशादौपाधिकप्रियाद्यवयवयोगो न विरुध्यते । ब्रह्मणोऽन्नमयादिकोशपरम्परया शारीरत्वमप्युपपन्नमेव । तस्मादानन्दमयः परमात्मा ॥ १२ ॥

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १३ ॥

ननु नाऽऽनन्दमयं ब्रह्म । कुता विकारार्थकमयद्रूपप्रत्ययात् । ब्रह्मणश्चाऽऽ-नन्दविकारत्वानुपपत्तिरिति चेन्न । कुतः । प्राचुर्यात् । मयटः प्रकृत आनन्दप्राचुर्यवाचकत्वादित्यर्थः ॥ १३ ॥

मयटः प्राचुर्यार्थकत्वे हेत्वन्तरमाह—

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

तमानन्दं प्रति ब्रह्मणो हेतुत्वव्यपदेशादित्यर्थः । 'एष ह्येवाऽऽनन्द-  
(दी० ।) न्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इत्यानन्दमयः परमात्मा । कुतः । तं प्रकृत्य 'यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादिना बहुकृत्वोऽभिधान-मभ्यासस्तस्मात् ॥ १२ ॥

विकारेति । विकारवाची मयट्शब्दो विकारशब्दस्तस्मान्नाऽऽनन्द-मयः परमात्मेति चदेवं यदि तन्न । प्राचुर्यात् । तत्प्रकृतवचने मयाङिति सूत्रात्प्राचुर्यार्थताऽप्यवगम्यते । ततश्चाऽऽनन्दविकारो नाऽऽनन्दमयः किंत्वानन्दप्रचुर इत्यर्थः ॥ १३ ॥

मयट उभयत्र साधारण्येऽपि प्राचुर्य एवायमित्यत्र को हेतुरित्यत

(ब्र० १० ।) याति' इति ब्रह्मण आमन्दहेतुत्वं व्यपदिश्यते । योऽन्यमानन्द-  
यति स प्रचुरानन्द इति प्रसिद्धम् ॥ १४ ॥

इतश्चाऽऽनन्दमयः परमात्मेत्याह—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १५ ॥

‘यद्वह्मविद्याप्रोति परम् ।’ [ तै० ति० २ । १ ] इत्युपक्रम्य ‘सत्यं  
ज्ञानममन्तं ब्रह्म’ ‘यो वेदं निहितं गुहायाम्’ इत्यस्मिन्मन्त्रे सर्वान्तरं  
ज्ञेयत्वेनोक्तं तन्मान्त्रवर्णिकं ब्रह्म ‘अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः’  
इति गीयते । मन्त्रब्राह्मणयोरैकाध्यात् । यद्यप्यत्र व्याख्यानव्याख्ये-  
यभावाभावेन मन्त्रब्राह्मणभावस्तथाऽपि ब्राह्मणस्य व्याख्यानरूपत्वेन  
व्याख्येयमन्त्रं प्रत्युपायत्वात्प्रकृतेऽप्युपायोपेयभावोऽस्तीति मान्त्रवर्णि-  
कमित्युक्तम् ॥ १५ ॥

इतश्चाऽऽनन्दमयः परमात्मा न जीव इत्याह—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १६ ॥

ईश्वरादितरो जीवो नाऽऽनन्दमयः । कुतोऽनुपपत्तेः । ‘सोऽकाम-  
यत’ [ तै० २ । ६ ] इति सृष्टेः पूर्वमीक्षणं ‘बहुस्यां प्रजापेय’ इति  
सृष्ट्यात्मकत्वं ‘स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत’  
इति सृष्टिहेतुत्वं च श्रूयते तत्सर्वस्यानुपपत्तेरिति सूत्रार्थः । जीव-  
ज्ञामरूप शरीरसाध्यत्वादीक्षणानुपपत्तिर्बोध्या । श्रुतौ तपःशब्द ईक्ष-  
णपरः ॥ १६ ॥

(दी० ।) आह—तदिति । तस्य हेतुः कारणं तस्य ‘एष तस्य ह्येषाऽऽनन्द-  
याति इति श्रुत्या व्यपदेशोऽभिधानं तस्मात् । चकार आनन्दमयस्य कार-  
णत्वश्रवणमाह ॥ १४ ॥

ननु जीवो वा प्रधानं वाऽऽनन्दस्य कारणमस्तिव्यत आह—मान्त्रेति ।  
मान्त्रवर्णप्रतिपाद्यं मान्त्रवर्णिकं सत्यज्ञानादिरूपं गुहां प्रविष्टं यत्तदेवाऽऽ-  
नन्दमयशब्देन गीयते । चकारो दूषणान्तरसमुच्चयार्थः ॥ १५ ॥

अस्तूपक्रमादिना जीव एवेत्यत आह—नेतर इति । इतरो जीव इह  
न ग्राह्यः । कुतः । ‘इदं सर्वमसृजत’ इत्याद्यनुपपत्तेः । नोपपत्तिरनु-  
पपत्तिस्तस्याः ॥ १६ ॥

(ब्र० व० ।) किंच—

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १७ ॥

नाऽऽनन्दमयो जीवः कुतो जीवानन्दमयोर्भेदेन व्यपदिश्यमानत्वादित्यर्थः । तथा च श्रूयते—‘रसो वै सः । रसः ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’ [ तै० २।७ ] इत्यानन्दमयस्य लब्धव्यत्वेन जीवस्य लब्धव्यत्वेन भेदव्यपदेशः । न हि लब्धवैव लब्धव्यो भवति ॥ १७ ॥

नन्वानन्दमयशब्देन प्रधानमुच्यताम् । तत्राऽऽह—

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १८ ॥

अनुमीयत इत्यनुमानम् । अनुमानैकगम्यं प्रधानमित्यर्थः । आनन्दमयत्वेन कारणत्वेन वा प्रधानस्य नापेक्षा न स्वीकारः, कुतः कामात् । आनन्दमयाधिकारे ‘सोऽकामयतेति कामयितृत्वश्रवणादित्यर्थः । न ह्यचेतने प्रधाने कामः संभवति । ईक्षतेर्नाशब्दमित्यत्र निराकृतमपि प्रधानं गतिसामान्यप्रपञ्चनाय पुनर्निराकृतमिति बोद्धव्यम् ॥ १८ ॥

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १९ ॥

इतश्च न जीवे प्रधाने वाऽऽनन्दमयशब्दः । यस्मादस्मिन्नानन्दमये प्रकृत आत्मनि प्रबुद्धस्य जीवस्य तद्योगं तदात्मना योगस्तद्धावापत्तिमुक्तिरित्यर्थः । तं शास्ति शास्त्रं तस्मादित्यर्थः । ‘यदा ह्येवैष एतस्मिन्नहश्चेऽनाख्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽमयं

( दी० । ) नन्वस्त्वदं संकुचितमित्यत आह—भेदेति । भेदो लब्धु-लब्धव्यस्वभावः । ‘रसः ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’ इत्यादिश्रुत्या तस्य व्यपदेशस्तस्मात् । चकारः संकोचानुपपत्त्यर्थः ॥ १७ ॥

प्रकरणादिकमपि प्रधानस्यैवास्त्वित्यत आह—कामाच्चेति ‘सोऽकामयत’ इति श्रुत्या योऽभिहितः कामस्तस्माच्चेतन एव । अनुमीयत इत्यनुमानं प्रधानं तस्यानपेक्षाप्रसङ्ग इति यावत् । चकारः पूर्ववत् ॥ १८ ॥

नन्वस्तूपचरितः काम इत्यत आह—अस्मिन्निति । अस्मिन्प्रकरणे कारणेऽस्य चेतनस्य तेन योगस्तद्योगस्तादात्म्यं शास्त्र्युपदिशति



(ब्र० ४०।) गतो भवति । यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते । अथ तस्य भयं भवति ' [तै० २।७] इति शास्त्रम् । अस्यार्थः—यस्यामैक्यज्ञानावस्थायामेष विद्वानेतस्मिन्ब्रह्माणि पञ्चीकृतभूतपञ्चकेन तत्कार्येण समष्टिस्थूलदेहेन विराजा दृश्यशब्दात्मकेन तादात्म्यशून्ये दृश्यभिन्ने स्वसंबन्धितयाऽध्यस्तेन्द्रियजातेनापञ्चीकृतभूतकार्येणाऽऽत्म्येन तादात्म्यहीनेऽनात्म्ये निष्कृष्योत्पद्यन्त इति निरुक्तानि भूतसूक्ष्माणि तैश्चाभेदवर्जितेऽनिरुक्ते निःशेषलयस्थानं निलयनं सकलकार्यसंस्काराधाराविद्या तदभेदशून्ये प्रकर्षेण स्थितिं पुनरावृत्तिरहितां लभते । अभयं यथा स्यादित्युक्तं व्यनक्ति—अथेति । ज्ञानफलमुक्त्या ज्ञानाभावे दोषमाह श्रुतिः—यदा हीति । यद्यस्मिन्ज्ञानानन्दमये ब्रह्मण्यल्पमप्यन्तरमत्तादात्म्यस्वरूपं पश्यति तदा संसारभयान्न निवर्तत इत्यर्थः । इदं शास्त्रं प्रधानपरिग्रहे जीवपरिग्रहे वा न घटत इति । तस्मादानन्दमयः परमात्मेति सिद्धम् । इदं त्वेकदेशिमतम् । भगवत्पादास्तु अभ्यस्यमानानन्दपदस्याऽऽनन्दमये लक्षणा । 'अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः' इत्यत्राऽऽनन्दमयपदस्य प्राचुर्यार्थकत्वे ब्रह्माणि दुःखलवप्रसङ्गः स्यादिति प्रचुरानन्दे लक्षणा । 'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा' इत्यत्र ब्रह्मपदस्यावयवविशेषे लक्षणेति मुख्यत्रितयलङ्घनं विकारप्रायपाठपरित्यागश्चैकदेशिमते स्यात् । स्वपक्षे तु 'ब्रह्म पुच्छम्' इत्यत्र पुच्छपदस्यावयवप्रायपाठपरित्याग एवेति मन्वाना आनन्दमय इति मयङ्गविकारार्थक एवेति मन्वानाः सूत्राण्यन्यथा व्याचक्रुः । अधिकरणरचना तु ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र किमानन्दमयावयवत्वेन ब्रह्मोच्यत उत स्वप्रधानत्वेनेति ब्रह्मपुच्छशब्दाभ्यां संशयः । ईक्षत्यधिकरणे संशयाभावात्प्रायपाठस्य न निश्चायकत्वम् । इह तु पुच्छपदस्यावयवधारत्वयोर्लक्षणसामान्यात्संशयेऽवयवप्रायपाठस्य निश्चायकत्वमिति प्रत्युदाहरणसंगतिः । प्रयोजनं च पूर्वोक्तं तत्र पुच्छशब्दादवयवत्वे प्राप्त उच्यते—'आनन्दमयोऽभ्यासात्' । आनन्दमयशब्देनाऽऽनन्दमयवाक्यस्थब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यत्र विद्यमानं ब्रह्मपदमुपलक्ष्यते । तद्ब्रह्मपदं न प्रधानपरं किंतु ब्रह्मपरं कुतोऽभ्यासात् । 'असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' [तै० २ । ६] इत्यादौ ब्रह्मपदस्याभ्यासादिति । यत्तु पुच्छशब्दावयवपरत्वमिति

(दी०।) शास्त्रम् 'यदा ह्येवैषः' इत्यादिना । चकारः परिहारसमुच्चये । अथवा पुच्छशब्दस्य लाङ्गूले रुढस्यावयव आधारे च लाक्षणिकत्वस्य तुल्यत्वेऽ-

(ब०व०।) तत्राऽऽह—‘विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ।’ विकारशब्दादवयवपरपुच्छशब्दान्न तत्समानाधिकरणब्रह्मपदं स्वप्रधानब्रह्मपरमिति चेन्न । कुतः । प्राचुर्यादवयवशब्दोपपत्तेः । प्राचुर्यं चात्रावयवप्रायप्रयोगः । एवं चान्नमयादीनां पुच्छान्तानवयवानुक्त्याऽऽनन्दमयस्यावान्तरावयवोक्तौ पुच्छस्य बुद्धौ संनिधानादपुच्छमपि ब्रह्म पुच्छमित्युक्तं श्रुत्या । न हि ब्रह्मणो मुख्यपुच्छत्वमानन्दमयस्य परमात्मत्वपक्षेऽपीत्युक्तं स्वं प्रति स्वस्य पुच्छत्वानुपपत्तेः । तस्माद्ब्रह्म पुच्छवत्पुच्छं सर्वाधिष्ठानं प्रतिष्ठापरायणं लौकिकस्याऽऽनन्दजातस्याऽऽधार इत्यर्थः । सर्वाधारत्वात्प्रतिष्ठापदसमभिव्याहारादाधारलक्षणा युक्तेति । इतश्च पुच्छशब्देनाऽऽधारो लक्ष्यत इत्याह—‘तद्धेतुव्यपदेशाच्च ।’ तस्य ब्रह्मणो विकारजातं प्रति हेतुत्वेन ‘इदं सर्वं सृजत’ [तै० १६] इति वाक्ये व्यपदेशादित्यर्थः । न हि स्वविकारमानन्दमयं प्रति ब्रह्मणोऽवयवत्वं संभवति मुख्यत इति स्वप्रधानं ब्रह्म पुच्छं ज्ञेयत्वेन विवक्षित इति । ‘मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते’ । यत्सत्यं ज्ञानमित्यादिमन्त्रवर्णप्रकाशितं ब्रह्म तद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेति ब्राह्मणवाक्ये स्वप्राधान्येन गीयते मन्त्रब्राह्मणयोरैकाश्रयादित्यर्थः । इतश्चाऽऽनन्दमयोऽत्र न प्रतिपाद्यस्तस्य वैषयिकप्रियाद्यवयवयोगेन स्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तेरित्याह—‘नेतरोऽनुपपत्तेः’ । ‘ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा’ इत्यत्र ब्रह्म स्वप्रधानं नेतरः कुतोऽनुपपत्तेः । ब्रह्मणोऽवयवत्वेऽवयव्यानन्दमयोऽत्र प्रतिपाद्यत इति वक्तव्यम् । न हि तत्संभवति सावयवस्याग्रिमवाक्योक्तस्रष्टृत्वाद्यनुपपत्तेरित्यर्थः । अतो ब्रह्म स्वप्रधानम् । इतश्चात्र पुच्छवाक्ये ब्रह्म स्वप्रधानमित्याह—‘भेदव्यपदेशाच्च’ । ‘रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति’ [तै० २ । ७] अयमानन्दमयो जीवो रसशब्दितं ब्रह्मानन्दं प्रतिबिम्बितं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीति लब्धूलब्धव्यरूपेण भेदव्यपदेशादित्यर्थः । इतश्च ब्रह्मपुच्छक आनन्दमयोऽत्र न प्रतिपाद्य इत्याह—‘कामाच्च नानुमानापेक्षा’ । काम्यत इति काम आनन्दस्तस्य ब्रह्मत्वदृष्टेर्नानुमानेनाऽऽनन्दमयस्यापि ब्रह्मत्वमपेक्षितव्यं विकारार्थकमयङ्गिरोधादित्यर्थः । आनन्दमयशब्दो ब्रह्मपर आनन्दशब्दत्वादानन्दो ब्रह्मेत्यत्राऽऽनन्दशब्दवदित्यनुमानम् । इतोऽपि ब्रह्मपुच्छवाक्ये ब्रह्म प्रधानमित्याह—‘अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति’ । अस्मिन्पुच्छवाक्योक्ते ब्रह्मणि प्रबुद्धस्याऽऽनन्दमयस्य जीवस्य ‘यदा ह्येवैष एत-

(दी०।) वयवप्राये पाठात् ‘ब्रह्म पुच्छम्’ इत्यत्रापि ब्रह्मानन्दमयस्यावयव

(ब्र० व०।) स्मिन् ' इत्यादिशास्त्रं तद्योगं मुक्तिं शास्तीत्यर्थः । तस्मादानन्दमयस्यात्राप्रतिपाद्यत्वात्पुच्छं ब्रह्मैव स्वप्रधानं निर्विशेषं ज्ञेयमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥

( आदित्यान्तर्गतहिरण्यपुरुषस्याक्षयन्तर्गतपुरुषस्य चेश्वरत्वम् , अधि० ७ )

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ २० ॥

पूर्वत्र ब्रह्मपदमानन्दमयपदमानन्दपदाभ्यासश्चेति मुख्यत्रितयात्मकबहुप्रमाणवशान्निर्गुणब्रह्मनिर्णयो यथा तद्वद्रूपवत्त्वादिवहुप्रमाणात्सं-सारी हिरण्यमयः पुरुषोऽस्त्विति पूर्वसिद्धान्तपुष्ट्या पूर्वपक्षोत्थानाद्दृष्टान्तरूपावान्तरसंगत्या पूर्वसिद्धनिर्गुणब्रह्मसमन्वयापवादकमिदमारभ्यते । फलं च पूर्वोत्तरपक्षयोरुपास्तितरेव पादसमाप्तिपर्यन्तम् । छान्दोग्ये श्रूयते—‘ अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुहिरण्यकेश आ प्रणखात्सर्वं एव सुवर्णः ’ [ छा० १ । ६ । ६ ] ‘ तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी तस्योदिति नाम स एष सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदित उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद ’ [ छा० १ । ६ । ७ ] इत्यधिदैवतम् । अथाध्यात्मम्—‘ अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते ’ [ छा० १ । ७ । ५ ] इत्यादि । उपास्तिप्रस्तावार्थोऽथशब्दः । य एष शास्त्रसिद्ध आदित्यमण्डलमध्यवर्ती । स्थानाद्यवयवकथनं परमात्मन उपास्त्यर्थं द्रष्टव्यम् । हिरण्यमयो ज्योतिर्मयः । तन्नाश्वित्तधियामनुभवं प्रमाणयति—दृश्यत इति । हिरण्यमयपदं ज्योतिष्परम् । सुवर्णपदमपि ज्योतिष्परम् । प्रणखो

(दी० ।) इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते सिद्धान्तेन ॥ १९ ॥

आनन्देति । ‘ अन्योऽन्तर आत्माऽऽनन्दमयः ’ इत्यत्र ‘ ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ’ इति स्वप्रधानमेव ब्रह्म । कुतः । ‘ असन्नेव ’ इत्यादिना ब्रह्मणोऽभ्यासात् ।

विकारेति । विकारोऽवयवः पुच्छं तस्य शब्दस्तस्मान्न स्वप्रधानमिति चेदेषं यदि तन्न । प्राचुर्यात् । विकारप्रायपाठात् । विकारशब्दो न ब्रह्मणः स्वप्राधान्यं निवर्तयतीत्यर्थः ।

(ब्र० १० ।) प्रणखो नखाग्रम् । चक्षुषोर्विशेषमाह—तस्येति । कपेर्मर्कट-  
स्याऽऽसः पृष्ठभागेऽत्यन्तं तेजस्वी तत्तुल्यम् । पुण्डरीकं यथाऽत्यन्तं  
तेजस्वि तथाऽस्य देवस्याक्षिणी नेत्रे । ध्यानार्थमेव नाम करोति—  
तस्येति । नाम निर्वक्ति—स इति । उदित उद्गतः सकार्यसर्वपापास्पृष्ट  
इत्यर्थः । ध्यानफलमाह—उदेतीति । अधिदैवतं देवतामधिकृत्योपास्तिष्ठा-  
क्यमित्यर्थः । अधिदैवध्यानोक्त्यनन्तरमात्मानं देहमधिकृत्यापि तदुक्ति-  
रित्याह—अथेति । एतादृशं स्थानद्वयस्थं पुरुषमधिकृत्य रूपवत्त्वश्रुत्या  
सर्वपापास्पर्शश्रुत्या च संशयः । किमयं पुरुषो विद्याकर्मातिशयवशात्प्रा-  
प्तोत्कर्षः कश्चित्संसारि उत नित्यसिद्धः परमेश्वर इति । किं तावत्प्राप्तं  
संसारिणीति । कुतः । हिरण्यश्मश्रुरित्यादिरूपवत्त्वश्रवणात् । अक्षिपुरुष-  
स्यापि 'तस्यैतस्य तदेव रूपं पदमुष्ण रूपम्, । [छा०१।७।५) इति रूप-  
वत्त्वश्रवणात् । 'ये चामुष्मात्पराञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे देवकामानां  
च' इत्यादित्यपुरुषस्य 'स एष ये चैतस्माद्व्याञ्चो लोकास्तेषां चेष्टे मनुष्य-  
कामानां च' इत्यक्षिपुरुषस्य चैश्वर्यमर्यादाश्रवणाच्च । न हि परमात्मनो  
मर्यादावैश्वर्यं युक्तम् । 'स एष सर्वेश्वरः' (बृ०४।४।२२) इति श्रुतेः । स  
आदित्यपुरुषोऽमुष्मादादित्यादूर्ध्वगानां लोकानामीशिता देवकामानां  
देवभोगानां चेत्यर्थः । एतस्माच्चक्षुषोऽर्वाङ्गतानां लोकानामीशिताऽक्षि-  
पुरुषो मनुष्यभोगाणां चेत्यर्थः । तस्मान्नाक्ष्यादित्ययोरन्तः पुरुषः परमे-  
श्वर इति प्राप्त उच्यते—'अन्तस्तद्भूमोपदेशात्' । य एषोऽन्तरादित्ये य  
एषोऽन्तराक्षिणीति च श्रूयमाणः परमेश्वर एव न संसारी । कुतः । तद्भूमो-  
पदेशात् । तस्य परमेश्वरस्य ये धर्मास्तेषामस्मिन्वाक्य उपदेशादित्यर्थः ।

(दी० ।) तद्धेतुत्विति । तस्याऽऽनन्दमयादेर्जगतो हेतुः कारणम् । माघ-  
प्रधानो निर्देशः । तद्धेतुव्यपदेशः श्रुत्याऽभिधानं तस्मात् । शेषेष्वानन्द-  
पदस्थानेषु ब्रह्म स्वप्रधानमिति पठित्वा पूर्ववद्वाख्यानम् ॥ १९ ॥

पूर्वाधिकरणे मयटो विकार आनन्दस्याऽऽनन्दमात्रे ब्रह्मणो देश-  
कालवस्त्वपरिच्छिन्ने वस्तुनि मुख्यार्थत्वं पुनः प्राचुर्यानन्दमयावयवेषु  
अतः प्रायपाठो बाधितः । एवमिहापि मर्यादाधाररूपाणां श्रवणाज्जीव  
एव प्राप्तैश्वर्यविशिष्टः कश्चित्स्योदित्यत आह—अन्तरिति । 'अथ य  
एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यः पुरुषः' इत्यत्र यो हिरण्यः पुरुषः स परमे-

(ब्र० १०१) तद्यथा तस्योदिति नामेत्यादिना सर्वपाप्मविरहेणाऽऽदित्यपुरुषस्य नामोक्त्वा तदेष नामाक्षिपुरुषस्यातिदिशति—‘यन्नाम तन्नाम’ [छा० १।७।५] इति तत्सर्वपाप्मराहित्यं ब्रह्मधर्मः । एवम्—‘सैव ऋक्तत्साम तदुक्तं तद्यजुस्तद्ब्रह्म’ इति ऋगाद्यात्मत्वं निर्धारयति श्रुतिः । तच्च सर्वात्मकत्वं ब्रह्मण एवोपपद्यते । सैव ऋगित्यादेरयमर्थः—तच्छब्देन पुरुषपरामर्शः । विधेयापेक्षयाऽन्यलिङ्गव्यपदेशः । उक्तं शस्त्रविशेषः । तत्साहचर्यात्मामस्तोत्रमुक्त्यादन्यच्छस्त्रमुक् । ब्रह्म त्रयो वेदा इति । एवं सर्वगानगीयमानत्वं श्रुतौ निर्दिष्टम् । ‘तद्य इमे धीणापां गायन्त्येतमेव ते गायन्ति’ इत्यादौ हिरण्यश्मभुक्शाक्षिकं मायिकं परमेश्वरस्य लोकानुग्रहार्थमुपपद्यत इति न तेन विरोधः । तस्मादक्षयादित्ययोरन्तः परमात्मा ॥ २० ॥

किंच—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ २१ ॥

आदित्याक्षणोरन्तः श्रूयमाणः पुरुष आदित्यशरीराभिमानिनो जीवादन्यः । कुतः । भेदव्यपदेशात् । आदित्यशरीराभिमानिजीवादन्यस्य परमात्मनोऽन्तर्यामितयाऽन्तर्यामिब्राह्मणे भेदेन व्यपदेशादित्यर्थः । ‘य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्याऽऽदित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष न अत्याऽन्तः स्मिन्मृतः’ [बृ० ३।७।९] इत्यादिश्रुत्यन्तरे तयोर्भेदव्यपदेशादत्रापि अन्तरशब्दश्रुत्या प्रत्यभिज्ञानात्परमेश्वर एवाक्षयादित्ययोरुपास्य इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

(परब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वम्, अधि० ८)

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ २२ ॥

पूर्वमव्यभिचारिब्रह्मलिङ्गेनापहतपाप्मत्वादिना रूपवत्त्वादिकमन्यथा (दी०) श्वरः । कुतः तद्धर्मोपदेशात् । तस्य धर्मास्तद्धर्मा अपहतपाप्मत्वादयस्तेषाम् । ‘उदेति ह वै सर्वेभ्यः पाप्मभ्यो य एवं वेद’ इत्यादिश्रुत्योपदेशोऽभिधानं तस्मात् ॥ २० ॥

नन्वादित्यादिभ्यो नान्य ईश्वर इत्यत आह—भेदेति । अस्ति देवतादिभ्योऽन्य ईश्वरः । कुतः । ‘य आदित्ये तिष्ठन्’ इत्यादिनाऽऽधाराधेयभेदस्य व्यपदेशात् । चकार उक्तव्यावृत्त्यर्थः ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणेऽनन्यथासिद्धलिङ्गवशादन्यथासिद्धरूपवत्त्वादि नीतम् ।

(ब्र० व० ।) नीतम् । इह तु लिङ्गादाकाशशब्दश्रुतिरन्यथा नेतुं न शक्यते लिङ्गापेक्षया श्रुतेः प्रबलत्वादिति प्रत्युदाहरणसंगत्येदमारभ्यते । छान्दोग्ये श्रूयते—‘अस्य लोकस्य का गतिरित्याकाश इति होवाच सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशं प्रत्यस्तं यन्तीत्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम्’ [छा० १ । ९ । १] इति । तत्रोभयत्राऽऽकाशशब्दस्य प्रयोगदर्शनात्संशयः । किं भूताकाशोऽत्राऽऽकाशशब्देनाभिधीयत उत परं ब्रह्मेति । ‘यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् [तै० २ । ७] इत्यादिष्वेदे ब्रह्मण्याकाशशब्दप्रयोगो भूताकाशे रूढ इति विषयवाक्यार्थस्तु शालावत्यनामकः कश्चन ऋषिर्जैवल्लिं राजानं पृच्छति—अस्येति । सर्वस्य प्रपञ्चस्य किमधिकरणमिति प्रश्नार्थः । जैवल्लिरुत्तरमाह—आकाश इति । कथंभूत आकाशः सर्वजगत्प्रतिष्ठा तत्राऽऽह—सर्वाणीति । भूताकाशव्यावृत्तये हेत्वन्तरमाह—आकाशो हीति । तत्रैव हेत्वन्तरमाकाश इति । अयं सिद्धान्तार्थः । तत्र रूढ्या भूताकाश इति युक्तम् । न च वाक्यशेषानुपपत्तिः । आकाशाद्वायुरित्यादौ तस्यापि वाय्वादिकारणत्वश्रवणात् । तस्माद्भूताकाश इति प्राप्ते ब्रूमः—‘आकाशस्तलिङ्गात्’ आकाशशब्देन ब्रह्मणो ग्रहणं युक्तं कुतस्तलिङ्गात्तस्य ब्रह्मणो पलिङ्गं महाभूतसमष्ट्यादिकं तस्यास्मिन्वाक्ये दृष्टत्वादित्यर्थः । नन्विदं भूताकाशस्यापि वाय्वादिकारणत्वं दर्शितमिति चेन्न । मूलकारणब्रह्मणोऽपरिग्रह आकाशादेवेत्यवधारणं सर्वाणीति च भूतविशेषणमाकाशं प्रत्यस्तं यन्तीति कारणे लयप्रदर्शनं चाननुकूलं स्यात् । ज्यायस्त्वपरायणत्वप्रदर्शनं च ब्रह्मण्येव समञ्जसम् । श्रुत्यन्तरं च स्पष्टं ब्रह्मण एव परायणत्वं दर्शयति—‘विज्ञानमानन्दं ब्रह्म रातेर्दातुः परायणम्’ [बृ० ३ । ९ । २८] इति । रातेर्धनस्य दातुर्यजमानस्य । रातिरिति पाठे रातिर्बन्धुरित्यर्थः । किं च—‘स एव परोवरीषानुद्गीथः स एषोऽनन्तः’ [छा० १ । ९ । २] इत्युद्गीथ आकाशरूपदेवताधर्मान्परत्वादीनुपसंहरति जैवल्लिस्तद्भूताकाशे न युज्यते । न हि तस्याऽऽनन्त्यं संभवति । श्रुतौ परत्वं गुणतः

(दी० ।) अत्र त्वाकाशश्रुत्यारूढसर्वभूतोद्गमादेर्लिङ्गस्य संकोच इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—आकाश इति । ‘आकाश इति होवाच’

(ब० व०) उत्कृष्टत्वं वरीयस्त्वं कालतो वस्तुतश्चापरिच्छिन्नत्वमनन्तत्वं देश-  
तोऽपरिच्छिन्नत्वं द्रष्टव्यम् । यत्तु लिङ्गाच्छ्रुतिर्बलीयसीति तन्न । त्यजेदेकं  
कुलस्यार्थं इतिन्यायेन बह्वीनामव\*काशलिङ्गभृतीनामनुग्रहायैकस्या  
आकाशभृतेर्बाधस्य युक्तत्वात् । तस्मादाकाशशब्दं ब्रह्मैवात्र देवतोद्गीथ  
उपास्यमिति सिद्धिम् ॥ २२ ॥

( ब्रह्मण आकाशशब्दवत्प्राणशब्दवाच्यत्वम् , अधि० ९ )

अत एव प्राणः ॥ २३ ॥

तत्र चातिदेशत्वान्न पृथक्संगत्यपेक्षा । यद्वा पूर्वत्राऽऽकाशभृतेरव्य-  
भिचारिब्रह्मालिङ्गोपबृंहितत्वाद्वाधो युक्तः । इह भूयमाणसंवेशनादिलि-  
ङ्गस्य प्राणेऽपि संभवेनाव्यभिचारिब्रह्मालिङ्गसहचाराभावात्प्राणभृति-  
बाधो न युक्त इति प्रत्युदाहरणसंगतिः । तत्रैवाऽऽकाशवाक्ययानन्तरं  
श्रूयत उद्गीथे—‘ प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेद्विद्वान्प्र-  
स्तोष्यसि मूर्धा ते विपतिष्यतीति ’ । [ छा० १ । १० । ९ ] ‘ कतमा  
सा देवतेति ’ [ छा० १ । ११ । ४ ] प्राण इति होवाच सर्वाणि ह  
वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते सैषा  
देवता प्रस्तावमन्वायत्ता ’ [ छा० १ । ११ । ५ ] इत्यादि । अस्यार्थः—  
उद्गीथाधिकारे प्रासङ्गिकं प्रस्तावध्यानामिति वक्तुमुद्गीथ इत्युक्तम् ।  
कश्चिद्विश्वाक्रायणनामा धनाय राज्ञो यागं गत्वा ज्ञानवैभवं स्वस्य  
प्रकटयन्प्रस्तोतारमुवाच । हे प्रस्तोतर्या देवता प्रस्तावं सामभक्तिविशेष-  
मन्वायत्ताऽनुगता तां चेद्विद्वान्मम विदुषः संनिधौ प्रस्तोष्यसि मूर्धा  
ते विपतिष्यतीति । स प्रस्तोता भीतः संश्वाक्रायणं पप्रच्छ कतमा सेति ।  
तस्य प्रतिवचनं प्राण इति । मुख्यप्राणवायुं व्यावर्तयति—सर्वाणीति ।  
संविशन्ति लीनानि भवन्ति लयकाले । अभ्युज्जिहते जन्मकाले प्राणम-  
निलक्ष्योद्गच्छन्तीति । तत्र—‘ प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः ’ [ छा०

(दी०) इत्याकाशशब्दः परमात्मा । कुतः, तस्य परमात्मनो लिङ्गं सर्वभूतो-  
त्पत्त्यादि तस्मात् ॥ २२ ॥

पूर्वाधिकरणे ‘अस्य लोकस्य का गतिः’ इति सर्वकारणस्य प्रश्नद-  
र्शनादुत्तरेऽपि सर्वकारणमाकाशं श्रुत्या । निरूढ्या व्यवस्थापितम् ।

\* ब्रह्मण्यवकाशभूतानां लिङ्गभृतीनामित्यर्थः ।

(ब० व०) ६।८१ ] ‘ प्राणस्य प्राणम् ’ [ बृ० ४।४।१८ ] इत्यादौ ब्रह्माणि प्राणशब्दप्रयोगात्प्राणवायौ च प्रसिद्धतरत्वात्संशयः । किमत्र प्राणशब्देन ब्रह्माभिधीयत उत वायुविकार इति । मनःशब्दलक्षितं तत्साक्षि-  
चैतन्यं प्राणे परस्मिन्नैक्येन स्थितमित्यर्थः । प्राणस्य पञ्चस्थितिवृत्ते-  
र्वायुविकारस्य प्राणं सत्तास्फूर्तिमात्मानं ये विदुस्ते ब्रह्म जानन्तीत्यर्थः ।  
तत्र प्रसिद्धिबलाद्वायुविकारः प्राण इति प्राप्त आकाशन्यायमतिदि-  
शति भगवान्मूत्रकारः—‘ अत एव प्राणः ’ इति । अत एव पूर्वमूत्रो-  
क्ततल्लिङ्गादितिहेतोरेव प्राणशब्दं ब्रह्मेत्यर्थः । ‘ सर्वाणि ह वा इमानि  
भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति ’ [ छा० १।११। ५ ] इत्यादिना  
महाभूतसंवेशनादिकं ब्रह्मालिङ्गं प्राणवाक्ये श्रूयते । न च ‘ यदा वै  
पुरुषः स्थपिति प्राणं तर्हि वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं मनः प्राणं  
श्रोत्रं स यदा प्रबुध्यते प्राणादेवाधिपुनर्जायन्ते ’ [ श० प० ब्रा० १०।  
३। ३६ ] इति श्रुत्या वायुविकारेऽपि संवेशनादि श्रूयत इति वाच्यम् ।  
न हि तत्र महाभूतसंवेशनादि श्रूयते किं त्विन्द्रियसंवेशनादिक-  
मेव । श्रुत्यर्थस्तु—तर्हि तस्यां सुषुप्त्यवस्थायामित्यर्थः । वाक्प-  
दमनुक्तकर्मैन्द्रियलक्षकम् । चक्षुःश्रोत्रे बुद्धीन्द्रियाणामुपलक्षणम् ।  
तस्मादनन्यथासिद्धब्रह्मालिङ्गात्प्राणशब्दवाच्यं ब्रह्मैवोपास्यप्रस्तावदेव-  
मेति सिद्धम् ॥ २३ ॥

( परब्रह्मणो ज्योतिःशब्दवाच्यत्वम्, अधि० १० )

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ २४ ॥

पूर्वं प्राणवाक्ये ब्रह्मालिङ्गसत्त्वान्द्रवतु ब्रह्मपरता । इह वाक्ये तदभा-  
वान्न ब्रह्मपरतेति प्रत्युदाहरणसंगत्येदमारभ्यते । छान्दोग्ये श्रूयते—

(दी०) अत्र तु न तावृत्किंचिदस्ति प्रत्युत सुषुप्ताधिन्द्रियाणां सर्वभूतसाराणां  
प्राणे लयोत्पत्त्योः श्रवणात्प्रस्तावदेवता मुख्यप्राण इति प्रत्युदाहरणे-  
नाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—अत इति ‘ प्राण इति होवाच ’ इत्यत्र  
प्राणशब्दः परमात्मा । कुतः । अत एव । सर्वभूतोद्गमादिलिङ्गादेव ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणे तल्लिङ्गादाकाशप्राणश्रुत्योर्ब्रह्मपरत्वमुक्तम् । नात्र ज्योति-  
र्वाक्ये तदस्तीति रूढमेव ज्योतिरिति प्रत्युदाहरणेन ज्योतिलिङ्गश्रवणा-



(ब्र० व०) 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः' [छा० ३।१।३।७] इति । अस्यार्थः—गायत्र्युपाधिब्रह्मोपास्त्यनन्तरमुपास्त्यन्तरोक्त्यर्थोऽथशब्दः । अथ दिवो द्युलोकात्परः परस्ताद्यज्ज्योतिर्दीप्यते तदिदमित्यौदरज्योतिष्यध्यस्यते । कुत्र तद्दीप्यते तत्राऽऽह—विश्वत इति । विश्वस्मात्प्राणिवर्गादुपरीत्यर्थः । विश्वशब्दस्य कतिपयार्थत्वं व्यावर्तयति—सर्वत इति । सर्वस्माद्भूरादिलोकात्सर्वसंसारमण्डलादुपरीत्यर्थः । उत्तमा न विद्यन्ते येभ्यस्तेऽनुत्तमास्तेषु । इदंशब्दार्थं स्फुटयति—यदिति । लोकवेदधोर्भौतिकतेजसि ब्रह्माणि च प्रयोगात्संशयः । किमिह ज्योतिःशब्देनाऽऽदित्यादिकं तेजोऽभिधीयत उत ब्रह्मेति । किं तावदत्र युक्तं भौतिकमिति । कुतः । प्रसिद्धत्वादतो दिव इत्यादिना मर्यादादिश्रवणाच्च । न हि सर्वव्यापिनो ब्रह्मणो मर्यादादिकं युक्तं तस्माद्भौतिकं ज्योतिरिति प्राप्ते ब्रूमः—ज्योतिश्चरणाभिधानादिति । अत्र ज्योतिःशब्दग्राह्यं ब्रह्मैव कुतश्चरणाभिधानात्पादाभिधानादित्यर्थः । तथा हि ज्योतिर्वाक्यात्पूर्ववाक्ये चतुष्पाद्ब्रह्म निर्दिश्यते—'तावदानस्य महिमा ततो ज्यायाश्च पुरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिधीति' [छा० ३।१२।६] एतदर्थस्तु—गायत्री वा इदं सर्वमित्यत्र भूतपृथिवीशरीरहृदयवाक्प्राणैः षड्विधा चतुष्पदा गायत्रीति यदुक्तं तद्गायत्र्युपाधिब्रह्मणो महिमा विभूतिस्तावान्यावानयं प्रपञ्चः स्वयं पुरुषस्ततो ज्यायान् । तदेवाऽऽह—पाद इति । सर्वाणि भूताभ्यस्यैकः पाद एकदेशः । त्रिपादस्यामृतं दिवि द्योतनवति स्वात्मनि स्थितमिति । एवं च यदतः पर इत्यत्र यच्छब्दस्य सर्वनामत्वेन प्रसिद्धार्थवाचकत्वात्पूर्ववाक्ये द्युसंबन्धित्वेन प्रसिद्धं ब्रह्मात्रापि द्युसंबन्धाद्यच्छब्देन प्रत्यभिज्ञायते । अतः पर इत्यादिना श्रुतं ब्रह्मणो मर्यादादिकमुपासनार्थमित्युक्तम् । ज्योतिःशब्दो ब्रह्मण्यपि प्रसिद्धो वेदान्तेषु । तस्मादिह ज्योतिःशब्द[ग्राह्यं] ब्रह्म ॥ २४ ॥

(दी०) दिति दृष्टान्तेन चाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—ज्योतिरिति । 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिः' इति ज्योतिःशब्दं ब्रह्मैव कुतः । चरणाभिधानात् । पूर्वस्मिन्गायत्रीवाक्ये पादोऽस्येत्यादिना चरणानां पादानामुक्तत्वात् ॥ २४ ॥

छन्दोभिधानादिति । पूर्वस्मिन्वाक्ये 'गायत्री वा इदं सर्वम्' इत्या-

## छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पण- निगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ २५ ॥

( ब० व० ) यदुक्तं पूर्वत्र गायत्र्याख्यच्छन्दोपाधिकब्रह्मण उक्तत्वात्तदत्र प्रत्यभिज्ञायत इति तन्न । 'गायत्री वा इदं सर्वं भूतं यदिदं किंचेति' गाय-  
त्र्याख्यच्छन्दसः प्रकृतत्वात्तस्यैव पादोऽस्य सर्वाणि भूतानीति भूतपाद-  
व्यपदेशो न ब्रह्मण इति पूर्ववाक्ये छन्द एवाभिधीयते न ब्रह्मेति चेन्न ।  
गायत्र्याख्यच्छन्दोद्वारेण तदनुगतब्रह्मणि सर्वात्मकत्वं प्रतिपाद्यते  
गायत्री वा इदं सर्वमित्यादिना । न हि अक्षरसंनिवेशमात्राया गायत्र्याः  
सर्वात्मकत्वं समञ्जसम् । तस्माद्गायत्र्यां विकारे यदनुगतं ब्रह्म तदेव  
गायत्री वा इदं सर्वमित्यादिना प्रतिपाद्यत इति । निष्कर्षार्थस्तु—छन्दो-  
भिधानाद्गायत्र्याख्यच्छन्दस एव पूर्ववाक्ये प्रकृतत्वान्न ब्रह्मणः प्रकृतत्व-  
मिति चेन्न । कुतः । तथा छन्दोद्वारेण तते ब्रह्मणि चेतोर्पणस्य चित्त-  
समाधानस्य निगदादभिधानात् । तत्र दृष्टान्तः । तथा हि दर्शनम् ।  
अन्यत्रापि विकारद्वारेण ब्रह्मण उपासनं दृश्यत इति दर्शनं दृष्टमि-  
त्यर्थः । ' एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त एतमग्नावध्वर्यव एतं  
महाव्रते छन्दोगाः ' [ ऐत० आर० ३ । २ । ३ । १२ ] इति । तद-  
र्थस्तु—एतमेवाऽऽत्मानमृग्वेदिनो महत्युक्थे प्रधाने शस्त्रे तदनुगतमुपा-  
सते । यजुर्वेदिनोऽग्नौ क्रतौ सामवेदिनो महाव्रताख्यक्रतौ तदनुगतं  
ब्रह्मानुसंदधत इत्यैतरेये दृष्टमित्यर्थः । एवं च गायत्रीशब्दो ब्रह्मलक्षक  
इति पूर्ववाक्ये ब्रह्म निर्दिष्टम् । यद्वा गायत्रीशब्दो ब्रह्मणि गौणः ।  
तथा च सूत्रे सिद्धान्तभागस्यायमर्थः । यथा गायत्री षष्ठक्षरैः पादैश्च-  
तुष्पदैवं ब्रह्मापि चतुष्पादिति गायत्रीशब्देनाभिधीयते । चतुष्पा-  
त्स्वगुणयोगात्तथा गायत्रीसादृश्येन चेतोर्पणस्य ध्यानस्य निगदादभि-  
धानादिति । तथा हि दर्शनमिति छन्दोभिधायिशब्दस्य सादृश्याद-  
न्यत्र प्रयोगे दृष्टान्तः । तथा हि—ते वा एते पञ्चान्ये पञ्चान्ये दश  
सन्तस्तत्कृतम् ' [ छा० ४ । ३ । ८ ] इत्युपक्रम्याऽऽह—'सैषा विराट् '

(दी०) दिना गायत्र्याख्यस्य छन्दसोऽभिधानादुक्तत्वान्न ब्रह्मण इति चेदेवं  
यदि तन्न । तथा चेतोर्पणनिगदात् । चेतसो मनसो गायत्र्याख्ये छन्दसि  
ब्रह्मदृष्ट्या समर्पणं निगद्यते कथ्यतेऽनेनेति निगदस्तरस्मात् । तथा हि दर्शन-  
म् । हि यस्माद्यथाऽत्र चेतसोऽर्पणस्य दर्शनमवलोकनं तथाऽन्यत्रापि दर्श-  
नम् । एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्त इत्यादि । अथवा चेतोर्पणनि-

( ब० व० ) इति । अस्यार्थः—संवर्गविद्यायामधिदैवतमग्निसूर्यचन्द्राम्भांसि वायौ लीयन्तेऽध्यात्मं प्राणे वाक्चक्षुःश्रोत्रमनांसीत्युक्तम् । ते वायुना सह पञ्चाऽऽधिदैविका आध्यात्मिकेभ्यः प्राणादिभ्योऽन्ये तथा प्राणादयः पञ्चाऽऽधिदैविकेभ्योऽन्य एवं सर्वे दश सन्तस्तत्कृतमित्युच्यते । कृता-परपर्यायचतुरायनामकद्युतगतचतुरङ्गवच्चत्वारः पदार्थाः प्रकृते सन्ति । त्र्यङ्कायवज्रयो द्वाङ्कायवद्वावेकाङ्कायवदेकश्च । एवं प्रकृते दशके सर्वा-न्तर्भावात्तज्जये सर्वजयो भवति । यथा कृते जिते त्रेतादिसंज्ञानि त्र्यङ्का-यादीनि जितानि भवन्ति तद्वत् । तत्र चतुरङ्गापरपर्यायचतुरङ्कायनामक-द्युतस्य कृतमिति संज्ञा । स चतुरङ्कायो दशात्मकश्चतुर्ष्वङ्केषु त्रयाणां त्रिषु द्वयोर्द्वयोरेकस्य चान्तर्भावाद्वाय्वादयोऽपि दश । तथा च दशत्व-संख्यासादृश्याद्वाय्वादयः कृतमित्युच्यन्ते । एवमेव दशाक्षरा विरा-डिति श्रुत्या विराणनामकच्छब्दसो दशात्मकत्वाद्वाय्वादौ विरादशब्द-प्रयोग इति यथा तद्वद्ब्रह्माणि चतुष्पात्त्वसाम्याद्वाय्वात्रीशब्दप्रयोग इति दृष्टान्तार्थः । तस्मात्पूर्ववाक्ये ब्रह्मैव निर्दिष्टं न च्छन्द इति सिद्धम् ॥ २५ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ २६ ॥

इतश्च गायत्रीवाक्ये ब्रह्मैव प्रतिपाद्यमित्यभ्युपगन्तव्यमित्येवंशब्दार्थः । कुतो भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः । भूतपृथिवीशरीरहृदयैश्चतुष्पदा गाय-त्रीति व्यपदेशस्य ब्रह्मण्येवोपपत्तेरित्यर्थः । न ह्यक्षरसंनिवेशरूपगायत्री-च्छन्दसि भूतादिपादव्यपदेशः संभवति । किं च 'ते वा एते पञ्च ब्रह्म-पुरुषाः' [ छा० ३ । १३ । ६ ] इति श्रुतिः पूर्वं ब्रह्मणः प्रकृतत्वे संगच्छते । तथा हि गायत्र्याख्यब्रह्मणो हार्दस्योपास्त्यङ्गत्वेन द्वार-पालादिगुणविध्यर्थं 'तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुपयः' [ छा० ३ । १३ । १ ] इत्यादिवाक्यम् । तत्र 'ते वा एते पञ्च ब्रह्म-

(दी०) गदादिति चेतसोऽर्पणम् । यथा हि गायत्रीशब्दाभिधेये ब्रह्माणि निग-द्यते तथा हि दर्शनम् । अन्यत्रापि च्छन्दोभिधायिशब्देन 'सैषा विरा-डज्ञादि' इति ब्रह्माभिधानस्य ॥ २५ ॥

ब्रह्मण्येवं गायत्रीदृष्टिः किं न स्यादित्यत आह—भूतादीति । भूत-मिदं सर्वम् । आदिशब्देन पृथिवीशरीरहृदयानि । तान्येव पादा विभा-गास्तेषां व्यपदेशः कथनं तस्योपपत्तिः संभवस्तस्मात् । एवं गायत्र्यां

(ब० व०) पुरुषाः ' [छा० ३।१३।६ ] इति श्रुतम् । तथा चोपास्यङ्गानां द्वारपालानां हृदयच्छिद्रेषु स्थितानां प्राणादिवायूनां ब्रह्मपुरुषत्वोक्तेर्हृदयच्छिद्रेष्वपि ब्रह्मसंबन्धोऽवगम्यत इत्यतोऽस्ति पूर्ववाक्ये ब्रह्म प्रकृतम् । नेह गायत्रीमात्रस्थैवोपास्यत्वे तदङ्गानां ब्रह्मपुरुषत्वं युक्तम् । अतो हृदयच्छिद्रेषु ब्रह्मसंबन्धात्तत्रस्थवायूनां ब्रह्मपुरुषत्वमिति ब्रह्मपुरुषश्रुत्युपपत्तिरिति । श्रुत्यर्थस्तु—हृदयस्य पञ्च देवच्छिद्राणि । आदित्यादिनामकैः प्राणादिवायुभिर्देवैः परिपाल्यत्वाद्देवमुषित्वं छिद्राणामुपचर्यते । तानि हृदयच्छिद्राणि हृदयप्राङ्मुखदक्षिणामुखप्रत्यङ्मुखोदङ्मुखोर्ध्वमुखरूपाणि । तत्स्थाः प्राणापानव्यानसमानोदानात्मका वायवः क्रमेणाऽऽदित्यचन्द्राग्निपर्जन्याकाशनामकाः पञ्च ब्रह्मपुरुषा इति । तस्माद्गायत्रीवाक्ये ब्रह्मैव प्रतिपाद्यमिति ज्योतिर्वाक्ये शुसंबन्धात्तदेव प्रत्यभिज्ञायत इति सिद्धम् ॥ २६ ॥

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ २७ ॥

ननु पूर्वस्मिन्वाक्ये 'त्रिपादस्यासृतं दिवि' इति सप्तम्या द्यौराधारत्वेन निर्दिश्यते । अथ 'यदतः परो दिवो ज्योतिः' इत्यत्र पञ्चम्या [अ] वधित्वेन द्यौर्निर्दिश्यते । तथा च विभक्तिभेदेनोपदेशभेदकथनभेदाज्ज्योतिर्वाक्ये प्रत्यभिज्ञानं न संभवतीति चेन्न । कुतः । उभयस्मिन्नप्यविरोधात् । विभक्तिभेदेनोपदेशद्वयेऽपि प्रत्यभिज्ञाया अविरोधादित्यर्थः । प्रधानप्रातिपदिकार्थेन प्रत्यभिज्ञाया गुणभूतविभक्त्यर्थो न प्रतिबन्धक इति भावः । तस्मात्परं ब्रह्मैव कौक्षेयकाम्नावुपास्यं ज्योतिःशब्देन नान्यद्भौतिकं तेज इति सिद्धम् ॥ २७ ॥

(द्यौः) ब्रह्मदृष्टिर्गायत्रीशब्दाभिधेये ब्रह्मणि नाक्षरमात्रं गायत्री भूतादिपादवत् । चकारः पूर्वयक्षिणोऽपि पूर्ववाक्यब्रह्मण्यनुपपत्तिमाह ॥ २६ ॥

उपदेशेति । उपदिश्यत इत्युपदेशो वाक्यम् । 'परो दिवः' 'असृतं दिवि' इति पञ्चमीसप्तम्यन्तत्वेनैतस्य पूर्वस्य च भेदान्न ब्रह्म पूर्ववाक्य इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । उभयस्मिन्नपि पक्षद्वयेऽपि प्रातिपदिकार्थस्यैकत्वाद्ब्रह्मप्रत्यभिज्ञानान्न विरोधस्तस्मात् । अथवा पञ्चम्यन्तत्वेन सप्तम्यन्तत्वेन वा व्यपदेशेऽप्युभयस्मिन्नपि वृक्षाग्रे श्येनो वृक्षाग्रात्परतः श्येन इतिवत्प्रत्यभिज्ञानस्य न विरोध इति ॥ २७ ॥

( ब्रह्मणः प्राणशब्दप्रतिपाद्यत्वम् ' अधि० ११ ) ।

प्राणस्तथाऽनुगमात् ॥ २८ ॥

(ब्र० व०) पूर्वस्मिन्नधिकरणे 'यदतः परः' इत्यत्र यच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थवाचकस्य बलवत्त्वात्तत्सहकृतं ब्रह्मलिङ्गं तेजोलिङ्गापेक्षया बलवदित्युक्तं न तथेह किञ्चिद्वलवत्तया संपादकमस्तीति प्रत्युदाहरणसंगतिरस्याधिकरणस्य । यद्वा पूर्वं दिवि दिव इत्यत्र प्रधानप्रकृत्यर्थानुरोधाद्गुणभूतप्रत्ययार्थोऽन्यथा नीतो यथा तद्वादिहापि स्वतन्त्रप्राणादिपदार्थभेदप्रतीतौ तत्सापेक्षब्रह्मरूपवाक्यार्थप्रतीतेर्गुणभूताया अपलापो युक्त इति दृष्टान्तसंगतिः । पदार्थप्रतीतेः स्वातन्त्र्यं जनकत्वेन वाक्यार्थप्रतीतेर्गुणत्वं तज्जन्यत्वेनेति बोध्यम् । अस्ति कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदीन्द्रप्रतर्दनाख्यायिका—'प्रतर्दनो ह वै देवोदासिरिन्द्रस्य प्रियं धामोपजगाम युद्धेन च पौरुषेण' [ कौषी० ३ । १ ] इत्यारभ्याऽऽन्नाता । तस्यां श्रूयते—'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं मामायुरमृतमुपास्व' [ कौ० ३ । २ ] इति । तथोत्तरत्रापि—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति' [ कौषी० ३ । ३ ] इति । तथा—'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विन्द्यात्' इत्यादि । अन्ते च—'स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः' [ कौ० ३ । ८ ] इत्यादि । अस्यार्थः—देवोदासस्यापत्यं पुमान्देवोदासिः प्रियं प्रेमास्पदं धाम गृहं तद्गतौ हेतुर्युद्धेनेति । तत्कारणेन पुरुषकारप्रदर्शनेन च प्रतर्दनो राजेन्द्रस्य गृहं जगामेत्यन्वयः । 'तं हेन्द्र उवाच । प्रतर्दनं वरं ते ददामीति स होवाच प्रतर्दनः ।

(दी०) पूर्वाधिकरणे दिवि दिव इति च प्रकृत्यर्थमाश्रित्य प्रत्यभिज्ञानेन ब्रह्मप्रतीतौ यच्छ्रुतेः प्रसिद्धार्थापेक्षायां ब्रह्मैवेत्युक्तेः । तथाऽत्रापि पदार्थस्य प्राणादेः प्रधानत्वादुपक्रमोपसंहारादिवाक्यार्थस्तदनुसारेण नेय इति देवता वा जीवो वा मुख्यप्राणो वैकं वा द्वयं वा त्रयं वा ब्रह्मापि वा न तु ब्रह्मैवेति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—प्राण इति । 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इति प्राणशब्दः परमात्मा । कुतः । तथाऽनुगमात् । तथा होन्द्रप्रतर्दनाख्यायिकायाम् । 'यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' इत्यादिलिङ्गवाक्यपर्यालोचनया परमात्मनोऽनुगमोऽवगमो यस्मात् ॥ २८ ॥

(ब्र० व० ।) त्वमेव वरं वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यसे' [कौषी० ३।१] इति । तत इन्द्र उवाच—प्राणोऽस्मीत्यादि । मुख्यप्राणं व्यावर्तयति—प्रज्ञात्मेति । निर्विशेषचिन्मात्रं व्यावर्तयति—तं मामिति । इदं च प्राणस्येन्द्ररूपदेवतात्वे लिङ्गम् । प्राणस्य मुख्यप्राणरूपत्वे लिङ्गमथ खल्वित्युक्तम् । देहधारणं न वागादिकृतमित्युक्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः । प्राणवायोर्देहधारणं तदुत्थापनं च कार्यमिति प्रसिद्धमिति खल्वित्युक्तम् । प्राणस्य जीवत्वे लिङ्गम्—न वाचमिति । प्राणस्य परमात्मत्वे लिङ्गं स एष इत्यादि । एवं च प्राणशब्दस्येन्द्रप्राणवायुजीवपरमात्मपरत्वे लिङ्गानां विद्यमानत्वात्संशयः किंपरः प्राणशब्द इति । तत्र प्रसिद्धत्वात्प्राणवायुपर इति प्राप्त उच्यते—‘प्राणस्तथाऽनुगमात्’ तत्र प्राणो ब्रह्मैव । कुतः । तथाऽनुगमात् । तथा ब्रह्मपरत्वेऽनुगमादवगमादित्यर्थः । तथा हि प्रतर्दनः खलु हिततमं पुरुषार्थं पृष्टवांस्तस्य परमपुरुषार्थकामस्य प्राण उपास्यत्वेनोपदिश्यते प्राणोऽस्मीत्यादिना । एवं च परमपुरुषार्थत्वेनोपदिश्यमानः प्राणः कथं प्राणवायुः स्यात् । तथा—‘स यो मां वेद न ह नै तस्य केनचन कर्मणा लोको मीयते न स्तेयेन भूणहत्यया’ [कौषी० ३ । १] इत्यादि ब्रह्मपरिग्रहे घटते । ‘क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्हृष्टे परावरे’ [मुण्ड० २ । ८] इत्यादिना ब्रह्मज्ञानिनः कर्मक्षयश्रवणात् । तदर्थस्तु—योऽधिकारी मां ब्रह्मरूपं साक्षादनुभवति तस्य विदुषो लोको मोक्षो न मीयते न हिंस्यते महताऽपि पापेन । ज्ञानमाहात्म्येन सर्वस्यापि पापस्य दग्धत्वादिति भावः । एवं प्रज्ञात्मत्वं च ब्रह्मण एव युक्तम् । एवमुपसंहारे ‘आनन्दोऽजरोऽमृतः’ इत्यपि ब्रह्मपरत्वे घटते । तथा—‘स न साधुना कर्मणा भूयान्भवति नो एवासाधुना कनीयानेष ह्येष साधु कर्म कारयति’ ‘एष उ एवासाधु कर्म कारयति’ ‘एष लोकाधिपतिरेष लोकपाल एष लोकेशः’ [कौषी० ३ । ८] इति च ब्रह्मण्येव समञ्जसम् । अत्र हि धर्माद्यसंस्पृष्टत्वं तत्कारयितृत्वं तर्दीशितृत्वं च ब्रह्मणोऽसाधारणं लिङ्गमस्तीति । तस्मात्पूर्वापरपर्यालोचनया ब्रह्मपरमेष प्राणपदमिति ॥ २८ ॥

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्म-

संबन्धभूमा ह्यस्मिन् ॥ २९ ॥

ननु यदुक्तं प्राणो ब्रह्मेति तदयुक्तमिति । कुतो वक्तुरात्मोपदेशात् ।

(दी०) न वक्तुरिति । नात्र परमात्मोपदेशः । कुतः । वक्तुरात्मन इन्द्रस्यो-

(ब० व० १) वक्तुरिन्द्रस्याऽऽत्मत्वेनोपदेशादित्यर्थः । तथा हि वक्ता हीन्द्रो नाम कश्चिद्विग्रहवान्देवताविशेषः स्वमात्मानं प्रतर्दनायोपदिशति 'तं मामेव विजानीहि' इत्युपक्रम्य 'प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा' इत्यहंकारवादेन । किंच देवतायाः प्राणत्वं लिङ्गान्तरमस्ति 'अरुन्मुखान्यतीञ्छालावृ-  
केभ्यः प्रायच्छम्' इति । रुद्धेदान्तवाक्यं तद्येषां मुखे न वर्तते तेऽरु-  
न्मुखाः । शालावृकेभ्यांऽरण्यश्वभ्यः । नहीदं ब्रह्मणो युक्तम् । एवमिन्द्र-  
परत्व इतरद्यथासंभवं योजनीयमिति । अत्रोच्यते—अध्यात्मसंबन्ध-  
भूमा ह्यस्मिन्निति । हि यस्मादस्मिन्नध्यायेऽध्यात्मसंबन्धस्य परमात्म-  
संबन्धस्य भूमा बाहुल्यमुपलभ्यत इत्यर्थः । तद्यथा 'यावदस्मिञ्श-  
रीरे प्राणो वसति तावदायुः' इति प्राणस्यैव प्रज्ञात्मनः परमात्मभूत-  
स्याऽऽयुष्प्रदानोपसंहारयोः स्वातन्त्र्यं दर्शयति न पराचीनस्येन्द्रस्य ।  
एवमस्तित्वे च प्राणानां निःश्रेयसमिति श्रुतिरात्मानमिन्द्रियाश्रयं प्राणं  
दर्शयति । प्राणस्यास्तित्वे स्थितौ प्राणानामिन्द्रियाणां निःश्रेयसं  
स्थितिरिति श्रुत्यर्थः । एवमेव 'न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्'  
इति । परमात्मानं वक्तारमुपक्रम्य 'तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो  
नामावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः  
प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्वोऽजरोऽमृतः' इति वाक्यं  
विषयेन्द्रियव्यवहारानभिभूतं प्रत्यगात्मानमेवोपसंहरति । श्रुत्यर्थस्तु—  
तत्तत्र भूतमात्रादीनां नानात्वं नेत्यर्थे दृष्टान्तः । यथा लोके प्रसिद्धस्य  
रथस्यारेषु मध्यवर्तिशलाकासु चक्रोपान्तनेमिरर्पिता नाभौ चक्रपिण्डि-  
कायामरा अर्पितास्तद्वद्भूतानि पृथिव्यादीनि मात्राः शब्दादयो विषया  
मीयन्त इति मात्राः प्रज्ञामात्रासु स्वस्वबोधकेष्विन्द्रियेषु बुद्धिद्वाराऽ-  
र्पिताः कर्मेन्द्रियेष्वपि तद्विषया अर्पितास्तदधीनत्वात्तद्व्यवहारस्य ताश्च  
प्रज्ञामात्राः प्राणे परस्मिन्नर्पिताः । प्राणस्य ब्रह्मत्वे लिङ्गं स एष इति ।

(दी० १) पदेशः 'तं मामायुरमृतमुपास्व' इत्यादिना । तस्मादिति चेदेवं यदि  
नेति पूर्वस्मादनुवर्तते । तदुक्तं न । कुतः । अध्यात्मसंबन्धभूमा ह्यस्मिन् । हि  
यस्मादस्मिन्प्रकरणे स्वात्मानमधिकृत्य वर्तत इत्याध्यात्मं तस्य संबन्धः ।  
अर्द्धत्वात्प्रतिपादकानि वाक्यानि 'यावदस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति  
तावदायुर्न वाचं विजिज्ञासीत वक्तारं विद्यात्' इत्युपक्रम्य 'तद्यथा

(ब्र० व० ।) तस्मादध्यात्मसंबन्धबाहुल्यात्प्राणात्मकब्रह्मोपदेश एवायं न देवतात्मोपदेश इति सिद्धम् ॥ २९ ॥

कथं तर्हि वक्तुरात्मोपदेश इत्याशङ्क्याऽऽह—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ ३० ॥

इन्द्रस्य वक्तुर्मात्रेव विजानीहीत्युपदेशः शास्त्रदृष्ट्या ज्ञातव्यः । अहमेव परं ब्रह्मेति शास्त्रदृष्ट्या पश्यन्नेवमुक्तवानित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तो वामदेववदिति । यथा वामदेवः शास्त्रदृष्ट्या ‘अहं मनुरभवत् सूर्यश्च’ [ बृ० १ । ४ । १० ] इत्याह तद्वदित्यर्थः । यदुक्तमिन्द्रो यतीनित्यादि देवतापरत्वे लिङ्गमिति तन्न । यद्वेदान्तवाक्योत्थज्ञानप्रभावादहमेवंभूतोऽस्मीतीदृशवेदान्तवाक्यान्यध्येयानि नो चेदरण्यश्वभ्यः प्रायच्छमित्येतदर्थकत्वेनाविरोधात् । तस्मात्प्राणात्मकब्रह्मपरमेतद्वाक्यमिति सिद्धम् ॥ ३० ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासत्रै-

विध्यादाश्रितत्वादिह तथोगात् ॥ ३१ ॥

ननु यदुक्तमध्यात्मसंबन्धबाहुल्याच्च देवतात्मा प्राण इति तत्सत्यं तथाऽपि न ब्रह्मपरमेवेदं वाक्यं किं तु जीवमुख्यप्राणवायुपरमपि । कुतः । जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गान्च । ‘न वाचं विजिज्ञासीत् वक्तारं विद्यात्’ इति जीवलिङ्गं वागादिकरणैर्व्यापृतस्य वक्तुर्जीवस्य विज्ञेयत्वमुपलभ्यते । एवम् ‘प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’ [ कौ० ३ । ३ ] इति प्राणलिङ्गं देहधारणस्य प्राणलिङ्गत्वात् । तथा हि प्राणसंवादे श्रूयते—वागादयः सर्वे प्राणाः प्रत्येकं श्रेष्ठतामात्मनो मम्यमानास्तन्निर्दिधारयिषया प्रजापतिमुपजग्मुः स च तानुवाच यस्मिन्नुत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव भवति स युष्माकं मध्ये श्रेष्ठ इति । तस्मिन्प्रजा- ( दी० । ) रथस्यारेषु’ इत्यादीनि तस्य भूमा बाहुल्यम् ॥ २९ ॥

कथं तर्हि ‘मामायुः’ इत्यादिना वक्तुरिन्द्रस्याऽऽत्मोपदेशः—शास्त्रेति । शास्त्रस्य तत्त्वमसीत्यादेर्दृष्टिरात्मावगतिस्तथा तूपदेशोऽभिधानं वामदेववत् । यथा वामदेवः ‘अहं मनुरभवम्’ इत्याद्युक्तवामेवमिति ॥ ३० ॥

जीवमुख्येति । जीवश्च मुख्यप्राणश्च तयोर्लिङ्गम् । ‘वक्तारं विद्यात्’ इति जीवस्य ‘प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’ इत्यादि-



( ब्र० व० । ) पतावेवमुक्तवति वागादिषूक्तान्तेष्वपि मूकादिभावेन शरीरं स्वस्थमस्थात् । मुख्यप्राणोच्चिक्रमिषायां तु वागादीनां व्याकुलत्वाद्वागादीन्प्रति प्राण उवाच—मा मोहमापद्यथ यतोऽहमेवैतत्करोमि किं तत्पञ्चधा प्राणापानादिभेदेनाऽऽत्मानं विभज्यैतद्वाणं शरीरं वञ्चति गच्छतीति वानं वानमेव बाणमस्थिरं शरीरमिति यावत् । तद्वद्विषय विधारयामीति श्रवणाद्देहधारणं प्राणलिङ्गमेवार्थतोऽनुक्रान्ता श्रुतिस्तु ‘ मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्वाणमवद्विषय विधारयामि ’ [ प्र० २ । ३ ] इति प्राणवायोः प्रज्ञात्मकत्वं कथमिति चेज्ज्ञानेन्द्रियाभयत्वादिति ब्रूमः । तस्मादुपक्रमादिपर्यालोचनया ब्रह्मरूपैकवाक्यार्थप्रतीतावपि तस्या जीवमुख्यप्राणरूपपदार्थप्रतीतिजन्यत्वेन गुणत्वात्पदार्थप्रतीतिश्च तज्जनक [ त ] या प्रधानत्वादेकवाक्यार्थप्रतीतिमपोद्य वाक्यभेद एव न्याय्य इति जीवमुख्यप्राणब्रह्मणां त्रयाणामुपास्यानां प्रत्येकं स्वातन्त्र्येण वाक्यार्थत्वमिति त्रीणि वाक्यानि नैकं ब्रह्मवाक्यमिति चेन्न । उपासनात्रैविध्याञ्चीण्युपासनानि प्रसज्येरन्नित्यर्थः । उपक्रमोपसंहाराभ्यां ब्रह्मपरत्वेनैकवाक्यत्वे संभवति वाक्यभेदो न युक्तः । न च पदार्थप्रतीतिर्मुख्यत्वम् । तस्या वाक्यार्थप्रतीतिशेषत्वेन तस्या एव प्रधानत्वात् । न हि जनकत्वमात्रेण प्राधान्यं युक्तम् । संनिपत्योपकारकाणामपि प्राधान्यापत्तेः । अन्यत्र ब्रह्मलिङ्गवशात्प्राणशब्दस्य ब्रह्माणि प्रवृत्तेराश्रितत्वाच्च । इहापि हिततमोपन्यासादिब्रह्मलिङ्गयोगाद्ब्रह्मण एवायमुपदेश इति । यत्तु जीवादिलिङ्गमस्तीति तत्परत्वमिति तन्न । प्राणव्यापारस्यापि परमेश्वरायत्तत्वेन देहधारणस्यापि ब्रह्मण्युपचरितुं शक्यत्वेनान्यथासिद्धप्राणवायुलिङ्गाभावात् । तथाच श्रुतिः—‘ न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ [ काठ० २ । ५ । ५ ] इति प्राणादिव्यापारस्येश्वरायत्तत्वमाह । नापि ‘ न वाचं विजिज्ञासीत ’ इत्यादिजीवल्लिङ्गविरोधः । जीवस्य ब्रह्मानन्यत्वेन सर्वोपाधिपरित्यागेन जीवस्य स्वरूपं ब्रह्म दर्शयितुं ‘ न वाचं विजिज्ञासीत ’ इत्यादि

( दी० । ) प्राणस्य । तस्मान्न परमात्मग्रहणमिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । उपासात्रैविध्यात् । उपासनमुपासा तिस्रो विधा यस्याः सा त्रिविधा तस्या भावश्चैविध्यम् । उपासायाश्चैविध्यं तस्मात् । उपासात्रैविध्यप्र-

(ब्र० व० ।) प्रत्यगात्माभिमुखीकरणार्थमुपदेशो न विरुध्यते । ‘यद्वाचाऽन-  
भ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि’ [केन० १।४] इति श्रुत्य-  
न्तरं वागादिष्यावृत्तस्य वक्तुर्ब्रह्मत्वं दर्शयति । तस्माद्ब्रह्मपरमेवैवं वाक्यं  
न प्राणादित्रितयपरम् । एकदेशिनस्तु ‘नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह  
तद्योगात्’ इत्यस्यार्थान्तरमाचक्षते । तथा हि—न ब्रह्मवाक्ये जीव-  
मुख्यप्राणलिङ्गयोर्विरोधः । कुतः । उपासात्रैविध्यात् । जीवधर्मेण  
प्राणधर्मेण ब्रह्मधर्मेण च सहितस्य त्रिविधस्योपासनस्यैकस्य विवक्षि-  
तत्वादित्यर्थः । अतो न वाक्यभेद इति । तत्र ‘आयुरमृतमित्युपास्व ।  
‘आयुः प्राणः’ [कौ० ३।२] इति ‘इदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति’ ।  
‘तस्मादेतदेवोक्तमपासीत’ [कौ० ३।३] इति प्राणधर्मः । ‘अथ  
यथाऽस्यै प्रज्ञायै सर्वाणि भूतान्येकं भवन्ति तद्याख्यास्यामः’ [कौ०  
३।४] इत्युपक्रम्य ‘वागेवास्या एकमङ्गमदूदुहत्तस्यै नाम परस्तात्प्र-  
तिविहिता भूतमात्रा । प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि मामान्या-  
प्रोति’ [कौ० ३।४] इत्यादि जीवधर्मः । ‘ता वा एता दशैव  
भूतमात्रा अधिप्रज्ञं दश प्रज्ञामात्रा अधिभूतं यद्धि भूतमात्रा न स्युर्न  
प्रज्ञामात्राः स्युर्यद्वा प्रज्ञामात्रा न स्युर्भूतमात्रा न स्युः । न ह्यन्यतरतो  
रूपं किञ्चन सिध्येत् । नो एतन्नाना । तद्यथा रथस्यारेषु नेमिरर्पितो  
नाभावरा अर्पिता एवमेवैता भूतमात्राः प्रज्ञामात्रास्वर्पिताः प्रज्ञामात्राः  
प्राणेऽर्पिताः स एष प्राण एव प्रज्ञात्मा [कौ० ३।८] इत्यादि ब्रह्म-  
धर्मः । एतदर्थस्तु—‘प्राणो हि भूतानामायुः’ इति श्रुत्यन्तरेण प्राण-  
स्याऽऽयुष्टं सिद्धं जीवनस्य तदधीनत्वात्तरमात्रप्राणस्यैव देहाद्युत्थापक-  
त्वाद्देहादिकमुत्थापयतीत्युक्तं प्राणः । एवमायुष्टामृतत्वोक्तत्वं प्राण-  
धर्म इत्यर्थः । सहवासः सहोत्क्रान्तिश्चेत्युक्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः ।  
अस्या जीवाख्यप्रज्ञायाः संबन्धीनि भूत्वा सर्वाणि भूतानि दृश्यत्वेन  
कल्पितानि वस्तुतो यथैकं भवन्ति तथा तद्वस्तु व्याख्यास्याम इत्युपक्र-  
म्योक्तं वागेवेति । बुद्धेः साभासायाः स्वरूपतो जातत्वेऽपि विषयि-  
त्वरूपपूर्णशरीरमिन्द्रियसाध्यम् । तत्र नामप्रपञ्चविषयित्वमर्धशरीरं  
बुद्धेरहंकारलक्षणायास्तथा रूपप्रपञ्चविषयित्वमर्धशरीरम् । तथा च

(दी० ।) सङ्गादित्यर्थः । जीवमुख्यप्राणग्रहणे वाक्यभेदः स्यान्न ब्रह्मग्रहण  
इत्यर्थः । प्राणशब्दः कथं ब्रह्मणीत्यत आह—आश्रितत्वात् । अन्यत्रापि  
‘प्राण इति होवाच’ इत्यादौ ब्रह्मणि स्वीकरणात् । तत्र तत्तल्लिङ्गादिति

(ब्र० व० १) कर्मेन्द्रियेषु मध्ये वागेवास्याः प्रज्ञाया देहाधमेकमङ्गमदृढदु-  
 द्रेचितवती पूरयामासेत्यर्थः । नामात्मकप्रपञ्चे वाग्द्वारा प्रविष्टा बुद्धिर्ना-  
 मप्रपञ्चविषयित्वलक्षणमधं शरीरं व्याप्नोतीति यावत् । तस्याः प्रज्ञायाः  
 पुनर्नाम किल परस्तादपरभागे रूपप्रपञ्चविषयित्वलक्षणेऽर्धशरीरे चक्षु-  
 रादिना प्रतिविहिता समुत्थापिता भूतमात्रा रूपादिरूपा कारणं भव-  
 तीत्यर्थः । चक्षुरादिना प्रकाशितोऽर्थप्रपञ्चो बुद्धेरितरभागं रूपप्रपञ्च-  
 विषयित्वलक्षणं पूरयामासेति यावत् । एवं च वागिन्द्रियेणार्थप्रपञ्चेन  
 च जीवाख्यप्रज्ञापूर्णं विषयित्वलक्षणं शरीरं प्राप्य द्रष्ट्री भवतीति  
 सिद्धम् । तदुपहितचैतन्यद्वारा स्वरूपे द्रष्टृत्वाध्यासमाह—प्रज्ञयेति ।  
 तथा द्वारा वाचं करणं प्रति चिदात्माऽहं वक्तव्यध्यासमनुभूय वाचा  
 करणेन सर्वाणि नामानि वक्तव्यत्वेनाऽऽप्नोति चक्षुषा सर्वाणि रूपाणि  
 पश्यतीत्येवं द्रष्टृत्वमनुभवतीत्यर्थः । सर्वभूतविषयकत्वमात्मनि द्रष्टृत्वा-  
 दिसंपादकत्वं च बुद्धेर्धर्म इति फलितम् । चक्षुरेवास्या इत्यादिपर्याया-  
 न्तरार्थोऽपि संगृहीतः । सर्वाधारत्वावन्दत्वादिव्रह्माधर्म इत्याह—ता  
 वा इति । भूतानि पृथिव्यादीनि पञ्च मात्राश्च शब्दादयः पञ्चैता दश  
 भूतमात्रा अधिप्रज्ञं प्रज्ञेन्द्रियाणि तदुत्थज्ञानानि वाऽधिकृत्य प्रवर्तन्ते ।  
 दश प्रज्ञामात्राः पञ्चेन्द्रियाणि तदुत्थबुद्ध्यश्चाधिभूतं भूतानि पृथिव्या-  
 दीनि शब्दादीनि चाधिकृत्य प्रवर्तन्ते । एवं भूतमात्राणां दशानां ग्राह्य-  
 त्वेन प्रज्ञामात्रात्मकग्राहकापेक्षत्वमुक्तम् । प्रज्ञामात्राणां दशानां ग्राह-  
 काणां ग्राह्यभूतमात्रापेक्षत्वं चोक्तम् । इदमेव मिथः सापेक्षत्वं ग्राह्य-  
 ग्राहकयोः साधयति—यद्धीति । तदेव स्पष्टयति—नहीति । ग्राह्या-  
 द्ग्राह्यं न सिध्यति किंतु ग्राहकादेव । एवं ग्राह्यं विना ग्राहकं न निर्व-  
 हतीत्यन्योन्यसापेक्षत्वमित्यर्थः । इदं ग्राह्यग्राहकद्वयं वस्तुतो न भिन्न-  
 मित्याह—नो इति । किंत्वेकस्मिन्नात्मन्यारोपितमिति शेषः । तद्यथे-  
 त्यादि(देः) कृतं व्याख्यानम् । तस्माद्ब्रह्मण एव धर्मअथेणोपास-  
 नमेकं विवक्षितम् । अन्यत्रापि ‘मनोमयः प्राणशरीरः’ [ छा० ३ ।  
 १४ । २ ] इत्यादावुपाधिधर्मेण ब्रह्मोपासनस्याऽऽश्रितत्वादिहापि  
 तद्युज्यते । तस्मा[ देत ] ब्रह्मवाक्यमिति । इदमेकदेशिमतमयुक्तम् ।

(दी० १) चेत्तत्राऽऽह—इह तद्योगात् । इहास्मिन्नध्याये तेषां लिङ्गानां योगा-  
 द्विद्यमानत्वात् । आचार्यदेशीयास्त्वेवं व्याचक्षते—जीवमुख्यप्राणलिङ्गैश्च

(ब० व०।) तथा हि—किमत्रोपासनाश्रयविशिष्टं ब्रह्म विधेयमुत ब्रह्मविशिष्टोपासनाश्रयं किं वा ब्रह्मानुवादेन तदाश्रित्योपासनाश्रयम् । नाऽऽद्यः । ब्रह्मणः सिद्धत्वेन विध्ययोगात् । नापि द्वितीयः । वाक्यान्तरेण ब्रह्मणो ज्ञातत्वात् । नापि तृतीयः । ब्रह्मानुवादेनोपास्तिविधावेकविशेष्यावशीकारादुपास्तीनां मिथोऽसंबन्धात्प्रत्युपास्तिविध्यावृत्त्या वाक्यभेदस्य दुरपह्ववत्वात् । तस्माद्यथाव्याख्यातमेव रमणीयमिति ज्ञेयपरमेवेदं प्रतर्दनवाक्यमिति सिद्धम् ॥ ३१ ॥

न्यायाः ११ सूत्राणि ॥ ३१ ॥

नन्वेकप्रमाणजीवब्रह्मगुणविशिष्टं ब्रह्मविषयकं ब्रह्मोपासनं विधीयते यथाऽऽरुण्याद्यनेकगुणविशिष्टः क्रयो विधीयत इति न दोष इति चेत्तत्र वक्तव्यम् । आरुण्यादीनां क्रयेणान्वये पश्चादन्वयो गवि जायते तद्वदत्र कुत्र भवतीति प्राणादाविति चेन्न । तेषां प्रकृतेऽसत्त्वात् । ननु ययं प्राणादिगुणानां प्राणैः संबन्धमुक्त्वा पश्चादुपासनाविषये संबन्ध इति ब्रूम इति चेत्तत्रापि वक्तव्यम् । प्राणादिगुणविशिष्टत्वेन साध्यत्वं प्राणादीनां तद्विशिष्टत्वेन चोपासनायाः साध्यत्वं तत्र भावनाभेदे वाक्यभेदः । प्राणादिकर्मिकोपासनाकर्मिका चैकैव भावनेति चेत्तर्हि वैरूप्यप्रसङ्गः । एकैव भावना गुणकरणकप्राणकर्मिका गुणविशिष्ट-प्राणकरणिका ब्रह्मविषयकोपासनाकर्मिका चेति वैरूप्यम् ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्दसरस्व-

तीपूज्यपादशिष्यरामकिंकरधर्मकृतौ धैयासिकसूत्रवृत्तौ

ब्रह्मामृतवर्षिण्यां प्रथमाध्यायस्य स्पष्टब्रह्मालि-

ङ्गाख्यः प्रथमः पादः ॥ १ ॥

(दी०।) ब्रह्मण एवोपासनायाश्चैविध्यं विवक्षितमुक्तं तथाऽपि जीवब्रह्मदेवतामुख्यप्राणानां लिङ्गसंनिपाते ब्रह्मालिङ्गं बलीय इति नोक्तम् । यद्यप्यन्तस्तद्भर्मोपदेशादित्यत्रैतदप्युक्तं तथाऽप्यत्र कार्यकारणयोर्धर्मसंनिपाते कारणमेवाऽऽश्रयणीयमिति विशेषः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्यस्य

श्रीशंकरानन्दभगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रदीपिकायां प्रथमा-

ध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

एवं प्रथमे पादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि सर्वज्ञसर्वशक्तिजगदुत्पत्तिस्थितिलयकारणब्रह्मपरतया नीतानि । कानिचिद्वाक्यान्यस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि संविद्यमानानि द्वितीतृतीयपादाभ्यां ब्रह्मपरतया नीयन्ते । तत्र द्वितीयपादे प्रायश उपास्यब्रह्मपराणि विचार्यन्ते । तृतीये ज्ञेयब्रह्मपराणीति विभागः ।

( मनोमयः प्राणशरीर इत्यादिच्छान्दोग्यवाक्येन ब्रह्मण

उपास्यत्वविचारः, अधि० १ )

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्पादे सर्वज्ञत्वादिगुणकस्य ब्रह्मणः सिद्धत्वात्तदुपजीव्य(व्यो)-त्तरस्योत्थानाद्धेतुहेतुमज्जावः संगतिः पूर्वोत्तरयोः । पूर्वाधिकरणस्यावान्तरसंगतिस्तु यथा पूर्वं जीवादिलिङ्गबाधया ब्रह्मपरत्वमुक्तं ब्रह्मलिङ्गवशाच्च तथेह ब्रह्मलिङ्गमस्ति किंतु ब्रह्मणः प्राकरणिकत्वमेव । तथा च प्रकरणापेक्षया लिङ्गस्य बलवत्वाज्जीवस्य मनोमयत्वादिलिङ्गमस्तीति तत्परमेवास्त्विति प्रत्युदाहरणसंगतिः । यद्वा पादान्तरत्वान्नावान्तरसंगत्यपेक्षेति सर्वत्राधिकरणे सविशेषवाक्यविचाररूपपूर्वोत्तरपक्षयोरुपपत्तेरेव फलम् । यत्र तु निर्विशेषवाक्यविचारस्तत्र पूर्वपक्षे तदुपास्तिः सिद्धान्ते प्रमितिरिति भेदः । छान्दोग्ये श्रूयते—सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत । अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति । स क्रतुं कुर्वीत मनोमयः प्राणशरीरः [ छा० ३ । १४ । १, २ ] इत्यादि । अस्यार्थः—सर्वं जगद्ब्रह्मैवेत्यच्च हेतुमाह—तज्जेति । तस्माज्जायत इति तज्जम् । तस्मिँलीयत इति तल्लम् । तस्मिन्ननिति चेष्टत इति तदनम् । तज्जं च तल्लं च तदनं च तज्जलान् । अवयवलोपश्छान्दसः । इतिशब्दो हेतौ । यस्मादेवं तस्मात्सर्वं जगद्ब्रह्मैवेत्यर्थः । स क्रतुं कुर्वीतेत्यत्र विहित\*मुपासनमनूद्य शान्तरूपगुणं विदधाति—शान्त इति । यतो ब्रह्मातिरिक्तं किञ्चिन्नास्ति अतो द्वेष्यादीनामभावाच्छान्तः सन्नुपासीतेत्यर्थः । गुणं विधाय

(दी०।) पूर्वपादे स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि विचारितानि । द्वितीयपादेऽस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि उपासनाप्रचुराणि रूढिविषयाणि विचा-

\* अग्निहोत्रं जुहोतीत्यनेन यागविधानं दध्ना जुहोतीत्यनेन यागमनूद्य दधिरूपो गुणो विधीयते ।

(ब्र० व० १) गुणिविधित्सया पुंस्प्रयत्नसाध्याया उपासनायाः फलमाह—  
अथेति । पुरुषोऽधिकृत उपासकः क्रतुमयः संकल्पमयस्तत्र हेतुर्यथेति ।  
ज्ञानं कर्म वा यथाऽस्मिन्देहे स्थितः संकल्पयति तथा तदनुसारेण फलं  
परम् लभते सोऽधिकृतः क्रतुं ध्यानं कुर्वीत । किं ध्यायेदित्याकाङ्क्षायामाह  
मनोमय इति विभक्तिव्यत्ययेन मनोमयं प्राणशरीरं परमात्मानं ध्याये-  
दित्यर्थः । अत्र मनोमयत्वादेः प्रकृतब्रह्मसापेक्षत्वनिरपेक्षत्वाभ्यां संशयः  
किमत्र मनोमयत्वादिगुणकः शारीर उपास्यत्वेन गृह्यते किं वा पर-  
मात्मेति । किमत्र युक्तं शारीर इति । कुतः । ‘अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः’  
[ मु० २ । १ । २ ] इत्यादिना ब्रह्मणो मनआदिसंबन्धनिरासात् ।  
जीवस्य मनआदिसंबन्धस्य सर्वसिद्धत्वात् । तस्मान्मनोमयत्वादेः  
प्रकृतब्रह्मनिरपेक्षत्वात्तद्गुणकः शारीर एवोपास्य इति प्राप्ते ब्रूमः—‘सर्वत्र  
प्रसिद्धोपदेशात्’ अत्र परमेव ब्रह्मोपास्यत्वेन गृह्यते । कुतः । सर्वत्र  
प्रसिद्धोपदेशात् । सर्वेषु वेदान्तेषु यत्प्रसिद्धं ब्रह्म जगत्कारणं तस्यैवात्र  
‘सर्वं खलु’ इत्यादिनोपदेशादित्यर्थः । यदुक्तं मनोमयत्वादि प्रकृतब्रह्मा-  
संबन्धीति तन्न । मनोमयत्वादेर्विशेष्याकाङ्क्षायां यत् ‘सर्वं खल्विदं  
ब्रह्म’ इति प्रकृतं तदेषाम्बेति नाप्रकृतो जीवः । अन्यथा प्रकृतहानप्रस-  
ङ्गात् । न च तदसंभवः । सर्वात्मकत्वेन सर्वस्याप्युपपत्तेरिति ॥ १ ॥

किंच—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ २ ॥

विवक्षितोपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टा ये गुणाः सत्यसंकल्पत्वादय-  
स्तेषां ब्रह्मण्येवोपपत्तेरित्यर्थः । ‘मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्य-  
संकल्प आकाशात्म्य सर्वकर्मा सर्वकामः’ [ छा० ३ ।  
१४ । २ ] इत्यादिनोपदिष्टाः । यद्यपि मनोमयत्वादि जीवस्यासाधारणं  
तथाऽपि सत्यसंकल्पत्वाद्यनुरोधेन सर्वात्मके ब्रह्मणि मनोमयत्वाद्युप-  
पत्तिः । जीवधर्मान्ब्रह्मणि दर्शयति च श्रुतिः—‘त्वं स्त्री त्वं पुमानसि

(दी० १) र्यन्ते—सर्वत्रेति । सर्वेष्वपि वेदान्तेषु यत्प्रसिद्धं ब्रह्म प्रसिद्धेराल-  
म्बनेनेह ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ इत्युपक्रान्तं तस्यैव मनोमयत्वाद्युपदेशस्त-  
स्माद्ब्रह्मात्र प्रतिपाद्यम् ॥ १ ॥

जीवब्रह्मणोः सति साधारण्ये कथं ब्रह्मैवेत्यत आह—विवक्षितेति ।  
वक्तुमिष्टा विवक्षिताः । उपासनायामुपादेयत्वेनोपदिष्टाः सत्यसंकल्पप्र-

(ब्र० व० १) त्वं कुमार उत वा कुमारी त्वं जीर्णो दण्डेन वञ्चसि त्वं जातो भवसि विश्वतोमुखः ' [ श्वे० ४ । ३ ] इति । जीर्णः स्थविरो भूत्वा यो दण्डेन वञ्चति गच्छति सोऽपि त्वमेवेत्यर्थः । अप्राण इत्यादिश्रुतिस्तु निर्गुणब्रह्मविषयेत्यविरोधः ॥ २ ॥

एवं सत्यसंकल्पत्वादीनां ब्रह्मण्युपपत्तिमुक्त्वा जीवे तेषामनुपपत्ति-  
माह—

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ ३ ॥

तुशब्दोऽवधारणार्थः । अत्र मनोमयत्वादिगुणकं ब्रह्मैवोपास्यं न तु शारीरः । कुतोऽनुपपत्तेः । सत्यसंकल्पत्वादीनां जीव आश्रयेनानुपपत्ते-  
रित्यर्थः ॥ ३ ॥

शारीरस्य मनोमयत्वादिगुणकत्वाभावे हेत्वन्तरमाह—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ ४ ॥

न शारीर इत्यनुषङ्गः । न शारीरो मनोमयत्वादिगुणक इहोपास्यः कुतः । कर्मकर्तृव्यपदेशात् । 'एतमिति प्रेत्याभिसंभवितास्मि' [ छा० ३ १४ । ४ ] इति । एतमिति प्रकृतं मनोमयत्वादिगुणकमुपास्यं कर्मत्वेन व्यपदिशति । अभिसंभवितास्मि प्राप्तास्मीति शारीरमुपासकं कर्तृत्वेन व्यपदिशति । न च सत्यां गतावेकस्मिन्शारीरे कर्मकर्तृभावः \*आश्र-  
येनोपपद्यते । तस्मान्न शारीर उपास्यः ॥ ४ ॥

(दी० १) भूतयः । विवक्षिताश्च ते गुणाश्चेति । तेषां परस्मिन्ब्रह्माणि उपपत्तिः संभवस्तस्याः । चकार उभयसाधारण्यनिवारणार्थः ॥ २ ॥

जीवेऽपि केषांचित्सत्त्वाज्जीव एवेह स्यादित्यत आह—अन्विति । शारीरो जीव इह न ग्राह्यः । कुतः । सत्यसंकल्पादीनां तस्मिन्ननुपपत्ते-  
रसत्त्वान्तु एव ॥ ३ ॥

नन्वणुत्वादीनां जीवधर्माणां ब्रह्मण्यसंभवः समोऽतो जीवः किं न स्यादित्यत आह—कर्मेति । एतमिति ब्रह्मणः कर्म तस्य 'अभिसंभवि-  
तास्मि' इति जीवस्य कर्तृत्वस्य च व्यपदेशस्तस्मात् । चकारोऽणुत्वादे-  
र्ब्रह्माणि सद्भावसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

किंच—

शब्दविशेषात् ॥ ५ ॥

(ब्र० व० ।) मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैव न शरीरः । कुतः । शब्दविशेषात् । मनोमयस्यादिविशिष्टपरमात्माभिधायकस्य प्रथमान्तशब्दस्य सत्त्वादित्यर्थः । तथा हि समानप्रकरणे—‘त्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वाश्यामाकतण्डुलो वैवमयमन्तरात्मन्पुरुषो हिरण्मयः’ [ शत० ब्रा० १० ६ । ३ ] इत्यादौ पुरुषो हिरण्मय इति प्रथमान्तशब्देन परमात्माभिधानमन्तरात्मन्निति सप्तम्यन्तेन शरीराभिधानं दृष्टमितिहापि प्रथमान्तत्वेन श्रुतो मनोमय इत्यादिशब्दः परमात्मपर एवेति ॥ ५ ॥

ननु कर्मकर्तृव्यपदेशो न संभवति जीवब्रह्मणोरभेदादित्याशङ्क्याऽऽह—

स्मृतेश्च ॥ ६ ॥

स्मृतिवशाज्जीवपरमात्मनोर्भेद इत्यर्थः ।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥ [ भ० गीता ० १८ । ६१ ]

इत्याद्या स्मृतिः कल्पितं भेदं दर्शयति । अतः कर्मकर्तृव्यपदेश उपपद्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न

निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ ७ ॥

ननु नात्र परमात्मोपास्यः । कुतः । अर्भकौकस्त्वात् । अर्भकमल्पमोकः

(दी० ।) ननु मामहं न जानामीतिवदयं कर्मकर्तृव्यपदेशः स्यादित्यत आह—शब्देति । शब्दाज्जीवस्याभिधायिनः शाखान्तरे ‘अन्तरात्मन्’ इति सप्तम्यन्तात्पुरुषो हिरण्मयत्वादिगुणाभिधायको विशेषोऽन्यस्तस्मात् । सति चान्यस्मिन्नैकस्मिन्कर्मकर्तृभाव इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

शब्दोऽपि ‘यजमानः प्रस्तरः’ इत्यादिवदप्रसिद्धार्थ इत्यत आह—स्मृतेश्चेति । स्मरणं स्मृतिः । ‘ईश्वरः सर्वभूतानाम्’ इत्यादि वा । चकारः प्रसिद्धान्तरसमुच्चयार्थः ॥ ६ ॥

अर्भकौक इति । अर्भकमल्पमोको नीडं यस्य सोऽर्भकौकास्तस्य



(ब्र० व० १) स्थानं यस्य सोऽर्भकौकास्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । 'एष भ आत्माऽन्तर्हृदये' [ छा० ३।१४।३ ] इति हृदयरूपपरिच्छिन्नायतनत्वादित्यर्थः । किं च तद्यपदेशाच्च । स्वशब्देनैवैष 'अणीयान्ब्रीहेर्वा यवाद्वा' [ छा० ३।१४।३ ] इत्यणीयस्त्वस्य व्यपदेशात् । आराग्रमात्रो जीव इहोपास्यो न सर्वगतः परमात्मेति चेन्न । निचाय्यत्वादेवम् । अर्भकौकस्त्वादिविशिष्टत्वेन रूपेण परमात्मन इह निचाय्यत्वादुपास्यत्वादित्यर्थः । सर्वगतस्य ह्यल्पदेशगतत्वं कयाचिद्व्य(द)पेक्षया संगच्छते । यथा सकललोकाधीशः परमात्मा श्रीरामचन्द्रोऽयोध्याधीश इति व्यपदिश्यते । नैतावता सर्वगतत्वहानिः । तत्र दृष्टान्तः—व्योमवदिति । यथा सर्वगतमपि व्योम सूचीपाशाद्यवच्छेदेनार्भकौकोऽपि अणीयोऽपि व्यपदिश्यते त[द्व]द्ब्रह्मापीत्यर्थः ॥ ७ ॥

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात् ॥ ८ ॥

नन्वीश्वरस्य व्योमवत्सर्वगतत्वचेतनत्वाविशेषाज्जीववत्सुखदुःखानुभवरूपसंभोगप्राप्तिरिति चेन्न । वैशेष्यात् । जीवपरमात्मनोरत्यन्तं विशेषादित्यर्थः । जीवः कर्ता भोक्ता धर्मादिमांश्चेति तस्य सुखदुःखसंबन्धो युक्तः । परमात्मा तु तद्विलक्षण इति न तस्य संभोगप्राप्तिरिति । विशेष एव वैशेष्यं स्वार्थं प्यञ्ज् । विशेषातिशयद्योतनार्थो वा । न च जीवपरमात्मनोरभेदान्दोक्तत्वादिवैलक्षण्यमपि न स्यादिति वाच्यम् । बिम्बप्रतिबिम्बयोः परस्परधर्मासांकर्यस्याऽऽवालसिद्धत्वादिति । तस्मान्मनोमयत्वादिगुणकः परमात्मैवोपास्यो न शरीर इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

(दी० १०) भावस्तत्त्वं तस्मात् । 'एष आत्माऽन्तर्हृदये' इति परिच्छिन्नायतनत्वान्न केवलमेव तस्य जीवस्य व्यपदेशोऽभिधानम् । 'अणीयान्ब्रीहेर्वा यवाद्वा' इत्यादि तस्मात् । चकार उक्तसमुच्चयार्थः । न ब्रह्मग्रहणं न्याय्यमिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । निचाय्यत्वात् । एवमणीयस्त्वगुण ईश्वरो निचाय्यो द्रष्टव्यस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । व्योमवच्च । यथा सर्वगतमपि व्योम सूचीपाशाद्यपेक्षयाऽर्भकौकोऽणीयश्चैवम् । चकारो ब्रह्मणः सर्वात्मत्वसमुच्चयार्थः ॥ ७ ॥

संभोगेति । सम्यग्भोगः संभोगः सुखदुःखादिस्तस्य प्राप्तिः सर्वात्मत्व ईश्वरस्य भोक्तृत्वादिप्रसङ्ग इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । वैशेष्यात् । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इत्यादिनाऽवगतस्वरूपस्य भोगाभावस्तस्मात् ॥ ८ ॥

(ब्र० व० १) ( ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वम्' अधि० २ ) ।

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ ९ ॥

पूर्वं ब्रह्मणो भोक्तृत्वाभाव उक्ते तर्हि तद्वदत्तृत्वमपि जीवस्यैव न ब्रह्मण इति दृष्टान्तसंगत्येदमारभ्यते । अत्र पूर्वपक्ष उपास्तिः फलं सिद्धान्ते निर्विशेषब्रह्मप्रामिति रिति विवेकः । कठवल्लीषु श्रूयते—‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भगवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद \*यत्र सः’ [क० १ । २ । २५] इति । अस्यार्थः—यस्य परमात्मनो ब्रह्म च क्षत्रं चोभे जात्या प्रसिद्धे अन्नवदोदनो यस्य च मृत्युः सर्वमारक उपसेचनमोदनमिश्रघृतं भवति तद्वत्सर्वस्यात्ता परमात्मा कारणात्मा वर्तते तं निर्विशेषमात्मानं नाविरतो दुश्चरितादिति मन्त्रोक्तोपायवान्यथा वेदेत्थमन्य उपायरहितो न वेदेति काकार्थः । अत्रौदनोपसेचनसूचितः कश्चिदत्ता प्रतीयते । तत्र किमग्निरत्तो जीवः परमात्मा चेति संशयः । त्रयाणामप्यस्मिन्ग्रन्थे प्रश्नोपन्यासः संशयबीजम् । किं तावत्प्राप्तमग्निरिति । कुतः । ‘अग्निरन्नादः’ [ बृ० १ । ४ । ६ ] इति श्रुतिप्रसिद्धिभ्याम् । जीवो वा स्यात् । ‘तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति’ [मु० ३।१।१] इति श्रुतेर्न परमात्मेति प्राप्ते ब्रूमः—‘अत्ता चराचरग्रहणात्’ । अत्ते-श्वरो भवितुमर्हति । कुतः । चराचरग्रहणात् । चराचरयोः स्थावरजङ्गमयोरौद्यत्वेन ग्रहणाच्छ्रवणादित्यर्थः । मृत्यूपसेचनत्वेन सर्वप्राणिमात्रस्याऽऽद्यत्वेन प्रतीयमानत्वात् । ब्रह्मक्षत्रग्रहणमुपलक्षणार्थम् । न हि सर्वसंहर्तुः परमात्मनोऽन्यस्य जीवादेश्वराचरात्तृत्वं युक्तम् । तस्मादत्ते-श्वर एव ॥ ९ ॥

( दी० । ) पूर्वाधिकरणे ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’ इत्यन्यपरादपि वाक्यान्मनोमयवाक्ये ब्रह्म स्वीकृतं तस्य च वैशेष्येण हेतुनाऽभोक्तृत्वं समर्थितं तस्मादेव जीवो भोक्ताऽत्ता ‘यस्य’ इत्यस्मिन्वाक्येऽप्यसंहर्तृत्वमत्तृत्वं तथाऽप्यग्निरन्नाद इति श्रुतिलोकप्रसिद्धिभ्यामग्निरैवात्ता यद्वत्समासप्रसिद्ध्या मनोमयं ब्रह्मेति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अत्तेति अत्ता संहर्ता परमेश्वरः । कुतः । चराचरग्रहणात् । ‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च’ इत्यादिना चराचरस्य जङ्गमस्थावरस्य ग्रहणं स्वीकरणं तस्मात् ॥ ९ ॥

\* शुद्धे ब्रह्मणि स ईश्वरः ।

## प्रकरणाच्च ॥ १० ॥

(ब्र० व० ।) इतश्चेश्वर एवात्ता । कुतः । प्रकरणात् । परमात्मनः प्रकृतत्वादि-  
त्यर्थः । 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' [काठ० १।२। १८] इत्यादिना  
परमात्मनः प्रकृतत्वात् । 'क इत्था वेद यत्र सः' इति च दुर्विज्ञेयत्वं  
ब्रह्मणोऽसाधारणं लिङ्गं दृष्टव्यम् ॥ १० ॥

(चेतनयोर्जीवेश्वरयोर्हृद्गुहागतत्वम्' अधि० ३)

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तदर्शनात् ॥ ११ ॥

पूर्वं ब्रह्मक्षत्रशब्दस्य मृत्युपदसांनिध्यादनित्यवस्तुपरत्ववदिहापि पिब-  
च्छब्दस्य संनिहितगुहाप्रवेशादिना बुद्धिक्षेत्रज्ञपरत्वमस्त्विति दृष्टान्त-  
संगत्याऽस्याऽऽरम्भः । पूर्वपक्षे बुद्धिभिन्नजीवज्ञानं फलं सिद्धान्ते तु  
निर्गुणब्रह्मज्ञानमिति विभागः । अतृवाक्यानन्तरं कठवल्लीषु पठ्यते—  
'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे । छायातपौ  
ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः' [काठ० १।३। १] इति ।  
अस्यार्थः—ऋतमावश्यकं कर्मफलं पिबन्तौ भुञ्जानौ जीवपरमा-  
त्मानौ छत्रिणो गच्छन्तीतिवदेकस्य जीवस्य भोक्तृत्वेन ब्रह्मणोऽपि  
भोक्तृत्वव्यपदेशः । सुकृतस्य धर्मस्य कार्यं देहरूपलोके वर्त-  
मानौ परार्धे ( धर्म ) परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानमर्हतीति परार्धं ( धर्म )  
हृदयं तस्मिन्परमे श्रेष्ठे या गुहा नभोलक्षणा तां प्रविश्य स्थितौ छाया-  
तपवन्मिथो विरुद्धौ कर्तृत्वादितद्वैलक्षण्याभ्यां तौ ब्रह्मविदः पञ्चाग्नयः  
कर्मिणश्च वदन्ति । त्रिर्नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेतास्तेऽपि  
वदन्तीत्यर्थः । तत्र संशयः । किमिह बुद्धिजीवौ निर्दिष्टावुत जीवपर-  
मात्मानाविति । तत्र बुद्धिजीवाविति प्राप्तम् । कुतः । जीवस्य बुद्धि-  
भिन्नत्वेन ज्ञानार्थं प्रश्नदर्शनात् । 'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्ती-  
त्येके नायमस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृ-

(दी० ।) नन्वग्निजीवयोरपि साधारण्ये कुतः परमात्मैवात्तेत्यत आह—  
प्रकरणेति, प्रकरणं महावाक्यम् । 'न जायते म्रियते' इत्यादि तस्मात् ।  
चकारः 'क इत्था वेद' इत्यादि दुर्विज्ञानत्वादिसमुच्चयार्थः ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरणे मृत्युशब्दसंनिधानाद्ब्रह्मक्षत्रादिविश्वमित्याश्रित्येश्वरः  
संहर्तेत्युक्तम् । इहापि पिबच्छब्दस्य संनिहितगुहाप्रविष्टादिशब्दानुसारेण

(ब्र० व० १) तीयः ' [ काठ० १।१।२० ] इति । मनुष्ये प्रेते मृते सति येयं विचिकित्सा संशयः परलोकगामी भोक्ता जीवोऽस्तीत्येके नास्तीति चान्येऽतस्त्वयोपदिष्टोऽहमेतन्निर्विचिकित्सं तत्त्वं ज्ञातुमिच्छामीति मृत्युं प्रति नचिकेतसो वचनमिति वराणां नचिकेता मृत्युं वरत्रयं पृष्ठवान् । स्वपितुः सौमनस्यमग्निविद्याऽऽत्मविद्या वेति तेषां वराणां मध्य एष तृतीयो वर इत्यर्थः । एवं च बुद्धिजीवयोः पृष्ठत्वात्तावेवात्र निर्दिश्येते । किं च गुहाप्रवेशस्य ब्रह्मणोऽसंभवात् । ऋतपानासंभवाच्च बुद्धिजीवा-  
विति प्राप्ते ब्रूमः—'गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् । ' गुहां प्रवि-  
ष्टाविह जीवपरमात्मानावेव । कुतः । आत्मानौ हि । हि यस्मादात्मानौ  
तस्मादित्यर्थः । ऋतं पिबन्ताविति कर्मफलभोगश्रवणेनैकस्तावदा-  
त्मेति द्वितीयोऽप्यात्मैव न्याय्यस्तत्र हेतुमाह—तद्दर्शनादिति । संख्या-  
श्रवणे हि संख्यावतोरैकरूपवतोलोकदर्शनादित्यर्थः । तद्यथाऽस्य गौर्द्वि-  
तीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरैव द्वितीयोऽन्वेष्टव्यो नाश्वो न वा मनुष्यः ।  
एवमिहापि चेतनत्वसामान्याज्जीवपरमात्मानावेव । बुद्धिविलक्षणजी-  
वप्रश्रयस्यान्यदेवोत्तरं नैतद्वाक्यम् । नापि गुहाप्रवेशानुपपत्तिर्ब्रह्मणः ।  
'यो वेद निहितं गुहायाम्' इत्यादौ बहुलं गुहाप्रवेशश्रवणात् । न  
चर्तपानानुपपत्तिः । छत्रिन्यायस्य दर्शितत्वादिति । तस्माज्जीवपरमा-  
त्मानावेव गुहां प्रविष्टौ ॥ ११ ॥

किंच—

विशेषणाच्च ॥ १२ ॥

जीवपरमात्मनोरेवास्मिन्ग्रन्थे गन्तृगन्तव्यभावेन मन्तृमन्तव्यभावेन  
विशेषितत्वादित्यर्थः । 'आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च' [काठ०  
१।३।३] इत्यादिनाऽनन्तरेण ग्रन्थेन रथादिकल्पनया विज्ञाना-  
त्मानं रथिनं संसारमोक्षयोर्गन्तारं कल्पयति । 'सोऽध्वनः पारमाप्रोति

(दी० १) बुद्धिजीवपरत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—गुहामिति । गुहा  
बुद्धिर्हृदयं वा तां प्रविष्टौ तस्या अन्तःस्थितौ जीवपरमात्मानौ हि  
यस्मात्तस्य जीवस्य दर्शनं प्रत्यक्षेण तस्य परमात्मनश्च दर्शनश्रुत्या  
'गुहाहितम्' इत्यादिकया तस्मात् ॥ ११ ॥

ननु बुद्धेरप्यस्ति दर्शनमित्यत आह—विशेषेति । 'सोऽध्वनः पारमा-  
प्रोति' इति गन्तृत्वेन जीवस्य 'तद्विष्णोः परमं पदम्' इति गम्यत्वेन

(ब० व० १) तद्विष्णोः परमं पदम् । ' [काठ० १।३।९] इति परमात्मानं गन्तव्यं कल्पयति । तथा—'तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् । अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति' [का० १।२। १२] इति पूर्वस्मिन्ग्रन्थे मन्तृमन्तव्यत्वेन तावेव विशेषितौ । स जीवः । अध्वनः संसारमार्गस्य पारमेव विशिनष्टि—तदिति । व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः स्वरूपं परमं कार्यकारणातीतं पदं तदेव पारं ज्ञेयं नान्यदित्यर्थः । दुर्दर्शं सूक्ष्मत्वाद्दुर्ज्ञानमत एव गूढमनुप्रविष्टमाच्छादितरूपेण विद्यमानम् । कुत्रेत्यत आह—गुहेति । गुहायां बुद्ध्यावाहितं निक्षिप्तं गह्वरे बहुविधानर्थसंकटे देहे स्थितं पुराणं चिरन्तनं तमीश्वरमध्यात्मयोगः प्रत्यगात्मन्येव चित्तसमाधानं तत्सहकृताद्वाक्यादधिगमः साक्षात्कारस्तेन सोऽहमेवेति निश्चित्य धीरो विद्वान्हर्षाद्युपलक्षितं संसारं जहातीत्यर्थः । तथा—'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः । जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः' [मु० ३।१।२] इति मन्त्रान्तरेऽपि जीवपरमात्मानावेव विशिनष्टि मन्तृमन्तव्यभावेन । आत्मेश्वरयोः समानस्तुल्यो वृक्षो देहः पुरुषो जीवो निमग्नो मनुष्योऽहमित्यभिनिवेशवाननीशयाऽविद्यया मुह्यमानस्तत्त्वमजानन्ननिशं शोचति संसारमनुभवति जुष्टं ध्यानादिना सेवितं यदा तत्प्रकर्षदशायामन्यं बिम्बभूतमीश्वरं प्रत्यक्त्वेन पश्यति तदाऽस्यैषाऽऽत्मत्वेन दृष्टस्य महिमानं स्वरूपं प्राप्नोति ततश्च वीतशोको भवति तत्र हेतुरिति शब्देनोक्तः । बन्धहेतोरविद्याया दग्धत्वादित्यर्थः । न ह्यविद्याध्वंसानन्तरं बन्धकल्पनं युक्तम् । 'न ह वा एवंविदि किञ्चन रज आध्वंसते' इति श्रुतेः । रजोऽविद्या विदुषि किञ्चनेषदपि स्वकल्पितं नाऽऽध्वंसते न संपादयति स्वस्या एवाभावादित्यर्थः । तस्मात्पूर्वस्मिन्परस्मिंश्च ग्रन्थे जीवपरयोरेव विशेषितत्वात्तावेव गुहां प्रविष्टाविति जीवत्वादिधर्मविनिर्मुक्तः परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

(छायाजीवान्यदेवान्हित्वा परब्रह्मण एवोपास्यत्वम्, अधि० ४)

अन्तर उपपत्तेः ॥ १३ ॥

पूर्वं पिबन्ताविति प्राथमिकद्वित्वश्रुत्या चेतनत्वेन तुल्यजीवपरह-  
(दी० १) परमात्मनो विशेषणं तस्मात् । चकारो बुद्धेः प्रकृतविशेषणामात्रं समुच्चिनोति ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रथमं पिबन्ताविति सदृशयोर्जीवपरमात्मनोर्ग्रहणानु-

(ब्र० व० १) ह्यनुसाराच्चरमश्रुता गुहाप्रवेशादयो नीतास्तर्हि तद्देव दृश्यत इति प्राथमिकप्रत्यक्षत्वोक्त्याऽक्षिप्रतिबिम्बात्मावगत्यनुरोधाच्चरमश्रुता अमृतत्वादयः श्रु(स्तु)त्यर्थत्वेन कथंचिन्नेया इति दृष्टान्तसंगत्याऽस्याऽऽ-  
 रम्भः । पूर्वपक्षे प्रतिबिम्बोपास्तिः फलं सिद्धान्ते ब्रह्मोपास्तिरिति । उप-  
 कोसलविद्यायां छान्दोग्ये श्रूयते—‘य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष  
 आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तद्यद्यप्यस्मिन्सर्विर्वादकं वा  
 सिञ्चति वर्त्मनी एव गच्छति’ [छा० ४ । १५ । १] इत्यादि ।  
 अस्यार्थः—पुरुषः परमात्मा दृश्यते शास्त्रत एव आत्मेति उपकोसलं  
 प्रति आचार्य उवाच । प्रतिबिम्बात्मकच्छायाव्यावृत्त्यर्थमाह—एतदिति ।  
 इत्युवाचेत्यन्वयः । अक्षिरूपस्थानस्य ब्रह्मसारूप्यमाह—तदिति । वर्त्मनी  
 पक्षमस्थाने इति द्वितीयाद्विवचनम् । ब्रह्मणो निर्लेपत्वाच्चक्षुषोऽपि  
 निर्लेपत्वात्सारूप्यमित्यर्थः । तत्राक्षिण्यन्तर उपदिश्यमानः परमात्मोत  
 प्रतिबिम्बादिरिति संशये दृश्यत इति वचनात्सर्वगतस्याक्षिस्थानत्वानु-  
 पपत्तेश्च न परमात्मा किंतु प्रतिबिम्बादिरिति प्राप्ते ब्रूमः—‘अन्तर  
 उपपत्तेः’ । अन्तरोऽक्षिमध्यगतः परमात्मैव । कुतः । उपपत्तेः ।  
 आत्मत्वासुतत्वाभयत्वादीनामिहोक्तानां परमात्मन्येवोपपत्तेरित्यर्थः ।  
 न च दृश्यत इत्यनेन विरोधः । दर्शनस्य शास्त्रीयत्वेनाविरोधात् ।  
 किंच—‘एतं संयद्दाम इत्याचक्षते । एतं हि सर्वाणि वामान्यभिसं-  
 यन्ति । एष उ एव वामनीरेष हि सर्वाणि वामानि नयति । एष उ  
 एव भामनीरेष हि सर्वेषु लोकेषु भाति’ [छा० ४ । १५ । २] इत्यत्र  
 निर्दिष्टसंयद्दामत्वादिगुणानां परमात्मन्येवोपपत्तेरन्तरः परमात्मैव । तद-  
 र्थस्तु—संयद्दामशब्दार्थमाह—एतं हीति । वामानि कर्मफलानि एतम-  
 क्षिपुरुषं हेतुमाश्रित्याभिसंयन्ति उत्पद्यन्ते । संयन्ति वामान्यस्मादिति  
 संयद्दामः सर्वफलोदयहेतुरित्यर्थः । वामनीरेष्यमेवेत्याह—एष इति ।  
 वामनीशब्दार्थमाह—एष हीति । वामानि शोभनानि जनं प्रापयति  
 जनस्य सर्वशुभप्रापकोऽप्ययमेवेत्यर्थः । भामनीरेष्यमेवेत्याह—एष

(दी० १) सारेण गुहाप्रवेशादिचरमं नीतं तथा ‘य एषोऽक्षिणि’ इति प्रथमं  
 छायात्मनः प्रतीतेरमृतत्वादीनां नयनं तस्मिन् । अथात्यन्तमनवस्थित-  
 स्तर्हि जीवो देवतात्मा चेति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अन्तर इति ।

(ब० व० १) हीति भामनीपदार्थमाह—भामानि भानानि नयतीति भामनीः । अयमेव सर्वप्रकाशक इत्यर्थः । न हि प्रतिबिम्बस्यान्यस्य वैतादृशा गुणाः संभवन्ति । तस्मादक्षयन्तरः पुरुषः परमात्मा ॥ १३ ॥

कथं पुनः सर्वगतस्याल्पमाक्षिस्थानं व्यपदिश्यत इत्यत्रोत्तरं पठति—  
स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १४ ॥

ईश्वरस्याल्पस्थानादिव्यपदेशो नानुपपन्नः । कुतः । स्थानादिव्यपदेशात् । ‘यश्चक्षुषि तिष्ठन्’ [ बृ० ३ । ७ । ४ ] इत्यादावीश्वरस्य चक्षुःस्थानव्यपदेशस्य दृष्टत्वादित्यर्थः । आदिपदेन रूपवत्त्वपरिग्रहो दृष्टान्तत्वेनोक्तः । ‘हिरण्यश्मश्रुः’ [ छा० १ । ६ । ७ ] इत्यादौ रूपवत्त्वस्योपासनार्थत्वेनोपादानादिहापि उपासनार्थमल्पस्थानव्यपदेशो न विरुध्यत इति भावः ॥ १४ ॥

अपि च—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १५ ॥

अक्षिपुरुषः परमात्मैवोपदिश्यते । कुतः । सुखविशिष्टाभिधानात् । एवकारेण नात्र संशयः कार्य इति सूच्यते । सुखविशिष्टं ब्रह्म वाक्योपक्रमे श्रूयते तस्यैवेहाभिधानादित्यर्थः । तथा हि गुरुगृह आचार्याज्ञया चिरकालं वर्तमानमुपकोसलं गार्हपत्याग्रग्रय ऊचुः—‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ इति । तत्र कंशब्दो वैपथिकसुखे रूढः । खंशब्दश्चाऽऽकाशे रूढ इति परस्परभेदे प्राप्ते श्रुतिराह—‘यद्वाव कं तदेव खं यदेव

(दी० १) ‘य एषोऽक्षिणि’ इति चक्षुषोऽन्तरः पुरुषः परमेश्वरः । कुतः । असृतत्वाभयत्वादीनां तत्रोपपत्तेः सङ्ग्रावात् ॥ १३ ॥

कथं परमेश्वरः सर्वगतोऽक्षिणीत्यत आह—स्थानादीति । सर्वगतस्याप्युपासनार्थः स्थानस्य पृथिव्यादेरादिशब्देन रूपस्य हिरण्यश्मश्रुत्वादेर्नाम्न उदित्यादेः ‘यः पृथिव्यां तिष्ठन्’ इत्यादिना व्यपदेशस्तस्मात् । चक्रारोऽन्यस्य स्थानाद्यभावसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

मा भूद्यपदेशः सहजसिद्धजीवस्य चक्षुःस्थानमस्ति च क्वचिद्वक्षिणाक्षिमुखे विश्व इत्यादिव्यपदेश इत्यत आह—सुखेति । वाक्योपक्रमे प्रक्रान्तस्य सुखविशिष्टस्य ‘प्राणो ब्रह्म कं ब्रह्म खं ब्रह्म’ इत्यादिना

(ब्र० व० १) खं तदेव कम्' इति । एवं परस्परवैशिष्ट्यप्रतिपादनात्सुखविशिष्टं ब्रह्म वाक्योपक्रमे श्रुतमिति तस्यैवात्र ग्रहणं युक्तमिति नाप्रकृतच्छाया-  
देरित्यक्ष्यन्तरः परमात्मा ॥ १५ ॥

किंच—

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १६ ॥

इतश्चाक्ष्यन्तरः परमात्मा । कुतः । श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात् । श्रुताऽभ्यस्तोपनिषद्ब्रह्मविद्या येन स श्रुतोपनिषत्कः । तस्य या गतिरर्चि-  
रादिरूपा तस्याः प्रकृतेऽभिधानादित्यर्थः । 'अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मच-  
र्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते । एतद्वै  
प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते' [ प्र०-  
१ । १० ] इति । स्मृतावपि—

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः पणमासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ [ भ० गी० ८।२४ ]  
इति । या गतिर्ब्रह्मविदां दर्शिता सैवाक्षिपुरुषविदः श्रूयते—'अथ  
यदु चैवास्मिञ्शब्दं कुर्वन्ति यदि च नाचिषमेवाभिसंभवन्ति' इत्युप-  
क्रम्य 'आदित्याच्चन्द्रमसं चन्द्रमसो विद्युतं तत्पुरुषोऽमानवः स एतौ-  
न्ब्रह्म गमयतीत्येष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमा-  
वर्तं नाऽऽवर्तन्ते' [ छा० ४ । १५ । ५ ] इति । तदर्थस्तु—अथ देहपा-  
तानन्तरं ब्रह्मचर्यादितपसा हेतुनाऽऽत्मानमनुसंधाय तद्विद्यया ध्याना-  
ख्ययोत्तरमार्गमर्चिराद्युपलक्षितं प्राप्य तेनाऽऽदित्यादिद्वारा कार्यं ब्रह्म  
प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । कार्यं ब्रह्म विशिनष्टि—एतदिति । व्यष्टिसमस्तेन्द्रियाणां  
समष्ट्यभिमानो हिरण्यगर्भः स्थानमित्यर्थः । तस्य वास्तवं स्वरूपमाह—  
एतदमृतमिति । एतद्विशेषणसिद्ध्यर्थं हेतुमाह—एतस्मादिति । स्मृताव-  
ग्न्यादिशब्दैरातिवाहिन्यस्तदभिमानिन्यो देवता गृह्यन्ते । अथेत्युक्तार्थम् ।

(दी० १) ब्रह्मण एव नत्वन्यस्याभिधानं तस्मात् । अतोऽत्र ब्रह्मण एव  
ग्रहणम् । चकारो जीवस्यानुपास्यस्याध्यापिनोऽक्षिस्थानासंभवसमुच्च-  
यार्थः ॥ १५ ॥

उपक्रमोऽप्यन्यस्य किं न स्यादित्यत आह—श्रुतेति । श्रुतोपनिषद्येन  
सोऽयं श्रुतोपनिषत्कस्तस्य या गतिरीश्वरज्ञानवतः श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धो



(ब्र० व० १) अस्मिन्नुपासके मृते यदि पुत्रादयः शब्दं शवसंबन्धिसंस्कारादि कर्म कुर्वन्ति यदि वा न कुर्वन्ति उभयथाऽप्यप्रतिहतोपास्तिफलास्त उपासका अर्चिराद्यभिमानिनीं देवतां प्राप्नुवन्ति । अर्चिषोऽहर्देवतां ततः शुक्लपक्षदेवतां ततः षण्मासोपलक्षितोत्तरायणदेवतां ततः संवत्सरदेवतां ततश्चाऽऽदित्यं ततश्चन्द्रं ततो विद्युतमाप्नुवन्ति । तत्तत्र स्थितानुपासकान्ब्रह्मलोकादागत्यामानवो मनुसृष्टावनुत्पन्नो ब्रह्मलोकभव इति यावत् । स पुरुषो गन्तव्यं कार्यं ब्रह्म गमयति प्रापयतीत्यर्चिरादिदेवैर्नेतृभिरुपलक्षितत्वाद्देवपथो गन्तव्येन ब्रह्मणोपलक्षितत्वाद्ब्रह्मपथश्चेतेन पथा कार्यं ब्रह्म प्रतिपद्यमानाः पुनरिमं मानवं मनोः सर्गं जन्ममरणाद्यावृत्तियुक्तत्वादावर्तरूपं नाऽऽवर्तन्ते न प्रविशन्तीति । तस्मादक्षिपुरुषः परमात्मा ॥ १६ ॥

इतश्चाक्षिपुरुषः परमात्मा न प्रतिबिम्बात्मेत्याह—

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ १७ ॥

इतरश्छायापुरुषादिरक्षिगत इति न युक्तम् । कुतः । अनवस्थितेः । उपासकस्य सर्वत्राक्षिणि छायासंपादकविम्बभूतपुरुषान्तरस्यानवस्थानादित्यर्थः । असंभवाच्च । अमृतत्वादिगुणानां छायापुरुषेऽसंभवादित्यर्थः । तस्मात्परमात्मैवाक्षिस्थान उपास्य इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

(दी० १) देवयानाख्यो मार्गस्तस्य । 'यदुच्चैवास्मिञ्शब्दं कुर्वन्ति' इत्यादिनाऽभिधानात् । चकारो ब्रह्मशब्दादेरन्यत्रानुपपत्तिसमुच्चयार्थः ॥ १६ ॥

छायात्मविज्ञानात्मदेवतात्मपरमात्मनां कथंचिदुपपत्तिसाम्ये कुतः परमात्मैव गृह्यते नेतर इत्यत आह—अनवस्थितेरिति । नावस्थितिरनवस्थितिः सदाऽवर्तमानत्वं छायात्मनः पुरुषान्तरस्य समीपेऽसंभवत्वमविद्यमानत्वं विज्ञानात्मनो रसादिग्रहणे सुषुप्तिसमये चाविद्यमानत्वं देवतात्मनो नियामकाभावादविद्यमानत्वं तस्याः । न केवलमेतदमृतत्वादीनां त्रयाणामप्यसंभवः समानो जन्यादिमत्त्वात् । तस्माच्चकार उक्तानुक्तदूषणसमुच्चयार्थः । नेतरोऽन्यश्छायात्मा विज्ञानात्मा देवतात्मा चेति ॥ १७ ॥

( प्रधानजीवेतरस्येश्वरस्यैवान्तर्यामिशब्दवाच्यत्वम्, अधि० ५ )

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १८ ॥

(ब्र० ४०।) पूर्वं 'स्थानादिव्यपदेशाच्च' इति सूत्रे 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्नि-  
त्याद्यन्तर्यामिब्राह्मणस्थं 'यश्चक्षुषि तिष्ठन्' इत्यादिवाक्यमन्तर्यामिणो  
ब्रह्मत्वं सिद्धवत्कृत्योदाहृतं तदाक्षिप्य समाधीयत इत्याक्षेपसंगत्येदमा-  
रभ्यते । पूर्वपक्षे यत्परतया वाक्यं नीयते तदुपास्तिः फलं सर्वत्र सवि-  
शेषविचारं द्रष्टव्यम् । सिद्धान्ते ब्रह्मोपास्तिरेवेतीहापि तथा फलं द्रष्ट-  
व्यम् । अन्तर्यामिब्राह्मणे श्रूयते—'य इमं च लोकं परं च लोकं  
सर्वाणि भूतानि योऽन्तरो यमयति' [ बृ० ३।७।१ ] इत्युपक्रम्य  
'यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या आन्तरो यं पृथिवी न वेद यस्य पृथिवी  
शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः' [ बृ० ३।  
७।१ ] इत्यादि । अत्र पृथिव्यां तिष्ठन्नन्तर्यामीत्युक्ते स्थावरादिरिति  
शङ्कां वारयति—पृथिव्या इति । तदभिमानिदेवतां प्रत्याह—यमिति ।  
अशरीरस्य कथं नियन्तृत्वमित्यत आह—यस्येति । नियम्यकार्यकरण-  
संघातेनैव नियन्तृत्वमिति । फलितमाह—य इति । तस्य भिन्नत्वभ्रमं  
वारयति—एष इति । मम चेत्यर्थः । एवं 'यः पृथिव्यां तिष्ठन्'  
इत्याद्यधिदैवतानन्तरं 'यः सर्वेषु लोकेषु' इत्यधिलोकं 'यः सर्वेषु  
वेदेषु' इत्यधिवेदं 'यः सर्वेषु यज्ञेषु' इत्यधियज्ञं 'यः सर्वेषु भूतेषु'  
इत्यधिभूतं 'यः प्राणेषु' इत्यादि 'य आत्मानि' इत्यन्तमध्यात्मं च  
कश्चिदन्तरस्थितो यमयितान्तर्यामी श्रूयते स किमधिदैवाद्यभिमानि  
देवतात्मा किं वा प्राप्ताणिमार्द्यश्चर्यः कश्चिद्योगी किं वा परमात्मेति  
संशयः । किं तावत्प्राप्तं देवतात्मेति । कुतः । 'पृथिव्येव यस्याऽऽयतन-  
मग्निर्लोको मनो ज्योतिः' [ बृ० ३।९।१६ ] इत्यादिना कार्यकर-  
णसंघातस्य देवतायां श्रुतत्वेन तस्या नियन्तृत्वोपपत्तेः । अस्यार्थः—  
यस्य देवस्य पृथिवि आयतनं शरीरमग्निर्लोको लोकयतेऽनेन रूपादि-

(दी०।) पूर्वाधिकरणे स्थानादिव्यपदेशाद्भिनाऽन्तरक्षिणीश्वर इत्युक्तं  
स्थानं जीवस्याप्यमृतत्वादि च प्रधानस्यापि स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—  
अन्तरिति । 'यः पृथिवीमन्तरो यमयति' इत्यादावन्तर्यमयति नियमयती-  
त्यन्तर्यामि उपदिष्टः परमेश्वरोऽधिदैवादिषु दैवमधिकृत्य वर्तत इति  
अधिदैवम् । आदिशब्देनाध्यात्ममधिभूतमित्यादि । तेष्वधिदैवादिषु ।

(ब० व० ०।) रिति लोकश्चक्षुर्ज्योतिरेव मन इत्यर्थः । नह्यशरीरस्य नियन्तृत्वं युक्तम् । तस्माद्देवतात्मा योगी वेति प्राप्ते ब्रूमः—अधिदैवादिषु श्रूयमाणोऽन्तर्यामी परमात्मैव । कुतः । तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य परमात्मनो धर्माणाभिह व्यपदेशादित्यर्थः । सर्वान्तर्यामित्वमात्मत्वममृतत्वं द्रष्टृत्वं चेह परमात्मनोऽसाधारणधर्मा उदाहृतवाक्ये द्रष्टव्याः । न चाशरीरस्य कथं नियन्तृतेति वाच्यम् । नियम्यशरीरेणैव तस्य नियन्तृत्वोपपत्तेरिति ॥ १८ ॥

ननु प्रधानमन्तर्याम्यस्त्वित्याशङ्क्याऽऽह—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १९ ॥

स्मार्तं सांख्यस्मृतिकल्पितं प्रधानं नान्तर्यामिशब्दवाच्यम् । कुतः । अतद्धर्माभिलापात् । तच्छब्देन प्रधानमुच्यते न तत्प्रधानभिन्नः परमात्मेत्यर्थः । तस्यैव चेतनस्य ये धर्मा द्रष्टृत्वादयस्तेषामिहाभिलापात् । अभिधानादित्यर्थः । अदृष्टो द्रष्टाऽश्रुतः श्रोताऽमतो मन्ताऽविज्ञातो विज्ञाता ’ [ बृ० ३ । ७ । २३ ] इति वाक्यशेषे द्रष्टृत्वादयश्चेतनधर्माः श्रूयन्त इति नाचेतनं प्रधानमन्तर्यामीत्यर्थः ॥ १९ ॥

तर्हि चेतनो जीवो योगी भवत्वन्तर्यामीत्यत आह—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ २० ॥

शारीरो नान्तर्यामीति नकारस्य पूर्वसूत्रादनुषङ्गः । कस्मात् । उभयेऽपि हि काण्वा माध्यंदिनाश्चान्तर्यामिणो भेदेनैनं शारीरं पृथिव्यादिवदधिष्ठानत्वेन नियम्यत्वेन चाधीयते । ‘यो विज्ञाने तिष्ठन्’ [ बृ० ३ । ७ । २२ ] इति काण्वाः । विज्ञानपदं जीवपरम् । ‘य आत्मानि तिष्ठन्’ [ बृ० ३ । ७ । ३० ] इति माध्यंदिनाः । तस्मात्पृथिव्यादिव-  
(दी०।) कुतः । तद्धर्मव्यपदेशात् । तस्य परमेश्वरस्य धर्मास्तद्धर्माः ‘यं पृथिवी न वेद्’ इत्यादिना दुर्विज्ञानत्वादयस्तेषां व्यपदेशादभिधानात् ॥ १८ ॥

अदृष्टत्वादिगुणेभ्यः प्रधानं किं न स्यादित्यत आह—न चेति । न च नैव स्मृत्येव प्रतिपाद्यं स्मार्तं प्रधानम् । कुतः । अतद्धर्माभिलापात् । तस्य प्रधानस्य धर्मास्तद्धर्मा न तद्धर्मा अतद्धर्माः ‘अदृष्टो द्रष्टा’ इत्यादिनोक्ता द्रष्टृत्वादयस्तेषामभिलापोऽभिधानं तस्मात् ॥ १९ ॥

शारीरस्तर्हि स्यादित्यत आह—शारीरेति । शरीरे भवः शारीरो जीवः । चकारो नकारानुवृत्त्यर्थः । शारीरोऽपि न । कुतः । हि

(ब्र०व०।)वन्नियम्यत्वमेव जीवस्य न नियन्तृत्वम् । भेदेनैवमधीयत इति पाठ एवं ' यो विज्ञाने तिष्ठन् ' इत्यादिना प्रकारेणेत्यर्थो बोध्यः । तस्मादधिदैवादिषु अन्तर्यामी परमात्मैवेति सिद्धम् ॥ २० ॥

( प्रधानजीवौ निराकृत्येश्वरस्य भूतयोनित्वम्, अधि० ६ )

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ॥ २१ ॥

पूर्वं प्रधानविरोधिद्रष्टृत्वादिधर्मवशान्न प्रधानमन्तर्यामीत्युक्तम् । तर्हि तद्विरोधिधर्माणामत्राश्रवणात्प्रधानमेवादृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । आथर्वणं वाक्यमाप्नायते— ' अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः श्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ' [ मु० १ । १ । ५ । ६ ] इत्यादि । अस्यार्थः— पूर्वमपर ऋग्वेदादिलक्षणा विद्योक्ता तदानन्तर्यमथशब्दार्थः । यया तदक्षरमधिगम्यते सा परोत्कृष्टफलिका विद्येत्यर्थः । अक्षरस्य वर्ण-समुदायत्वं वारयति—यदिति । अद्रेश्यमदृश्यं ज्ञानेन्द्रियागम्यम् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियाविषयः । अगोत्रं वंशशून्यम् । अवर्णं जातिहीनम् । न केवलमिन्द्रियाविषयः किं तु तद्रहितं चेत्याह—अचक्षुरिति । न विद्येते चक्षुःश्रोत्रे यस्य तत्तथा । इदं च ज्ञानेन्द्रियोपलक्षणम् । कर्मेन्द्रियाभावमाह—तदिति । पाणिश्च पादश्च पाणिपादं तद्यस्य नास्ति तत्तथा । उपलक्षणमेतत्कर्मेन्द्रियाणाम् । नित्यमनाशोपलक्षितम् । विभुं प्रभुं सर्वगतं सर्वकल्पनाधिष्ठानम् । सुसूक्ष्मं दुर्ज्ञानत्वात् । तदव्ययं नाशाभावात् । यद्यथोक्तमक्षरं भूतयोनिं यया परिपश्यन्ति धीराः सा परा विद्येत्यन्वयः । तत्र संशयः—किमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः प्रधानं वा शारीरो वा परमात्मा वेति । अदृश्यत्वादीनां प्रधाने संभवात्प्रधानमिति प्राप्ते ब्रूमः—अदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमात्मैव ।

(दी०।)यस्मादुभयेऽपि कौण्वा माध्यंदिनाश्च परमात्मनो भेदेन 'यो विज्ञाने तिष्ठन्' 'य आत्मनि तिष्ठन्' इत्येनं शारीरमधीयते पठन्ति ॥ २० ॥

पूर्वाधिकरणे द्रष्टृत्वादिश्रवणान्न प्रधानम् 'य आत्मनि' इति भेद-श्रवणान्न जीवोऽप्यन्तर्यामीत्युक्तं तद्वदत्राभावोदिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अदृश्येति । यत्तदद्रेश्यमित्यादिनोक्तो न दृश्योऽदृश्य-

(ब्र० व० १) कुतः । धर्मोक्तेः । 'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते' [मु० १।१।९] इतीश्वरधर्मस्य सर्वज्ञत्वादेर्भूतयोनी निर्देशादित्यर्थः । सामान्यतः सार्वज्ञ्यं विशेषतः सर्ववित्त्वं यस्य ज्ञानमेव तपस्तस्मादीश्वरादेव तत्कार्यरूपं ब्रह्मादि हिरण्यगर्भः सूक्ष्मभूतात्मकं नाम स्थूलभूतात्मकं रूपं च ब्रीहियवादि सार्वभौतिकमन्नं च जायत इत्यर्थः । ननु 'अक्षरात्परतः परः' इत्यक्षराद्भूतयोनेः परस्येश्वरस्य सर्वज्ञत्वं श्रूयते न भूतयोनेरिति चेन्न । 'येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम्' [मु० १ । २ । १३] इति । येन ज्ञानेनाक्षरं प्रकृतं भूतयोनिं सर्वज्ञं पुरुषं सत्यं वेद तां ब्रह्मविद्यामुपसन्नाय शान्ताय प्रोवाचाऽऽचार्यः प्रब्रूयादित्युपक्रम्याक्षरात्परतः पर इत्युच्यमानः परो न भूतयोनेरितिरिच्यते किंत्वक्षरादित्यविद्यानिर्देशस्ततः पर इति न विरोधः । किं च विषयवाक्येऽक्षरात्मक-भूतयोनिविद्यायाः परत्वं श्रूयमाणं भूतयोनेर्ब्रह्मत्वं गमयति । न हि ब्रह्मविद्यातोऽन्या विद्या पराभवितुं युक्ता । मोक्षफलकत्वात्मकपरत्वस्य ब्रह्मविद्याया एव संभवात् । ब्रह्मविद्योपक्रमे श्रूयमाणामपरविद्यामृगवेदादिलक्षणां कर्मविद्यामनित्यफलकत्वेन निन्दति च नित्यफलकब्रह्मविद्याप्रशंसायै । तस्मात्परविद्याविषयभूतमक्षरं भूतयोनिर्ब्रह्मैव । निन्दा हि श्रूयते—'पुत्रा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेषापियन्ति' [मु० १ । २ । ७] इति । निन्दित्वा च कर्मविद्यां ततो विरक्तस्य 'ब्रह्मविद्याधिकारं दर्शयति—'परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन । तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्समिप्याणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्' [मु० १ । २ । १२] इति । अयमर्थः—पुत्रवन्ते गच्छन्तीति पुत्राविनाशिनः । अत एवादृढाः । के ते, यज्ञरूपाः । यज्ञो रूपमुपाधिर्येषां ते तथा, ऋत्विगादयोऽष्टादश । क्रतुषु याजयन्तीति ऋत्विजः षोडश यज्ञोपाधिकास्तद्वत्पत्नी यजमानश्च यज्ञोपाधिकावेव मष्टादश यज्ञरूपाः । क्षयिष्णुफलकत्वादवरं जघन्यं कर्म येषु श्रुत्या विहितमेतदेव कर्म श्रेयोहेतुर्न ब्रह्मधीरिति ये मूढा हृष्यन्ति ते पुनर्जरा-

(दी०)स्तस्य भावस्तत्त्वं तदादिर्येषामग्राह्यत्वादीनां तेऽदृश्यत्वादयो गुणा यस्य सोऽयमदृश्यत्वादिगुणको भूतयोनिः परमेश्वरः । कुतः । धर्मोक्तेः ।

(ब्र० व० १) पूर्वं मरणमेवाऽऽप्नुवन्तीत्यर्थः । कर्मजन्याँल्लोकान्प्रत्यक्षादिनाऽनित्यतया परीक्ष्य ज्ञात्वा निर्वेदं वैराग्यमायाद्वच्छेन्नास्त्यकृतो मोक्षः कृतेन कर्मणाऽहं तु नित्यफलार्थी तस्मात्किं कर्मणेति विरक्तः संस्तस्य ब्रह्मणो ज्ञानार्थं गुरुपादोपसर्पणं कुर्यात् । तत्कृत्वा मुक्तिसाधनज्ञानाय श्रवणादिकुर्यादित्यर्थः । रिक्तहस्तस्तु नोपेयाद्राजानं दैवतं गुरुमिति न्यायेन समित्पाणिरित्युक्तम् । श्रोत्रियमित्यादिनाऽध्ययनरहितस्य कर्मिणो वा गुरुत्वं वार्यते । कर्म निन्दया ततो विरक्तस्याधिकारोक्तेरक्षरविद्या ब्रह्मविद्येति फलितम् । तस्माददृश्यत्वादिगुणकः परमात्मा ॥ २१ ॥

अपि च—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ २२ ॥

अदृश्यत्वादिगुणकः परमात्मैव नेतरौ प्रधानजीवौ । कुतः । विशेषणात् । ‘दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रः’ [ मु० ५ । १ । २ ] इत्यादिना दिव्यत्वादिविशेषणश्रवणादित्यर्थः । प्रधाननिरासे हेत्वन्तरमाह—भेदव्यपदेशादिति । ‘अक्षरात्परतः परः’ [ मु० २ । १ । २ ] इति प्रपञ्चोपादानस्याव्याकृतस्येश्वरशक्तिभूतस्य श्रुत्यविरुद्धस्य जडस्य परमात्मनश्च भेदेन व्यपदिष्टत्वादित्यर्थः । दिव्यः स्वयंज्योतिरमूर्तो निरवयवः पुरुषः पूर्णो बाह्यं कार्यमभ्यन्तरं कारणं ताभ्यां कल्पिताभ्यां सहाधिष्ठानत्वेन तिष्ठतीति सबाह्याभ्यन्तरः सर्वकल्पनाधिष्ठानमिति यावत् । अजः कूटस्थः । न ह्येतादृशविशेषणानि अव्यक्ते जीवे वा संभवन्ति । तस्मात्परमात्मैव भूतयोनिः ॥ २२ ॥

( दी० । ) धर्माः सर्वज्ञत्वादयः ‘यः सर्वज्ञः’ इत्यादिना तेषामुक्तेरभिधानात् ॥ २१ ॥

जीवप्रधानपदार्थयोरपि केषांचिद्धर्माणां संभवात्कुतो न स्वीकार इत्यत आह—विशेषणेति । विशेषणम् । ‘दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः’ इति जीवाद्यतिरिक्तत्वेन भूतयोनेर्व्यपदेशः । अक्षरात्परतः प्रधानाख्यपदार्थात्प्रश्नमीनिर्दिष्टात्पर इति प्रथमान्तत्वेन भूतयोनेः परमेश्वरस्य भेदेन व्यपदेशः । विशेषणं च भेदव्यपदेशश्च विशेषणभेदव्यपदेशौ ताभ्यां नेतरौ जीवप्रधानाख्यपदार्थौ ॥ २२ ॥

## रूपोपन्यासाच्च ॥ २३ ॥

(ब्र० व० १) किं च भूतयोनिः परमात्मैव नेतरावित्यनुषङ्गः । कुतो रूपोपन्यासात् । रूपं सर्वविकारात्मकं शरीरं तस्योपन्यासादित्यर्थः । ‘अक्षरात्परतः’ इत्यस्यानन्तरम् ‘एतस्माज्जायते प्राणः’ [मु० २।१।३] इत्यादिना प्राणादिपृथिव्यन्तानां सृष्टिमुक्त्वा तस्यैव भूतयोनेः सर्वकार्यात्मकं रूपमुपन्यस्यति—‘अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः । वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा’ [मु० २।१।४] इति । अग्निर्द्युलोकः ‘असौ वाय लोको गौतमाग्निः’ इति श्रुतेः । विवृता वेदा वागित्यन्वयः । पद्भ्यामिति प्रथमार्थः । पादौ पृथिवी । यस्यैतादृशं शरीरं स एष सर्वभूतानामन्तरश्चाऽऽत्मेत्यर्थः । न ह्येतादृशरूपोपन्यासो जीवाव्यक्तयोः परिग्रहे घटते परमात्मनस्तु सर्वात्मकत्वात्स युज्यते । अस्य सूत्रस्य वृत्तिकारमतरीत्याऽयमर्थः प्रदर्शितः । शंकरभगवत्पादास्तु अग्निर्मूर्धेति वाक्यस्य जायमानमध्यपाताज्जायमानहिरण्यगर्भरूपसूत्रात्मपरत्वं न परमात्मपरत्वमिति वदन्ति । तथा हि—एतस्माज्जायते प्राणो यनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी’ [मु० २।१।३] इति पूर्वं प्राणादीनां सृष्टिरुक्ता । तथोत्तरत्रापि ‘तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः’ [मु० २।१।५] इति । यस्य द्युलोकस्य सूर्यः समिधोऽग्निरिव भासकः । यद्वा । अग्निर्द्युलोको यस्य सूर्य एव समिधः । ‘तस्याऽऽदित्य एव समिदिति श्रुतेः । सोऽपि तस्मादेव जायत इत्यर्थः । एवं पूर्वमुत्तरत्र च जायमानानां निर्दिष्टत्वात् अग्निर्मूर्धेति वाक्यं जायमानहिरण्यगर्भपरमेव । हिरण्यगर्भस्याऽऽत्मन उत्पत्तिः श्रुत्यन्तरे श्रूयते—‘हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम’ [ऋ० सं० १०।१२१।१] इति । समवर्तताजायत जातः सन्नीश्वराज्ञया पातेर्बभूव भूतग्रामस्य कस्मै हिरण्यगर्भाय विधेम परिचरेम । सूत्रार्थस्तु भूतयोनिः परमात्मैव । कुतः । ‘पुरुष एवेदं विश्वं कर्म’ [मु० २।१।१०] इत्यादिना सावात्म्यात्मकरूपोपन्यासादिति । सर्वं कर्म सुसाध्यं तपो ज्ञानं च पुरुष एवेत्यर्थः । तस्माददृश्यत्वादि-

(दी० १) परशब्देन भूतयोनेरेवागमः कुत इत्यत आह—रूपेति । रूपस्य भूतयोनेः स्वरूपस्यानन्तरमुपन्यासादभिधानात् । ‘पुरुष एवेदं विश्वं कर्म’ इत्या-

( ब्र० व० । ) गुणको भूतयोनिः परमात्मा निर्विशेषो ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

( ब्रह्मणो वैश्वानरशब्दवाच्यत्वम्, अधि० ॥ ७ ॥ )

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ २४ ॥

अत्र रूपोपन्यासप्रसङ्गाच्चैलोक्यदेहो वैश्वानरः स्मृतो विचार्य इति प्रसङ्गसंगतिः । यद्वा पूर्वं वाक्योपक्रमस्थादृश्यत्वादिसाधारणधर्मस्य वाक्यशेषस्थसर्वज्ञत्वाद्युक्त्या ब्रह्मविषयत्वमुक्तं तर्हि तद्वदेवेहापि उपक्रमस्थसाधारणशब्दस्य वाक्यशेषस्थहोमाधारत्वोक्त्या प्रसिद्ध्यनुगृहीतया जाठरार्थकत्वमस्तिवति दृष्टान्तसंगतिः । 'को न आत्मा किं ब्रह्म' [छा० ५।११] इत्यात्मानमेवेमं वैश्वानरं संप्रत्यध्येषि तमेव नो ब्रूहीत्युपक्रम्याऽऽम्नायते—'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते सर्वेषु लोकेषु सर्वेषु भूतेषु सर्वेष्व्वात्मस्वन्नमत्ति तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वत्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः' [छा० ५।१८] इत्यादि । अस्यार्थः—आत्मनोऽसंसारित्वार्थं ब्रह्मपदं ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वार्थमात्मपदम् । प्राचीनशालसत्ययज्ञेन्द्रद्युम्नजनबुडिलाः समेत्येत्यं भीमांसां चक्रुः—को न आत्मा किं ब्रह्मेति । पश्चादुद्दालकेन सह वैश्वानरोऽयमिति निश्चयार्थं कैकेयराजमश्वपतिमागत्योचुः—आत्मानमित्यादि । संप्रत्यध्येषि सर्वदा ध्यायसि । स च कैकेयराजो द्युलोकसूर्यवाय्वाकाशधारिपृथिवीनां मध्ये द्युलोकादिरैकैक एव वैश्वानर इति भीमांसाकाले विवदमानाः प्राचीनशालादयः पङ्कपयो मत्समीपमागता इति ज्ञात्वा तादृशविपरीतबुद्धिनिरासेन सम्यग्वैश्वानरबुद्धिजिग्राहयिषया तानेव प्रपच्छ 'कं त्वमात्मानमुपास्ते' [छा० ५।१७] इत्यादिना । पृष्टाश्च सन्तस्तत्रैकक्रषिर्द्युलोक एव वैश्वानर इत्युवाचान्यस्तु सूर्यो वैश्वानर इत्येवं क्रमेण पृथिवीपर्यन्तमेकैकस्य वैश्वानरत्वं श्रुत्वा तेषां द्युसूर्यादीनां क्रमेण सुतेजस्त्वविश्वरूपत्वपृथग्वत्मात्मत्वबहु-

(दी० १)दिना । चकारोऽन्यस्य तदसंभवार्थः ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणे सर्वज्ञत्वं न प्रधानस्य सार्वार्थ्येन च पुरुषस्य न ग्रहणं किं त्वीश्वरस्यैवेत्युक्तं तदिदं सार्वार्थ्यं जाठरे वाऽऽदित्ये वा जीवेऽपि



( ब्र० व० । ) लत्वरयित्वपादत्व\*गुणयोगं विधाय प्रत्येकं वैश्वानरत्वपक्षं मूर्धपातान्धत्वप्राणोत्क्रमणदेहशीर्णताबस्तिभेदपादशोषणैर्दोषैर्निन्दित्वा तेषामेव द्युसूर्यादीनां वैश्वानरपुरुषं प्रति मूर्धादिभावमुक्त्वा कृत्स्नं वैश्वानरोपासनमुपदिशति यस्त्वेतमित्यादिना । +आभिमुख्येन विश्वं मिमीते जानातीत्यभिविमानस्तं प्रादेशपरिमाणमुपास्ते यस्तस्य सर्वलोकाद्याश्रयं फलमित्यर्थः । लोका भोगभूमयो भूतानि तदुपाधयो भोक्तारः स्वयमात्मान इति भेदः । तत्संबन्धिफलमन्नशब्दार्थः । ध्यानफलमुक्त्वा ध्येयमाह—तस्येति । सुतेजस्त्वगुणा द्यौर्वैश्वानरस्य मूर्धा । विश्वरूपत्वगुणकः सूर्यश्चक्षुः । ‘एष शुक्ल एष नीलः’ इत्यादिश्रुतेर्विश्वरूपत्वं बोध्यम् । पृथङ्जनाना वर्त्म गमनमात्मा स्वभावो यस्य वायोः स तथा नानागतत्वगुणयुक्तो वायुः प्राणः । बहुलत्वगुण आकाशोऽस्य संदेहो देहमध्यमित्यर्थः । रयिर्धनं तद्गुणा आपोऽस्य बस्तिर्मूत्रस्थानम् । प्रतिष्ठात्वगुणा पृथिवी यस्य पादौ तस्य वैश्वानरस्य होमाधारत्वसंपदनार्थमुर एवेत्यादि । एवं सति वैश्वानरशब्दस्य अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे’ [ बृ० ५ । ९ ] इत्यादौ जाठरे ‘विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्णामकृण्वन्’ [ क्र० सं० १० । ८८ । १२ ] इत्यादावग्निसामान्ये ‘वैश्वानरस्य सुमतौ स्याम राजा हि कं भुवनानामग्निश्रीः’ [ क्र० सं० १ । ९८ । १ ] इत्यादावग्निशरीरायां देवतायां प्रयोगदर्शनादुपक्रमे च ‘को न आत्मा’ इत्युपक्रमाच्च संशयः । किमत्र वैश्वानरो जाठर उताग्निसामान्यमुताग्निशरीरा देवताऽऽहोस्विच्छारीरः परमात्मा वेति । श्रुत्यर्थस्तु—पुरुषाकारे देहे विश्वस्मै भुवनाय वैश्वानरमग्निमह्णं केतुं चिह्नं सूर्यमकृण्वन्कृतवन्तो देवास्तदुदये दिनव्यवहारादित्यर्थः । वैश्वानरस्याग्न्यधिष्ठानस्य देवस्य सुमतौ शोभनबुद्धौ वयं स्याम भवेम तस्मात्तद्विषया सुमतिर्भवत्वित्यर्थः । अत्र हेतुः—राजा हीति । हि यस्माद्भुवनानामयं राजा कं सुखं सुखहेतुरभिमुखा श्रीरस्येत्यग्निश्रीरीश्वरस्तस्मात्तस्य सुमतौ स्यामेति स्तुतिवाक्यार्थः । तत्र जाठरादौ वैश्वान-

(दी०।) वा भूताग्नौ वाऽनैकान्तमित्याक्षिप्य समाधत्ते—‘वैश्वानर इति । ‘आत्मानमेवेनं वैश्वानरम्’ इत्यादिनोक्तो वैश्वानरे विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वा-

\* प्रतिष्ठात्वं । + अपरोक्षतया ।

(व० ब्र० १) रशब्दस्य प्रसिद्धत्वाज्जाठरादिरव वैश्वानर इति प्राप्ते ब्रूमः—वैश्वानरः परमात्मैव कुतः साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोरपि विशेषः साधारणशब्दविशेषस्तस्मादित्यर्थः जाठराग्निसामान्यतद्देवतासु साधारणो वैश्वानरशब्दो जीवपरयोः साधारण आत्मशब्दस्तयोर्वैश्वानरात्मशब्दयोर्जाठरादौ जीवादौ च साधारणयोरपि सतोः परमात्मपरत्व एव विशेषोऽवगम्यते । ‘तस्य ह वा एतस्याऽऽत्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः’ [ छा० ५ । १८ ] इत्यादा उक्तद्युमूर्धत्वादेः सर्वात्मक-परमात्मपरिग्रह एवोपपन्नतरत्वात् । तस्माद्वैश्वानरः परमात्मा ॥ २४ ॥

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ २५ ॥

किंच वैश्वानरपदस्य परमात्मपरत्वे स्मर्यमाणं स्मृत्युक्तरूपमनुमानं स्यात् । अनुमापकं लिङ्गं स्यादित्यर्थः ।

‘यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।

सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः’ । [ महाभा० शान्ति० ४७ । ६८ ]

इत्यस्याः स्मृतेः शरीरात्मकरूपप्रतिपादनपराया उदाहृतश्रुतिरेव मूलम् । मूलान्तरकल्पने मानाभावात् । तथा च स्मृतौ परमेश्वरस्यैवोक्तत्वात्तन्मूलश्रुतौ विद्यमानवैश्वानरशब्दः परमात्मपर एवेति तात्पर्यम् । सूत्र इति शब्दो हेतौ । यस्मादेवं लिङ्गमस्ति तस्माद्वैश्वानरः परमात्मैवेति ॥ २५ ॥

(दी० १) नरो विश्वानर एव वैश्वानरः । विश्वे वा नरा अस्थेति वैश्वानरः परमेश्वरः । कुतः । साधारणशब्दविशेषात् । साधारणशब्दयोर्विशेषः साधारणशब्दविशेषः । वैश्वानरशब्दोऽग्न्यादित्यात्मनां साधारणः । आत्मशब्दश्च जीवपरमात्मनोर्यद्यपि तथाऽप्यस्ति विशेषः ‘तस्य ह वा एतस्य’ इत्यादिनोक्तो द्युमूर्धत्वादित्स्मात् ॥ २४ ॥

द्युमूर्धत्वादिकमपि परमेश्वरस्यैव कुत इत्यत आह—स्मर्यमाणमिति । ‘यस्याग्निरास्यम्’ इत्यादिना स्मर्यमाणं रूपं परमेश्वरस्यानुमीयतेऽनेनेत्यनुमानं लिङ्गं स्याद्भवेत् । इति यस्मात्तस्माद्वैश्वानरः परमात्मैवेत्यर्थः ॥ २५ ॥

शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति

चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरु-

षमपि चैनमधीयते ॥ २६ ॥

(ब० व० ।) ननु वैश्वानरो न परमात्मा । कुतः । शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च । शब्दस्तावद्वैश्वानरशब्दो न परमात्मपरः । जाठरादौ रूढत्वात् । आदि-  
शब्दात् ‘हृदयं गार्हपत्यः’ [ छा० ५ । १८ । २ ] इत्याद्यग्नित्रेताक-  
ल्पनम् । ‘तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयम् ।’ [ छा० ५ । १९ ।  
१ ] इत्यादिना प्राणाहुत्याधारतासंकीर्तनं च गृह्यते । एतेभ्यो हेतुभ्यो  
जाठर एव वैश्वानरः । किंच ‘अन्तः प्रतिष्ठानात् ।’ पुरुषेऽन्तः प्रति-  
ष्ठितं वेद’ [ शत० ब्रा० १० । ६ । १ । ११ ] इति वैश्वानरस्यान्तः  
प्रतिष्ठानश्रवणात् । इदं च जाठरे संभवति । न च द्यूमूर्धत्वाद्यनुपपत्तिः ।  
अग्निसामान्यात्मकभूताग्निपरिग्रहे तस्योपपत्तेः । द्युलोकादिसंबन्धस्य  
तस्मिन्मन्त्रेऽवगतत्वात् । ‘यो भानुना पृथिवीं द्यामुतेमामाततान  
रोदसी अन्तरिक्षम् ।’ [ ऋ० सं० १० । ८८ । ३ ] इति मन्त्रः ।  
इमां पृथिवीमुतद्यामपि द्यावापृथिव्यावेव रोदसी यो भानुना रूपेणाऽऽ-  
ततान व्याप्तवानन्तरिक्षं तयोर्मध्यं चाऽऽततान स देवोऽग्निर्द्युलोका-  
द्यवयवो ध्येय इति मन्त्रार्थः । तस्मान्न वैश्वानरः परमात्मेति चेन्नायं  
दोषः । कुतः । तथा दृष्ट्युपदेशात् । तथा जाठररूपेण परमेश्वरस्य  
दृष्टेरुपासनाया उपदेशादित्यर्थः । ‘मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः’  
[ छा० ३ । १४ । २ ] इति वत् । यद्वा तथा जाठररूपेण परमात्म-  
दृष्टेरुपदेशात् । ‘मनो ब्रह्मेत्युपासीत’ [ छा० ३ । १८ । १ ] इति  
वदित्यर्थः । ननु जाठर एव वैश्वानरो मुख्योऽस्तु तत्राऽऽह—असंभवा-  
दिति । मूर्धैव सुतेजा इत्यादेर्जाठरेऽसंभवादित्यर्थः । न च भूताग्नौ  
तत्संभव इत्युत्तरसूत्रे वक्ष्यते । अपि च—पुरुषमपि चैनं वैश्वानरं वाज-  
सनेयिनोऽधीयते—‘स एषोऽग्निर्वैश्वानरो यत्पुरुषः स यो हैतमेवमग्निं

(दी० ।) शब्दादिभ्य इति । शब्दादिभ्यो वैश्वानराग्निशब्दा आदिशब्दाध्वृदयं  
गार्हपत्याग्नित्रेताकल्पनादिशब्दौ च तदाद्यश्च तेभ्यः । न केवलमेवम-  
न्तःप्रतिष्ठानादपि ‘पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद’ इत्यादिना पुरुषस्यान्तरवस्था-  
नाच्च न परमेश्वरो वैश्वानर इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । तथा जाठरापरि-

(ब्र० व० १) वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद '[शत० प० ब्रा० १० । ६ । १ । ११] इति परमेश्वरस्य सर्वात्मकत्वात्पुरुषत्वं पुरुषेऽन्तः— प्रतिष्ठितत्वं च सर्वमप्युपपद्यते । 'पुरुषविधमपि चैनमधीयते' इति सूत्रपाठेऽयमेवार्थः । न हि जाठरस्य पुरुषविधत्वं संभवति । परमात्मनस्तूपास्त्यर्थं सर्वात्मकत्वादविरुद्धं यथा चैतत्तथा स्पष्टयिष्यामः संपत्तेरिति सूत्रे ॥ २६ ॥

ननु द्युमूर्धत्वादिकं प्रदर्शितमन्त्रवर्णाद्भूताग्नौ संभवति तच्छरीराया देवताया वैश्वर्ययोगादित्यत आह—

अत एव न देवताभूतं च ॥ २७ ॥

देवताभूतं चैकवद्भावादुभयमपि न वैश्वानरः । कुतः । अत एवोक्तेभ्यो हेतुभ्यः । न हि विकारस्याग्नेर्विकारान्तरद्युलोकाद्यात्मकत्वं संभवति । अग्निशरीराया देवताया अपि न संभवतीश्वराधीनैश्वर्यत्वात् । तस्मात्सर्वात्मकः परमात्मैव वैश्वानरः ॥ २७ ॥

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ २८ ॥

पूर्वं जाठरार्थकत्वमग्न्यादिशब्दस्याभ्युपेत्य जाठरोपाधिकं वा जाठरप्रतीकं वा ब्रह्मोपास्थमित्युक्तमिदानीं विनैवोपाध्यादिकल्पनां साक्षा-

(दी० १) त्यागेन द्रष्टव्यपदेशात्परमेश्वरज्ञानं जाठरे करणीयमिति कथनात् । अथवा जाठरवैश्वानरोपाधेः परमेश्वरस्य द्रष्टव्यत्वेनोपदेशो द्रष्टव्यपदेशः कुत इत्यत आह—अन्यस्मिन्द्युमूर्धत्वादेरसंभवादसत्त्वात् । न केवलमेतस्य पुरुषत्वस्यापि पुरुषमपि चैनमधीयते । अधीयते चैनमग्निं पुरुषं वाजसनेयिनः । अयमेवापि चेत्यस्याभ्युच्चयस्यार्थः । तथा हि पठन्ति—'स एषोऽग्निवैश्वानरो यत्पुरुषः' इति । ये तु पुरुषविधमपि चैनमधीयत इति सूत्रावयवं पठन्ति तेषामेवोऽर्थः । जाठरपरिग्रहे पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वं केवलं स्यात् । ननु पुरुषविधत्वपुरुषविधमपि चैनमधीयते वाजसनेयिनः—'पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं चेति ॥ २६ ॥

मा भूजाठरोऽस्तु देवता भूतं वेत्यत आह—अत एवेति । अत एवोक्तहेतुभ्यो द्युमूर्धत्वादिभ्यो न देवताऽऽदित्यादिर्न च भूतं भौमोऽग्निः ॥ २७ ॥

साक्षादपीति । उक्तेभ्यो जाठरप्रतीको जाठरोपाधिर्वा वैश्वानर

(व० ब्र० १) देव परमेश्वरोपासनपरिग्रहे विरोधाभावं जैमिनिराचार्यो मन्यते । पूर्वापरपर्यालोचनया वैश्वानरस्य ब्रह्मत्वे निर्णीते वैश्वानरशब्दोऽग्निशब्दश्च केनचिद्योगेन ब्रह्मपरतया नेतव्य इति तात्पर्यम् । विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः सर्वात्मकत्वात् । सर्वेषां नरः कर्तेति वा सर्वकारणत्वात् । विश्वे नरा नियम्या अस्येति वा सर्वेश्वरत्वात् । विश्वानर एव वैश्वानरः । राक्षसवायसादिवत्स्वार्थे तद्धितः । एवमग्निः परमात्मा । अग्निधातोर्गत्यर्थकस्य निप्रत्ययान्तस्याग्निरिति रूपम् । तत्राङ्गयति गमयति जगतोऽग्रं जन्म प्रापयतीत्यग्निरग्रणीरुक्तः । एवं च परमात्मनोऽग्रणीत्वादग्नित्वमिति । तस्माद्वैश्वानरः परमात्मैवोपास्य इति सिद्धम् ॥ २८ ॥

ननु परमात्मपरिग्रहे कथं प्रादेशमात्रत्वश्रुतिरित्याशङ्क्य तां व्याख्यातुमारभते—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ २९ ॥

अनवच्छिन्नस्यापि परमात्मनः प्रादेशमात्रत्वमुपपद्यते । कथम् । अभिव्यक्तेः । उपासकानामनुग्रहाय परमेश्वरो हृदयाद्युपासनास्थानेषु प्रादेशपरिमाणोऽभिव्यज्यते किलेत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ ३० ॥

प्रादेशमात्रहृत्पुण्डरीकस्थेन मनसाऽनुस्मृतेर्ध्यानात्प्रादेशमात्र इत्युच्य-

(दी० १) उपास्य इत्युक्तम् । जैमिनिस्त्वाचार्यः साक्षादपि विनाऽपि प्रतीकोपाधी वैश्वानरस्येश्वरस्योपासनमविरुद्धं मन्यते ॥ २८ ॥

अस्मिन्पक्षे कथं प्रादेशमात्रश्रुतिरित्यत । आह—अभिव्यक्तेरिति । ‘यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रम् ’ इति प्रादेशमात्रश्रुतिरतिमात्रस्यापीश्वरस्याविरुद्धेत्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । कुतः—अभिव्यक्तेः । अतिमात्रोऽपीश्वरो भक्तानां प्रादेशमात्र एवाभिव्यज्यते प्रकटी भवति यतः प्रदेशेषु वा हृदयादिषूपलब्धिस्थानेषु विशेषेणाभिव्यज्यते । इतिशब्दः प्रकारवचनः ॥ २९ ॥

अनुस्मृतेरिति । बादरिराचार्यः प्रादेशमात्रे हृदये प्रतिष्ठितेन मनसा स्मर्यत इति यवप्रस्थन्यायेन प्रादेशमात्रश्रुतेरविरोधं मन्यते । प्रादेश-

( ब्र० व० । ) त इति बादरिराचार्यो मन्यते । यथा प्रस्थपरिमितास्तण्डुलाः प्रस्था इत्युच्यन्ते तद्वत् ॥ ३० ॥

संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ ३१ ॥

मूर्धप्रभृतिचुबुकान्ते प्रादेशमात्रे वैश्वानरस्योपासकत्वप्रतिपादनात्परमेश्वरस्य प्रादेशमात्रत्वं संपन्नम् । ततः प्रादेशमात्रत्वसंपत्तेः प्रादेशमात्रत्वश्रुतिरूपपद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । अस्मिन्नर्थे श्रुत्यन्तरसंवादमाह सूत्रकारः—तथा हि दर्शयतीति । वैश्वानरस्य प्रादेशमात्रत्वं संपत्तिद्वारा श्रुत्यन्तरमपि दर्शयतीत्यर्थः । तथा हि समानप्रकरणं वाजसनेयिब्राह्मणं द्युप्रभृतीन्पृथिवीपर्यन्तांश्चैलोक्यात्मनो वैश्वानरस्यावयवानध्यात्ममूर्धादिषु चुबुकपर्यन्तेषु प्रसिद्धपुरुषावयवेषु संपादयत्परमात्मनो वैश्वानरस्य प्रादेशमात्रत्वसंपत्तिं दर्शयति । एवं च पुरुषावयवेषु वैश्वानरस्य संपादनात्पुरुषविधत्वम् । पुरुषावयवेषु संपादितस्य वैश्वानरस्थितेः पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितत्वम् । यद्यपि कार्यकारणसंघातरूपस्य पुरुषस्य यावदवयवसमुदायात्मके पुरुषे समुदायिनो मूर्धादिचुबुकान्तस्यावयवस्य शाखाया इव वृक्षे विद्यमानत्वात्तन्निष्ठस्य वैश्वानरस्य पुरुषस्थत्वं व्यपदिश्यते तथाऽपि शाखास्थपक्षिणो वृक्षनिष्ठत्वव्यपदेशवदिति रहस्यम् । ब्राह्मणं पठ्यते—‘प्रादेशमात्रमिव ह वै देवाः सुविदिता अभिसंपन्नास्तथा नु व एतान्वक्ष्यामि यथा प्रादेशमात्रमेवाभिसंपादयिष्यामीति । स होवाच मूर्धानमुपदिशन्नुवाचैष वा अतिष्ठा वैश्वानर इति । चक्षुषी उपदिशन्नुवाचैष वै सुतेजा वैश्वानर इति । नासिके उपदिशन्नुवाचैष वै पृथग्वर्त्मात्मा वैश्वानर इति । मुख्यमाकाशमुपदिशन्नुवाचैष वै बहुलो वैश्वानर इति । मुख्या अप उपदिशन्नुवाचैष वै रयिर्वैश्वानर इति चुबुकमुपदिशन्नुवाचैष वै प्रतिष्ठा वैश्वानर इति’ । [शत० ब्रा० १०।६ । १ । १०।११ ] इति । अस्यार्थः—परमेश्वरमप्रादेश-

(दी०।) मात्रत्वेन वाऽयमप्रादेशमात्रोऽप्यनुस्मरणीयः प्रादेशमात्रश्रुतेरर्थवत्त्वाय ॥ ३० ॥

संपत्तेरिति । संपत्तिनिमित्ता वा स्यात्प्रादेशमात्रश्रुतिरिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । तथा हि समानप्रकरणे वाजसनेयिब्राह्मणे मूर्धादिचुबुकान्तेषु देहावयवेषु द्युप्रभृतीन्वयवान्संपादयत्प्रादेशमात्रसं-

(ब्र० ४०।) मात्रमपि संपदा प्रादेशमात्रमिव सम्यग्विदितवन्तो देवास्तमेवे-  
 श्वरं पूर्वमभिसंपन्नास्ततो युष्मभ्यं तथा द्युप्रभृतीनवयवान्वक्ष्यामि यथा  
 प्रादेशपरिमाणं वैश्वानरं संपादयिष्यामीति प्राचीनशालादीन्प्रत्यश्वपतिः  
 कैकेयो राजोवाच किं कुर्वन्नित्युक्ते स्वस्य मूर्धानमुपदिशन्कराग्रेण  
 दर्शयन्नेष वै भूलोकादीनतीत्य तिष्ठतीत्यतिष्ठा द्यौर्वैश्वानरस्यावयव  
 इति प्रसिद्धमनुष्यमूर्धनि अधिदैवं यो मूर्धा द्युलोकस्तद्दृष्टिः कर्तव्येत्यु-  
 वाच । एवमेव स्वस्य चक्षुषी दर्शयन्सुतेजाः सूर्यो वैश्वानरस्य चक्षु-  
 रिति प्रसिद्धचक्षुषोर्वैश्वानरस्याधिदैवं यदादित्याख्यं चक्षुस्तद्दृष्टिः कर्त-  
 व्येत्युवाच । एवमग्रेऽपि स्वावयवेषु वैश्वानरावयवदृष्टिरिति द्रष्टव्यम् ।  
 पृथग्वर्त्मात्मा वायुर्वैश्वानरस्य प्राणो मुख्यं स्वमुखावच्छिन्नं यन्नभस्त-  
 स्मिन्नध्यात्मनभसि योऽधिदैवं बहुलमाकाशो वैश्वानरस्य देहमध्यावयव  
 इति तद्दृष्टिरित्युवाचेत्यर्थः । मुख्याः स्वमुखसंभवास्तास्वप्सु वैश्वानरस्य  
 बस्तिभूता रथिपदवाच्या या आपस्तद्दृष्टिरित्युवाच । एवं स्वचुबुकेऽध-  
 रमुखफलके प्रतिष्ठापदवाच्या वैश्वानरपादभूता पृथिवी द्रष्टव्येति ॥ ३१ ॥

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ ३२ ॥

अस्मिन्प्रादेशपरिमाणे मूर्धचुबुकान्तराल एनं परमेश्वरं जाबाला  
 आमनन्ति अतोऽपि प्रादेशमात्रश्रुतिरूपपन्नेत्यर्थः । एवमामनन्ति—‘ य  
 एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति । सोऽविमुक्तः  
 कस्मिन्प्रतिष्ठित इति । वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति । का वै  
 वरणा का वै नासी ’ [जाबालोप० खण्ड० २] इति । सर्वाणीन्द्रियकृतानि  
 पापानि वारयति नाशयति वरणा नासीति । ‘ कतमच्चास्य स्थानं  
 भवतीति । भुवोर्ग्राणस्य च यः संधिः स एष द्युलोकस्य च परस्य च  
 संधिर्भवति ’ [ जाबा० २ ] इति । अस्यार्थः—य एष प्रसिद्धः परमा-  
 त्माऽनन्तोऽव्यक्तः स्वरूपेणानभिव्यक्तो दुर्विज्ञेय इति यावत् । तं कथं  
 विजानीयादित्यत्रिप्रश्ने याज्ञवल्क्यस्पोत्तरम्—स इति । स हि पर-

(द्वा० १।) पत्तिं परमेश्वरस्य दर्शयति ‘ प्रादेशमात्रमिह वै देवाः सुवि-  
 दिताः ’ इत्यादिना ॥ ३१ ॥

ननु तत्राविद्यमाने परमेश्वरे कथं संपत्तिरपीत्यत आह—आमन-  
 न्तीति । आमनन्ति चैनं परमेश्वरमस्मिन्मूर्धचिबुकान्तराले जाबालाः

(ब० व० १) मात्मा जीवात्मनि अविमुक्ते व्यवहारतः संसारिणि प्रलिखितः परस्यैव प्रत्यक्त्वादित्यर्थः । पुनरत्रिरपृच्छत—स इति । याज्ञवल्क्यो ब्रूते-वरणायामिति । वरणादिपदार्थं वदन्पदे निर्वक्ति—सर्वाणीति । सर्वानिन्द्रियवृत्तिकृतान्दोषान्वारयति तेन वरणा भुवावित्यर्थः । तान्दोषान्नाशयतीति नासीति । तथा च नियम्यजीवद्वारा नियन्तुरीश्वरस्याधिष्ठानत्वान्नासाभुवोः पाप्मनाशकत्वमिति सिद्धम् । तत्रापि स्थानविशेषजिज्ञासायां पृच्छति—कतमञ्चेति । पूर्वोक्तमध्यशब्दार्थं स्पष्टयति—भुवोरिति । तदेव स्थानमित्यर्थः । स संधिर्द्युलोकस्य स्वर्गस्य परस्य च ब्रह्मलोकस्य संधित्वेन ध्येय इत्याह—स इति । तस्मात्परमेश्वरोपास्तिपरं वैश्वानरवाक्यमिति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासृतवर्षिण्यां प्रथमाध्यायस्या-  
स्पष्टब्रह्मालिङ्गाख्यो द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

( सूत्रात्महिरण्यगर्भप्रधानभोक्तृजीवेश्वराणां मध्ये केवलमीश्वरस्यैव सर्वाधिष्ठानभूतत्वम्, ( अधि० १ )

द्युन्वाधायतनं स्वशब्दात् ॥ १ ॥

पूर्वं त्रैलोक्यात्मा वैश्वानरः परमात्मेत्युक्तम् । तर्हि त्रैलोक्यायतनमन्यदित्याशङ्क्य समाधानादाक्षेपसंगतिः । यद्वोपक्रमस्थसाधारणशब्दस्य वाक्यशेषस्थलिङ्गेन द्युमूर्धत्वादिना ब्रह्मपरत्ववदिहाप्युपक्रमस्थसाधारणायतनत्वस्य वाक्यशेषस्थसेतुश्रुत्या परिच्छिन्नप्रधानादौ सेतुशब्दार्हा व्यवस्थाऽस्तिवाति दृष्टान्तसंगतिः । प्रायशो निर्विशेषे ब्रह्माणि अस्मिन्पादे वाक्यानां समन्वयप्रतिपादनाच्छ्रुत्यध्यायपादसंगतयो बोध्याः । अत्र

(दी० १) 'य एषोऽनन्तः' इत्युपक्रम्य 'वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठितः' इत्यादिना । चकारः सर्वगतस्यात्रात्यन्तासत्त्वस्य शङ्काया अनुदयमाह ॥ ३२ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥ PG

तृतीये पादेऽस्पष्टब्रह्मालिङ्गानि वाक्यानि निर्विशेषप्रचुराणि योगविषयाणि विचार्यन्ते । अत्र पादे त्रयोदशाधिकरणानि तत्रेदं सप्तसूत्रमाद्यम्—द्युभ्वेति द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी यस्य तदिदं द्युभवादि



(ब्र० व० १) पूर्ध्वपक्षे प्रधानाद्युपास्तिः फलं सिद्धान्ते ब्रह्मप्रामितिरीति विवेकः । आथर्वणे श्रूयते—‘यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः, सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्य ष सेतुः’ [मु० २ । २ । ५] इति । अस्यार्थः—लोकत्रयाधिष्ठानत्वोक्त्या पञ्चीकृतभूताधिष्ठानत्वमाह—यस्मिन्निति । कार्यब्रह्माख्यसमष्ट्यन्तःकरणस्थाऽऽत्मन्येव कल्पितत्वमाह—मन इति । इन्द्रियसमष्टिदेवतानां तत्रैव कल्पितत्वं सूचयति—सहेति । प्राणैरिन्द्रियाधिष्ठानदेवैः । चकारेण भूतसूक्ष्माविद्याजीवान्तर्यामिणामध्यस्तत्वं ध्वनितम् । सविलासां प्रकृतिं मायाख्यां श्रुत्युक्तकर्माग्निना विलाप्य तमेवाधिष्ठानभूतमद्वयमात्मानं विजानथेति मुमुक्षुन्प्रत्याह माताश्रुतिः—तमेवेति । वाच्यवाचक-कल्पनानामैक्यसाक्षात्काराद्धाधमाहअन्या इति । एष साक्षात्कारः सविलासाविद्यानिवृत्तिलक्षणासृतत्वस्य सेतुर्ध्ववस्थापक इत्याह—अमृतस्येति । विजानथेत्यनेनोक्तः साक्षात्कार एष इत्युच्यते । अमृतस्यामृतत्वस्य । अत्र द्युभवादीनामोतत्वश्रवणात्किञ्चिदायतनं प्रतीयते तत्किं प्रधानमुत जीव आहोस्विद्वहोति संशयः । तत्र प्रधानादिरिति प्राप्ते ब्रूमः—‘द्युभवाद्यायतनम् । द्यौश्च भूश्च द्युभुवौ द्युभुवावादी यस्य द्यौः पृथिव्यन्तरिक्षमित्येवमात्मकस्य तद्द्युभवादि तदायतनं ब्रह्मैव । कुतः । स्वशब्दात् । स्वस्य परब्रह्मणो वाचको य आत्मशब्दस्तस्मादित्यर्थः । तमेवैकं जानथ आत्मानमित्यात्मशब्दश्रवणादिति ॥ १ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ २ ॥

किञ्च द्युभवाद्यायतनं ब्रह्मैव । कुतः । मुक्तैरुपसृप्यं मुक्तोपसृप्यं भाव-प्रधानो निर्देशः । मुक्तोपसृप्यत्वस्य व्यपदेशादित्यर्थः । यद्वा मुक्तैरुपसृप्यं प्राप्यं यत्तस्यैवात्र निर्देशादित्यर्थः । मुक्तोपसृप्यत्वव्यपदेशादिति पाठे न कश्चित्प्रयासः ।

(दी० १) जगत्तस्याऽऽयतनमाश्रयः । ‘यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षम्’ इत्यस्मिन्मन्त्रे प्रतिपाद्यं ब्रह्म । कुतः । स्वशब्दात् । स्वस्याऽऽत्मनो वाचकः शब्दः स्वशब्दः ‘तमेवैकं जानथ आत्मानम्’ इत्यत्राऽऽत्म-शब्दस्तस्मात् ॥ १ ॥

ननु प्रधानमेव कुतो न स्यादित्यत आह—मुक्तेति । मुक्ता अविद्या-तत्कार्यशून्यास्तैरुपसृप्यं गन्तव्यं ब्रह्म यत्तस्य । तथाहि ‘तथा विद्वान्ना-

(ब्र० व० १) 'भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तमिन्दृष्टे परावरे' [मु० २ । २ । ८] 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' । [मु० ३ । २ । ८] इति । इदं च मुक्तोपसृप्यत्वं ब्रह्मण एव श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम्—'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते' [बृ० ४ । ४ । ७] इति । अपि च—'तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ' इति वाग्विभोक्तपूर्वकं विज्ञेयत्वं ब्रह्म-  
लिङ्गं श्रुत्यन्तरे तथा दृष्टत्वात् । 'तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वन्ति ब्राह्मणः । नानुध्यायाद्ब्रह्मशब्दान्वाचो विग्लापनं हि तत्' [बृ० ४ । ४ । २१] इति । हृदयग्रन्थिमिथ्याज्ञानरागद्वेषादिरतद्रहितो भूत्वा छिन्नसं-  
शयः सन्क्षीणकल्मषो यस्तस्य हृदये परमात्मा प्रकाशत इत्यर्थः । दृष्ट इति निमित्तसप्तमी । तद्दर्शनार्थमित्यर्थः । यद्वा यथाश्रुत एवार्थः । यथा नद्यः स्वनामरूपाभ्यां विनिर्मुक्ताः समुद्रं प्राप्य तदात्मना तिष्ठन्ति तथा विद्वानपि साक्षात्कृतब्रह्मा नामरूपकारणादविद्यातो विमुक्तः परा-  
दव्याकृताख्यादज्ञानात्परमस्पृष्टानर्थं पुरुषं पूर्णं दिव्यमखण्डं चिद्धातु-  
मात्मत्वेनाऽऽप्नोतीति मुक्तोपसृप्यत्ववाक्यार्थः । यदा ज्ञानावस्थाया-  
मस्य विदुषो हृदि स्थिताः कामादयस्तन्मूलाऽविद्या च निवर्तते । पुन-  
र्जन्मसंपादककर्माभावावस्थां वक्तुमथेति । धीरो विवेकज्ञानी विवेक-  
ज्ञानमत्र पदार्थज्ञानम् । प्रज्ञामभेदलक्षणवाक्यार्थज्ञानम् । वाक्यार्थज्ञा-  
नार्थत्वेन कर्मकाण्डवैमुख्यं मुमुक्षुणा कार्यमित्याह—नानुध्यायादिति ।  
अनात्मार्थशब्दाध्ययनफलमाह—वाच इति । वाच इत्येतत्कण्ठतात्वा-  
दीनामष्टस्थानानामुपलक्षणम् । वागादिशोषणमेव बहुशब्दचिन्तनफल-  
मित्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मवाद्यायतनं परं ब्रह्म ॥ २ ॥

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ ३ ॥

अनुमीयत इत्यनुमानम् । सांख्यपरिकल्पितं प्रधानं न ब्रह्मवाद्यायत-  
नम् । कस्मात् । अतच्छब्दात् । तस्य प्रधानस्यानुमानस्य शब्दस्त-

(टी० १) मरूपाद्विमुक्तः ' इत्यादिनाऽस्मिन्प्रकरणे व्यपदेशाद्विशेषणोप-  
देशोऽभिधानं तस्मात् ॥ २ ॥

नन्वस्तु मुक्तोपसृप्य ब्रह्म जगत्कारणं च प्रधानं स्यादित्यत आह—  
नानुमानमिति । अनुमीयत इत्यनुमानं प्रधानं नात्र । कुतः । अतच्छ-

(ब्र० व० १) च्छब्दो न सोऽतच्छब्दस्तस्मात् । प्रधानप्रतिपादकशब्दस्याश्रवणादित्यर्थः । प्रत्युत तद्विरोधिशब्दा एव 'यः सर्वज्ञः सर्वविदित्यादयो वर्तन्त इति भावः ॥ ३ ॥

प्राणभृच्च ॥ ४ ॥

प्राणभृज्जीवोऽपि न द्युभ्वाद्यायतनम् । कुतः । अतच्छब्दादेव । यद्यप्यात्मशब्दः साधारणस्तथाऽपि जीवस्य सर्वज्ञत्वं द्युभ्वाद्यायतनत्वं चाऽऽस्येन न संभवतीत्यात्मशब्दस्यातच्छब्दत्वमेव ॥ ४ ॥

जीवनिरासे हेत्वन्तरमाह—

भेदव्यपदेशात् ॥ ५ ॥

न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनं कुतो भेदव्यपदेशात् । 'तमेवैकं जानथ' इति ज्ञातृज्ञेयभावेन व्यपदेशादित्यर्थः । जीवस्य मुमुक्षुत्वेन ज्ञातृत्वात्परिशेषाज्ज्ञेयं द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मेति ॥ ५ ॥

तत्रेव हेत्वन्तरमाह—

प्रकरणात् ॥ ६ ॥

'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातम् ।' [मु० १ । १ । ३] इत्युपक्रमात्परमात्मन एवेदं प्रकरणं न हि जीवज्ञानात्सर्वज्ञानं भवति । तस्मात्प्रकरणादपि न प्राणभृदित्यर्थः ॥ ६ ॥

(दी० १) ब्दात् । तस्य शब्दस्तच्छब्दो न तच्छब्दोऽतच्छब्दस्तस्मात् । प्रधानप्रतिपादकशब्दाभावादित्यर्थः ॥ ३ ॥

चेतनशब्ददर्शनादस्तु तर्हि जीव इत्यत आह—प्राणभृदिति । चकारोऽनन्तरहेतोरनुकर्षणार्थः । प्राणान्बिभर्तीति प्राणभृज्जीवः सोऽपि न । कुतः । 'यः सर्वज्ञः' इत्यादेरतच्छब्दात् ॥ ४ ॥

जीवब्रह्मणोरभेदाज्जीव एवात्र स्यादित्यत आह—अभेदेति । भेदस्य 'तमेवैकं जानथ' इति ज्ञेयज्ञातृभावेन व्यपदेशात् ॥ ५ ॥

जीवब्रह्मणोर्व्यपदेशे कुतो ब्रह्मैवास्याऽऽश्रय इत्यत आह—प्रकरणादिति । ब्रह्मण इति वाक्यशेषः । 'कस्मिन्नु' इत्युपक्रम्यैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानादिकं श्रूयमाणं ब्रह्मण्येवोपपन्नमित्यर्थः ॥ ६ ॥

(ब्र० व० ।) अपि च—

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ ७ ॥

न प्राणभृद्द्युभ्वाद्यायतनम् । कुतः । स्थित्यदनाभ्याम् । स्थितिश्चा-  
दनं च ताभ्यामिति पञ्चमीद्विवचनम् । द्युभ्वाद्यायतनं प्रकृत्य 'द्वा  
सुपर्णा' इति । जीवस्यादनं परमात्मनः स्थितिरिति द्वे निर्दिश्येते ।  
'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इत्यदनम् । 'अनश्नन्नन्यो अभिचाक-  
शीति' इत्यौदासीन्येन स्थितिर्निर्दिश्यते । इदं च द्युभ्वाद्यायतनस्य  
ब्रह्मत्वे घटते नान्यथेति । तस्माद्द्युभ्वाद्यायतनं परं ब्रह्म ज्ञेयमिति  
सिद्धम् ॥ ७ ॥

(प्राणपरेशयोर्मध्ये परेशस्यैव सत्यशब्देन श्रेष्ठत्वम्, (अधि० २)

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ ८ ॥

पूर्वमात्मशब्दाद्द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मेत्युक्तं तदयुक्तम् । 'तरति शोक-  
मात्मवित्' [ छा० ७ । १ । ३ ] इत्यत्राब्रह्माण्यप्यात्मशब्दप्रयोगादि-  
त्याक्षेपसंगत्याऽऽस्याऽऽरम्भः । पूर्वपक्षे प्राणोपास्तिः फलं सिद्धान्ते  
ब्रह्मप्रमितिरिति । एवमेव निर्विशेषवाक्यविचारे पूर्वपक्षे यस्य कस्य  
चिदुपास्तिः सिद्धान्ते ब्रह्मप्रमितिरेवेति बोध्यम् । छान्दोग्ये श्रूयते—'श्रुतं  
ह्येव मे भगवद्बुद्धेश्चैव स्तरति शोकमात्मविदिति । सोऽहं भगवः  
शोचामि तं मा भगवाञ्शोकस्य परं पारं तारयतु' [ छा० ७ । १ ।  
३ ] इति । नारदेन पृष्टः सनत्कुमारो नाम ब्रह्मेत्युपदिदेश । पुनर्नारदः—  
'अस्ति भगवो नाम्नो भूयः' [ छा० ७ । १ । ५ ] इति पप्रच्छ ।  
तस्योत्तरम्—'वाग्वाव नाम्नो भूयसी' [ छा० ७ । २ । १ ] इति ।

(दी० ।) ननु प्रकरणादिना जगत्कारणमेव प्रतीयते नेश्वर इत्यत आह—  
स्थिताति । स्थितिरवस्थितिरनशनमिति यावत् । 'अनश्नन्नन्यो अभि-  
चाकशीति' इति श्रुतेः । अदनं भक्षणम् । 'पिप्पलं स्वाद्वत्ति' इति  
श्रुतेः । स्थितिश्चादनं चाऽऽभ्यामीश्वरो जीवादन्यः सिद्धः । नचेश्वरा-  
दन्यत्र जगत्कारणत्वमिति चकारार्थः । कृत्वा चिन्तेयम् ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरण आत्मशब्दाद्द्युभ्वाद्यायतनं ब्रह्मेत्युक्तं तत्राऽऽत्मशब्दः  
प्राणे नैकान्त इत्याक्षिप्य समाधत्ते—भूमेति । बहोर्भावो भूमा । 'यो

(ब० व० १) तथा 'अस्ति भगवो वाचो भूयः' [छा० ७।२।२] इति प्रश्ने 'मनो वाच वाचो भूयः [छा० ७।३।१] इत्युत्तरम् । एवं प्राणपर्यन्तं भूयः प्रश्नोत्तरे दृश्यते । प्राणोपदेशानन्तरं च प्रश्न विनैवेदं श्रूयते—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' [छा० ७।१६।१] इति । 'भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति भूमानं भगवो विजिज्ञास इति [छा० ७।२३।१] यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाऽथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पम्' छा० ७।२४।१] इत्यादि । अस्यार्थः—नाहमे सुखमस्तीति भूमैव सुखम् । तस्मान्निरतिशयं सुखमिच्छता भूमैव विजिज्ञासितव्यो विशेषेण ज्ञातुमेष्टव्य इति सनत्कुमारेणोक्ते मुमुक्षुर्नारदस्तदुपश्रुत्य भगवन्भूमानमेव विशेषेण ज्ञातुमिच्छामीत्याह—भूमानं भगव इति । भूम्नो लक्षणमाह—यत्रेति । व्यवहारातीतं पूर्णं वस्त्वेव भूमेत्यर्थः । लक्षणं व्यतिरेकमुखेण स्पष्टयितुं परिच्छिन्नलक्षणमाह—अथेति । एवं स्थिते संशयः किं प्राणो भूमेति परमात्मेति । 'प्राणो वा आशाया भूयान्' [छा० ७।१५।१] इति पूर्वं प्राणस्य संनिधानात्प्राणो भूमेति युक्तम् । न च 'तरति शोकमात्मवित्' इति प्रश्नवाक्य आत्मोपक्रमे प्राणात्मप्रकरणात्संनिधेर्बलत्वमिति वाच्यम् । नाम ब्रह्मेत्युपास्स्वेति समाधानवाक्ये नामादेरब्रह्मण एवोपदेशेन प्रश्नस्थात्मशब्दस्यापि नामादिपरत्वेनानात्मपरत्वादात्मप्रकरणासिद्धेः । प्रश्नोत्तरयोरेकार्थत्वनियमात् । तस्मात्प्राणो भूमेति प्राप्ते भूमः—भूमा परमात्मैव । कुतः । संप्रसादादध्युपदेशात् । सम्यक्प्रसीदत्यास्मिन्नीवस्वरूपमिति संप्रसादः सुषुप्त्यवस्था । तस्यां चावस्थायां प्राणो जागर्ति । संप्रसादशब्देन प्राण उच्यते । प्राण दूर्ध्वं भूम्न उपदेशादित्यर्थः । प्राणोपदेशानन्तरम्—'एष तु वा अतिवदति यः सत्येनातिवदति' इति तुशब्देन प्राणवादस्यानतिवादत्वमुक्त्वा सत्यशब्दवाच्यपरमात्मवादस्यातिवादत्वं ब्रुवन्भूमानमुपदिदेश । अतो भूम्नः प्राणादूर्ध्वमुपदेश इति गम्यते । किं च तरति शोकमात्मविदिति आत्मप्रकरणाद्भूमा परमात्मा । न च प्रकरणासिद्धिः । आत्मोपदेशार्थं नामाद्युपदेशेन नाम ब्रह्मेत्युपास्स्वेत्यादेस्तरति शोकमात्मविदिति प्रश्नोत्तरत्वासिद्धेः । अतो भूमा परमात्मा नामादि-

(दी० १) वै भूमा' इत्यादौ परमात्मैव स्वीकरणीयः । कुतः । संप्रसादादध्युपदेशात् । सम्यक्प्रसीदत्यस्यामवस्थायामिति सुषुप्तिः संप्रसादस्तथा

( ब्र० व० । ) प्राणान्तमतीत्य सत्यशब्दवाच्यात्मोत्कृष्ट इति यो वदति स एषोऽतिवादीति श्रुत्यर्थः ॥ ८ ॥

धर्मोपपत्तेश्च ॥ ९ ॥

किं च यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादिनोक्तानां सर्वव्यवहाराभावादिधर्माणां परमात्मन्येवोपपत्तेः परमात्मैव भूमा । ‘ यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत् ’ [ बृ० ४ । ५ । १५ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरे सर्वव्यवहाराभावस्य परमात्मधर्मत्वेनावगतत्वात् । ‘ यो वै भूमा तत्सुखं नात्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम् ’ इति दुःखसहितसुखनिराकरणेन भूम्नः सुखत्वं दर्शितं ब्रह्मधर्मः । एवं ‘ यो वै भूमा तदसुतम् ’ इति श्रूयमाणमसुतत्वं ब्रह्मधर्मः । ‘ अतोऽन्यदार्तम् ’ [ बृ० ३ । ४ । २ ] इति श्रुतेः । आर्तमार्तिमद्विनाशीति यावत् । एवं स्वे महिम्नि प्रतिष्ठितत्वं सर्वगतत्वं सर्वात्मकत्वं चैते धर्मा ब्रह्मण्येवोपपद्यन्ते । तस्मात्प्राणो नोपास्यः किंतु भूमा परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ ९ ॥

( प्रणवब्रह्मणोर्मध्ये ब्रह्मण एवाक्षरशब्दवाच्यत्वम्, अधि० ३ )

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १० ॥

पूर्वं सत्यशब्दस्य ब्रह्माणि रूढत्वाद्भूमा ब्रह्मेत्युक्तं तद्वदत्राप्यक्षरशब्दस्य वर्णेषु रूढत्वाद्गर्ण एवाक्षरमस्त्विति दृष्टान्तसंगतिः । ओंकाररूपोपास्तिब्रह्मज्ञानमित्युभयत्रफलम् । बृहदारण्यके श्रूयते—‘ कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति स होवाचैतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु ’ [ बृ० ३ । ८ । ७ । ८ ] इत्यादि । अस्यार्थः—यदूर्ध्वं दिवो यदधस्तात्पृथिव्या ये चोभे द्यावापृथिव्यौ यदन्तरिक्षं

( दी० । ) तस्यामवस्थायां स्थितः प्राणो लक्ष्यते । संप्रसादादधि उपरि एष त्वित्यादिनोपदेशादभिधानात् ॥ ८ ॥

ननु ‘ प्राणो ह पिता ’ इत्यादिना प्राणस्यापि भूमा श्रुत इत्यत आह—धर्मेति । धर्माणां ‘ यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति ’ इत्यादीनां तस्मिन्परमात्मन्युपपत्तेश्च । चकारस्तेषां प्राणेऽनुपपत्तिं चाऽऽह ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे प्राणसार्वात्म्यं गौणमित्युक्तम् । तत्राब्रह्मणोऽपि प्रणवस्य सार्वात्म्यदर्शनमित्याक्षिप्य समाधत्ते—अश्रुत इत्यक्षरं न क्षर-

(६० ब० १) यद्धृतं भवद्धविष्यच्च तत्सर्वं कस्मिन्नोतं प्रोतं चेति गार्ग्या प्रश्ने कृते याज्ञवल्क्येनाऽऽकाशे तत्सर्वमोतं प्रोतं चेति निरस्ते गार्गी पुनरपु-  
च्छदाकाशोऽव्याकृताख्यः कस्मिन्नोतप्रोतत्वेन तिष्ठतीति तत्र संशयः ।  
किमक्षरशब्देन वर्णं उच्यत उत ब्रह्मेति । अक्षरसमाम्नाय इत्यादावक्षर-  
शब्दस्य वर्णे प्रसिद्धत्वाद्गर्ण एवाक्षरशब्दवाच्य इति प्राप्ते ब्रूमः—अक्षरं  
ब्रह्मैव । कुतः । अम्बरान्तधृतेः । पृथिव्यादेराकाशान्तस्य विकारजा-  
तस्य धारणादित्यर्थः । विषयवाक्यार्थकथनसमयेऽम्बरान्तधारणं प्रति-  
पादितम् ॥ १० ॥

ननु अम्बरान्तधृतिः प्रधानेऽपि संभवतीत्यत आह—

सा च प्रशासनात् ॥ ११ ॥

सा च धृतिः परमेश्वरस्यैव कर्म नान्यस्याचेतनस्य । कुतः । प्रशास-  
नात् । 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ  
तिष्ठतः' [ बृ० ३ । ८ । ९ ] इत्यादिना प्रशासनश्रवणादित्यर्थः ।  
प्रशासनं नामाऽऽज्ञा सा च चेतनस्यैव नाचेतनस्य प्रधानस्येति ।  
तस्मादक्षरं ब्रह्म ॥ ११ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १२ ॥

इतश्च परमात्मैवाक्षरशब्दवाच्यस्तस्यैवेश्वरस्य प्रशासनं कर्म । कुतः ।  
अन्यभावव्यावृत्तेः । अन्यस्य प्रधानादेर्भावो धर्मोऽन्यभावस्तद्यावृत्ते-  
स्तद्विपरीतधर्मश्रवणादित्यर्थः । 'तद्वा एतदक्षरं गार्ग्यदृष्टं द्रष्टृश्रुतं  
श्रोत्रमतं मन्त्रविज्ञातं विज्ञातु' [ बृ० ३ । ८ । ११ ] इति द्रष्टृत्वादयो  
नाचेतने संभवन्ति तस्माद्द्रष्टृत्वादिसमानाधिकरणप्रशासनवान्परमात्मै-  
वाक्षरम् । 'नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ नान्यदतोऽस्ति श्रोतु नान्यदतोऽस्ति

(दी० १) तीरिति वा । 'एतद्वै तदक्षरम्' इत्याद्युक्तं ब्रह्मैव । कुतः । अम्बरान्त-  
धृतेः । अम्बरमाकाशमव्याकृतं तदन्ते यस्य तदिदमम्बरान्तं तस्य धृति-  
धारणं तस्याः ॥ १० ॥

धृतिरप्यचेतनस्य किं न स्यादित्यत आह—सा चेति । सा च धृतिः  
परमेश्वरस्यैव कर्म । कुतः । प्रशासनात् । प्रकर्षेण शासनं प्रशासनम् ।  
'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी' इत्यादिश्रुतेस्तस्मात् ॥ ११ ॥

अस्तु प्रशासनमप्यौपचारिकमित्यत आह—अन्येति । अन्यस्याचेत-  
नस्य भावोऽचेतनत्वं तस्माद्व्यावृत्तिः पृथक्करणम् । 'अक्षरस्य प्रशा-

(ब्र० व० १) मन्तु नान्यदतोऽस्ति विज्ञातृ' इति ब्रह्माद्यन्तरनिषेधाच्च न जीवोऽप्यक्षरमिति । तस्मादक्षरं ब्रह्म ज्ञेयमिति सिद्धम् ॥ १२ ॥

( परापरब्रह्मणोर्मध्ये परब्रह्मण एक त्रिमात्रेण प्रणवेन ध्येयत्वम्, अधि० ४ )

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ॥ १३ ॥

पूर्वमोकारस्य पूर्वपक्षत्वेन बुद्धौ सांनिध्यात्तस्मिन्नोकारे ध्यातव्यमिह निरूप्यत इति बुद्धिसांनिध्यसंगतिः । यद्वा पूर्वमक्षरशब्दस्य वर्णे रूढस्यापि जगद्वृत्तिलक्षणलिङ्गेन ब्रह्मणि न क्षरतीति व्युत्पत्त्याऽचलत्वा-  
दनादित्वाव्यापित्वाद्वा भोगवृत्तिराश्रिता तद्वदिहापि देशपरिच्छिन्नफ-  
लश्रुतिलिङ्गेन परशब्दस्याऽऽपेक्षिकपरत्वविशिष्टे हिरण्यगर्भे वृत्तिरस्त्विति  
दृष्टान्तसंगतिः । कार्यब्रह्मण उपास्तिः पूर्वपक्षफलं सिद्धान्ते परब्रह्मो-  
पास्तिरिति भेदः । आथर्वणे श्रूयते—' एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च  
ब्रह्म यदोकारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ' [ प्र० ५ । २ ]  
इति प्रकृत्य ' यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभि-  
ध्यायीत ' [ प्र० ५ । ५ ] इत्यादि । अस्यार्थः—पिप्पलादो नामाऽऽचार्यः  
सत्यकामेन पृष्ठो व्याचष्टे हे सत्यकाम परं निर्विशेषमपरं च कार्यं ब्रह्म  
यत्तदेतदेव योऽयमोकारः स हि प्रतिमेव विष्णोस्तस्य प्रतीकस्तस्मात्प्र-  
णवं ब्रह्मात्मना विद्वानेतेनोकारध्यानायतनेन प्राप्तिसाधनेन परापरयो-  
रेकतरमन्वेति यथाध्यानं एकमात्रे द्विमात्रे वा हिरण्यगर्भोपास्तिं कुर्या-  
दिति दर्शयित्वा ब्रवीति—यः पुनरोमित्येतदक्षरं त्रिमात्रमिति । तृतीया  
द्वितीयात्वेन नेया ब्रह्मोकाराभेदोपक्रमात् । तथाविधमक्षरं सूर्यान्तस्थं  
परं ध्यायीतेति । स उपासकः सूर्यं प्राप्तः सामभिर्ब्रह्मलोकं प्रति नीयत  
इति । अत्र संशयः । किमपरं ब्रह्म ध्यातव्यमुपदिश्यते किं वा परं  
ब्रह्मेति । अपरमिति प्राप्ते ब्रूमः—स ध्यातव्यः परमात्मैव । कुतः ।  
ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । वाक्यशेषे ध्यातव्यस्येक्षतिकर्मत्वेन व्यपदेशादि.

(दी० १) सितुरिदं दृष्टम्' इत्यादिना । चकार उपचारनिवारणार्थः ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणेऽक्षरशब्दवाच्यं ब्रह्म प्रशासनादित्युक्तम् । इदानीम्  
' तदपरमेव ब्रह्म ध्यायीत ' इति ब्रह्मलोकफलदर्शनादिति बुद्धिसं-  
निधानादाक्षिप्य समाधत्ते—ईक्षतीति । ' परं पुरुषमभिध्यायीत ' इति



(ब्र० व० १)त्यर्थः । 'स एतस्मात्पराज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते' [ प्र० ५ । ५ ] इति । स ध्याता । जीवघनशब्देन ब्रह्मलोक उच्यते । सकलजीवाभिमानिहिरण्यगर्भाधारत्वात् । तथा च ब्रह्मलोकाह्लोकान्तरापेक्षया परात्परं पुरुषं परमात्मानमीक्षते साक्षात्करोतीत्यर्थः । ईक्षतिपदार्थस्य दर्शनस्य लोके यथार्थविषयकत्वाद्यथार्थस्वरूपपरमात्मैवेक्षतिकर्मेति तत्समानविषयकध्यानस्यापि परमात्मैव विषयः । ध्यानेक्षणयोरेकविषयत्वनियमात् । 'यथा पादोदरस्त्वचा निर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुच्यते' इति पापविनिर्मोकफलवचनं परमात्मानं ध्येयं सूचयति । पादोदरः सर्पः । तस्मात्क्रममुक्त्यर्थमोकारे ध्यातव्यः परमात्मेति सिद्धम् ॥ १३ ॥

(दहराकाशत्वेन प्रतीयमानानां वियज्जीवब्रह्मणां मध्ये ब्रह्मण एव तदाकाशवाच्यत्वम्, अधि० ५ ।)

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १४ ॥

पूर्वं परमपुरुषशब्दस्य ब्रह्मणि रूढत्वाद्वहोपास्यमित्युक्तं भवति तद्वदिहाप्याकाशशब्दस्य भूताकाशे रूढत्वात्तस्यैवोपास्यत्वमस्त्विति दृष्टान्तसंगतिः । पूर्वपक्ष आकाशाद्युपास्तिः फलं सिद्धान्ते परोपास्तिद्वारा प्रमितिरिति च्छान्दोग्ये भूमविद्यानन्तरं श्रूयते—'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यम्' [ छा० ८ । १ । १ ] इत्यादि । अस्यार्थः—विद्यान्तरारम्भार्थोऽथशब्दः । यदिदमिति प्रसिद्धं हृदयं परामृष्टम् । अस्मिन्निति प्रत्यक्षत्वोक्तिः । ब्रह्मपुरं शरीरम् । तस्मिन्दहरं सूक्ष्मं हृत्पुण्डरीकं तदाधारत्वात् । हृदयस्य वेश्मत्वं संपादयति—दहर इति । दहरः सूक्ष्मोऽस्मिन्हृदयेऽन्तराकाशः परमात्मा सदा तिष्ठ-

(दी० १)परः पुरुषः परमात्मा । कुतः । ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् । स एतस्मादित्यादिना पुरुषमीक्षत इत्यन्तेनेक्षतिकर्मणो व्यपदेश ईक्षणमीक्षतिस्तस्य कर्म तद्याप्यं तस्य व्यपदेशस्तस्मात् । स एव चेह परपुरुषशब्दाभ्यामभिध्यातव्यः प्रत्यभिज्ञायते ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरण ईक्षतिध्यायतिकर्मणोः परपुरुषत्वेन प्रत्यभिज्ञानादैक्ये सति ध्यायतिकर्म परब्रह्मेत्युक्तम् । तदयुक्तम् । दहरवाक्योपक्रमोक्तजी-

(ब्र० व० १) तीत्यर्थः । तस्मिन्हृदये व्यवहितत्वेऽपि योग्यत्वात्तच्छब्देन हृद-  
यपरामर्शः । तदाकाशाख्यं ब्रह्मान्वेष्ट्यं विचार्यं विजिज्ञासितव्यं ज्ञेय-  
मिति । अत्र दहरपुण्डरीके यो दहराकाशः श्रुतः स किं भूताकाश आहो-  
स्वित्परमात्मेति संशये प्रसिद्धिबलाद्भूताकाश इति प्राप्तम् । यद्वा ब्रह्मपुर-  
शब्देन शरीरमभिदधता तत्त्वामिजीवोपस्थितेर्जीवो दहर इति प्राप्ते  
ब्रूमः—दहराकाशः परमात्मैव । कस्मात् । उत्तरेभ्यो वाक्यशेषगतेभ्यो  
हेतुभ्यः । तथा हि जिज्ञास्यत्वेनाभिहितस्य दहरस्याऽऽकाशस्य तं  
चेद्ब्रूयुरित्युपक्रम्य ‘ किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासित-  
व्यम् ’ [ छा० ८ । १ । २ ] इत्याक्षेपपूर्वकं समाधानवाक्यम् । ‘ स  
ब्रूयाद्यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्धा-  
वापृथिवी अन्तरेव समाहिते ’ [ छा० ८ । १ । ३ ] इत्यादिकमाका-  
शोपमानत्वं द्यावापृथिव्यधिष्ठानत्वेन दर्शयति । श्रुत्यर्थस्तु—तमाचार्यं  
शिष्या ब्रूयुः किमिति ब्रूयुः—किं तदिति । हृत्पुण्डरीकमेव तावदल्पं  
तस्मिन्विद्यमानाकाशोऽपि तत् इत्येतत्पुण्डरीके किमस्ति यच्छ्रुतियुक्ति-  
भ्यामन्वेष्टव्यं यद्वाव साक्षात्कर्तव्यमित्यल्पतः शेषेण दहरस्य ज्ञेयत्वमा-  
क्षिप्तं शिष्यैः । तत्र समाधानम्—स ब्रूयादिति । स आचार्यो ब्रूयात्कि-  
मिति यावानिति । अस्मिन्निति दहराकाशोक्तिः । अल्पत्वदोषश्चाऽऽ-  
काशोपमानेन निराकृतः । तथा च द्यावापृथिव्याद्यधिष्ठानमाकाशोपमितं  
तद्दहराकाशाख्यं ब्रह्मैव । एवम्—‘ एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्यु-  
र्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः [ छा० ८ । १ । ५ ] इति  
चाऽऽत्मत्वापहतपाप्मत्वादयो गुणा न भूताकाशे जीवे वा संभवन्तीति ।  
जीव आत्मत्वसंभवेऽप्युत्तरगुणानामसंभवो बोध्यः । विमृत्युर्मरणरहितः ।  
विजिघत्सो विगता जिघत्साऽऽत्तुमिच्छा यस्य स विजिघत्सः । तथा  
‘ तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः  
क्षीयते ’ [ छा० ८ । १ । ६ ] इति कर्मणामन्तवच्चमुक्त्वा, ‘ अथ य  
इहाऽऽत्मानमनुविद्य ब्रजन्त्येतांश्च सत्यान्कामांस्तेषां सर्वेषु लोकेषु काम-  
चारो भवति ’ [ छा० ८ । १ । ६ ] इति प्रकृतदहराकाशविज्ञानस्या-

(दी० १) वस्य वाक्यशेषे स उत्तमपुरुष इति शब्दाभिधानात्तद्वत्परपुरुषशब्द-  
स्याप्यब्रह्मविषयत्वसंभवादाक्षिप्य समाधत्ते—दहर इति । ‘ दहरोऽस्मिन् ’

(ब्र० व० १) नन्तफलवत्त्वं वदन्परमात्मत्वमस्य सूचयति । सत्यान्कामांश्चेति चकारेण तेषामप्युपास्यत्वमुक्तम् । तथा च सत्यकामादिगुणकमात्मानमनुविद्यानुभूय ये परलोकं व्रजन्ति तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारः स्वेच्छया संचरणमप्रतिहतमनन्तमैश्वर्यं भवतीत्यर्थः । तस्मादेतेभ्य उत्तरेभ्यो हेतुभ्यो दहराकाशः परमात्मा ॥ १४ ॥

गतिशब्दाभ्यां तथा हि दृष्टं लिङ्गं च ॥ १५ ॥

उत्तरेभ्य इत्यस्य प्रपञ्चोऽयम् । किंच 'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति' [ छा० ८ । ३ । २ ] इति दहरवाक्ये प्रकृतं परमेश्वरं ब्रह्मलोकशब्दमभिधाय प्रजाशब्दवाच्यानां जीवानां प्रत्यहं तद्विषया गतिरुच्यमाना गन्तव्यस्य दहराकाशस्य ब्रह्मतां गमयति । गतिं ब्रह्मलोकशब्दं चाभिप्रेत्य गतिशब्दाभ्यामित्युक्तं सूत्रकारैः । प्रत्यहं सुषुप्त्यवस्थायां जीवस्य ब्रह्मगमनम् । तथा हि दृष्टं श्रुत्यन्तरे—'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [ छा० ६ । ८ । १ ] इत्यादौ । तथा च दहराकाशगमनं ब्रह्मगमनमेवेति दृढीकृतं तथा हि दृष्टमित्यनेन । प्रत्यहं हिरण्यगर्भब्रह्मलोकगमनासंभवाद्ब्रह्मैव लोक इति कर्मधारयसमास एव ग्राह्य इत्यस्मिन्नर्थेऽहरहर्गमनमेव लिङ्गमित्यनेनोक्तम् । चशब्देन निषादस्थ\*पतिन्यायोऽपि कर्मधारयग्रहणे सूचितः ॥ १५ ॥

(दी०) इति वाक्ये दहरः सूक्ष्मः परमात्मा । कुतः । उत्तरेभ्यो हेतुभ्यः । 'यावान्वा अयमाकाशः' इत्यादिनोक्तेभ्यः ॥ १४ ॥

ननु ब्रह्मपुरुषशब्दश्रवणात् कुतो न जीव इत्यत आह—गतिशब्दाभ्यामिति । गतिर्गमनं शब्दो ब्रह्मलोकशब्दः । 'अहरहर्गच्छन्त्येतं ब्रह्मलोकम्' इति श्रुतेः । गतिश्च शब्दश्च गतिशब्दौ ताभ्यां गतिशब्दाभ्यां दहरः सः । तथा हि दृष्टं हि यथाऽत्र तथा श्रुत्यन्तरेऽपि 'सता सोम्य' इत्यादिकेऽहरहर्ब्रह्मगमनं दृष्टमवगतम् । न च ब्रह्मणो लोक इति वैयधिकरणं यत एतदेवाहरहर्गमनं लिङ्गमपि सामानाधिकरण्ये ॥ १५ ॥

\* एतया निषादस्थपतिं याजयेत् । द्विजः स्थपतिरन्यो वा द्विजः षष्ठी समासतः । कर्मधारयमुख्यत्वान्निषादो रौद्रयागकृत् ।

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १६ ॥

(ब० व० १) धृतेरपि हेतोः परमेश्वर एव दहराकाशः । अनतिक्रान्तप्रकरणं दहराकाशं निर्दिशति—‘ अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम-  
\*संभेदाय ’ [छा० ८ । ४ । १] इति । विधृतिरिति किन्नन्तत्वाद्विधारक उच्यते । सेतुशब्देन वर्णाश्रमाद्यसंकरहेतुत्वमुच्यते । न हि सर्वलोक-  
विधारकत्वं ब्रह्मणोऽन्यस्य संभवति । अस्य च विधारणलक्षणमहिम्नोऽ-  
स्मिन्परमात्मन्यन्यत्रापि श्रुत्यन्तर उपलब्धेः परमात्मलिङ्गत्वमेव ।  
‘ एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ’  
[बृ० ३ । ८ । ९] इति । तथा—‘ एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष  
भूतपाल एष सेतुर्विधारण एषां लोकानामसंभेदाय ’ [बृ० ४ । ४ ।  
२२] इति ॥ १६ ॥

प्रसिद्धेश्च ॥ १७ ॥

दहराकाशशब्दोऽपि परमात्मन्येव प्रसिद्धो न जीवे । ‘ आकाशो  
ह वै नामरूपयोर्निर्वहिता ’ [छा० ८ । १४] ‘ सर्वाणि ह वा इमानि  
भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते ’ [छा० १ । ९ । १] इत्यादिदर्शनात् ।  
यद्यप्याकाशशब्दस्य भूताकाशोऽपि प्रसिद्धिरस्ति तथाऽपि ‘ यावान्वाऽ-  
यमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाशः ’ इति तस्योपमानत्वेन ग्रहणा-  
न्नोपमेयदहराकाशत्वं संभवतीति दहराकाशः परमेश्वर एव ॥ १७ ॥

(दी० १) नन्वाकाशोपमया गगनं गगनाकारमिति न्यायेनाऽऽकाश एव  
जीवो वा कुतो न स्यादित्यत आह—धृतेरिति । धारणं धृतिस्तस्याः । ‘ स  
सेतुर्विधृतिः ’ इति श्रुतेर्दहरः परमात्मैवास्यासाधारणस्य महिम्नः  
प्रभावस्यास्मिन्परमेश्वरे ‘ सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ’ इत्यादिनोप-  
लब्धेरुपलम्भात् ॥ १६ ॥

ननु भूताकाश एव किं दहरो न स्यादित्यत आह—प्रसिद्धेरिति ।  
प्रसिद्धिर्वैदिकी ‘ आकाशो वै नाम ’ इत्यादिना तस्याः । चकारोऽन्य-  
स्यानुपपत्त्यर्थः ॥ १७ ॥

\* असंकरायेत्यर्थः ।

इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् ॥ १८ ॥

(ब्र० व० १) ननु 'य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत एष आत्मेति होवाच' [ छा० ८ । ३ । ४ ] इति संप्रसादशब्देनेतरस्य जीवस्याप्यस्मिन्प्रकरणे परामर्शात्स जीवो दहराकाशोऽस्त्विति चेन्न । असंभवाज्जीव आकाशोपमेयत्वापहतपाप्मत्वादीनामसंभवादित्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु—य एष इति सर्वनामभ्यां विद्वानुक्तः । तमेव सुतं सर्वकालुष्यनिर्मुक्तं वक्ति—संप्रसाद इति । संप्रसादशब्देन सुषुप्त्यवस्थावाचकेनावस्थानुच्यते । अस्मादभिमानद्वयविषयाच्छरीरात्स्थूलसूक्ष्मशरीरद्वयात्समुत्थाय विविक्तमात्मानं ज्ञात्वा । विवेकज्ञानं चात्र श्रवणमनननिदिध्यासनानि । तत्फलमाह—अभिनिष्पद्यत इति । अभिनिष्पत्तिः साक्षात्कारः । अस्य फलमाह—परमिति । उपसंपद्य निष्पद्यत इत्येतन्मुखं व्यादाय स्वपितीतिवद्द्रष्टव्यम् । ज्योतिःशब्दस्य सूर्यादिपरत्वभ्रमं वारयति—एष इति । गुरुरिति शेषः ॥ १८ ॥

( अक्षिपुरुषत्वेनाऽऽपाततः प्रतीयमानयोर्जीवपरेशयोः परेशस्यैव तत्पदवाच्यत्वम्, अधि० ६ )

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १९ ॥

नन्वपहतपाप्मत्वादीनामसंभवान्न जीवो दहराकाश इत्यसंगतम् । श्रुतिबलेन जीवस्याप्यपहतपाप्मत्वादिसंभवात् । तथा हि दहरविद्याया उपरि प्रजापतिविद्यायाम्—' य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति होवाच ' [ छा० ८ । ७ । ४ ] इति जाग्रदवस्थापन्नं द्रष्टारं जीवमुपक्रम्य ' एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि ' [ छा० ८ । ९ । ३ ] इति जीवमेव परामृश्य ' य एष स्वप्ने महीयमानश्चरत्येष आत्मा ' [ छा० ८ । १० । १ ] इति । तद्यत्रैतत्सुतः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न

(क्षि० १) इतरेति । इतरस्य जीवस्य परामर्शो लिङ्गम् । ' अथ य एष संप्रसादः ' इत्यादि । तस्मात्स जीवो दहर इति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । असंभवात् । ' यावान्वा अयमाकाशः ' इत्यादेर्लिङ्गस्येति शेषः ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणेऽपहतपाप्मत्वादयो धर्मा उक्तास्ते जीवेऽपि संभवेयुरित्याक्षिप्य समाधत्ते—उत्तरादिति । बृ(द)हरस्य गर्भभूतमेतत् ।

(ब्र०व०।०)विजानात्येष आत्मा ' [छा० ८।११।१] इत्यवस्थात्रयविशिष्टं जीवमेव प्रतिपाद्य तस्यैव जीवस्यापहतपाप्मत्वादि दर्शयति—' एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म ' इति । 'नाह खल्वयमेवं संप्रत्यात्मानं जानात्ययमहमस्मीति नो एवेमानि भूतानि ' [छा० ८।११।२] इति सुषुप्त्यवस्थायामिन्द्रेणोक्तं दोषमुपलभ्य पुनः प्रजापतिः ' एतं त्वेव ते भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नो एवान्यत्रैतस्मात् ' [छा० ८।११।३] इत्युपक्रम्य शरीरानिन्दापूर्वकम् ' एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्यद्यते स उत्तमः पुरुषः ' [छा० ८।१२।१] इति जीवमेव शरीरात्समुत्थितमुत्तमपुरुषं दर्शयति । तस्मादपहतपाप्मत्वादीनां श्रुतिबलाज्जीवे संभवाज्जीवो दहराकाश इत्युत्तराच्चेदिति सूत्रावयवार्थः । उत्तराद्य एषोऽक्षिणीत्यादिवाक्यात् । श्रुत्यर्थस्तु—इन्द्रविरोचनौ खलु सुरासुरराजानावात्मानं विविदिषन्तौ समित्पाणी प्रजापतिं जग्मतुः । आगत्य द्वात्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः । अथैतौ प्रजापतिरुवाच किंकामाविह स्थो युवामिति । तावूचतुः । य आत्माऽपहतपाप्मा तमावां विविदिषाव इति । ततः प्रजापतिरुवाच । प्रथमं य एषोऽक्षिणीति जाग्रदवस्थायामक्षिस्थानः सन्यो दृश्यते शाश्वतः स आत्माऽपहतपाप्मेत्युवाच । य एवापहतपाप्मत्वादिगुणः ' एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्म ' [छा० ८।११।१] इति । एतच्छ्रुत्वा तावप्रक्षीणकल्मषतयाऽक्षिनिष्ठच्छायापुरुषमात्मत्वेन गृहीत्वा पुनः प्रजापतिं पप्रच्छतुः । अथ योऽयं भगवोऽप्स्वादृशं खड्गदादौ च दृश्यते कतम एतेष्वसावथवा सर्वेष्वेष एवेति तमेतं प्रश्नं श्रुत्वा प्रजापतिरेतौ भ्रान्ताविति ज्ञात्वा यदि वयं युवां भ्रान्तौ स्थ इति ब्रूमस्तदा दौर्मनस्येन तत्त्वं न गृह्णीयातामित्यनयोराशयमनुरुध्य प्रत्युवाच—उदशराव आत्मानमीक्षेथां तत्र यद्दृश्यते तन्मां प्रति ब्रूतमिति । तौ दृष्ट्वा संतुष्टहृदयौ नाब्रूतामथ प्रजापतिरेतौ विपरीतग्राहिणौ मा भूतामित्याशयवान्पप्रच्छ किमत्र पश्यतमिति । तौ होचतुर्नखलोमादिमन्तं प्रतिबिम्बपुरुषमुदशरावेऽपश्यावेति । उत्पत्तिनाशवत्त्वाद्यथा शरीरमात्मा न भवति एवं छायापुरुषोऽपि नाऽऽत्मेत्येव तौ जानीयातामित्याशयवान्प्रजापतिरुवाच—साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ भूत्वा पुनरुदशरावे पश्यतमात्मानमिति । तौ साध्वलंकृतौ सुवसनौ छिन्ननखलोमानौ भूत्वा तथैव

(दी०।)उत्तरात् 'य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यते' इति प्राजापत्याद्वाक्याज्जी-

(ब्र० व० १) चक्रतुः । पुनः प्रजापतिना पृष्टौ तमेव च्छायात्मानमूचतुः । तदुप-  
 श्रुत्य प्रजापतिर्बताहो अद्यापि भ्रमो न शान्तोऽनयोरिति मत्वाऽऽत्मतत्त्वं  
 कथयामि सौ तेन कल्मषक्षयेऽस्मद्वाक्यसंदर्भपर्यालोचनयाऽऽत्मतत्त्वं  
 प्रतिपत्स्येते स्वयमेवेत्युवाच 'य आत्माऽपहतपाप्मा एतदमृतमभयमेत-  
 द्ब्रह्म' इति । तयोर्मध्ये विरोचनो देहानुसारित्वाच्छायाया देह एवाऽऽ-  
 त्मतत्त्वमिति मत्वा स्वगृहमागत्य तथैवासुरानुपदिदेश । इन्द्रस्तु स्वगृ-  
 हमागच्छन्मार्ग एव च्छायात्मनोऽनित्यत्वादिदोषं चिन्तयित्वा पुनः  
 समित्पाणिः सन्प्रजापतिसमीपमागत्य तेन पृष्टः सन्मार्गे चिन्तितमुवाच ।  
 प्रजापतिस्तु ह इन्द्र त्वं कल्मषक्षयार्थं पुनर्द्वात्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यं  
 चराथ प्रक्षीणकल्मषाय तेऽहमेतमात्मानं भूयोऽनुव्याख्यास्यामीति अवो-  
 चत् । स तथा चरितब्रह्मचर्यः प्रजापतिमुपससाद् । उपसन्नायेन्द्राय  
 प्रजापतिर्व्याचष्टे योऽक्षिणि पुरुषो दर्शितः प्रथमपर्याये सोऽयमेव स्वप्ने  
 वासनामयैर्वनितादिभिर्विषयैर्महीयमानः सेव्यमानोऽनेकविधान्भोगान्भु-  
 ञ्जानो विहरतीति यावत् । इदं श्रुत्वा देवेन्द्रः शोकमयादिविविधतापा-  
 नुभवान्न स्वप्ने किं तदस्तीत्युवाच । एवमुक्तवति मघवति प्रजापतिः  
 पुनर्द्वात्रिंशद्वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चराद्याप्यक्षीणकल्मषोऽसीति चरित्वा  
 गतायेन्द्राय प्रजापतिर्व्याचष्टे । योऽयमाद्यद्वितीयपर्याययोराक्षिणि स्वप्ने  
 चाऽऽत्मा दर्शितः स एष सुषुप्त्यवस्थायां प्रकाश इत्याह—तद्यत्रैतत्सुप्त  
 इति । तदेतदिति संबन्धः । यत्र यस्यां सुषुप्त्यवस्थायामेतत्स्वपनं यथा  
 स्यात्तथा सुप्तस्तस्यामवस्थायामुपसंहृतकरणग्रामः समस्तः करणव्यापा-  
 रकृतकालुष्यहीनः संप्रसन्नः स्वप्नमज्ञानमात्रतया विलापयन्मुक्ताद्यावृत्तः  
 स्वप्नप्रयुक्ततैजसत्वं विहाय प्राज्ञो भूत्वा ज्ञानक्रियां विना स्वरूपचैतन्ये-  
 नाज्ञानसाक्षी साक्ष्यस्य देहादेः सत्तास्फूर्तित्वादात्मेत्यर्थः । इदं श्रुत्वा  
 पुनरिन्द्रो न किञ्चिदज्ञायतेत्याह—नाहेति । अहेति निपातः खेदार्थः ।  
 खिद्यमानो ह्यिन्द्र उवाचायं सुप्तः पुरुषोऽयमस्म्यहमित्येवमात्मानमस्या-  
 मेवावस्थायां न जानातीमानि भूतानि नो एव जानाति विनाशमेव  
 प्राप्तो भवति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीत्येवं दाषं दृष्ट्वा पुनः प्रजापतिमु-  
 पससाद् । उपसन्नं पुनरुवाच बताद्यापि ते कल्मषक्षयो नाभवत्तदर्थं पुनः  
 पञ्च वर्षाणि ब्रह्मचर्यं चरेत् । तदेवमेकोत्तरशतं ब्रह्मचर्यं चरेत् सहस्राक्षाय  
 ब्रह्मचर्यसंपन्नमृदितकषायाय प्रजापतिर्व्याचष्टे योऽयमाद्यद्वितीयतृतीयप-

(दो० १) वोऽत्र चेद्यदितन्न । कुतः । आविर्भूतस्वरूपो यत आविर्भूतं स्वरूपम-

(ब्र० व० ।) र्यायेषु अक्षिणि स्वप्ने सुषुप्तौ चानुस्यूतोऽपहतपाप्मत्वादिगुणो दर्शितस्तमेव भूयोऽनुव्याख्यास्यामि नैतदस्मादन्यमित्युपक्रम्य तुरीये 'मघवन्मर्त्यं वा इदं शरीरम्।' इत्यादिना शरीरं निन्दित्वा तस्मादुत्थितं जीवमेवोत्तमं पुरुषं दर्शयति प्रजापतिर्य एष संप्रसादोऽस्मादित्यादिना । तस्मादपहतपाप्मत्वादीनां जीवे संभवाज्जीव एव दहराकाश इति प्राप्ते ब्रूमः—'उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ।' तुशब्देन पूर्वपक्षव्यावृत्तिः । उत्तरात्प्रजापतिवाक्यादपि न जीवाशङ्का युक्त्यर्थः । यत आविर्भूतस्वरूपोऽत्र जीवो विवक्षितो न तु जीवत्वेन रूपेण । 'परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इति उपसंहारदर्शनात् । यदपहतपाप्मत्वादिभिः प्रतिपाद्यं परं ब्रह्म तदेव जीवस्य पारमार्थिकं स्वरूपं न तु जीवत्वं तथाचाऽऽविर्भूतस्वरूपस्य जीवस्य ब्रह्मत्वेनापहतपाप्मत्वादिकमुपपद्यते न तु जीवत्वेन रूपेणेति नासंभवादिति पूर्वसूत्रस्थहेतुर्नासिद्ध इति॥१९॥

ननु दहराकाशस्येश्वरत्वे 'अथ य एष संप्रसादः' इत्यादिना जीव-परामर्शो व्यर्थः स्यादित्यत उत्तरं पठति—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ २० ॥

अन्यार्थोऽयं जीवपरामर्शो न जीवप्रतिपादनाय । 'परं ज्योतिरुप-संपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते' इत्युपसंपत्तव्यपरमात्मपर एवायं जीवपरामर्शो जीवोपसंपत्तव्यत्वेन हि परमात्मोपदिश्यते स चोपदेशो जीवपरामर्शं विना न संभवतीति तदर्थं जीवपरामर्शो न जीवप्रतिपाद-नार्थमिति ॥ २० ॥

( दी० । ) स्येत्याविर्भूतस्वरूपोऽक्षिलक्षितो निरुपाधिस्वरूपः । तुशब्दो नकारार्थः ॥ १९ ॥

'अथ य एष संप्रसादः' इत्यादिजीवपरामर्श एवं सति व्यर्थ एव स्यादित्यत आह—अन्यार्थेति । परामर्शो हि जीवस्यान्यस्य परमात्मनो रूपस्य दर्शनार्थः । 'एष आत्माऽपहतपाप्मा' इत्यादिरूपावगतिः[.] प्रयोजनम् । अथ वाऽन्योऽर्थो यस्य स तथा । चकारो जीवग्रहणेऽपुरु-षार्थमाह ॥ २० ॥



अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ २१ ॥

( ब्र० व० । ) ननु दहरोऽस्मिन्नन्तराकाश इत्याकाशस्याल्पत्वश्रवणान्न परमात्मत्वं किं त्वाराग्रमात्रजीवत्वं युक्तमिति चेत्तत्र समाधानमुक्तमर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्चेत्यत्रोपासनार्थमौपाधिकमल्पत्वं परमेश्वरेऽप्यविरुद्धमित्यर्थः । तस्माद्दहराकाशः परमात्मैवोपास्य इति सिद्धम् ॥ २१ ॥

( जगत्प्रकाशकत्वेनोपलब्धयोः सूर्यादितेजःपदार्थचैतन्ययोश्चैतन्यस्यैव तत्प्रकाशकत्वम्, अधि० ७ )

अनुकृतेस्तस्य च ॥ २२ ॥

पूर्वं परं ज्योतिरूपसंपद्येति वाक्यार्थविचारप्रसङ्गात् ‘तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः’ इतिवाक्योक्तपरं ज्योतिष्ट्वसाधकं न तत्रेति वाक्यं विचार्यमिति प्रसङ्गसंगतिरस्याधिकरणस्य । यद्वा पूर्वत्राऽऽत्मश्रुत्याद्यनुरोधादाकाशशब्दस्य रूढित्यागेनेश्वरे वृत्तिरुक्ता तथेहापि तत्रेति सतिसप्तम्या तत्रशब्दवाच्यस्य तेजोन्तराभिभावकत्वप्रतीत्यनुरोधान्न भातीत्यस्य वर्तमानार्थत्यागेन यस्मिन्सति सूर्यादिकं न भास्यति स तेजोधातुरुपास्यत्वेनोच्यत इति पूर्वपक्षोत्थानाद्दृष्टान्तसंगतिः । पूर्वपक्षेऽलौकिकतेजउपास्तिः फलं सिद्धान्ते निर्विशेषब्रह्मप्रमितिरिति भेदः । मुण्डकोपनिषदि श्रूयते—‘न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ [ मु० २ । २ । १० ] इति । सिद्धान्ते तत्रेति विषयसप्तमी । तथा च तत्र तस्मिन्ब्रह्माणि विषये सूर्यादयो न भासकत्वेन भासन्ते यथा घटादौ विषय आलोकादिकं भासकत्वेन भासते तद्वदल्पतेजसो बह्वेः फल्गुत्वमभिप्रेत्य कैमुतिकन्यायमाह—कुत इति । इतश्च सूर्यादेर्न ब्रह्माणि भासकत्वमिति आह—तमेवेति । यथा

(दी०।) अल्पश्रुतेरिति । अल्पाभिधायिनी श्रुतिर्दहर इति तस्या न परमात्मेति चेदेवं यदि तत्रेति सूत्रान्तरात् । कुतः । तदुक्तम् । तत्त्वदीयं चोद्यमुक्तपरिहारं निचाय्यत्वादित्यादिना ॥ २१ ॥

पूर्वाधिरणे ‘एवं त्वेव ते’ इत्येतच्छब्दस्य प्रकृतार्थत्वादहरस्य जीवता निरस्ता तदप्ययुक्तं तत्रेत्यादौ सर्वनाम्नः प्रकृतार्थत्वानियमादि-

(ब्र०व०।)सूर्यादिप्रकाश्यो घटादिर्न सूर्यादिप्रकाशक एवं ब्रह्मप्रकाश्यसूर्या-  
दिर्न ब्रह्मप्रकाशक इत्यर्थः । ननु यथा गुरौ गच्छति शिष्यस्यानुगमनं  
स्वनिष्ठगमनकृतमेवं सूर्यादेः स्वनिष्ठमानकृतमनुमानं किं नेत्याह—  
तस्येति । यथाऽयःपिण्डस्य दाहक्रियावह्निनिष्ठैव तथा सूर्यादिमानं ब्रह्म-  
निष्ठमेव न पृथग्मानमित्यर्थः । अत्र संशयः । सूर्यादि जगद्धासकतया  
प्रतीयमानं तेजोविशेषो वा ब्रह्म वेति । तेजस एव प्रकाशकत्वप्रसिद्धेः  
प्रबलेन तेजसा दुर्बलस्याभिभवदर्शनाच्च तेजोविशेष एवेति प्राप्ते ब्रूमः—  
अत्र तथा प्रतीयमानं ब्रह्मैव । कुतः । अनुकृतेः । अनुकृतिरनुकरणं  
यत्तमेव भान्तमनुभाति सर्वमित्यनुमानं तदनुकृतिशब्देनोच्यते । न हि  
तेजस्तेजोन्तरे भासमाने भासते स्वप्रकाशतया भासमानचैतन्यमनु सर्वं  
सूर्यादि भासत इति युक्तम् । सूत्रे तस्य चेत्यनेनोदाहृतवाक्ये चतुर्थचर-  
णोऽभिप्रेतः । ‘तस्य भासा सर्वमिदं विभाति’ इति सर्वभासकत्वं  
तेजोन्तरस्याप्रसिद्धं विरुद्धं च भासमानस्य तेजसस्तेजोन्तराभिभावक-  
त्वेन भासकत्वाभावाद्वह्मणरतूपपन्नं ‘तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिः’ इत्यादौ  
प्रसिद्धं च । न तत्रेति तच्छब्देन च ‘हिरण्यमये परे कोशे विरजं ब्रह्म  
निष्कलम् । तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद्यदात्मविदो विदुः’ [मु० २  
२।९] इति प्रकृतब्रह्मग्रहणमेव युक्तमिति । श्रुत्यर्थस्तु—हिरण्यमये  
ज्योतिर्मय आनन्दमय इत्यर्थः । तस्मिन्नन्नमयाद्यपेक्षया परे कोशे ब्रह्म  
पुच्छं प्रतिष्ठेति यत्प्रतिष्ठाभूतं ब्रह्म तत्प्रतिष्ठितं तच्च विरजमागन्तुकमल-  
शून्यं निष्कलं निरवयवं शुभ्रं नैसर्गिकदोषशून्यं ज्योतिषां सूर्यादीनां  
ज्योतिरवभासकं तच्च विदुषामनुभवसिद्धमिति ॥ २२ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ २३ ॥

अपि च ब्रह्मणः सूर्याद्यप्रकाश्यत्वं तत्प्रकाशकत्वं च भगवद्गीतासु  
स्मर्यते—

‘न तद्धासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम’ [भ० गी० १५।६]

‘यदादित्यगतं तेजो जगद्धासयतेऽखिलम् ।

यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्’ [भ० गी० १५।१२]

(दी०।)त्याक्षिप्य समाधत्ते—अनुकृतेरिति । ‘तमेव भान्तम्’ इत्युक्तः प्राज्ञ एव ।  
कुतः । अनुकृतेः । अनुकरणमनुकृतिः । अनुभातीति श्रुतेः । तस्य  
चेतनस्य ‘भासा’ इत्यादिवाक्यादपि ॥ २२ ॥

(ब्र० व० ।) इति तस्मादनन्यप्रकाश्यः सर्वजगद्भासकः परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ २३ ॥

(जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एवाङ्गुष्ठमात्रपुरुषशब्देन प्रतिपादनम्, अधि० ८)

शब्दादेव प्रमितः ॥ २४ ॥

पूर्वत्रानुमानादिना लिङ्गेन तत्रेति विषयसप्तमीं कृत्वा न भातीत्यादौ णिजध्याहारेण न भासयतीत्यर्थो वर्णितो भवति भासकत्वेन न भान्ति सूर्यादय इत्यर्थकथनात्तथेहाप्यङ्गुष्ठमात्र इति परिमाणालिङ्गाजीवमादायेशानोऽसीति स्मारयेदिति विध्यध्याहारेणोपास्तिपरमङ्गुष्ठवाक्यमस्त्विति दृष्टान्तसंगतिः । पूर्वपक्षे ब्रह्मदृष्ट्या जीवोपास्तिः । सिद्धान्तेऽभेदप्रमितिः फलम् । कठवल्लीषु पठ्यते—‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति’ [काठ० २।४।१२] इति । तथा—‘अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्व एतद्वैतत्’ [का० २।४।१३] इति । अस्यार्थः—स्वाभाविकं परिच्छेदं वारयति—पुरुष इति । पूर्णत्वेन सर्वत्रोपलभ्यमान इत्यर्थः । तर्हि कथमङ्गुष्ठमात्रत्वमित्याशङ्क्याभिव्यक्तिस्थानद्वारा तदाह—मध्य इति । आत्मनि देहे मध्ये हृदयसङ्गतीत्यर्थः । जीवभावमापन्नस्य ब्रह्मण इदमङ्गुष्ठमात्रत्वरामर्थनमिति बोध्यम् । ईशानो भूतभव्यस्येत्यादिना त्वंपदवाच्याङ्गुष्ठमात्रजीवानुवादेनाभेदबोधनादिति । तस्यैव परमात्मत्ववादिवाक्यान्तरमुदाहृतं तथेति । अधूमकमिति । लिङ्गव्यत्ययो ज्योतिरुपरत्वात् । यथाऽधूमकं ज्योतिरकलुषितमेकरूपं प्रकाशमात्रं दृष्टं तथाऽयमपि वस्तुतः कूटस्थप्रकाशधातुरित्यर्थः । शोधितत्वमर्थस्य तदर्थतामाह—ईशान इति । भूतभव्यग्रहणं भवतोऽपि प्रदर्शनार्थम् । अद्वितीयत्वमाह—स एवेति । अद्य वर्तमानकाले स एवास्ति श्वो भविष्यत्काले स एव भविताऽतीतकाले स एवाऽऽसीद्यन्नचिकेतसा

(दी०) तैच्चाप्रसिद्धमिदं रूपमित्याह—अपि चेति । स्मर्यतेऽपि गीतासु ‘न तद्भासयते सूर्यः’ इत्यादिना ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणे तत्रेति सति विषये च साधारणी सप्तमी न तद्भासयत इति विषयत्वनिषेधकस्मृत्या विषयत्वं व्यवस्थितं तद्वत्परिमाणमपि

( ब० १० । ) पृष्ठमन्यत्र धर्मादित्यादिना तदेतदेवाद्वितीयं वस्त्विति । अत्र संशयः । किमिदमङ्गुष्ठवाक्यं जीवपरमुत ब्रह्मपरमिति । तत्राङ्गुष्ठपरिमाणस्य ब्रह्मण्यसंभवाज्जीवपरमिदं वाक्यमिति प्राप्ते ब्रूमः—प्रत्यगभिन्नः परमात्मा वाक्यप्रतिपाद्यः प्रमितः । कस्माच्छब्दादेव । ईशानो भूतव्यस्येत्यत्रेशानशब्दात् । न हि जीव ईशानशब्द आञ्जसः । न चाङ्गुष्ठपरिमाणलिङ्गाज्जीवः प्रतिपाद्य इति युक्तम् । लिङ्गश्रुत्योर्विरोधे श्रुतेः प्रबलत्वात् । एतत्सूचनार्थमेवकारः । ननु वाक्यस्य परमात्मपरत्वे कथमङ्गुष्ठमात्रत्वस्योपपत्तिरिति चेत्काऽत्र कथंता त्वंपदवाच्याङ्गुष्ठमात्रजीवानुवादेन ब्रह्माभेदपरे वाक्येऽनुपपत्त्यभावादिति ॥ २४ ॥

ननु जीवस्य वस्तुतः सर्वगतस्य कथमङ्गुष्ठमात्रत्वमित्याह—

हृदयेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ २५ ॥

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । वस्तुतः सर्वगतस्यापि जीवभावमापन्नस्य परमात्मनोऽङ्गुष्ठपरिमाणहृदयापन्नतयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वमुपपद्यत इत्यर्थः । ननु गजपुत्तिकादिशरीरेषु हृत्पुण्डरीकस्यानियतपरिमाणत्वात्कथं जीवस्याङ्गुष्ठमात्रत्वनियमस्तत्राऽऽह—मनुष्याधिकारत्वादिति । शास्त्रस्येति शेषः । षष्ठे फलार्थे कर्मणि तिर्यगादेरपि स्वर्गकामस्याधिकारस्वर्गकामश्रुतेरविशेषादित्याशङ्क्याङ्गुष्ठमनुष्यत्वत्वाय समर्थविषयतया तिर्यगादेः सामर्थ्याभावेन स्वर्गकामपदं संकोच्य मनुष्याधिकारत्वे स्थिते चातुर्वर्ण्यमधिकरोति शास्त्रमिति प्राप्य 'वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनादधीत ग्रीष्मे राजन्यः शरदि वैश्यः' इति त्रयाणामेवाग्निसंबन्धश्रवणात्तेषामेवाधिकार इति सिद्धान्तितम् । तथा च मनुष्याणां हृदयस्याङ्गुष्ठमात्रत्वात्तदपेक्षयाऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यविरोध इति तात्पर्यम् । एवमङ्गुष्ठमात्रजीवानुवादेन विरुद्धांशं परित्याज्याभेदो बोध्यतेऽनेन वाक्येन ।

(दी० ।) जैवमैश्वरं वेति संशये 'अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषम्' इति निर्णीतार्थस्मृत्या जैवमेवेति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—शब्दादिति । अङ्गुष्ठमात्रः परमात्मा शब्दादेव प्रमितः परिमितः । कुतः । शब्दादेवेशानादिपदकदम्बकादेव ॥ २४ ॥

कथं पुनः सर्वगतस्य परमात्मनः परिमाणोपदेश इत्यत्र ब्रूमः—हृदीति । हृदि हृदयेऽवस्थानस्यापेक्षया तु एवमतिमात्रस्यापि अङ्गुष्ठ-

(ब० व० १) इममर्थमुत्तरग्रन्थसंदर्भेण स्फुटी करिष्यति 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः । तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिवेषीकां धैर्येण । तं विद्याच्छुक्रममृतम् ' [ का० २ । ६ । १७ ] इति ।  
 अस्मार्थः—यो(यतो)ऽन्तरात्मा पुरुषत्वात्पूर्णोऽपि जनानां हृदये सदा संनिविष्टोऽतोऽङ्गुष्ठमात्र इति त्वंपदवाच्यानुवादः । तस्यान्वयव्यतिरेकाभ्यां तदनुसारिश्रुत्या च शोध्यत्वमाह—तं स्वादिति । शरीरं स्थूलं सूक्ष्मं च तस्मात्स्वाभिमानविषयात्प्रवृहेत्पृथक्कुर्याद्धैर्येण समाधिनेति यावत् । तं विविक्तमात्मानं विशुद्धममृतं ब्रह्मैव जानीयादित्याह—तमिति । तदेवं काठकवाक्यं प्रत्यग्ब्रह्माणि ज्ञातव्ये समन्वितमिति सिद्धम् ॥ २५ ॥

( देवानां निर्गुणविद्यायामधिकारनिरूपणम् , अधि० ९ )

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ २६ ॥

पूर्वं मनुष्याधिकारं शास्त्रमित्युक्तम् । तर्हि क्रममुक्त्यर्थाभिरुपासनाभिर्मनुष्याणां देवत्वं प्राप्तानामधिकारो न स्यादित्याक्षिप्य समाधीयत इत्याक्षेपसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । प्रसङ्गसंगत्या वाऽऽह—अत्र चाधिकारनिरूपणद्वारा मन्त्रार्थवादादीनां मानान्तरप्राप्तिविरोधयोरसतोर्देवताविग्रहादौ समन्वयोक्तेरध्यायसंगतिः । एवं मन्त्रादीनां स्वार्थे प्रामाण्यन्यायसाम्यादुपासनाधिकार्यादिसमर्पकाणां स्वार्थे प्रामाण्यात्तत्त्वमस्यादिवाक्यानां ब्रह्मात्मैक्ये पर्यवसानमिति श्रुतिशास्त्रपादसंगतिः । पूर्वपक्षे मन्त्राद्यप्रामाण्योदुपगमनादिवाक्यानामपि स्वार्थे तदयोगात्तत्त्वमस्यादेरपि नैक्यनिष्ठतेति सिद्धान्ते तत्सर्वसंभवादैक्यनिष्ठतेति फलम् । यद्वा देवानामनधिकारात्क्रममुक्तिसाधनेषूपपासनेषु देवादिभोगद्वारा

(दी० १) मात्रश्रुतिः । हृदयस्याङ्गुष्ठमात्रत्वं कुत इत्यत आह—मनुष्याधिकारत्वात् । शास्त्रस्येति शेषः । मनुष्याणामधिकारो मनुष्याधिकारस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । मनुष्याणां च प्रायेण स्वाङ्गुष्ठपरिमितं हृदयं ततस्तद्द्वयापेक्षयाऽङ्गुष्ठमात्रः परमेश्वर इति ॥ २५ ॥

पूर्वाधिकरणेऽङ्गुष्ठमात्रश्रुतिर्मनुष्यहृदयापेक्षया मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येत्युक्तम् । तर्हि वेदान्ता अपि मनुष्याधिकारो एवेति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तदुपर्यपीति । तेषां मनुष्याणामुपरि ये देवादयस्तेषामपि

(ब्र० व० १) मोक्षकाममनुष्यप्रवृत्तिर्नास्तीति पूर्वपक्षफलम् । सिद्धान्ते तादृ-  
शप्रवृत्तिरस्तीति बृहदारण्यके श्रूयते—‘तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव  
तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणाम्’ [ बृ० १ । ४ । १० ] इति ।  
देवादीनां मध्ये यो यो ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन साक्षादकरोत्स एव ब्रह्मात्मनाऽ-  
तिष्ठदित्यर्थः । अत्र किं देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति उत  
नास्तीति । शास्त्रस्य मनुष्याधिकारत्वान्नास्तीति प्राप्तेऽभिधीयते—तदु-  
पर्यपि बादरायणः संभवादिति । तेषां मनुष्याणामुपरिष्ठाद्ये देवादयस्ते-  
षामपि ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्तीति बादरायण आचार्यो मन्यते स्म ।  
कस्मात् । संभवात् । अर्थित्वसामर्थ्याद्यधिकारकारणस्य संभवादि-  
त्यर्थः । देवादीनां सदा भोगशालित्वेऽपि भोग्यवस्तुष्वनित्यत्वदोषद-  
र्शनाद्वैराग्यादिकं निरतिशयानन्दमोक्षाथत्वं च संभवतीति भावः ॥२६॥

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ २७ ॥

ननु देवादीनां विश्रहवत्त्वं विना ब्रह्मविद्यायामनधिकारात्तदङ्गीकर-  
णीयं तथा सति कर्मण्यपि शरीरितय ऋत्विगादिवत्संनिधानेनैवोपकार-  
कत्वं स्यात्तच्च न संभवति एकस्य शरीरस्यानेकत्र युगपत्संनिधानासं-  
भवात्तस्माद्विश्रहवत्त्वाङ्गीकारे कर्मणि देवताया उपकारकत्वविरोधः  
प्रसज्येतेति चेन्नैष दोषः कस्मात् । अनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् । एकस्य  
देवस्यानेकेषां शरीराणां युगपत्प्राप्तेः श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । तथा हि  
बृहदारण्यके शाकल्यब्राह्मणम्—‘अथ हैनं विदग्धः शाकल्यः पप्रच्छ  
कति देवा याज्ञवल्क्य ’ इत्युपक्रम्य ‘त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री  
च सहस्रा ’ इत्युक्त्वा ‘कतमे ते ’ इति पृच्छायाम् । ‘महिमान एवै-

(दी० १) ब्रह्मविद्यायामधिकारं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । संभ-  
वात् । संभाव्यते हि तेषामपि अर्थित्वादिकं विश्रहादिमत्त्वादित्यर्थः ॥२६॥

विरोध इति । यदि विश्रहवती देवता तदैकस्य यजमानस्य याग  
एका देवताऽऽगच्छेन्न तु युगपदनेकस्य ऋत्विगादिवत्सोऽयं युगपदनेकैः  
कर्मण्यनुष्ठीयमाने विरोधो देवताया विश्रहादिमत्त्व इति चेदेवं यदि  
तन्न । कुतः । अनेकप्रतिपत्तेः । नैका प्रतिपत्तिरनेकप्रतिपत्तिस्तस्याः ।  
युगपदेकोऽनेकभोजने शक्तः । एकोऽपि अनेकेषां नमस्कारक्रियायां  
शक्त इति नानाविधाया व्यवस्थायाः संभवात् । कुत एवं लोके दर्श-

(ब्र० व० १) पामेते त्रयस्त्रिंशत्त्वेव देवाः ' [ बृ० ३।१।१।२ ] इति त्रिसहस्रपञ्चदशधिकत्रिंशत्तदेवानां त्रयस्त्रिंशद्देवेष्वन्तर्भावमुक्त्वा त्रयस्त्रिंशतोऽपि षट्सु षण्णां त्रिषु त्रयाणां द्वयोर्द्वयोरेकस्मिन्वाय्वात्मके देवेऽन्तर्भावं ब्रुवदेकस्य वायोरनेकरूपतां दर्शयति । अस्यार्थः—एनं याज्ञवल्क्यं विदग्धः शाकल्यो वैश्वदेवनामकस्य शस्त्रस्य निविदिति शस्यमाना देवाः कर्ताति पप्रच्छ तत्र याज्ञवल्क्यस्योत्तरम्—निविदन्नयश्चेत्यादि । शस्यमानदेवनिष्ठसंख्यावाचकं मन्त्रपदं निविदित्युच्यते । एवं षडधिकत्रिंशताधिकत्रिसहस्रसंख्यानिर्णयानन्तरं ' कतमे ते ' इति संख्येयस्वरूपप्रश्ने 'अष्टौ वसव एकादश रुद्रा द्वादशाऽऽदित्याः प्रजापतिरिन्द्रश्च' इति त्रयस्त्रिंशद्देवेषु सर्वेषामन्तर्भावो दर्शितो महिमान एवैषामित्यादिना । एषां त्रयस्त्रिंशद्देवानां महिमानो विस्तारा एव वस्तुतस्तत्र त्रयस्त्रिंशद्देवत्वार्थः । तेऽपि त्रयस्त्रिंशद्देवाः षण्णामग्निपृथिवीवाय्वन्तरिक्षादित्यदिवां महिमानस्तेऽपि षड्देवास्त्रयाणां लोकानां महिमानस्ते त्रयो देवा द्वयोरन्नप्राणयोस्तौ चैकस्य प्राणशब्दवाच्यस्य वायोर्महिमानाविति । यद्वाऽनेकप्रतिपत्तेर्दर्शनादनेकत्र कर्मणि चैकस्य प्रतिपत्तिरङ्गभावस्तस्य लोके दर्शनादित्यर्थः । यथा बहुभिर्नमस्कुर्वाणैर्युगपदेको ब्राह्मणो नमस्क्रियमाणो दृश्यत एवमेकां विग्रहवतीं देवतामुद्दिश्य युगपत्सर्वे हवींषि त्यक्ष्यन्तीति न कश्चित्कर्मणि देवताया उपकारकत्वे विरोधः ॥ २७ ॥

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २८ ॥

ननु माऽस्तु कर्मविरोधस्तथाऽपि शब्दे वेदवाक्ये विरोधः स्यादेव । अनित्यविग्रहवद्देवताया नित्यवेदार्थत्वाङ्गीकारे शब्दस्यार्थेन नित्यसं-

(दी० १) नात् । अनेकेषां प्रतिपत्तिस्तस्याः । ऐश्वर्यविशेषाद्देवतानां युगपदेकशरीरस्वीकारात् । तदेव कथमित्यत आह—दर्शनात् । तथाहि—' कति देवाः ' इत्युपक्रम्य ' प्राणः ' इत्यन्तेन श्रौतेन ' आत्मनश्च सहस्राणि ' इत्यादिना स्मार्तेन च वाक्येन देवादीनामनेकशरीरप्राप्तिर्दृष्टा ॥ २७ ॥

शब्द इतीति । मा भूत्कर्मणि विरोधो विग्रहादिमत्त्वेन देवादीनां शब्दार्थानामनित्यत्वाच्छब्दार्थयोर्नित्यसंबन्धाभावाच्छब्दे वेदेऽर्थवियो-

(ब० व० १) बन्धाभावेन नित्यानित्यसंयोगविरोधादिति चेन्नायमप्यस्ति विरोधः । कुतः । अतः प्रभवात् । देवादिनिष्ठनित्याकृतिवाचकाद्देवराशेरेव देवादिप्रपञ्चस्य प्रभवादुत्पन्नत्वश्रवणादित्यर्थः । तथा हि स्मृतिः—

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयंभुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥

नाम रूपं च भूतानां कर्मणां च प्रवर्तनम् ।

वेदशब्देभ्य एवाऽऽदौ निर्भमे स महेश्वरः । [महाभा० १२ । २३३ । २४ । २५ ।] इति । श्रुतिरपि—‘एत इति ह वै प्रजापतिर्देवानसृजतामृग्रमिति मनुष्यानिन्दव इति पितृंस्तिरःपवित्रमिति ग्रहानाशव इति स्तोत्रं विश्वानीति शस्त्रमभिसौभगेत्यन्याः प्रजाः’ इति । तथा—‘स मनसा वाचं मिथुनं समभवत् ।’ [बृ० १ । २ । ४] इति । अस्यार्थः—‘एते असृग्रभिन्दवस्तिरः पवित्रमाशवः । विश्वान्यभिसौभगा’ इत्ये—तन्मन्त्रस्थपदैर्देवादीन्स्मृत्वा ससर्ज ब्रह्मा । तत्रैतच्छब्द इन्द्रियाधिष्ठानदेवतास्मारकः । असृग्रशब्दोऽसृक्छब्दवाच्यरुधिरप्रधानदेहरमणमनुष्यस्मारकः । इन्दुमण्डलमध्यवर्तिपितुस्मारक इन्दुशब्दः । पवित्रं सोमं स्वमध्ये तिरस्कुर्वतां धारयतां ग्रहाणां तिरःपवित्रशब्दः स्मारकः । ऋचोऽऽनुवतां प्राप्तवतां स्तोत्राणां गानरूपाणामाशवशब्दः स्मारकः । विश्वेदेवशंसनशस्त्राणां विश्वशब्दः स्मारकः । अभिसौभगेति शब्दो निरतिशयसौभाग्यवाचकः प्रजानां स्मारक इति । स प्रजापतिर्मनसा सह वाचं मिथुनभावं समभवत्समभावयत् । त्रयीप्रकाशितां सृष्टिं मनसाऽऽलोचितवानिति यावत् । सूत्रस्थप्रत्यक्षानुमानशब्देन सृष्टेर्वेदप्रभवत्वप्रतिपादकश्रुतिस्मृती गृह्येते । तथा च श्रुतिस्मृतिभ्यां वेदशब्दप्रभवत्वं

(दी० १) गात्रप्रामाण्यं न स्यादिति विरोध इति चेद्वं यदि तन्न । कुतः । अतः प्रभवात् । अतो वैदिकाच्छब्दाद्देवादिकस्य जगतः प्रभव उत्पत्तिस्तस्मात् । स एव कथमित्यत आह—प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं श्रुतिः प्रामाण्यं प्रत्यनपेक्षत्वात् । अनुमानं स्मृतिस्तद्विपर्ययात् । ‘एत इति वै प्रजापतिः’ इत्यादिका श्रुतिः । अनादिनिधना नित्या’ इत्यादि स्मृतिः । अथैवाऽदः करोतीत्यस्मदादीनां प्रथमतः शब्दः प्रतीयते पश्चात्क्रियते तदिदं प्रत्यक्षं प्रजापतेरपि पूर्वं देवादिवाचकाः शब्दा



(ब्र० व० १) सृष्टेरित्यर्थः । आकृत्या लिङ्गेन विग्रहानङ्गीकारे कस्य सृष्टिः स्यादिति भावः । तस्माद्यथा गवादिशब्दानां नित्याकृतिवाचकत्वमेवं वैदिकशब्दानां नित्याकृतिवाचकत्वमिति न शब्देऽपि विरोध इति ॥ २८ ॥

अत एव च नित्यत्वम् ॥ २९ ॥

अस्मृतकर्तृकत्वादिना सिद्धमेव वेदस्य नित्यत्वमनित्यार्थसंयोगे-  
नानुपपन्नमित्याशङ्क्य वेदादेवाऽऽकृतिविशेषावच्छिन्नदेवादिसृष्टिरिति  
प्रतिपादनान्नित्याकृतेरेव शब्दार्थत्वान्नानुपपन्नमित्यभिप्रायेण परिह-  
रति—अत एव नित्याकृतेः शब्दार्थत्वादेव वेदस्य नित्यत्वं नानु-  
पपन्नमित्यर्थः । एतत्सूत्रसूचितः प्रयोगश्च वेदोऽवान्तरप्रलयाव-  
स्थायी जगद्धेतुत्वादीश्वरवदिति अवान्तरप्रलयावस्थायित्वमेव ॥ हि  
नित्यत्वं नाम । अनुमानसिद्धार्थे श्रुतिरपि—‘यज्ञेन वाचः पदवीयमाय-  
न्तामन्वाविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्’ [ ऋ० सं० १०। ७१। ३ ] इति ।  
यज्ञेन पुण्यकर्मणा वाचो वेदस्य पदवीयं ग्रहणयोग्यतामायन्प्राप्तवन्तोऽ-  
तस्तामृषिषु विद्यमानां वाचं याज्ञिका अन्वाविन्दन्नृपलब्धिमन्तो बभू-  
वुरित्यर्थः । पूर्वस्थितामेव वाचं सर्वे ज्ञातवन्त इति तात्पर्यम् ॥ २९ ॥

समाननामरूपत्वाच्चाऽऽवृत्तावप्य-

विरोधो दर्शनात्स्मृतेश्च ॥ ३० ॥

नन्वाकृतिपदार्थकत्वेऽपि प्रलये सर्वाकृतिकव्यक्तिनाशे पुनस्तदाकृ-  
तिव्यक्त्युत्पत्तौ मानाभावान्नित्यानित्यसंयोगविरोधस्तदवस्थ इति चेदु-

(दी० १) मनसि प्रादुरभवन्पश्चात्तान्ससर्जत्यनुमीयत इत्यनुमानम् । प्रत्यक्षं  
चानुमानं च प्रत्यक्षानुमाने ताभ्यामेव स विरोधः ॥ २८ ॥

तथाऽपि वेदस्य जनिमत्त्वेनानित्यत्वं स्यादित्यत आह—अत एवेति ।  
अत एव नियताकृतेर्देवादेर्जगतो वेदशब्दप्रभवत्वान्नित्यत्वमपि प्रत्ये-  
तव्यम् ॥ २९ ॥

मा भूदेवं शब्दविरोधस्तथाऽपि यदा पुनर्जगत्पूर्वं कृत्स्नं लीनं नवम-  
न्यज्जायते तदा स्यादेव विरोध इत्यत आह—समानेति । अन्यत्वेऽपि  
जायमानानां पूर्वभ्यः पूर्वेषां चाऽऽवृत्तावपि प्रलयेऽविरोधः । कुतः ।

(ब्र० व० १) च्यते । सृष्टिप्रलयावृत्तावपि न शब्दे विरोधः । कस्मात् । समाननामरूपत्वात् । न हि प्रलये जगतो निरन्वयनाशोऽस्ति येनोत्पद्यमानं जगत्तद्विलक्षणं स्यात् । किं तु संस्कारात्मनाऽविद्यायां तिष्ठत्येव जगत् । अनुभव इव भावनाख्यसंस्कारात्मना । न चार्थसंस्कारे मानाभावः । सृष्टिर्मण्डूकसंस्कारदर्शनान्नित्यप्रलयाख्यसुषुप्तौ सविषयेन्द्रियाद्यर्थसंस्कारसद्भावाच्च । प्रबोधे पूर्वसजातीयव्यवहारात् । न च प्रतिदिनं सृष्टिप्रलययोः सद्भावे मानाभावः । 'यदा सुप्तः स्वप्नं न कंचन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति तदैवं वाक्सर्वैर्नामभिः सहाप्येति चक्षुः सर्वै रूपैः सहाप्येति श्रोत्रं सर्वैः शब्दैः सहाप्येति मनः सर्वैर्ध्यानैः सहाप्येति स यदा प्रतिबुध्यते यथाऽग्नेर्ज्वलतः सर्वा दिशो विस्फुलिङ्गा विप्रतिष्ठेरन्नेवमेवैतस्मादात्मनः सर्वे प्राणा यथायतनं विप्रतिष्ठन्ते प्राणेभ्यो देवेभ्यो लोकाः ' [ कौ० ३ । ३ ] इत्यादिश्रुतेर्मानत्वात् । अस्यार्थः—अथशब्दस्तदार्थकः । यदेत्युपक्रमात् । प्राणशब्दः परमात्मपरः । अस्मिन्प्राणे जीव एवैकधा भवति तदात्मना तिष्ठतीत्यर्थः । तदेकीभावावस्थायामेनं प्रकृतं प्राणं परमात्मानमन्तर्बहिरिन्द्रियाणि सर्वाणि सविषयाणि अपियन्ति परमात्मनि लीनानि भवन्तीत्यर्थः । प्रबोधे तस्मादेव परमात्मनो जगतो जन्माऽऽह—स इति । अविलम्बेनोत्पत्तौ दृष्टान्तः—यथेति । एवंशब्दात्पूर्वं तदेत्यध्याहारः । प्राणा वागादयस्तेभ्योऽनन्तरं तदनुग्राहकदेवा अग्न्यादयस्तेभ्योऽनन्तरं लोकाः शब्दादिविषया इति । तथा च यथा संस्कारबलात्पूर्वमण्डूकादिसमाननामरूपत्वमुत्तरकार्यस्यैवं पूर्वकल्पितप्रपञ्चसमाननामरूपत्वादुत्तरप्रपञ्चस्येति पूर्वाकृतिव्यक्त्युत्पत्तेर्न शब्दैः कश्चिद्विरोधः । समाननामरूपत्वं च श्रुतौ दर्शनात्स्मृतेश्चाभ्युपगन्तव्यम्—'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत् । दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः ' [ ऋ० सं० १० । १३० । ३ ] इति । तथा नक्षत्रेष्टौ—अग्निर्वा अकामयत । अन्नादो देवानां स्यामिति । स एतमग्नये कृत्तिकाभ्यः पुरोडाशमष्टाकपालं

(दी० १) समाननामरूपत्वात्पूर्वेषां नोत्तरेषामिति शेषः । समानं सदृशं नाम गौतमादि रूपं च सहस्राक्षत्वादि येषां ते समाननामरूपास्तेषां भावस्तत्त्वं तस्मात् । चकारात्कार्यस्य सत्त्वादिपि । समाननामरूपत्वमेव कुत

(ब्र० व० १) निरवपत् ' [ तै० ब्रा० ३।१।४।१ ] इति । भाविवृत्तिमाश्रित्य यजमानोऽग्निरित्युच्यते । एवं कामयित्वा किं कृतवान्स्तदाह—स इति । कृत्तिकाभ्यः कृत्तिकाख्यनक्षत्रदेवतायै । बहुवचनं नक्षत्रबाहुल्याद्धो-  
ध्यम् । अष्टाकपालमष्टसु कपालेषु पचनीयं निरवपत् । उक्तपुरो-  
डाशहविष्कामिष्टिं कृतवानित्यर्थः । तथा च योऽग्निर्यस्मा अग्नये निर-  
वपत्तयोः समाननामरूपत्वं दर्शयतीति सिद्धम् । स्मृतिरपि—

यथर्तुष्वृतुलिङ्गानि नानारूपाणि पर्यये ।

दृश्यन्ते तानि तान्येव तथा भावा युगादिषु ॥

[ महाभा० १२ । ८५५० ] इत्यादिका द्रष्टव्या ॥ ३० ॥

उक्तं देवादीनामधिकारमाक्षिपति—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ॥ ३१ ॥

देवादीनां ब्रह्मविद्यायामनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । कस्मान्-  
न्मध्वादिष्वसंभवात् । एवं हि मधुविद्या श्रूयते—‘ असौ वा आदित्यो  
देवमधु [ छा० ३ । १ । १ ] देवानां मोदनान्मध्विव मधु तस्य मधुनो  
द्युलोक एव तिरश्चीनवंशः । अन्तरिक्ष आदित्याख्यमधुनोऽवस्थानात्तदेव  
मध्वाधारो यूपः । रोहितं शुक्लं कृष्णं परः(?) (रं) कृष्णं गोप्यं चेति पञ्च  
रोहितादीन्यमृतानि प्रागाद्यूर्ध्वान्तपञ्चदिगवस्थाभिरादित्यरश्मिनाडी-  
भिर्मधुच्छिद्रभूताभी रोहिताद्याख्याभिस्तत्तद्देवोक्तकर्मकुसुमेभ्यस्तत्तद्वै-  
दिकमन्त्रमधुकरैरादित्यमण्डलमानीतानि । पञ्चमममृतं गोप्याख्यं  
प्रणवकुसुमादुपासनाभ्रमैरूर्ध्वदिग्गतसूर्यरश्मिरूपगोप्याख्यमधुच्छिद्रद्वा-  
राऽऽदित्यमण्डलमानीतम् । रोहितादिकममृतं मकरन्दस्थानभूतं बह्वौ  
हुतसोमाज्यपयःपुरोडाशादिरूपं द्रष्टव्यम् । तानि च रोहितादीन्यमृ-  
तानि यशस्तेजोवीर्यसकलेन्द्रियान्नरूपेण निष्पन्नान्यादित्यमधुसंबन्धीनि  
प्रागादिदिक्षु क्रमेण विद्यमानानां वसुरुद्रादित्यमरुत्साध्यरूपाणां देवाना-

(दी० १) इत्यत आह—दर्शनात्स्मृतेश्च । दर्शनं ‘ सूर्याचन्द्रमसौ ’ इत्यादि ।  
स्मृतिरपि ‘ ऋषीणां नामधेयानि ’ इत्येवमादिका ॥ ३० ॥

मध्विति ‘ असौ वा आदित्यो देवमधु ’ आदिशब्देनायमेव गौत-  
मोऽयं भारद्वाज इत्याद्याः । तासु मध्वादिषु विद्यास्वादित्यादिरू-

(ब्र० व० १) मुपजीव्यानीत्येवं चिन्तयतां फलं वस्वाद्यातिरुच्यते । वस्वादीनां समानानां मध्य एको भूत्वा यशआद्यमृतं प्रत्यक्षानुमानादिभिः कर-  
णैरुपलभ्य तृप्यतीति । न ह्येवं भूतमधुविद्यायां सूर्यवस्वादीनां देवाना-  
मधिकारः संभवति । एकस्योपास्योपासकभावप्राप्यप्रापकभावयोर्विरो-  
धात् । सूत्रस्थादिशब्देन यासु विद्यासु आदित्यो ब्रह्मेत्येवमादिरूपासु  
देवानामुपास्यत्वं ता विद्या गृह्यन्ते । तथा—‘ इमावेव गौतमभरद्वाजा-  
वयमेव गौतमोऽयं भरद्वाज इमावेव विश्वामित्रजमदग्नी अयमेव  
विश्वामित्रोऽयं जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽयं कश्यपो  
वागेवाग्निः ’ [ बृ० २ । २ । ४ ] इत्याद्यासु विद्यासु ऋष्युपास्यकासु  
न तेषामेव ऋषीणामधिकारः संभवति । श्रुत्यर्थस्तु—इमौ दक्षिणवाम-  
कर्णौ क्रमेण गौतमभरद्वाजावित्युपास्यौ । द्वितीयेमावित्यनेन दक्षिण-  
वामाक्षिद्वयोक्तिः । तृतीयेमावित्यनेन दक्षिणवामनासिकाद्वयोक्तिः । एवं  
सप्तसु शीर्षण्येन्द्रियेषु सप्तर्ष्युपास्तिरित्यर्थः । न च मध्वादिविद्यासु  
देवादीनामधिकारे ब्रह्मविद्यायामधिकारः किं न स्यादिति वाच्यम् ।  
विद्यात्वाविशेषेण ब्रह्मविद्यायामप्यनधिकारात् । तथा चायं प्रयोगः—  
ब्रह्मविद्या न देवादीनधिकरोति विद्यात्वान्मध्वादिविद्यावदिति ॥ ३१ ॥

अपि च—

ज्योतिषि भावाच्च ॥ ३२ ॥

भ्रमणवत्तया परिदृश्यमानज्योतिर्मण्डल एव सूर्यचन्द्रादिदेवताश-  
ब्दानां लोके प्रयोगसद्भावात्मण्डलस्य मृत्पिण्डादिवदचेतनत्वेन विग्र-  
हाभावादग्निवाय्वादीनामपि तत्तुल्यत्वेन सामर्थ्यादिश्वेतनधर्मस्याभावान्न  
देवादीनामधिकारः । न च मन्त्रार्थवादेभ्यो देवानां विग्रहवत्त्व-  
सिद्धेः सर्वं सुस्थमिति वाच्यम् । तेषामन्यपरत्वेन स्वार्थं प्रामाण्याभा-  
वात् । तस्माद्देवादीनां ब्रह्मविद्यायामधिकाराभावं जैमिनिर्मन्यत इति  
शङ्कासूत्रयोरभिप्रायः ॥ ३२ ॥

(दी० १) पस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात्फलाभावादसंभवस्तस्मात्कारणाद्ब्रह्मवि-  
द्यायामपि अनधिकारं जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ ३१ ॥

ज्योतिषीति । न केवलं फलाभावादनधिकारो ज्योतिष्यादित्यमण्ड-  
लादावादित्यादिशब्दानां भावाच्च सत्त्वादप्यचेतनत्वादपीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

(ब्र० व० ॥) सिद्धान्तयति—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ ३३ ॥

तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । बादरायण आचार्यो ब्रह्मविद्यायां देवादीनामधिकारस्य भावं मन्यते । यद्यपि देवतामिश्रोपासनास्वनधिकारस्तथाऽपि निर्गुणब्रह्मविद्यायां देवादीनामप्यधिकारोऽस्ति हि । पूर्वोक्तस्य विद्यात्वादित्यनुमानस्य ज्योतिष्टोमादि न ब्राह्मणकर्तव्यं कर्मत्वाद्वाजसूयवदित्याभाससाम्यं द्रष्टव्यम् । यद्वा ज्योतिषि भावाच्चैतस्योत्तरमस्ति हीति । यद्यपि देवताशब्दा ज्योतिरादौ प्रयुज्यन्ते तथाऽपि तदभिमानिदेवतापरा एव संभवन्ति । अस्ति ह्यैश्वर्ययोगाज्ज्योतिरादिरूपेणावस्थातुं विग्रहं गृहीत्वा व्यवहर्तुं च सामर्थ्यम् । तथा हि श्रूयते—‘मेधातिथिं मेपेति । मेधातिथिं काण्वायनं मेपो भूत्वेन्द्रो जहार’ [ षड्विं० ब्रा० १।१ ] इत्यर्थः । तथा स्मर्यते च—‘आदित्यः पुरुषो भूत्वा कुन्तीमुपजगाम’ इति । नन्वर्थवादादीनां स्वार्थं प्रामाण्याभावात्कथं तेभ्यो विग्रहवत्त्वसिद्धिरिति चेत्तत्राप्यस्ति हीत्येवोत्तरम् । मानान्तरविरोधसंभवादेरभावे तेभ्य एव विग्रहसिद्धिरिति । तथा हि अर्थवादादिभिः स्तुत्यादिकं लक्षयता वाच्यार्थोऽङ्गीकृत एव । न हि वाच्यार्थाभावे लक्षणा युक्ता । किं च ब्रात्यो ब्रात्यस्तोमेन यजेतेत्यादौ ब्रात्यस्वरूपाकाङ्क्षायां सावित्रीपतितो ब्रात्यो यस्य पिता पितामहो वा सोमं न पिबेत्स ब्रात्य इति ब्रात्यस्वरूपं विध्यपेक्षितं सद्भिधिप्रमाणकमित्युच्यते । यथा वा स्वर्गरूपं विध्यपेक्षितं सद्भिधिप्रमाणकं तथा निःस्वरूपदेवतोद्देशेन द्रव्यत्यागायोगाद्विध्यपेक्षितं देवतादिस्वरूपं विग्रहवत्त्वं विधिप्रमाणकमेव । एवं मन्त्रार्थवादप्रत्यक्षमूलेतिहासपुराणादिभिरपि विग्रहवत्त्वसिद्धिः । न च प्रत्यक्षमूलत्वं पुराणादीनामसिद्धमिति वाच्यम् । तत्कर्तृणां योगमाहात्म्याद्देवादिभिः सह प्रत्यक्षव्यवहारसंभवात् । तथा च श्रुतिर्योगमाहात्म्यमाह—‘पृथग्यज्ञेजोनिलखे समुत्थे पञ्चात्मके योगगुणे प्रवृत्ते । न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम् [ श्वे० २।१२ ] ।

(दी० ॥) भावमिति । तुशब्दो जैमिनीयपक्षव्यावृत्त्यर्थः । बादरायण आचार्यो देवादीनामधिकारसद्भावमाह हि यस्मादस्ति देवताधिकारस्य

(ब०४०१)इति । पादतलमारभ्याऽऽजानोजानोरा नाभेर्नाभेराग्रीवं ग्रीवाया-  
श्चाऽऽकेशप्ररोहमाकेशप्ररोहाच्चाऽऽब्रह्मरन्ध्रं क्रमेण पृथिव्यादिधारणया  
पृथिव्यादिपञ्चात्मके भूतसमुदाये समुत्थिते प्रतिपत्तिद्वारा वशीकृते  
योगगुणे चाणिमादौ प्रवृत्ते योगाभिव्यक्तं तेजोमयं देहं प्राप्तस्य योगिनो  
न रोगादिप्राप्तिरित्यर्थः । तस्मात्समूलेतिहासपुराणादिभ्यो विग्रहवत्त्व-  
सिद्धावधित्वादिसंभवाद्देवादीनां ब्रह्माविद्यायामधिकारोऽस्तीति क्रममु-  
क्त्युपासनासु मुमुक्षुप्रवृत्तिरविकलेति सिद्धम् ॥ ३३ ॥

( शूद्राणां वेदानधिकारकथनपूर्वकं शोकाकुलत्वेन शूद्रनाममात्रधा-  
रिणो जानश्रुतेर्वेदविद्याधिगमः । अधि० १० ) ।

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि ॥ ३४ ॥

पूर्वं यथा 'तद्यो यो देवानाम् ।' इति देवशब्दश्रुत्या मनुष्याधि-  
धिकारनियमापवादेन देवानामधिकार उक्तस्तथा मुमुक्षौ जानश्रुतौ  
शूद्रशब्दश्रुत्या लिङ्गेन द्विजात्यधिकारनियममपोद्य शूद्रस्याप्यधिका-  
रोऽस्त्विति दृष्टान्तसंगत्येदमारभ्यते । शूद्रशब्दस्य सिद्धान्ते क्षत्रिये  
समन्वयोक्तेरध्यायान्तर्भावोऽस्य युक्तः । शूद्रशब्दस्येव वेदान्तानां  
स्वार्थे समन्वयसिद्धेः श्रुतिसंगतिः । पूर्वपक्षे जातिशूद्रस्यापि ब्रह्मावि-  
द्यायां त्रैवर्णिकाद्विशेषः फलं सिद्धान्ते ततो विशेष इति विवेकः ।  
एवं किलात्र च्छान्दोग्ये चतुर्थाध्याय उपाख्यायते—जानश्रुतिः पौत्रा-  
यणः प्रियातिथिर्बह्वन्नदाता बहुसङ्गुणो बभूव तस्य राज्ञो गुणगणगरि-  
मसंतोषिताः सन्तो देवर्षयो हंसरूपमास्थाय निदाघसमये प्रासादोपरि  
शयानस्यास्य राज्ञ उपरि मालामाबध्याऽऽजगमुस्तेषामग्रेसरं हंसं संबोध्य  
पृष्ठत आगच्छ त्रेको हंसः सान्द्रुतमभ्युवाच—भो भो भल्लाक्ष भल्लाक्षस्य  
राज्ञो जानश्रुतेर्द्युलोकं व्याप्य विद्यमानं तेजो न पश्यसि किं तत्ते-  
जस्त्वां धक्ष्यति । अतस्तद्विलङ्घ्य न गच्छेति । भल्लाक्षेत्युपहासः ।

(दी०१)सूचकं वाक्यजातं तथा विग्रहादिसत्त्वेऽधित्वादौ च ब्रह्माविद्यायाः  
साकल्येऽपि 'हन्त तमात्मानम्' इत्युपक्रम्य 'इन्द्रो ह वै देवानाम्'  
इत्यादि 'तद्यो यो देवानाम्' इत्यादि च ॥ ३३ ॥

पूर्वाधिकरणेऽत्रैवर्णिकदेवानां 'तद्यो यः' इति लिङ्गादधिकार उक्त-  
स्तद्वद्विद्याधिकारिणः शूद्रशब्देन परामर्शालिङ्गादधित्वादीनां च

(ब्र० १०१) मद्राक्षेत्यर्थः । इदमुपश्रुत्याग्रगामी हंसः प्रत्युवाच—‘कमु वर एन-  
मेतत्सन्त\* सयुग्वानमिव रैकमात्थ ’ [ छा० ४ । १ । ३ ] इति । अय-  
मर्थः—वरेति सोपहासं संबोधनमवरेत्यर्थः । यद्वा वरो वराको जान-  
श्रुतिः । कमुपदमाक्षेपार्थकं कथमित्यर्थः । रैको नाम कश्चन ब्रह्मिष्ठः ।  
योजयति देशान्तरं गमयति स्वरूढमिति युग्वा गन्त्री शकटी तथा  
सह वर्तत इति सयुग्वानमित्यर्थः । तथा चैनं वराकं जानश्रुतिं प्राणि-  
मात्रं सन्तं मूढमरे सयुग्वानं भगवन्तमसह्यतेजसं रैकमिव कथमेतद्वचनं  
ब्रवीषि । इदं श्रुत्वाऽयं राजा ब्रह्मविद्यार्थं रैकसमीपं गत्वा कृतार्थो  
भविष्यतीति दयालूनां हंसानामभिप्रायः । अथैष राजा हंसप्रयुक्तमना-  
दरवाक्यं श्रुत्वा स्वस्यात्यन्तं निष्कर्षमुत्कर्षकाष्ठां रैकस्य ज्ञात्वा दुःखि-  
तमनाः कथमपि निशामतिवाहयांबभूव । ततो निशावसानसूचकं  
बन्दिदृन्दसमारब्धस्तुतिसहस्रसंवलितमङ्गलतूर्यनिर्घोषमाकर्ण्य तल्पत-  
लस्थ एव राजा झटिति यन्तारमाहूयाऽऽदिदेश । विविक्तदेशेषु पर्व-  
तगुहादिषु रैकाह्वयं सयुग्वानमन्विष्य यत्नतोऽस्मभ्यमाचक्ष्वेति । स  
यन्ता तथैव कचिदतिविविक्तदेशे शकटस्याधस्तात्सन्तं पामानं कण्डू-  
यमानं दृष्ट्वाऽयमेव रैक इति निश्चित्यातिकुशलो रैकस्य तैस्तैरिङ्गितैर्गा-  
हस्थेच्छां धनेच्छां चोन्नय निवेदयामास । स राजा तन्निशम्य गवां  
षट् शतानि रथं चाश्वयुक्तमादाय ससत्वरं रैकमुपससाद । उपसद्य  
चोवाच हे रैकेदं सर्वं गवादिकं गृहीत्वाऽनुशाधि मां भगवन्निति ।  
तथैवमुक्तवन्तं ससंभ्रमं सस्पृहं चोवाच रैकः । ‘अह हारेत्वा शूद्र  
तवैव सह गोभिरस्तु ’ [ छा० ४ । २ । ३ ] इति । अहेति निपातः  
साटोपाह्वानमाह । शूद्रेति । हारेण युक्तो रथो हारेत्वा गोभिः सहि-  
तस्तवैवास्तु किमेतावन्मात्रेण मम निर्वाहानुपयोगिनेति भावः ।  
एवं स्थिते चिन्ता किं शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति न  
वेति । अस्तीति तावत्प्राप्तम् । कस्मात् । अर्थित्वादिसंभवाद्देहाध्ययन-  
साध्याहवनीयाद्यभावेनाग्निसाध्यकर्मानधिकारेऽपि देवादिवद्विद्यायाम-  
धिकारसंभवात् । संवर्गविद्यायां मुमुक्षौ जानश्रुतौ शिष्ये रैकेण

(दी० १) सत्त्वाच्छूद्रस्याप्यधिकार इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—शुग-  
स्येति । शुक्लोकोऽस्य जानश्रुतेः पौत्रायणस्य तत्तेषां हंसानामात्मन्य-  
नादरोऽवज्ञानम् । ‘कम्वर एनमेतत्सन्तम् ’ इत्यादिना श्रवणात् । श्रुत-  
त्वात्तत्तथा रैकप्रत्याद्रवणादागमनाद्धि यस्मादरैकेण ’ अह हारेत्वा

(ब्र०व०।)गुरुणा शूद्रशब्दप्रयोगाच्चेति । अत्र ब्रूमः—न शूद्रस्य ब्रह्मविद्यायां-  
मधिकारः । उपनयनाभावेन वेदाध्ययनाभावात् । न हि वेदवाक्यवि-  
चारसाध्यब्रह्मविद्यायामनधीतवेदस्याधिकारः संभवति शास्त्रीयसाम-  
र्थ्याभावात् । न चैवं सति देवानामप्यनधिकार इति साम्प्रतं तेषां  
स्वयंप्रभातवेदत्वात् । न च शूद्रस्यापि लिखितपाठादिना वेदप्राप्तिरिति  
युक्तम् । गुरूपसदनपूर्वकाध्ययनसंस्कृतवेदस्यैव ब्रह्मविद्याद्युपकारक-  
त्वात् । न च शूद्रश्रवणलिङ्गेन तस्याधिकारः । न्यायाभावे लिङ्गस्या-  
साधकत्वात् । तर्हि वैदिकशूद्रशब्दोऽनर्थकः स्यादित्याशङ्क्य तं व्याख्या-  
तुमिदं सूत्रं शुगस्येति । अस्य जानश्रुतेः क्षत्रियस्य तदनादरश्रवणात्तस्य  
हंसस्यानादरश्रवणाद्या शुगुत्पन्ना सा शूद्रशब्देन सूच्यते रैकेण । स्वस्य  
सर्वज्ञत्वज्ञापनार्थं रैकः शूद्रशब्दं प्रयुक्तवानिति भावः । शूद्रशब्दं योगेन  
क्षत्रिये वर्तयति—तदाद्रवणादिति । तस्याः शुचो जानश्रुतिप्राप्तत्वा-  
दित्यर्थः । यद्वा तस्य जानश्रुतेः शुचं प्राप्तत्वादिति । अथ वा तं रैकं प्रति  
जानश्रुतिः शुचा दुद्रावेति शूद्रो जानश्रुतिरुच्यते । अतो न शूद्रस्या-  
धिकारः ॥ ३४ ॥

ननु मुख्य एव शूद्रो जानश्रुतिरस्तु किं जघन्येन योगेनेत्यत आह—  
क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ ३५ ॥

जानश्रुतिर्न मुख्यशूद्रः कुतः । क्षत्रियत्वगतेः । क्षत्रियत्वावधूतेरि-  
त्यर्थः । साऽपि कुतः । उत्तरत्र संवर्गविद्यावाक्यशेषे चैत्ररथेन प्रसिद्ध-  
क्षत्रियेणाभिप्रतारिनामकेन सह समभिव्याहारात्मकलिङ्गादित्यर्थः ।  
सजातीयानामेव हि प्रायेण सहचारो भवतीति भावः । एवं ह्यभिप्रतारी  
संकीर्त्यते—‘अथ ह शौनकं च कापेयमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिं  
परिविष्यमाणौ ब्रह्मचारी विभिक्षे’ [ छा० ४ । ३ । ५ ] इति ।  
संवर्गविद्याविध्यनन्तरमर्थवादारम्भार्थोऽथशब्दः । शुनकस्यापत्यं शौनकं  
कापेयं कपिगोत्रं पुरोहितमभिप्रतारिणं च नाम्ना राजानं कक्षसेनस्यापत्यं  
काक्षसेनिं तौ भोक्तुमुपविष्टौ सूदेन पाचकेन परिविष्यमाणौ सेव्यमानौ

(दी०।) शूद्र’ इति शूद्रशब्देनाऽऽत्मनः परोक्षविषयं ज्ञानमस्तीति सूच्यते ।  
अतो न जातिशूद्रो जानश्रुतिः ॥ ३४ ॥

रूढिरेव कुतो न स्वी क्रियत इत्यत आह—क्षत्रियेति । क्षत्रियत्व-  
स्यापि गतेरवगतेरुत्तरत्र संवर्गविद्यावाक्यशेषे ‘अथ ह शौनकं च कापे-



(अ० व० १) भिक्षितवानित्यर्थः । अस्य चाभिप्रतारिणश्चैत्ररथत्वं कापेयेन चित्र-  
रथपुरोहितेन योगादवगन्तव्यम् । चित्ररथपुरोहितत्वं च कापेयानां श्रुतौ  
प्रसिद्धम् ' एतेन चत्ररथं कापया अयाजयन् ' [ ताण्ड्यब्रा० २० ।  
१२ । ५ ] इति । एतेन द्विरात्रण । समानान्वयानां हि प्रायेण समाना-  
न्वया एव याजका भवन्ति । ननु चित्ररथपुरोहितकापेययोगादभिप्रता-  
रिणश्चैत्ररथत्वं भवतु तथाऽपि कथं क्षत्रियत्वमिति चेन्न । ' तस्माच्चैत्र-  
रथिर्नामैकः क्षत्रियपतिरजायत ' [ ताण्ड्यब्रा० २० । १२ । ५ ] इति  
श्रुतेः । तस्माच्चित्ररथादित्यर्थः । एवमभिप्रतारिणः क्षत्रियत्वे सिद्धे  
तत्समभिव्याहारात्मकलिङ्गाज्ज्ञानश्रुतेः क्षत्रियत्वमिति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च ॥ ३६ ॥

आद्यसूत्रे वेदाध्ययनाङ्गोपनयनाभावान्न जातिशूद्रस्याधिकार  
इत्युक्तम् । इदानीं तु ब्रह्मविद्याङ्गोपनयनाभावान्न तस्याधिकार इत्युच्यत  
इति भेदः । इतश्च न जातिशूद्रस्याधिकारः । कस्मात् । विद्योपदेशेषूप-  
नयनादिसंस्कारपरामर्शात् । ' तं होपनिन्ये ' [ श० ब्रा० ११ । ५ ।  
३ । १३ ] ' अधीहि भगव इति होपससाद ' [ छा० ७ । १ । १ ]  
' ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते  
ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ' [ प्र० १ । १ । १ ] इति ।  
अयमर्थः—तं विद्यार्थिनमाचार्यः किलोपनिन्य उपनीतवान् । अनुप-  
नीताय विद्यादानायोगादिति तात्पर्यम् । सन्तकुमारं प्रति नारदः  
' अधीहि भगव इति ' इमं मन्त्रमुच्चार्य गुरूपसदनं कृतवानित्याह—  
अधीहीति । भरद्वाजादयः षड्गणपयः परं ब्रह्म परत्वेनोपगतवन्त इति  
ब्रह्मपरास्तद्ध्याननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं परमार्थरूपं ब्रह्म विचारयन्तो  
निर्णयार्थमेव पिप्पलादस्तज्जिज्ञासितं सर्वं वक्ष्यतीति निश्चित्य रिक्तह-  
स्तानां गुरूपसदनायोगात्समित्पाणयः सन्तस्तमुपसन्नाः किलेत्याह—

(दी० १) यमभिप्रतारिणं च काक्षसेनिम् ' इत्यभिप्रतारिणश्चैत्ररथस्य श्रवणं  
तेन समानायां संवर्गविद्यायामधिकाराल्लिङ्गाद्धेतोः ॥ ३५ ॥

संवर्गातिरेकेणाशूद्रस्याधिकार इत्यत आह—संस्कारेति । संस्कारा  
उपनयनादयस्तेषाम् ' तं होपनिन्ये ' इत्यादिना ब्रह्मविद्याधिकारे पराम-  
र्शोऽवगमस्तस्मान्न शूद्रोऽधिकारी । तेऽपि तस्य सन्त्विति मन्तव्यमित्यत  
आह—तदभावाभिलाषाच्च । तेषां संस्काराणामभावस्तदभावस्तस्य

(ब्र० १०१) ब्रह्मपरा इति । ननु 'तान्हानुपनीथैव' [छा० ५।११।७] इत्यनुपनीतानामपि वैश्वानरविद्यायामधिकारश्रुतेरनियतमुपनयनमिति चेन्न । निषेधस्य प्राप्त्यपूर्वकत्वात्प्राप्तोपनयनानां प्राचीनशालादीनां द्विजातीनामेवाधिकारात् । निषेधस्तु विद्योपदेष्टृश्वपते राज्ञो न्यूनवर्णत्वाद्वदृश्यः । तान्प्राचीनशालादीनृपीननुपनीथैवाश्वपती राजोवाचेति श्रुत्यर्थः । ननु शूद्रस्याप्युपनयनं कल्प्यतामित्यत आह—तदभावाभिलापाच्चेति ।

‘न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति’ [मनु० १०।४] शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः [मनु० १०।१२६] इत्यादिनोपनयनादिसंस्काराभावाभिलापादित्यर्थः । पातकं भक्ष्याभक्ष्यविभागाभावकृतम् । एकजातिरुपनयनरहित इति स्मृत्यर्थः ॥ ३६ ॥

किं च—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ ३७ ॥

जाबालो हि मृतपितृको गुरुपसदनं कर्तुकामो गोत्रमजानानो मातरं पप्रच्छ किंगोत्रोऽहमस्मीति साऽप्यहं न जानामीत्युवाच । ततः स जाबालो गौतममुपससादोपसद्य चोवाच हे भगवन्ब्रह्मचर्यं चरितुं त्वयीच्छामि मामनुगृह्णातु भवानिति । ततो गौतमेन किंगोत्रोऽसीति पृष्ठः सत्यकामो जाबाल आह—नाहं गोत्रं वेद नापि मन्मातेति । ततः स गौतमस्तदीयेन सत्यवचनेन जाबालस्य शूद्रत्वाभावं निश्चित्य प्रववृत्ते—‘नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति समिधं सोम्याऽऽहरोप त्वा नेष्ये न सत्यादगाः [छा० ४।४।५] इति । एतत्सत्यवचनं विविच्य निःसंदिग्धं वक्तुमब्राह्मणो नार्हति अतस्त्वं न सत्यादगाः सत्यवचनान्नातिगतोऽसि । अतस्त्वामुपनेष्ये तदर्थं समिधमाहरेत्यर्थः । ततश्च सूत्र-

(दी०।) ‘शूद्रश्चतुर्थो वर्ण एकजातिः’ इत्यादिस्मरणेनाभिलापस्तस्मात् । चकारादाचारादपि ॥ ३६ ॥

नन्वसंस्कृतविषयः शूद्रशब्दो न जातिविषय इत्यत आह—तदभावेति । तस्य जातिशूद्रत्वस्याभावस्तदभावस्तस्य निर्धारणम् । ‘नैतद्ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति’ इत्यनेन निश्चयः सत्यवचनेन तस्मिञ्ज्ञाते जाबालं गौतम उपनेतुमनुशासितुं च ‘समिधं सोम्य’ इत्यादिना प्रववृत्ते । प्रवृत्तेः प्रवर्तनं

(ब्र० व० १) स्यायमर्थः—तस्य शूद्रत्वस्याभावनिर्धारणे सत्येव विद्योपदेशे प्रवृत्तिदर्शनादिति । तस्मान्न शूद्रस्याधिकारः ॥ ३७ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ॥ ३८ ॥

इतश्च न जातिशूद्रस्याधिकारः । यतः स्मृतितो वेदश्रवणस्य तदध्ययनस्य तत्प्रयोजनयोरर्थज्ञानानुष्ठानरूपयोरर्थयोः प्रतिषेधादित्यर्थः । एवं स्मरन्ति—‘ अथास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रपूरणम् ’ [ गौ० धर्म० १२ । ४ ] इति श्रवणस्य निषेधः । त्रपुजतुभ्यां संतप्ताभ्यां सीसलाक्षाभ्यामस्य शूद्रस्य द्रवाभ्यां श्रोत्रद्वयपूरणं वेदश्रवणप्रायश्चित्तमित्यर्थः । ‘ यद्यु ह वा एतच्छमशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रसमीपे नाध्येतव्यम् ’ [ वा० धर्म० १८ । ११ ] इत्यध्ययननिषेधः । न ह्यश्रुतस्याध्ययनं संभवति । पद्यु पादयुक्तं संचारसमर्थमिति यावत् । ‘ न शूद्राय मतिं दद्यात् ’ [ मनु० ४ । ८० ] इति तदर्थज्ञाननिषेधः । ‘ द्विजातीनामध्ययनमिज्या दानम् ’ [ गौ० १० । १ ] इति तदर्थानुष्ठाननिषेधः शूद्राणाम् । दानशब्देनात्र नित्यदानमुच्यते नैमित्तिकदाने शूद्रस्याप्यधिकार इति द्रष्टव्यम् । विदुरधर्मव्याधप्रभृतीनां तु पूर्वजन्मकृतश्रवणादिना गर्भस्थवामदेववज्ज्ञानोत्पत्तिर्मन्तव्या । तस्मान्न कथमपि ब्रह्मविद्यायां शूद्रस्य वेदपूर्वकोऽधिकार इति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

( प्राणत्वेनाऽऽम्नातानां वज्रवायुपरेशानां मध्ये परेशस्यैव तादृशप्राणशब्दवाच्यत्वम् । अधि० ११ )

कम्पनात् ॥ ३९ ॥

समाप्तः प्रासङ्गिकोऽधिकारविचारः । इदानीं प्रकृतं वाक्यार्थविचारं

(दी० १) प्रवृत्तिस्तस्याः । चकारोऽसंस्कृतानां शूद्रत्वं चतुर्थो वर्ण इत्यादिविरुद्धमित्याह ॥ ३७ ॥

ननु गौतमस्य व्रतमित्यत आह—श्रवणेति । श्रवणं चाध्ययनं चार्थश्च श्रवणाध्ययनार्थास्तेषां प्रतिषेधः स्मर्यते । श्रवणप्रतिषेधः—‘ अथ हास्य वेदम् ’ इत्यादिना स्पष्टं स्मृतावुपलभ्यतेऽर्थाध्ययनादेः । अतो न व्रतं गौतमस्य किं च न शूद्रस्याधिकारः । चकारादाचारादपि ॥ ३८ ॥

शब्दादेवेत्यस्मिन्नधिकरणे ब्रह्मवाक्ये जीवानुवादो ब्रह्मैक्यबोधायेत्यु-

(ब्र० व० १) प्रवर्तयिष्यामः । ‘ शब्दादेव प्रमितः ’ [ ब्र० सू० १।३ । २४ ] इत्यत्र ब्रह्मवाक्ये जीवानुवादो ब्रह्मैक्यज्ञानायेत्युक्तम् । न तथेह यदिद-  
मित्यादिवाक्ये प्राणानुवादो युक्तः । प्राणस्य स्वरूपेणापि कल्पितस्य  
ब्रह्मैक्यायोगादिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । प्रासङ्गिकत्वा-  
न्नाव्यवहितेन संगत्यपेक्षा । पूर्वपक्षे प्राणोपास्तिः फलं सिद्धान्ते निर्वि-  
शेषब्रह्मज्ञानमिति भेदः । काठकवाक्यं पठ्यते—

यदिदं किञ्च जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।

महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ’ [ काठ० २।६।२ ]

इति । अस्यार्थः—यत्किञ्चेदमविशिष्टं जगत्सर्वं प्राणे निमित्ते  
सत्येजति चेष्टते । एजृ कम्पन इति धातोः कम्पनार्थकत्वात्कम्पनं  
चेष्टैवेति चेष्टत इत्युक्तम् । तच्च जगत्तस्मादेव निःसृतमुत्पन्नम् ।  
तच्च प्राणाख्यं जगत्कारणं महदनवच्छिन्नं बिभेत्यस्मात्सर्वधायादीति  
भयम् । ‘ भीषाऽस्माद्वातः पवते ’ [ तै० २ । ८ ] इत्या-  
दिश्रुत्यन्तरात् । तदेव भयहेतुत्वं निरूपयति—वज्रमिति ।  
उद्यतं वज्रमिवेत्यर्थः । प्राणाख्यब्रह्मज्ञानात्तस्य मोक्षहेतुत्वमाह—  
य इति । अत्र संशयः किं प्राणशब्देन मुख्यप्राणवायुं गृहीत्वा  
वज्रशब्देन चाशनिहेतुं वायुं लक्षयित्वोभयविषयकमेकमुपासनं विधे-  
यमुत निर्विशेषं ब्रह्मानेन वाक्येन प्रतिपाद्यमिति । तत्र तावदुपास्तिप-  
रमिति युक्तम् । प्राणशब्दस्य तत्र प्रसिद्धेः । वायौ हि पर्जन्यभावेन  
विवर्तमाने विद्युन्मेघवृष्ट्यशनयो जायन्त इत्यशनिहेतुवायुलक्षकत्वं वज्र-  
शब्दस्यापि युक्तम् । न च मोक्षफलश्रवणविरोधः । तस्मात् । ‘ वायुरेव  
व्यष्टिर्वायुः समष्टिरप पुनर्मुक्त्युं जयति य एवं वेद ’ [ बृ० ३ । ३ ।  
२ ] इति वायुवेदनस्यापि मोक्षहेतुत्वश्रवणादित्येवं प्राप्ते ब्रूमः—शब्दा-  
देव प्रमित इति व्यवहितमपि मण्डूकप्लुतवदनुवर्तते । अस्मिन्वाक्ये  
प्राणादिशब्दात्परमात्मैव प्रमितः । कुतः । कम्पनात् । सर्वशब्दवाच्यस्य  
सवायुकस्य जगतः कम्पनाज्जीवनादिचेष्टाहेतुत्वादित्यर्थः । ब्रह्मण्यपि  
प्राणशब्दप्रयोगो बहुलं वेदे दृष्टः । ‘ प्राणस्य प्राणम् ’ [ बृह० ४ । ४

(दी० १) क्तम् । इह तु प्राणस्य स्वरूपेण कल्पितस्य न ब्रह्मैक्यसंभव इत्यत-  
स्तदनुवादानुपपत्तौ प्राणोपासनमेव विधेयमिति प्रत्युदाहरणेन मण्डू-  
कप्लुत्याऽऽक्षिप्य समाधत्ते—कम्पनादिति । ‘ प्राण एजति ’ ‘ महद्भयं वज्र-

(ब० व० १) । १८ ] इत्यादौ वज्रशब्दोऽपि भयहेतुत्वसाम्यादुपपद्यत इत्युक्तं वाक्यार्थकथनसमये । कम्पनहेतुत्वं ब्रह्मणः श्रुत्यन्तरे प्रसिद्धम्—

न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन ।

इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ' [ का० २ । ५ । ५ ]

इति । इतरेणाऽऽत्मना । एतौ प्राणापानौ । किं च कम्पनवाक्यात्पूर्वमुत्तरत्र च ब्रह्मोक्तेरिहापि ब्रह्मग्रहणं न्याय्यम् ।

‘ तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।

यस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ॥ ’

इति पूर्ववाक्ये ब्रह्मोक्तं शुक्रं ज्योतिष्मत् । अमृतं कूटस्थम् । उक्त-  
सर्वाधिष्ठानत्वं व्यतिरेकमुखेणाऽऽह—तदु नेति । किञ्चन जडं तद्ब्रह्म  
नात्येति अतिक्रमेण न वर्तत इत्यर्थः । तथोत्तरत्रापि—

‘ भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।

भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ’ इति ।

अस्येश्वरस्य भयादग्न्यादयः स्वव्यापारे नियमेनानुवर्तन्ते राजाज्ञया  
मृत्यादिवदिति । उक्ताग्न्याद्यपेक्षया मृत्योः पञ्चमत्वं यदुक्तं वायु-  
वेदनस्य मोक्षहेतुत्वं श्रुतमिति तन्न । विशेषसामान्यात्मकस्य व्यष्टिसम-  
ष्टिबायोर्ज्ञानादपमृत्युनिवृत्तिमात्रश्रवणात् । तस्मादनेन वाक्येन निर्वि-  
शेषब्रह्म ज्ञेयमिति सिद्धम् ॥ ३९ ॥

( ब्रह्मणः परत्वज्योतिष्ट्वे । अधि० १२ )

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ ४० ॥

पूर्वं सर्वशब्दश्रुतिसंकोचानुपपत्त्या प्रकरणात्प्राणशब्दं ब्रह्मेत्युक्तं न  
तथेह संप्रसादवाक्ये प्रकरणानुग्राहकं किञ्चिदस्ति येन प्रकरणाज्ज्योतिः—  
शब्दं ब्रह्म स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । पूर्वपक्ष आदि-  
त्योपास्त्या क्रममुक्तिः सिद्धान्ते ब्रह्मज्ञानान्मुक्तिरिति फलभेदः ।  
छान्दोग्ये प्रजापतिविद्यायां श्रूयते—‘एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समु-

(दी० १) मुद्यतम् ’ इति प्राणवज्रशब्दितं ब्रह्मैव । कुतः । कम्पनात् । चल-  
नात् । सर्वस्य जगतः प्राण इति शेषः ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरणे सर्वशब्दस्येव नेह कस्याश्चिच्छ्रुतेः संकोचः । अथ वा  
प्रागिवेहापि ‘समुत्थाय’ इत्यादिश्रुतिसंकोचात्, ‘स यावत्तदा-

(ब० १०१) त्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते स उत्तमः पुरुषः । [ छा० ८।१२।३ ] इति । एतदर्थो दहराधिकरणेऽनुसंधेयः । तत्र संशयः किं ज्योतिःशब्देन प्रसिद्धसूर्यादितेजोऽभिधीयत उत ब्रह्मेति । तत्र सूर्यादीति युक्तं प्रसिद्धत्वात् । अथ या एता हृदयस्य नाड्य इत्यादिनाडीखण्डे—‘अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरुर्ध्वमाक्रमते ’ [ छा० ८।६।५ ] इति मुमुक्षोरादित्यप्राप्त्यभिधानादत्रापि ज्योतिरुपसंपद्यत इति श्रवणाच्च । अयमर्थः—विशेषज्ञानोपरमानन्तर्यमथशब्दार्थः । यत्र प्रारब्धकर्मावसानकाले । एतदुत्क्रमणं यथा भवति तथेति क्रियाविशेषणम् । अस्मादभिमानविषयाद्देहादुत्क्रमणं यदा करोत्यथ तदैतैरेवाऽऽदित्यस्य रश्मिभिरालम्बनैरारूढः सन्नाक्रमत उपरि गच्छति तत आदित्यं गच्छतीति । एवं प्राप्तेऽभिधीयते—ज्योतिरत्र ब्रह्मैव । कुतः । दर्शनात् । य आत्माऽपहतपाप्मेत्युपक्रमपर्यालोचनया ब्रह्मण एव प्रतिपाद्यतयाऽनुवृत्तिदर्शनादित्यर्थः । यदुक्तं मुमुक्षोरादित्यप्राप्तिरभिहितेति तन्न । अस्य निर्गुणब्रह्मप्रकरणत्वात् । न हि निर्गुणब्रह्मविदो गत्युत्क्रान्ती स्तः । ‘अत्र ब्रह्म समश्नुते ’ [ बृ० ४।४।७ ] इति श्रुतेः । तस्मात्परं ज्योतिर्ब्रह्मेहोपसंपत्तव्यत्वेन निर्दिश्यत इति सिद्धम् ॥ ४० ॥

( ब्रह्मण आकाशशब्दवाच्यत्वम् । अधि० १३ )

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

पूर्वमुपक्रमवशादर्थान्तरे प्रसिद्धोऽपि ज्योतिःशब्दः स्वार्थात्प्रच्यावितस्तथाऽऽकाशोपक्रमवशाद्ब्रह्मादिशब्दोऽपि स्वार्थात्प्रच्याव्यतामिति दृष्टान्तसंगत्येदमारभ्यते । पूर्वपक्षे भूताकाशभिन्नसर्वाधिष्ठानभूताकाशात्मकब्रह्मण उपास्त्या क्रममुक्तिः सिद्धान्ते सर्वाधिष्ठानब्रह्मधिया साक्षान्मुक्तिरिति फलभेदः । छान्दोग्येऽन्ते श्रूयते—‘आकाशो ह वै नाम

(दी०१) क्षिप्य ’ इत्यादिना प्रसिद्धादित्यप्रकरणादादित्य एव ज्योतिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—ज्योतिरिति । परं ज्योतिः परमेव ब्रह्म । कुतः । दर्शनात् । य आत्माऽस्मिन्प्रकरणेऽस्यैव दर्शनात् ॥ ४० ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मप्रकरणादानर्थक्यप्रतिहर्तेश्च ज्योतिःश्रुतिर्नीता ।

(ब० व० १) नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्वद्ब्रह्म तदस्मृतं स आत्मा' [छा० ८।१४।१] इति । ते नामरूपे यस्माद्ब्रह्मणोऽभिन्ने तदित्यर्थः । यद्वा ते नामरूपे यस्य ब्रह्मणोऽन्तरा मध्ये वर्तते तदित्यर्थः । तत्र किमाकाशशब्देन भूताकाश उच्यत उत परमात्मेति विंशये रूढ्या भूताकाश इति प्राप्ते ब्रूमः—परमात्मैवाऽऽकाशशब्दवाच्यः । कुतः । अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । ते यदन्तरेत्याकाशस्य नामरूपाभ्यामर्थान्तरत्वेन व्यपदेशात् । न हि नामाद्यन्तःपातिन आकाशस्य भूतस्य स्वस्मादर्थान्तरत्वं युक्तम् । आदिशब्देन तद्वद्भोत्यादिना ब्रह्मत्वादिव्यपदेशो द्रष्टव्यः । तस्मादाकाशः परमात्मा ज्ञेय इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

( ब्रह्मणो विज्ञानमयशब्दवाच्यत्वम् । अधि० १४ )

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ ४२ ॥

व्यपदेशादित्यनुवर्त्तते । पूर्वं नामरूपाभ्यां भेदेन व्यपदेशादाकाशो ब्रह्मेत्युक्तं तदयुक्तम् । 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः' [बृ० ४।३।२१] इत्यत्राभिन्ने जीवे भेदोपचारादित्याक्षिप्य प्राज्ञशब्दस्य ब्रह्मपरतया न भेद औपचारिक इति समाधानात्संगतिः । पूर्वपक्षे जीवानुवादेन कर्मविशेषेऽङ्गभूतकर्तुः स्तुतिः फलं सिद्धान्ते जीवानुवादेन प्रत्यग्ब्रह्मैक्यधीरिति विवेकः । बृहदारण्यके षष्ठे प्रपाठके—'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः' [बृ० ४।

(दी० १) इह तु न ब्रह्मप्रकरणं नाप्याकाशश्रुतेरानर्थक्यं ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वादाकाशस्येत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—आकाश इति । आकाशो वै नाम' इत्यत्राऽऽकाशशब्दः परमात्मा । कुतः । अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् । ते यदन्तरा तद्वद्ब्रह्म इति नामरूपाभ्यामन्योऽर्थोऽर्थान्तरमाकाशं तस्य भावस्तत्त्वम् । आदिशब्देन नामरूपनिर्वहणादिकम् । तस्य व्यपदेशोऽभिधानं तस्मात् ॥ ४१ ॥

पूर्वाधिकरणे नामरूपाभ्यां भेदव्यपदेशादाकाशं ब्रह्मेत्युक्तम् । तत्र भेदव्यपदेशोऽनेकान्तः । असत्यपि भेदे प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्त इति भेदोपचारदर्शनादित्यत आह—सुषुप्तीति । 'योऽयं विज्ञानमयः' इत्यादिवाक्ये परमेश्वर एव प्रतिपाद्यः । कस्मात् । सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ।

(ब० व० १) ३।७] इत्युपक्रम्य सुषुप्त्याद्यवस्थामध्य उपन्यस्य ' स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्ज्ञेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः ' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इत्युपसंहारो दृश्यते । अस्यायमर्थः—देहादीनामन्यतमो वा तदतिरिक्तो वाऽऽत्मेति जनकस्य प्रश्ने याज्ञवल्क्यस्योत्तरं योऽयमिति । विज्ञानं बुद्धिस्तन्मयस्तत्प्रायः । प्राणेषु हृदीति व्यतिरेकार्थे सप्तम्यौ । प्राणबुद्धिव्यतिरिक्त इत्यर्थः । बुद्धिवृत्तेर्विविधवृत्तिरिति—अन्तरिति । अज्ञानाद्भिनात्ति—ज्योतिरिति । पुरुषः पूर्णो योऽयमेवं भूतः स आत्मेत्यर्थः । स्वाधीनं सर्वं नियन्तुं शक्तिरस्तीति वक्तुं सर्वस्येशान इत्युक्तम् । स्वाधीनं स्वनियम्यं च सर्वमधिष्ठाय पालयतीति वक्तुं सर्वस्याधिपतिरिति युक्तमिति । अत्र संशयः । किमयं वाक्यसंदर्भो जीवानुवादक उत तदनुवादेनासंसारिस्वरूपप्रतिपादनपर इति । तत्रावस्थाद्युपन्यासात्परमात्मवाचकशब्दामावाज्जीवानुवादक इति प्राप्ते भ्रमः—विज्ञानमयसुषुप्त्याद्यवस्थावज्जीवानुवादेन ब्रह्माभेदप्रतिपादनपरोऽयं वाक्यसंदर्भो न जीवानुवादकः । कस्मात् । सुषुप्त्युत्क्रान्त्योरवस्थयोः शरीराद्धेदेनेश्वरस्य प्राज्ञशब्देन व्यपदेशात् । तथा हि सुप्तौ तावद्यपदेशो दृश्यते—' तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरमेवमेवायं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नाऽऽन्तरम् ' [ बृ० ४ । ३ । २१ ] इति । उत्क्रान्तावपि ' अयं शरीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति ' [ बृ० ४ । ३ । ३५ ] इति शरीराद्धेदेन परमात्मानं प्राज्ञशब्देन व्यपदिशति । अन्वारूढोऽधिष्ठितः । उत्सर्जन्वेदनात् शब्दं कुर्वन्निति यावत् । ननु भेदव्यपदेशमात्रेणाभेदप्रतिपादनपरोऽयं संदर्भ इति कथं गम्यत इति चेदुच्यते—' ध्यायतीव लेलायतीव ' इत्यादिग्रन्थवृत्तिदर्शनात् । बुद्धौ ध्यायन्त्यै स्वयमात्मा ध्यायतीव चलन्त्यां चलतीव यस्तुतो न ध्यायति न चलतीत्यर्थः । एवम् ' अत ऊर्ध्वं विमोक्षायैव ब्रूहि ' इति पदे पदे प्रश्नः ' अनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गो ह्ययं पुरुषः ' [ बृ० ४ । ३ । १४ । १६ ]

( दी० । ) व्यपदेशादित्यनुवर्तते । सुषुप्तिः समस्तानामिन्द्रियाणामुपरमरतस्याम् । ' अयं पुरुषः प्राज्ञेनाऽऽत्मना संपरिष्वक्तः ' इत्यादिनैतस्माच्छरीरात्पुरुषात्प्राज्ञस्य परमात्मनो भेदः । उत्क्रमणमुत्क्रान्तिर्भूतिस्तस्याम् ।



(ब० व० ।) इति पदे पदे प्रतिवचनं च वाक्यसंदर्भस्याभेदपरत्वं फलयति । अस्यार्थः-अतः कामादिविवेकानन्तरं मोक्षसाधनीभूतसाक्षात्कारायैव ब्रूहीति जनकप्रश्नार्थः । तेन जाग्रद्भोगादिनाऽनन्वागतोऽस्पृष्टो भवति असङ्गत्वादिति ॥ ४२ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ ४३ ॥

इतश्च जीवस्यासंसारित्वप्रतिपादनपरमिदं वाक्यजातम् । यतोऽस्मिन्वाक्ये पत्यादयः शब्दा असंसारित्वप्रतिपादनपराः संसारित्वप्रतिषेधपराश्च दृश्यन्ते । 'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इत्यसंसारित्वपराः 'स न साधुना कर्मणा भूयान्नो एवासाधुना कनीयान्' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इत्याद्याः संसारित्वप्रतिषेधका इति । तस्मादसंसारिपरमात्मस्वरूपप्रतिपादनपरोऽयं वाक्यसंदर्भ इति सिद्धम् ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मामृतवर्षिण्यां प्रथमाध्यायस्यास्पष्टब्रह्मलिङ्गाख्यस्तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं तावत्प्रथमे पादे अज्ञास्यत्वेन प्रतिज्ञाते ब्रह्मणि जगज्जन्मादिकारणे सर्वज्ञे समन्वयं वेदान्तानां प्रसाध्य ब्रह्मलक्षणस्य प्रधानेऽतिव्याप्तिमाशङ्क्याशब्दत्वेन निराकृतम् 'ईक्षतेर्नाशब्दम्' [ बृ० सू० १ । १ । ५ ] इत्यत्र । तदनन्तरं स्पष्टब्रह्मलिङ्गानि वाक्यानि ब्रह्मणि समन्वितानीत्युक्तम् । द्वितीयतृतीयपादयोरस्पष्टब्रह्मलिङ्गानि प्रायश उपास्यगानि ज्ञेयगानि च समन्वितानीत्युक्तम् । इदानीं तु प्रधानस्याशब्दत्वमसिद्धं

(दी०) 'अयं शारीर आत्मा प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽन्वारूढ उत्सर्जन्याति' इत्यादिना निर्दिष्टात् । शारीरात्प्राज्ञस्य परमात्मनो भेदः । सुषुप्तिश्चोत्क्रान्तिश्च सुषुप्त्युत्क्रान्ती तयोर्भेदस्तेन ॥ ४२ ॥

ननु जीवपरमात्मनोः प्रतीतौ कुतो जीवो न गृह्यत इत्यत आह—पतीति । पतिः सर्वस्याधिपतिः । आदिशब्देन सर्वस्य वशीत्यादि । पत्यादयश्च ते शब्दाश्च पत्यादिशब्दास्तेभ्यः ॥ ४३ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां प्रथमाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

(ब्र०व०१) क्वचिच्छाखासु तत्परशब्दानामपि दर्शनादित्याशङ्क्य तेषामन्य-  
परत्वप्रतिपादनार्थमयं पाद आरभ्यते—

(कारणावस्थापन्नस्य स्थूलशरीरस्यैवाव्यक्तशब्दवाच्यत्वम् । अधि०१)

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीर-  
रूपकविन्यस्तगृहीतेदर्शयति च ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्सूत्रसंदर्भे ब्रह्मैव जगत्कारणत्वेन वेदान्तप्रतिपाद्यं न प्रधा-  
नादीत्युक्तमयुक्तम् । ब्रह्मावत्प्रधानस्यापि जगत्कारणत्वेन वेदान्तबोध्य-  
त्वात् । न च कारणद्वयधैयर्थं कल्पभेदेन व्यवस्थानादिति ब्रह्माङ्गी-  
कारेणाऽऽक्षेप इत्याक्षेपसंगतिः पूर्वग्रन्थेनास्याधिकरणस्य सूत्रकाररे-  
वाप्येकशब्दं प्रयुञ्जानैः सूचिता । अव्यवहिताधिकरणेन तु प्रसिद्धजी-  
वोक्तिभङ्गेनाप्रसिद्धब्रह्मोक्तिवदप्रसिद्धप्रधानोक्तिपरमेव काठकवाक्य-  
मस्त्विति दृष्टान्तसंगतिः । प्रधानस्याशब्दत्वप्रतिपादनेन ब्रह्माणि वेदा-  
न्तानां समन्वयदाह्यादस्ति श्रुत्यध्यायसंगतिः । अविरोधनयपर्यन्तपाद-  
विचारत्वात्सर्वेषां नयानामापादं पादसंगतिः । पूर्वपक्षे ब्रह्मण्येव वेदा-  
न्तानां समन्वय इति नियमाभावः फलं सिद्धान्ते तु तादृशनियम  
इति विवेकः । काठकवाक्यं पठ्यते—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु ।  
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥  
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।  
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ' ॥

[ काठ० १ । ३ । ३ । ४ ]

‘ सोऽध्वनः पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ।

[ का० १ । ३ । ९ ] इति ।

अनियतेन्द्रियादेः पुंसः संसारित्वं नियतेन्द्रियस्याध्वनः पारं विष्णोः  
परमं पदमिति श्रावयित्वा किं तदध्वनः पारं विष्णोः पदमित्याकाङ्क्षायां

(दी०१) पूर्वपादत्रये ब्रह्माणि समन्वय इत्युक्तम् । तथाऽपि केषुचिद्वाक्येषु  
प्रधानादिवाचकशब्ददर्शनात्प्रधानादावपि कश्चन समन्वयः स्यादित्या-  
क्षिप्य ब्रह्मण्येव समन्वय इत्यवधार्यतेऽनेन पादेन । अत्राष्टावधिकर-

( ब्र० व० । ) तेभ्य एवेन्द्रियादिभ्यः परत्वेन परमात्मानं विष्णोः पदं दर्शयति—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।

मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥

[ काठ० १ । ३ । १० । ११ ] इति ।

अस्यार्थः—आत्मनो मोक्तृत्वेन प्राधान्याद्बुद्धित्वं रथस्वामित्वम् । स्थूलं शरीरं भोगायतनत्वेन गुणतया रथसमम् । विवेकाविवेकवृत्तिभ्यां बुद्धिरेव शरीरद्वारा मोक्तारं सुखे दुःखे बोधयतीति सारथिः । मनसाऽश्वरशनास्थानीयेन विवेकिना विषयेभ्य इन्द्रियाणि निगृह्यन्ते तेनाविवेकिना विषयेषु प्रवर्त्यन्ते तेन युक्तं मनसः प्रग्रहत्वम् । इन्द्रियाणि संयतानि मुक्तिद्वारं प्रापयन्ति असंयतान्यनर्थं संसारमिति ह्यत्यं तेषाम् । यथाऽश्वो मार्गमालक्ष्य चलति एवमिन्द्रियहयाः स्वार्थमुपलभ्य चलन्तीति । शरीरादिषु मध्ये शब्दादीनां विषयाणां मार्गत्वम् । ननु मार्गे रथिनो रथाद्यपेक्षा न भोगे चिद्रूपतया स्वभावेनैतद्भोगादित्यत आह—आत्मेति । आत्मा मोक्तेत्याहुरिति संबन्धः । तस्यासङ्गस्यार्थेन्द्रियासन्निकर्षे भोगायोगादिन्द्रियमनोयोगो यथा भवतीति क्रियाविशेषणेन मोक्तृत्वमाह—इन्द्रियेति । भावे निष्ठा । यद्वाऽऽत्मा देहस्तद्युक्तमात्मानं मोक्तेत्याहुरिति योजना । यद्यप्यन्तरङ्गत्वादिन्द्रियाणामर्थापेक्षया परत्वं तथाऽपीन्द्रियाणां ग्रहत्वमर्थानां शब्दादीनामतिग्रहत्वं श्रुतौ निर्दिष्टमित्यर्थानामेव परत्वम् । गृह्णन्ति वशी कुर्वन्ति पुरुषपशुमिति ग्रहा इन्द्रियाणि तेषां विषयाधीनत्वमित्यतिग्रहा विषयास्तेनातिग्रहतयाऽर्थानां प्राधान्यमित्याह—इन्द्रियेभ्य इति । सर्वेन्द्रियार्थव्यवहारस्य मनोमूलत्वात्मनसोऽर्थेभ्यः परत्वम् । निश्चयात्मकबुद्धिद्वारा विषया मोक्तुरूपकुर्वन्तीति संशयात्मकमनसो बुद्धेः प्राधा-

(दी०।)णानि तत्रेदं सप्तसूत्रमाद्यम् । आनुमानिकेति । अनुमानप्रतिपाद्यमानुमानिकं प्रधानमपि एकेषांचित्कठानां शाखायाम् ‘महतः परमव्यक्तम्’ इति शब्दवदिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः ।

(ब्र० व० १) न्यम् । पूर्वं यो रथित्वेनोक्त आत्मा स मोक्ता बुद्धेर्भोगोपकरणत्वात् । तस्याः स्वामित्वाच्चाऽऽत्मनो महत्त्वम् । महत् आत्मनः । यदि महत्त्वस्याऽऽत्मविशेषणत्वं आत्मनः परमव्यक्तमिति स्यात्तस्य विशेष्यत्वादिति ब्रूये तदा महच्छब्देन हिरण्यगर्भबुद्धिरुच्यते तस्या व्यष्टिबुद्धिव्यापनादात्मत्वं च । एवंभूतहिरण्यगर्भबुद्धिं स्मृतिर्दर्शयति—

‘मनो महान्मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।

प्रज्ञा संविच्चित्तिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ’ ॥

[ महाभा० १३ । १०११ ] इति ।

अयमर्थः—सर्वे प्रथमान्ता हिरण्यगर्भबुद्धिपराः । तस्या मनस्त्वे संदेहरूपत्वं स्यादित्यत आह—मतिरिति । महत्त्वमुपपादयति—ब्रह्मेति । भोग्यजाताधारत्वमाह—पूरिति । निश्चयात्मकत्वमाह—बुद्धिरिति । चित्तिशक्तिमत्त्वं ख्यातिः । ईश्वरो नियामकः । प्रज्ञा लौकिकप्रकृष्टज्ञानम् । संविज्ज्ञानफलमुपासकस्य तत्प्राप्तेः । चित्तिश्चित्प्रधाना । स्मृतिर्ज्ञातसर्वार्थानुसंधानशक्तिमती । विद्वत्प्रसिद्धिमुक्तबुद्ध्यावनुकूलयति—परीति । श्रुतिरपि ‘यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्’ [ श्वे० ६ । १८ ] इत्यादिका हिरण्यगर्भबुद्धौ वेदाविर्भावमीश्वरानुग्रहाद्दर्शयन्ती तस्या उक्तरूपत्वमाह । एतादृशी बुद्धिः सर्वासां बुद्धीनां परोत्कृष्टा । अस्मिन्पक्षे पुरुषग्रहणेनैव तदभिन्नो रथी मोक्ता गृहीतो द्रष्टव्यः । आत्मानं रथिनं विद्धीत्यादिवाक्यनिर्दिष्टाः सर्वे गृहीताः । अवशिष्टं रथत्वेन कल्पितं शरीरमव्यक्ताख्याविद्याकार्यं लक्षणयाऽव्यक्तशब्देन निर्दिशति—महत्तः परमव्यक्तमिति । एवं वस्तुगत्यर्थः प्रदर्शितः । तत्र संशयः । किमव्यक्तशब्देन प्रधानमुच्यत उत पूर्वप्रकृतं शरीरमिति । तत्र सांख्य-स्मृतौ महदव्यक्तपुरुषशब्दानां तत्त्वत्रये प्रसिद्धत्वादव्यक्तं प्रधानमेवेत्याह—आनुमानिकमध्येकेषामिति चेदिति । अनुमानगम्यं प्रधानमप्येकेषां शास्त्रिणां प्रत्यक्षमव्यक्तशब्देन पठ्यत इत्यशब्दत्वमसिद्धमिति चेदिति सूत्रावयवार्थः । परिहरति—नेति । कुतः । शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः । शरीरस्य पूर्ववाक्ये रथरूपेण विन्यस्तस्य कल्पितस्याव्यक्तशब्देन गृहीतेर्ग्रहणादित्यर्थः । रूपकात्मना रथात्मना विन्यस्तं रूपकविन्यस्तं शरीरं च तद्रूपकविन्यस्तं च तत्तथोक्तं तस्य गृहीतेरिति विग्रहः ।

(टी० १) शरीरं ह्यत्र रथरूपकेण विन्यस्तमुक्तं तस्याव्यक्तशब्देन गृहीतेर्ग्रह-

(ब्र० व० १) कथं शरीरपरोऽव्यक्तशब्दस्तत्राऽऽह—दर्शयति चेति । पूर्वापरवाक्यसंदर्भः पर्यालोच्यमान औचित्येन प्रकृतं परिशिष्टं च शरीरमेवाव्यक्तशब्दबोधं दर्शयतीत्यर्थः ॥ १ ॥

ननु स्थूलशरीरस्य व्यक्तशब्दार्हस्य कथमव्यक्तशब्दार्हत्वमित्यत उत्तरं पठति—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ २ ॥

दर्शयतीत्यनुषङ्गः । तुशब्दः शङ्कानिरासार्थः । स्थूलशरीरारम्भकभूतानां सूक्ष्मं कारणमव्यक्तशब्देन दर्शयति । कुतः । तदर्हत्वादव्यक्तशब्दार्हत्वादित्यर्थः । ' गोभिः श्रीणीत मत्सरम् ' [ क्र० सं० ९ । ४६ । ४ ] इत्यादिवत्प्रकृतिवाचकशब्देन विकारो लक्ष्यत इति भावः । गोभिविकारैः पयोभिर्मत्सरं सोमं श्रीणीत मिश्रितं कुर्यादित्यर्थः ॥ २ ॥

ननु भूतसूक्ष्मात्मकाव्यक्ताङ्गीकार आगतः प्रधानवादः । सांख्यैस्तस्यैव प्रधानत्वेनाङ्गीकारादित्यत आह—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ ३ ॥

न प्रधानकारणवादो मया कृतः । कुतः । तदधीनत्वादीश्वराधीनत्वाङ्गीकारात् । स्वतन्त्रं चेतनानधिष्ठितमव्यक्तं जगत्कारणमिति सांख्यमतम् । सिद्धान्ते तु ईश्वराधिष्ठितं मायाविद्याकाशादिशब्दवाच्यं जगत्कारणमिति महद्वैलक्षण्यम् । नन्वीश्वरादेव जगदुत्पत्ताव्यक्तवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याऽऽह—अर्थवादिति । प्रयोजनवदित्यर्थः । देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निर्मुढाम् । ' मायां तु प्रकृतिं विद्यात् ' [ श्वे० ४ । १० ] इति श्रुतिसिद्धमीश्वरस्य सहकारिभूतमव्यक्तमवश्यमङ्गीकर्तव्यम् । न हि शक्तिरहितेश्वरः कार्यलेशं वा कर्तुं समर्थः । असङ्गत्वादिति तात्प-

(दी० १) णात् । दर्शयति च । तथा ह्यनन्तरातीतो ग्रन्थ आत्मशरीरादीनां रथिरथादिरूपककल्पितं दर्शयति । चकारात्प्रकरणादिकं च ॥ १ ॥

स्थूलं शरीरं कथमव्यक्तशब्दार्हमित्यत आह—सूक्ष्ममिति । सूक्ष्मं सूक्ष्मशरीरमव्याकृताख्यम् । तुशब्द एवकारार्थः । कुतः । तदर्हत्वात् । तस्याव्यक्तशब्दाभिधानस्याहं योग्यं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ २ ॥

एवं चेत्स एव प्रधानवादः शब्दान्तरेणाऽऽपातित इत्यत आह—तदधीनेति । तस्य परमेश्वरस्याधीनमायत्तं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ।

(ब्र० व० १) र्यम् । नन्वेवमपि कथं शरीरस्य महतः परत्वं कथं वाऽव्यक्तकार्यत्व-  
स्येन्द्रियादीनामविशेषे स्थूलशरीरस्यैवाव्यक्तपदार्हत्वमिति चेदुच्यते—मह-  
च्छब्दवाच्यभोक्त्रपेक्षया हिरण्यगर्भबुद्ध्यपेक्षयाऽव्यक्ताख्यविद्यायास्ता-  
वत्परत्वं सर्वसिद्धं तदधीनत्वाद्भोक्त्रादेः । तथा च तन्निष्ठं परत्वं तद्वि-  
कारे देह उपचर्यते । इन्द्रियादीनां तत्कार्यत्वाविशेषेऽपि स्वस्वशब्दैरे-  
वोपात्तत्वात्परिशेषात्प्रकृताकाङ्क्षाव्यक्तशब्देन स्थूलदेहग्रहणं न्याय्य-  
मिति । आचार्यदेशीयैः सूत्रद्वयमिदमन्यथा व्याख्यातम् । शरीरं द्विविधं  
स्थूलं सूक्ष्मं द्वयमपि पूर्ववाक्ये रथत्वेन गृहीतम् । उत्तरस्मिन्वाक्ये सूक्ष्म-  
मेवाव्यक्तशब्देन गृहीतं तदर्हत्वात् । तच्चाव्यक्तदधीनत्वाद्वन्धमोक्षव्य-  
वहारस्येति सर्वथाऽपि प्रधानस्य नात्रावकाशः ॥ ३ ॥

अपि च—

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ ४ ॥

सांख्यैः प्रकृतिपुरुषविवेकान्मोक्ष इति वदद्भिः प्रकृतिरपि तदर्थं  
ज्ञेयेत्युक्तम् । न च ज्ञेयत्वेन प्रकृतेऽव्यक्तमुच्यते, अव्यक्तशब्दमात्रश्र-  
वणात् । तस्मादपि नाव्यक्तं प्रधानम् ॥ ४ ॥

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ ५ ॥

अत्राऽऽह सांख्यः—ज्ञेयत्वावचनादित्यसंगतम् । अव्यक्तशब्दवाच्य-  
स्यैवोत्तरत्र ज्ञेयत्ववचनात् ।

‘अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं

तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् ।

(दी० ।) सूक्ष्ममीश्वराधीनं नैवं प्रधानमित्यर्थः । ईश्वर एव  
कारणमस्तु । एवं सूक्ष्मशब्दार्हस्याव्याकृतस्य व्यर्थं कल्पनं स्यादि-  
त्यत आह—अर्थवत् । अर्थः प्रयोजनं सोऽस्यास्तीत्यर्थवत् । नेश्वरस्यापि  
तद्विना कारणत्वमस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

चेतनभोग्यत्वादस्तु तदधीनत्वं तस्यापीत्यत आह—ज्ञेयेति । ज्ञेयस्य  
भावो ज्ञेयत्वम् । यथा सांख्यैरिष्टं प्रधानं नैवमस्य वचनं ज्ञेयत्वस्यावचनं  
ज्ञेयत्वावचनं न तदधीनतदुपचारादपि । अप्रत्यभिज्ञायमानत्वादित्यर्थः ।  
चकारोऽसत्त्वं स्वरूपस्याऽऽह ॥ ४ ॥

वदतीति । ज्ञेयत्वावचनमसिद्धम् । कुतः । निचाय्य तमित्यनेन

(ब्र० ४०१) अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं  
निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

[ काठ० २ । ३ । १५ ] इति ।

अशब्दमित्यादिषु प्रत्येकं नित्यमिति संबध्यते । नित्यं सर्वद  
निचाय्य ज्ञात्वा यादृशं शब्दादिहीनं प्रधानं तादृशमेवेदं वाक्यं ज्ञेय  
त्वेन वदतीति चेन्न । प्राज्ञो हि परमात्मा निचाय्यत्वेन निर्दिष्टो ऽ  
प्रधानम् । कस्मात् । प्रकरणात् ।

पुरुषान्न परं किञ्चित्सा काष्ठा सा परा गतिः ।

[ का० १ । ३ । ११ ]

‘ एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ’ [ काठ० १ । ३ । १२ ]

इत्यादिनाऽऽत्मन एव प्रकरणात् ॥ ५ ॥

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ ६ ॥

किं च न प्रधानमव्यक्तशब्दवाच्यं ज्ञेयं वा । यस्मान्नयाणामेवाग्नि  
जीवपरमात्मनामेवैवं पूर्वोत्तरवाक्यपर्यालोचनया वक्तव्यत्वेनोपन्यास  
स्तद्विषय एव प्रश्नोऽपि दृश्यते कठवल्लीग्रन्थे नान्यस्य । तत्र ‘ स  
त्वमग्निं स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि तं श्रद्धधानाय मह्यम् । ’ [ का०  
१ । १ । १३ ] इत्याग्निविषयः प्रश्नः ।

‘ येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ।

एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

[ का० १ । १ । २० ] इति जीवप्रश्नः ।

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।

अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद् ’ ॥

[ का० १ । २ । १४ ] इति परमात्मप्रश्नः ।

(बी०१) ज्ञेयत्वं वदति श्रुतिरिति चेदेवं यदि तन्न । हि यस्मात्प्राज्ञः परमे-  
श्वरोऽत्र निचाय्यः । कुतः । प्रकरणात् । तस्येति शेषः । प्रकरणं महावा-  
क्यम् । पुरुषान्न परं किञ्चिदित्यादिकम् ॥ ५ ॥

यथाऽग्निजीवौ प्राज्ञस्यापि प्रकरणे तद्वत्प्रधानमपि स्यादित्यत आह-  
त्रयाणामिति । त्रयाणामग्निजीवपरमात्मनामेव प्रधानस्य चैवमुपन्यासः ।  
उत्तरम् । अग्नेः ‘ लोकादिमग्निम् ’ इत्यादिः । जीवस्य ‘ हन्त ते ’

(ब० व० १) लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा यथा वा  
[ का० १ । १ । १५ ] इत्यग्निविषयमुत्तरम् ।

‘ हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।

यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

[ का० २ । ५ । ६ । ७ ] इति जीवस्योत्तरम् । ‘ न जायते म्रियते वा विपश्चित् ’ [ का० १ । २ । १८ ] इत्यादिपरमात्मनः प्रतिवचनम् । न ह्येवं प्रधानस्य प्रश्नोत्तरे दृश्येते येनाव्यक्तशब्दवाच्यत्वं ज्ञेयत्वं वा स्यात् । श्रुत्यर्थस्तु—हे मृत्यो स मदर्थं दत्तवरस्त्वं स्वर्गं स्वर्गहेतुमग्निमध्येषि सदा स्मरसि तेन त्वं तद्विषयां विद्यां वदेत्यर्थः । जीवपरमात्म-प्रश्नौ पूर्वं व्याख्यातौ । लोकादिं लोकहेतुं विराट्दृष्ट्योपास्यत्वाल्लोकादिं तमग्निमुक्तवान्नचिकेतसे । याः स्वरूपतो यादृशीः, यावतीः संख्यातो यथा वाऽग्निश्चीयते तत्सर्वमुवाचेति संबन्धः । हन्तेदानीं गुह्यं गोप्यं चिरंतनं ब्रह्म प्रवक्ष्यामीत्युपक्रम्य जीवमपि ब्रवीति—यथेति । आत्मा जीवो मरणं प्राप्य यथा भवति तथा वक्ष्यामीति योजना । कथं भवतीत्यत आह—योनिमिति । मृतानां पुनर्विचित्रजन्मसंपत्तौ निमित्तमाह—यथेति । यद्यप्यस्मिन्कठवल्लीग्रन्थे जीवपरमात्मनोः पृथक्प्रश्नौ न स्तः । वरान्वृणीष्वेति मृत्युना प्रेरितेन नचिकेतसा पितुः सौममस्याग्निविद्यात्मविद्यात्मकवरत्रयमेव पृष्टमिति ‘ वराणामेष वरस्तृतीयः ’ [ का० १ । १ । २० ] इति लिङ्गान्निश्चितत्वात्तथाऽपि जीवपरयोः कल्पितभेदापेक्षया त्रयाणामित्युक्तं सूत्रकारैः । वस्तुतस्तु येयं प्रेत इत्यादिना पृष्टस्यैवाऽऽत्मनोऽन्यत्र धर्मादित्यादिना धर्मविशेषपुरस्कारेणानुकर्ष इत्येक एव प्रश्नः । भेदस्य च कल्पितत्वं वाक्यपर्यालोचनयाऽवगतम् । तथा हि ‘ यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह ।

मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।

[ का० २ । ४ । १० ] इति जीवप्राज्ञभेददृष्टिमपवदति । इह देहे यच्चैतन्यं तदेवामुत्राऽऽदित्यादावसंसारि ब्रह्म यच्चामुत्र तदेवेह देहेन

(दी० १) इत्यादिः । परमात्मनो ‘ न जायते ’ इत्यादिः । प्रश्नश्च प्रश्नोऽपि । अग्रेः ‘ स त्वमग्निम् ’ इत्यादिः । जीवस्य ‘ येयं प्रेत ’ इत्यादिः ।



( ब० व० । ) प्रविष्टमित्यन्योन्यैक्यमित्यर्थः । अभेदं द्रढयितुं भेदं निन्दति—  
मृत्योरिति । यः कश्चिन्मूढ इह ब्रह्मात्मनि नानेव मिथ्याभेदं पश्यति  
वस्तुतोऽहं भिन्न इति स मरणान्मरणं पुनः पुनः प्राप्नोति न सुखमा-  
गित्यर्थः । तथा जीवप्रश्नान्तरम् ‘ अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व ’ इत्या-  
रभ्य मृत्युना तैस्तैः कामैः प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता यदा न चचाल  
तदैवं मुमुक्षुं मत्वा ‘ विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बह-  
वोऽलोलुपन्त ’ [ का० १।२।४ ] इति प्रशस्य प्रश्नमपि तदीयं प्रशस्य तं  
यदुवाच ।

‘ तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।

अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

[ का० १ । २ । १२ ] इति तेनापि जीवप्राज्ञयोरभेद एवेति गम्यते ।  
यद्युभयोर्भेदस्तदा जीवप्रश्नानन्तरं प्रशंसा विफलैव स्यात् । श्रुत्यर्थस्तु—  
त्वा त्वां बहवः कामा नालोलुपन्त श्रेयोविच्छेदं न कृतवन्तस्ततो  
विद्यार्थिनं त्वां मन्येऽहमिति । जीवप्रश्नस्य परमात्मवाक्येनोत्तरमाह—  
तं दुर्दर्शमिति । न ह्यत्र भेदमिथ्यात्वे विवादः । यतो जीवप्रश्ने परमा-  
त्मानं प्रतिपादयत्युभयोर्भेदे तात्त्विक उन्मत्तप्रलापो भवेदित्येवमादीनि  
वाक्यानि भेदमिथ्यात्वे बोध्यानि ॥ ६ ॥

महद्वच्च ॥ ७ ॥

किं च यथा ‘ बुद्धेरात्मा महान्परः । ’ [ का० १ । ३ । १० ]  
‘ वैदाहमेतं पुरुषं महान्तम् । ’ [ श्वे० ३ । ८ ] इत्यादौ वेदे श्रुतो  
महच्छब्दो बुद्ध्याख्यद्वितीयत्ववाची नाङ्गी क्रियते साङ्ख्यैस्तथा वैदि-  
कोऽव्यक्तशब्दो नाप्रकृतप्रधानवाची । तस्मात्प्रकृतशरीरपरमेवाव्यक्त-  
मित्यशब्दत्वं प्रधानस्येति सिद्धम् ॥ ७ ॥

( श्रुतिप्रमितप्रकृतिस्मृतिसंमतप्रधानयोर्मध्ये तादृशप्रकृतेरेवाजाशब्द-  
वाच्यत्वम् । अधि० २ )

(दी०) परमात्मनः ‘ अन्यत्र धर्मात् ’ इत्यादिः । एवमनेन प्रकारेण त्रयाणा-  
मेव प्रधानस्य । आदिश्चकारः प्रधानस्य स्वरूपासत्त्वं समुच्चिनोति ॥ ६ ॥

ननु प्रधानं किंवदशब्दमित्यत आह—महदिति । महान्तमित्यादौ  
यथा सांख्याभिमतं महत्तत्त्वं शब्ध्यते महच्छब्देन तद्वत्प्रधानमपि नाव्य-  
क्तशब्देन शब्ध्यते । चकारस्तस्यापि असत्त्वसूचनार्थः ॥ ७ ॥

## चमसवदविशेषात् ॥ ८ ॥

(ब्र०व०।) पूर्वमव्यक्तशब्दमात्रप्रत्यभिज्ञानेन प्रधानस्यार्थतोऽप्रत्यभिज्ञानादव्यक्तपदावाच्यत्वेऽपि त्रिगुणत्वादिनाऽजामन्त्रेऽर्थतः प्रत्यभिज्ञानादजापदं प्रधानपरमस्त्विति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । अध्यायपादसंगतिकलानि पूर्ववद्बोध्यानि । श्वेताश्वतरोपनिषदि श्रूयते—‘अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।

अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ।’

[ श्वे० ४ । ५ ] इति । तत्र संशयः किमजाशब्देन प्रधानमुच्यत उत तेजो ब्रह्मात्मिका छान्दोग्यसिद्धावान्तरप्रकृतिरिति । तत्र न जायत इत्यजा सांख्यसिद्धा प्रकृतिरेव सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकत्वाल्लोहितशुक्लकृष्णा च भवति । किं चैकोऽजः पुरुषो जुषमाणः सेवमानः कार्यकरणसंघाताभिमानाति यावत् । स तामनुशेते । तामजां भ्रमेणाऽऽत्मत्वेनावगम्य तत्कार्यबुद्धिनिष्ठं सुखदुःखादिकमनुभवति अहं सुखी दुःखीति । अन्यस्तु विवेकी भुक्तभोगां कृतभोगां विवेकज्ञानाज्जहाति त्यक्त्वा मुच्यत इति जीवभेदप्रतिपादनादजा प्रधानमिति नाशब्दं प्रधानमिति प्राप्ते ब्रूमः—न प्रधानस्यासाधारण्येनात्र प्रत्यायकमस्ति । न जायत इत्यजेत्यन्यत्रापि योजयितुं शक्यत्वाल्लोहितादिशब्दाश्च रूपविशेषेषु रूढा न रजआदौ । यथाकथंचिन्नयनमन्यत्रापि तुल्यम् । साधारणस्थल इदमेतत्पदाव्ययमिति निर्धारणाभावे दृष्टान्तः—चमसवदिति । यथा ‘अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः’ [ बृ० २ । २ । ३ ] इत्यस्मिन्मन्त्रेऽयं चमस इत्यवधारणं न संभवति कथंचिद्वर्वाग्बिलत्वादेरन्यत्राप्यविशेषात् । एवमजामन्त्रेऽप्यजात्वादेरविशेषान्न प्रधाननिर्णय इति अशब्दं प्रधानमित्यर्थः ॥ ८ ॥

(टी०।)पूर्वाधिकरणेऽर्थतोऽप्रत्यभिज्ञानान्नाव्यक्तशब्दवाच्यतेत्युक्तम् । इह तु त्रिगुणत्वादिना प्रधानस्य प्रत्यभिज्ञानात्तत्परो मन्त्र इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते चमसवदिति । अजामित्यादिमन्त्रो न स्वातन्त्र्येण कस्यचिदर्थस्य प्रतिपादकः । अविशेषात् । अजादिशब्दानां न काचिदर्थविशेषो निरूपयितुं शक्यो विना प्रकरणादिकं सोऽयमविशेषस्तस्मात् । किंवदित्यत आह—चमसवत् । यथा ह्यर्वाग्बिलश्चमस इत्यस्मिन्मन्त्रे स्वातन्त्र्येण चमसपदं न कस्याप्यर्थस्य वाचकं तद्वदजादिपदानि ॥ ८ ॥

(ब० व० १) ननु 'इदं तस्मिन् एष ह्यर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुधः' इति वाक्यशेषाच्छिरश्चमस इति निर्णयो भवति । इह त्वजामन्त्रे केयमजा प्रतिपत्तव्येत्याशङ्क्य सजातीयश्रुत्यन्तरात्तेजोबल्लक्षणाऽजा प्रतिपत्तव्येत्याह—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ ९ ॥

ज्योतिस्तेज उपक्रम आदौ यस्यास्तेजोबल्लक्षणायाः सा ज्योतिरुपक्रमा । तुरवधारणे । सैवेहाजा निर्धारणीया न प्रधानम् । कस्मात् । तथा ह्यधीयत एके । हि यस्मादेके छन्दोगास्तेजोबल्लात्मिकाया भौतिककार्यप्रकृतेस्तथा लोहितादिरूपतामधीयत आमनन्ति—'यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' [ छा० ६ । ४ । १ ] इति । तथा च लोहितादिशब्दसाम्यात्तान्येव तेजोबल्लानीह प्रत्यभिज्ञायन्ते । यद्वाऽत्रैव श्वेताश्वतरोपनिषदि पूर्वापरपर्यालोचनायामनिर्वाच्यमायाया जगत्कारणत्वप्रतीतेस्तस्या अजाशब्देन ग्रहणम् । तथा हि 'किं कारणं ब्रह्म' [ श्वे० १ । १ ] इत्युपक्रम्य 'ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' [ श्वे० १ । ३ ] इति वाक्योपक्रम ईश्वरशक्तेर्मायाख्याया जगद्धेतुत्वं गम्यते । वाक्यशेषेऽपि 'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्' इति 'यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येकः' [ श्वे० ४ । १० । ११ ] इति च तस्या एवावगतिर्न स्वतन्त्रप्रधानस्येति । श्रुत्यर्थस्तु—ब्रह्मणः शुद्धत्वान्न जगद्धेतुत्वमिति श्रुतिर्ब्रह्मवादिनः प्रति शङ्कते—किं कारणमिति । यज्जगत्कारणं तर्हि ब्रह्म वाऽन्यद्वेत्यर्थः । यद्वा जगदुत्पत्तौ किमुपकरणवद्ब्रह्मेत्यर्थः । ते पृष्ट्वा ब्रह्मवादिनोऽनया रीत्या विमृश्य ध्यानाख्येन योगेनानुगताः परमात्मानमनुप्रविष्टाः सन्तस्तस्यैव देवस्याऽऽत्मभूतामैक्येनाध्यस्तां मायाशक्तिं गुणत्रयवतीं त्रिगुणस्य जगतो निर्माणे सहकारिणीमपश्यन्निति योजना । प्रधाने मायाशब्दं वारयति—मायिनमिति । अविद्याशक्तियोनितस्तस्या एकत्वेऽपि कार्यभेदेन भेदाद्वीप्सा । तदुक्तं सुरेश्वराचार्यैः—

(दी० १) तर्हि केयमजा प्रतिपत्तव्येत्यत आह—ज्योतिरिति । ज्योतिरुपक्रमे चक्षुर्ग्राह्यकार्यं प्रथमं यस्याः सा तेजोबल्लात्मिका प्रकृतिः । तुशब्दोऽवधारणे । सैवाजा न काचित्पुनरन्या । कुतः । हि यस्मात्तथा यथाऽजामन्त्रे लोहितशुक्लकृष्णरूपा तथा तेजोबल्लात्मिकां प्रकृत्य 'यदग्ने रोहितं

(ब०व०१) 'स्वतस्त्वविद्याभेदोऽत्र मनागपि न विद्यते' । इति ।

अधितिष्ठति प्रेरयति । न हि परमत ईश्वरस्य तदधिष्ठातृत्वं संमत-  
मिति रहस्यम् ॥ ९ ॥

नन्वजाशब्दो न तावत्तेजोबन्नात्मिकायां प्रकृतौ रूढश्छागवदजात्व-  
जात्याधारत्वाभावात् । नापि यौगिको जनिमत्त्वात्तेजोबन्नानामित्यत  
आह—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १० ॥

चशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । तेजोबन्नात्मिकायां प्रकृतौ नाजाशब्द-  
स्यानुपपत्तिः । कुतः । कल्पनोपदेशात् । यथा लोकप्रसिद्धामर्जां मुक्त-  
भोगामेकोऽजस्त्यजति अन्यस्तामनुवर्तत एवं त्यागभोगयोः कार्यकार-  
णसंघाताद्युपादानभूतायास्तेजोबन्नात्मिकायाः प्रकृतेः साम्यद्योतनार्थ-  
कल्पनयाऽजात्वस्योपदेशात् । यथा मधुभिन्नस्याऽऽदित्यस्य 'असौ वाव  
आदित्यो देवमधु' इति मधुत्वोपदेशो यथा वा धेनुभिन्नाया वाचो  
धेनुत्वोपदेश एवमजाभिन्नायाः प्रकृतेरजात्वोपदेशो न कश्चिद्वि-  
रोधः । यदुक्तं जीवभेदोऽस्मिन्मन्त्रे प्रतिपाद्यत इति तन्न । लोकसिद्ध-  
भेदानुवादेन बन्धमोक्षव्यवस्थापरत्वादस्य मन्त्रस्य । 'एको देवः सर्व-  
भूतेषु गूढः' [ श्वे०६ । ११ ] इत्यादिनाऽऽत्मैक्यावगमात् । तस्मान्नात्र  
प्रधानस्यावकाश इत्यशब्दं प्रधानमिति सिद्धम् ॥ १० ॥

( प्राणचक्षुःश्रोत्रमनोन्नानां पञ्चपञ्चजनशब्दवाच्यत्वम् । अधि०३ )

(दी०१) रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य' इत्यधीयते  
पठन्ति एके छन्दोगाः ॥ ९ ॥

रूढियोगयोरभावेऽजाशब्दः कथं तेजोबन्नेषु प्रतिपत्तव्य इत्यत आह—  
कल्पनेति । तेजोबन्नात्मिका लोहितशुक्लकृष्णात्मिका प्रकृतिरजा माया  
छागीव यावद्भरकेरेणाजेन सेव्यमानाऽपरेण त्यज्यमाना । कल्पयत इति  
कल्पना तस्या उपदेशः कल्पनोपदेशस्तस्मात् । च । अपि । अविरोधो  
न विरोधोऽविरोधः । कल्पनायां दृष्टान्तः—मध्वादिवत् । 'यथाऽऽदि-  
त्यस्यामधुनो मधुत्वम्' आदिशब्दाद्वागादेरधेन्वादेर्धनुत्वादित्वम् ।  
तद्वदनजायाः प्रकृतेरजात्वम् ॥ १० ॥

\*न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ ११ ॥

(ब्र० व० १) पूर्वमाध्यात्मिकाधिकारे प्रसिद्धच्छाँगग्रहणायोगादजा तेजआदिकेत्युक्तम् । तथा 'यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः' [बृ० ४ । ४ । १७] इति मन्त्रे पञ्चजनशब्देन प्रसिद्धमनुष्यग्रहणायोगादवयवव्युत्पत्त्या सांख्याभिमतपञ्चविंशतितत्त्वानां ग्रहणमस्त्विति दृष्टान्तसंगत्याऽस्याऽऽरम्भः । फलं पूर्ववद्वष्टव्यम् । बृहदारण्यके षष्ठाध्याये श्रूयते 'तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्' [बृ० ४ । ४ । १६] इत्यनन्तरम्—

‘यस्मिन्पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।  
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान्ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥

प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमयम्' [बृ० ४ । ४ । १६ । १७ । १८] इति । परमार्थतोऽस्यार्थः—ज्योतिषां सूर्यादीनां ज्योतिर्भासकं तद्ब्रह्म देवा उपासते । आयुश्चेनामृतत्वेन च तेनोपासनेनाऽऽयुष्मन्तो जाता इति पूर्ववाक्यार्थः । सूर्यादिज्योतिरेकं पूर्वोक्तं प्राणस्य प्राणमित्यादिवाक्यशेषगताश्चत्वारः प्राणादयश्चेति मिलित्वा पञ्चजनाः पञ्च । पञ्चजनशब्दोऽवयवार्थमनपेक्ष्य पुरुषमात्रं वक्ति लोकेऽत एव 'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः' इत्यमरो जगाद् । प्रकृते च पुरुषग्रहणे वाक्यस्य निस्तात्पर्यत्वापत्त्या तत्संबन्धिप्राणादयो गृह्यन्ते पञ्चजनशब्देन । ते कतीत्याकाङ्क्षायां पञ्चेति संख्यापूरणम् । तथा च पञ्च पञ्चजना आकाशश्चाविद्याख्यो यस्मिन्प्रतिष्ठितस्तमेव निष्प्रपञ्चब्रह्मात्मकममृतमात्मानं मन्य इति मन्त्रदृशा याज्ञबल्क्येनोक्ते जनकः पप्रच्छ बहिरेव त्वं किं विद्वान्ममन्तव्यादन्यो मर्त्य इति नेत्याह—विद्वानमृत इति । अस्मीति शेषः । अविद्यया कल्पितं मर्त्यत्वमिति भावः । प्राणादीनां

(दी० १) पूर्वाधिकरणेऽजाशब्दो रूढियोगाभावात्कल्पनया तेजोबन्धार्थपर इत्युक्तम् । इहापि पञ्चजनशब्दो रूढो मनुष्येषु व्यर्थो लक्षणायां प्राणादि-

\* न सांख्योपसंग्रहादपीति पाठभेदः ।

(ब्र० व० १) जीवनादिप्रदत्तं पदलक्ष्यं ये विदुस्ते तस्य स्वरूपं पुराणं चिरंतन-  
मग्रे कार्यदशायामप्यलुप्तत्वेन भवमग्रियं ब्रह्म निचिक्षुर्निश्चयेन ज्ञातवन्त  
इति । तत्र पञ्चजनशब्देन मूलप्रकृत्यादीनि पञ्चविंशतितत्त्वान्युच्यन्त  
उत वाक्यशेषगताः प्राणादय इति संशये तत्त्वानीति प्राप्तम् ।  
तथा हि—

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।

षोडशकश्च विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥[सांख्यका०३]

इति संगृहीतानि पञ्चविंशतितत्त्वानि वर्तन्ते । पञ्च पञ्चजना इति  
पञ्चानां जनानामादिमपञ्चपदेन पञ्चत्वोक्तौ पञ्चविंशतिजनाः संप-  
द्यन्ते । ते जनाः कर्तव्याकाङ्क्षायां सांख्यस्मृतिसंगृहीतानि पञ्च-  
विंशतितत्त्वानि संबध्यन्त इति नाशब्दं प्रधानमिति । स्मृत्य-  
र्थस्तु—मूलप्रकृतिः प्रधानमविकृतिरनादित्वान्महदहंकारौ पञ्चभूतानि  
सूक्ष्माणि पञ्चतन्मात्रसंज्ञानि च सप्त महदाद्याः प्रकृतयो विकृ-  
तयश्च । तत्त्वान्तरोपादानत्वात्प्रकृतित्वम् । अस्ति हि महतो बुद्ध्या-  
ख्यस्याहंकारतत्त्वं प्रत्युपादानत्वं प्रधानापेक्षया विकृतित्वम् । एवं  
पूर्वापेक्षया विकृतित्वमहंकारादीनां द्रष्टव्यम् । प्रकृतित्वं चाहंका-  
रस्य पञ्चतन्मात्राणामेकादशेन्द्रियाणां चोपादानत्वात्पञ्चतन्मात्राणां  
चाऽऽकाशादिमहाभूतप्रकृतित्वं षोडशकस्य षोडशसंख्यावच्छिन्नस्यै-  
कादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतसमुदायरूपस्य विकारत्वमेव न प्रकृतित्वं पुरु-  
षस्तु कूटस्थ इति । अत्राभिधीयते—अस्मिन्मन्त्रे भूयमाणया पञ्च-  
विंशतिसंख्यया स्मृतिप्रसिद्धानां पञ्चविंशतितत्त्वानामुपसंग्रहात्प्रधा-  
नस्य शब्दवत्त्वमित्यपि न । कुतः । नानाभावात् । अस्मिन्मन्त्रे सर्व-  
नाम्नाऽऽकाशशब्देन चाऽऽत्माकाशयोः पृथक्भूयमाणत्वात्तौ विहाय  
गुणान्नयो महदादयो द्वाविंशतिः संभूय पञ्चविंशतिसंख्यया वक्तव्या-  
स्तथा च पञ्चपञ्चानां पञ्चकानामेकपञ्चपर्याप्तान्यपञ्चकव्यावृत्तध-  
र्मवत्त्वाभावेन नानाभावात्पञ्च पञ्चजना इत्यनेन पञ्चानां पञ्चकानां  
ग्रहणमिति प्रतिपादनमशक्यसमर्थनम् । लोके हि गोपञ्चकं ब्राह्मण-

(दी० १) वाक्येनान्वितोऽतोऽवयववृत्त्या प्रधानादिषु स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽ-  
क्षिप्य समाधत्ते—न संख्येति । संख्याया ' यस्मिन्पञ्च पञ्चजनाः ' इति  
पञ्चविंशतेरुपसंग्रहादपि स्वीकारादपि प्रधानादीनां न श्रौतत्वम् । कुतः ।

(ब० व० १) पञ्चकं चेति पञ्चकद्वयं वक्तुमुचितमेकग्रहणामावेन पर्याप्तान्यप-  
ञ्चकव्यावृत्तगोत्वादिधर्मवत्त्वादित्यर्थः । नानात्वेऽपि कथंचित्पञ्चविंशति-  
संख्याप्रतिपादकत्वाङ्गीकारे बाधकान्तरमाह—अतिरेकाच्चेति । न ह्यस्मि-  
न्मन्त्रे पञ्चविंशतिसंख्यैव श्रूयते किं त्वतिरिक्तात्माकाशावपि श्रूयेते ।  
तथा च तयोः पञ्चविंशतितत्त्वातिरिक्तत्वात्सप्तविंशतितत्त्वप्राप्तावपसि-  
द्धान्तापातः । न च गुणत्रित्वाविवक्षया पञ्चविंशतिसंख्यापूरणान्न तत्त्वा-  
तिरेक इति वाच्यम् । तथा सत्यात्माकाशयोः पृथक्कथनवैयर्थ्यात्कथंचि-  
द्भोग्यजातापेक्षयाऽऽत्मनः पृथक्त्वेन कथनस्य सार्थकत्वेऽप्याकाशस्य  
पृथक्कथनं निष्फलमेवेति भावः । वस्तुतोऽत्र पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीति-  
रेव नास्तीत्यपिशब्देन सूचयति । पञ्चजनशब्दस्यैकत्वेन योगमनपेक्ष्य  
पुरुषेषु रूढत्वात्ते कर्तीत्याकाङ्क्षायां पञ्चत्वसंख्यान्ययात् । अन्यथा  
पञ्चजना इत्यत्र पदभेदाङ्गीकारे प्रधानजनान्प्रति गुणत्वेनान्वितस्य  
पञ्चत्वस्याऽऽद्यपञ्चत्वेनान्वयायोगो बाधकः । गुणयोः परस्परान्वयाद्-  
र्शनात् । उभयोः पञ्चत्वयोः प्रधानजनान्वयसंभवेऽपि जनेषु दशत्व-  
संख्याप्रतीतिरेव न पञ्चविंशतिसंख्याप्रतीतिरिति न शब्दवत्प्रधानम् ॥ ११ ॥

ननु ते पञ्चत्वसंख्याकाः पञ्चजनाः क इति स्वरूपप्रश्नस्योत्तरमाह—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १२ ॥

माध्यंदिनशाखायां पञ्चजनमन्त्रानन्तरमन्त्रे प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनांसि  
श्रूयमाणानि पञ्चजनशब्देनोच्यन्ते । कस्मात् । वाक्यशेषात् । ‘प्राणस्य  
प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमुतान्नस्यान्नं मनसो ये मनो  
विदुः’ [ बृह० ( माध्य० ) ४ । ४ । २१ ] इति वाक्यशेषस्थत्वादि-  
त्यर्थः । अन्नं विराट्प्राणचक्षुःश्रोत्रमनांसि सूत्रं तयोः कारणमव्याकृ-  
ताकाशः ॥ १२ ॥

(दी० १) नानामावात् । तेषां पञ्चत्वे पञ्चत्वे नियामकाभावान्नानात्वादेर्षा-  
मित्यर्थः । न केवलं नानात्वादतिरेकाच्च । अतिरेकः पञ्चविंशतिसंख्याया  
आत्माकाशयोस्ततः पृथक्श्रवणात्तस्मादपि ॥ ११ ॥

के पुनस्ते पञ्चजना इत्यत आह—प्राणादय इति । प्राण आदिर्येषां  
ते प्राणादयः । प्राणचक्षुःश्रोत्रान्नमनांसि । कुतः । वाक्यशेषात् । ‘यस्मि-  
न्पञ्च पञ्चजनाः’ इति वाक्यशेषः ‘प्राणस्य प्राणम्’ इत्यादि-  
स्तस्मात् ॥ १२ ॥

(ब्र० व० १) ननु माध्यंदिनानां प्राणादिवृत्तस्याऽऽम्नानाद्भवतु पञ्चसंख्या काण्वानां त्वनाम्नानात्कथं पञ्चसंख्येत्यत आह—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १३ ॥

एकेषां काण्वानामसत्यन्ने ' तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमु-  
तम् ' [ बृ० ४ । ४ । १६ ] इति पूर्ववाक्यस्थज्योतिषा पञ्चत्वं पूरणी-  
यमित्यर्थः । तस्मादशब्दं प्रधानमिति सिद्धम् ॥ १३ ॥

( ब्रह्मप्रतिपादकवेदान्तवाक्यसमन्वयानां युक्तियुक्तत्वम् । अधि० ४ )

कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणत्रयेण प्रधानस्याशब्दत्वप्रतिपादनेन जगत्कारणत्वल-  
क्षणं ब्रह्मण्येवेति नातिव्याप्तमित्युक्त्या कारणविषयाणां वेदान्तानां  
ब्रह्मणि समन्वय उक्तः स न संभवति । तेषां वेदान्तानां परस्परविरु-  
द्धार्थप्रतिपादकत्वेन स्वतो निश्चायकत्वाभावादनुमानसिद्धप्रधानलक्ष-  
कत्वं उक्तसमन्वयासिद्धेरित्याशङ्कानिरासार्थमिदमारभ्यते । नचाविरो-  
धार्थमधिकरणं नेह संगतमिति धार्यम् । समन्वयतो वाक्यार्थज्ञाने  
स्मृत्यादिमानान्तरविरोधाशङ्कानिरासस्याविरोधाध्यायार्थत्वादिह तु  
कारणविषयवाक्याणामेष मिथो विरोधान्न समन्वयो ब्रह्मणीत्याश-  
ङ्क्य तन्निरासेनैव समन्वयस्य साध्यत्वादध्यायसंगतिसिद्धेः । असत्प-  
दस्य बाह्याभ्युपेतासत्परत्वनिराकरणेन समन्वयस्थापनात्पादसंगतिर्बोध्या  
पूर्वं पञ्चत्वसंख्यापूरणमन्नेन ज्योतिषा वेति विकल्पस्याविरोधेऽपि प्रकृते  
सिद्धे कारणात्मकवस्तुनि विकल्पायोगाद्विरोधे सत्यप्रामाण्यं वाक्या-  
नामिति तन्निरासाय प्रधानस्य कारणत्वमिति प्रत्युदाहरणलक्षणावान्त-  
रसंगतिः । पूर्वोत्तरपक्षयोः समन्वयासिद्धिस्तत्सिद्धिः फलमिति विवेकः ।

(दी० १) कथं प्राणादयः पञ्चजना भवेयुः । येऽन्नं प्राणादिषु नाऽऽमनन्ती-  
त्यत उत्तरं पठन्ति—ज्योतिरिति । असत्यपि काण्वानामन्ने ' तद्देवा  
ज्योतिषां ज्योतिः ' इत्यनेन ज्योतिषा तेषां पञ्चसंख्या पूर्यते ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणेऽन्नज्योतिषोर्विकल्पेनोपासायां निवेशाद्विरोध उक्त इह  
तु सिद्धे कारणे विकल्पायोगाद्विरोधे सत्यप्रामाण्यमिति प्रत्युदाहरणे-



( ब्र० व० । ) अत्र जगत्कारणवादिवाक्यानि ब्रह्मणि मानं न वेति विशये नेति प्राप्तम् । कस्मात् । परस्परविरोधदर्शनात् । तथा हि—कचित् ' आत्मन आकाशः संभूतः [ तै० २ । १ ] इत्याकाशपूर्विका सृष्टिः श्रूयते । कचिच्च ' तत्तेजोऽसृजत ' [ छा० ६ । २ । ३ ] इति तेजआदिका । कचित्तु ' स प्राणमसृजत ' [ प्र० ६ । ४ ] इति प्राणादिका । कचिदक्रमैव सृष्टिः श्रूयते ' स इमाल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचिर्मरमापः [ ऐ० आ० २ । ४ । १ । २ । ३ ] इति । स ईक्षिता परमात्मा । लोकानेवाऽऽह—अम्भ इति । अम्मयशरीरप्रचुरस्वर्लोकोऽम्मः शब्दार्थः । रश्मिप्रधानोऽन्तरिक्षलोको मरीचिः । मरं मरणप्रधानोऽयं लोको मरः । अब्बहुलः पाताललोक इति विवेकः । एवं सृष्टौ विगाने तत्कारणत्वलक्षितब्रह्मणि विगानं साक्षादपि जगत्कारणे विगानं दृश्यते । ' असद्वा इदमग्र आसीत्ततो वै सद्जायत ' [ तै० २ । ७ ] इत्यसतः कारणत्वं कचिदवगम्यते । एवम्—' असदेवेदमग्र आसीत्तत्सदासीत्तत्समभवत् ' [ छा० ३ । १९ । १ ] इति । वस्तुतोऽयमर्थः—इदं जगदग्रे प्रागवस्थायामसदिवाव्यक्तमासीत्ततोऽनभिव्यक्तनामरूपादध्यक्तात्कारणादभिव्यक्तनामरूपं जगज्जातमव्यक्तमेव व्यक्तं भवतीति यावत् । तत्कारणं यदात्मना समभवत्तत्सदर्थक्रियोन्मुखमासीदिति । कचित्तु ' तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीत् ' [ छा० ६ । २ । १ ] इत्यसद्वादमुपन्यस्य ' कथमसतः सज्जायेत ' [ छा० ६ । २ । २ ] इति तं निरस्य सतः कारणत्वमाह—' सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ' [ छा० ६ । २ । २ ] इति । कचित्स्वकर्तृकैव सृष्टिः श्रूयते—' तद्धैदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियते ' [ बृह० १ । ४ । ७ ] इति । तदिदं जगत्तर्हि तदा प्रागवस्थायामव्याकृतं कारणमासीत्तत्कल्पितं शब्दात्मनाऽर्थात्मना च व्याक्रियत व्यक्तमभवदित्यर्थः । एवं परस्परविरोधान्न ब्रह्मणि समन्वयो वाक्यानां किं त्वनुमानादिसिद्धप्रधानलक्षकत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः । कार्यविषयं विगानमक्रमादिप्रयुक्तम् ' न वियदश्रुतेः ' [ ब्र० सू० २ । ३ । १ ] इत्यादिना परिहरिष्यत्याचार्यः । अत्र तु कारणवि-

(दी०।)नाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—कारणेति । कारणस्य भावः कारणत्वं तेनाऽऽकाशादिषु विषयेषु यथैकस्यां शाखायां व्यपदिष्टः सदेवेत्यादिना

( ब्र०व० । ) गानं परिहरति । चशब्दस्तु समाशब्दनार्थकः शङ्कानिरासं वक्ति । ब्रह्मणः कारणत्वे विरोधो नास्ति । कुतः । यथाव्यपदिष्टोक्तेः । आकाशादिषु यथाभूत ईश्वरः कारणत्वेन व्यपदिष्ट एकस्मिन्वेदान्ते तथाभूतस्यैवापरवेदान्तेऽप्युक्तेरित्यर्थः ॥ १४ ॥

न च कचिदसतः कचित्सतः कचित्स्वभावादुत्पत्तिश्रवणाद्विरोध इति वाच्यमित्याह सूत्रकारः—

समाकर्षात् ॥ १५ ॥

असन्नेव स भवति । ‘असद्ब्रह्मेति वेद चेत्’ इति असद्वादमपोद्य ‘अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद’ इति सदात्मानं निर्धार्य ‘सोऽकामयत’ इति सतः सकाशात्सृष्टिमुक्त्वा ‘तत्सत्यमित्याचक्षते’ इति सदात्मानमुपसंहृत्य ‘तदप्येष श्लोको भवति’ [ तै० २ । ६ ] इति प्रकृते सदात्मानि श्लोकमुदाहरति—‘असद्वा इदमग्र आसीत्’ इति । तथा चासच्छब्देन सत एव समाकर्षान्नासतः कारणशङ्केत्यर्थः । यद्यस्मिन्श्लोके निरात्मकमसदुच्येत तदाऽन्यसमाकर्षणेनान्यस्योदाहरणात्प्रकृतासंबन्धः श्लोक आपद्येत । एवमसदेवेदमग्र आसीदित्यत्रापि तत्सदासीदिति समाकर्षादनभिव्यक्तनामरूपमसच्छब्दं ब्रह्मैव । एवं ‘तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत’ इत्यत्रापि ‘स एष इह प्रविष्टः । आ नखाग्रेभ्यः’ [ बृ० १ । ४ । ७ ] इति प्रकृतपरामर्शना स इत्यनेनाऽऽत्मनः समाकर्षणान्न स्वभावादेव जगदुत्पत्तिर्व्याक्रियतेति कर्मण एव कर्तृत्वबोधकलकारो लूयते केदारः स्वयमेवेतिवत्सत्यपि पृथक्कर्तरि न विरुध्यते । यद्वा कर्मण्येवायं लकारो गम्यते ग्राम इत्यादिवद्ब्रह्मणः । एवं ब्रह्मणः कारणत्वे न कश्चिद्विरोधः । नापि सृष्टिविरोधात्तत्कारणे ब्रह्मणि विरोधः सृष्टिवाक्यानां निष्प्रपञ्चब्रह्मपरत्वेन सृष्टौ तात्पर्याभावात् । श्रुतिरपि निष्फलसृष्टेः फलवद्ब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वं दर्शयति—‘अन्नेन सोम्य शुक्लेनाऽऽपो मूलमन्विच्छाद्भिः सोम्य शुक्लेन तेजोमूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुक्लेन सन्मूलमन्विच्छ’ [ छा० ६ । ८ । ४ ] इति शुक्लं

( दी० । ) तथाऽन्यस्यामपि सत्यं ज्ञानमनन्तमित्यादिनोक्तेरभिधानात् । चकारः कार्यस्यापि तथोक्तिसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

असद्वा इदमित्यादिनाऽस्ति विगानमित्यत आह—समिति । प्रकृतस्यैव सत्यज्ञानादिलक्षणस्याऽऽकर्षणं प्रतिपादनमाकर्षः । सम्प्रज्ञानामरूपादि-

(ब्र० व० १) कार्यं सन्मूलं ब्रह्म तस्मान्न केनापि विगानमिति जगत्कारणवा-  
क्यानां ब्रह्माणि समन्वयः सिद्धः ॥ १५ ॥

(प्राणजीवपरात्मनां मध्ये परात्मन एव कृत्स्नजगत्कर्तृत्वेन बाला-  
किना ब्रह्मत्वेनोक्तानां षोडशपुरुषाणां कर्तृत्वनिराकरणम् । अधि० ५ )

जगद्वाचित्वात् ॥ १६ ॥

एवं हि गार्ग्याख्यऋषिणा बालाकिनाऽजातशत्रुनामकस्य राज्ञः  
संवादः श्रूयते कौपीतकिब्राह्मणे—बालाकिरजातशत्रुणा ब्रह्मज्ञेन  
ब्रह्माणि संवदितुं ब्रह्म ते ब्रवाणीत्युपक्रम्याऽऽदित्यादिपुरुषाज्जीवानुक्त्वा  
तूष्णीं बभूव । तमजातशत्रुर्भृषावादितयाऽपोऽथ शिष्यभूताय गार्ग्याय  
ब्रह्मोपदेशार्थमिदमाह—‘यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य  
चैतत्कर्म स व वेदितव्यः’ [ कौ० ब्रा० ४ । १९ ] इति । अस्यार्थः—  
हे बालाके त्वया ये पुरुषा आदित्यादिगता ब्रह्मत्वेनोक्तास्तेषां पुरु-  
षाणां कर्ता न केवलं जगदेकदेशपुरुषकर्ताऽपि तु सर्वस्यैव जगत  
इत्याह—यस्येति । कर्मपदं जगद्वाचि । एवं सामान्यविशेषाभ्यां जग-  
त्कर्ता ततो निष्कृष्टो ज्ञेय इत्याह—स इति । एवमस्य संगतिः । पूर्वं  
सच्छब्दादेकवाक्यस्थोऽसच्छब्दो नीतः । इह बालाकिवाक्यस्थब्रह्मश-  
ब्दादजातशत्रुवाक्यस्थकर्मशब्दो न शक्यते तदनुगुणतया नेतुं वाक्य-  
भेदादिति प्रत्युदाहरणम् । यद्वा वाक्यभेदेऽपि यथोत्तरसच्छब्दात्प्राची-  
नासच्छब्दो नीतस्तथोत्तरकर्मशब्दात्तदनुगुणतया ब्रह्मशब्दनयनमिति  
दृष्टान्तसंगतिः । उक्तवाक्यसमन्वयासिद्धिस्तस्मिद्धिः पूर्वोत्तरपक्षयोः  
फलं बोध्यम् । एवं स्थिते संशयः किमत्र पुरुषः कर्ता वेदितव्यः प्राण  
उत जीव आहोस्वित्परमात्मेति । प्राण इति तावत्प्राप्तम् । कुतः । यस्य  
वै तत्कर्मेति चलनात्मकस्य कर्मणो वाय्वात्मकप्राणस्यैव संभवात् ।  
वाक्यशेषे च ‘अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ इति प्राणशब्दश्रवणात् ।  
जीवो वा तल्लिङ्गस्यापि वाक्यशेषे दर्शनात्—‘तद्यथा श्रेष्ठी स्वैर्भुङ्क्ते यथा वा

(दी० १) राहित्येनाऽऽकर्षस्तस्मात् ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणे सदेवेत्यादिनैकवाक्यत्वेन सच्छब्दानुसारेणासच्छब्दो  
नीतो नैवमत्र किञ्चिन्नियामकं जगद्वाचित्वेन कर्मशब्दस्येति प्रत्युदा-  
हरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—जगदिति । पुरुषाणां कर्ता परमेश्वरः । यस्य

(ब्र० व० ॥) स्वाः श्रेष्ठिनं भुञ्जन्त्येवमेवैष प्रज्ञात्मैतैरात्मभिर्भुङ्क्ते एवमेवैत आत्मान एतमात्मानं भुञ्जन्ति' [कौ० ब्रा ० ४।२०] इति । अयमर्थः—श्रेष्ठी प्रधानः पुरुषः स्वैर्भृत्यैरुपकरणैर्भुङ्क्ते भृत्या अप्यशनाच्छादनादिना प्रधानमुपजीवन्ति एवं जीवोऽप्यादित्यादिभिः प्रकाशादिना भोगोपकरणैर्भुङ्क्ते भृत्यवदादित्यादयोऽपि देवा जीवं हविर्ग्रहणादुपजीवन्तीति प्राणभृत्त्वा जीवस्यैव भोग उपपन्नः । तस्माज्जीवमुख्यप्राणान्यतरसमन्वितमिव वाक्यमिति प्राप्ते ब्रूमः—अत्र वेदितव्यः पुरुषाणां कर्ता परमात्मैव । तथा हि ब्रह्म ते ब्रवाणीत्युपक्रम्य बालाकिनाऽऽदित्याद्यमुख्यात्मसूक्तेषु सत्सु तममुख्यात्मवादितयाऽपोद्याजातशत्रुणा वेदितव्यतयोपदिष्टः पुरुषकर्ता जीवो मुख्यप्राणो वा न हि भवितुमर्हति । तथात्वे गार्ग्यापेक्षयाऽजातशत्रोरविशेषप्रसङ्गात् । पुरुषकर्तृत्वं च परमात्मनोऽन्यत्राश्रया न संभवत्येव । न च कर्मशब्दानुपपत्तिः । क्रियत इति व्युत्पत्त्या कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात् । प्रत्यक्षाद्युपस्थितं जगदेतदिति सर्वनाम्ना परामृशति । न च जगदन्तर्भूतपुरुषकर्तृत्वं पृथङ्न वक्तव्यमिति युक्तम् । गार्ग्येण ब्रह्मत्वेनोक्तपुरुषाणामब्रह्मत्वद्योतनाय गोबलीवर्दन्यायेन पृथगुक्तिसंभवादिति ॥ १६ ॥

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तव्याख्यातम् ॥ १७ ॥

ननु जीवलिङ्गान्मुख्यप्राणलिङ्गाच्च न ब्रह्मपरत्वावधारणमिति चेत्तव्याख्यातम् । प्रतर्दनाधिकरणे 'नोपासात्रैविध्यादिह तद्योगात्' [ब्र० सू० १।१।३१] इत्यत्राविरुद्धतया जीवमुख्यप्राणलिङ्गं ब्रह्मपरं व्याख्यातमित्यर्थः । जीवप्राणपरत्वेऽभ्युपगम्यमाने ब्रह्मपरत्वस्याप्यावश्यकत्वाद्वाक्यत्रैविध्यं स्यादित्यशेषदोषस्तत्रोक्तः प्रकृतेऽपि समान इति भावः । प्रतर्दनविचारे कर्मपदस्याविचारादुगतार्थता द्रष्टव्या ॥ १७ ॥

(दी० ॥) वैतत्कर्मेति कर्मशब्दस्य जगद्वाचित्वात् । जगद्वक्तीति जगद्वाची तस्य भावस्तस्मात् ॥ १६ ॥

जीवेति । जीवस्य 'तद्यथा श्रेष्ठी' इत्यादि । प्राणस्य च 'अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति' इत्यादि । लिङ्गं गमकं जीवमुख्यप्राणलिङ्गं तस्मान्न परमात्मैवेति चेदेवं यदि । तच्चोद्यं नोपासात्रैविध्यादिति सूत्रावयवेन वाक्यभेदेन दोषेण व्याख्यातं निराकृतम् ॥ १७ ॥

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्या-  
नाभ्यामपि चैवमेके ॥ १८ ॥

(ब० व० १) जैमिनिराचार्योऽस्मिन्प्रकरणे जीवपरामर्शमन्यार्थं ब्रह्मप्रति-  
पत्त्यर्थं यतो मन्यतेऽतो ब्रह्मपरमेवेदं वाक्यम् । कुतो मन्यते । प्रश्नव्याख्या-  
नाभ्याम् । आत्मनि जिज्ञासुं बालाकिमादायाजातशत्रुः सुप्तपुरुषसमीपं  
गत्वा हे सोमराजन्निति सुप्तमाहूयाऽऽह्वानशब्दाश्रवणात्प्राणादीनाम-  
भोक्तृत्वं प्रतिपाद्य यष्टिघातोत्थापनेन प्राणादिव्यतिरिक्ते जीवे प्रतिबो-  
धिते पुनर्जीवातिरिक्ताधिकरणभवनपादानविषयान्प्रश्नान्स्वयमेव चकार  
'कैष एतद्बालाके पुरुषोऽशयिष्ठः क्व वैतद्भूत्कुत एतदागात्' [कौ०  
ब्रा० ४।१९] इति । अयमर्थः—हे बालाके शयनमेतद्यथा तथैष पुरुषः  
कस्मिन्नधिकरणे स्वापे शयनं कृतवानित्यधिकरणप्रश्नार्थः । एतद्भव-  
मेकीभावो यथा स्यात्तथा काऽऽश्रये सुप्तोऽभूदिति भवनायतनप्रश्नार्थः ।  
शयनभवनयोराधारं पृष्ठोत्थानावस्थायामागमनापादानं पृच्छति—कुत  
इति । एतदागमनं यथा स्यात्तथा कस्मादुद्धोधावस्थायामागादुत्थानं  
कृतवानित्यर्थः । एतत्प्रश्नोत्तरदानासमर्थं बालाकिं मत्वा स्वयमेवोत्तर-  
माह—'यदा सुप्तः स्वप्नं न किञ्चन पश्यत्यथास्मिन्प्राण एवैकधा  
भवति' [कौ० ब्रा० ४।१९] इत्यादिशयनभवनयोराधार उत्थाना-  
पादानं च प्राणशब्दवाच्यः परमात्मेत्युत्तरार्थः । तस्माद्यस्मिन्जीवस्य  
भोक्तुः शयनभवने यस्माच्चोत्थानमेकीभावभ्रंशरूपं सोऽत्र परमात्मा  
वेदितव्यतयोपदिष्टः पुरुषकर्ता 'अपि चैके' वाजसनेयिनो बालाक्य-  
जातशत्रुसंवाद एवं स्पष्टं विज्ञानमयं जीवं तद्व्यतिरिक्तं परमात्मानमाम-  
नन्ति 'य एष विज्ञानमयः पुरुषः कैष तदाऽभूत्कुत एतदागात्'  
[बृ० २।१।१६] इति प्रश्ने 'य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते

(दी० १) ननु प्राणलिङ्गानां तदभोक्तृत्वप्रतिपादनेनापि कथंचिदुपयोगः स्यान्न  
जीवपरामर्शस्य विना तज्ज्ञानमित्यत आह—अन्यार्थमिति । अन्योऽर्थः  
प्रयोजनं ब्रह्मनिर्धारणं यस्य परामर्शस्य सोऽयमन्यार्थस्तमन्यार्थम् ।  
तुशब्द एवकारार्थः । ब्रह्मनिर्धारणार्थमेव परामर्शः 'तद्यथा श्रेष्ठी'  
इत्यादिर्न जीवस्य लिङ्गमिति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । प्रश्नव्या-  
ख्यानाभ्याम् । 'कैष एतद्बालाके' इत्यादिप्रश्नः । व्याख्यानं प्रतिवचनम् ।

(ब०व०।)[ बृ० २।१।१६ ] इत्युत्तरे चाऽऽकाशः परमात्मेति दहराधिकरणे निर्णीतम् । तस्मात्पुरुषकर्तरि वेदितव्ये परमात्मनि कौषीतकिब्राह्मण-  
वाक्यं समन्वितमिति सिद्धम् ॥ १८ ॥

( संशयितजीवपरमात्मनोर्मध्ये परमात्मन एव श्रवणमननादिविषय-  
त्वम् । अधि० ६ )

वाक्यान्वयात् ॥ १९ ॥

पूर्वं ब्रह्मोपक्रमसामर्थ्याद्ब्रह्मपरत्वमुक्तं तर्हि तद्वदेव मैत्रेयीब्राह्मणवा-  
क्यस्य जीवोपक्रमसामर्थ्याज्जीवपरत्वमस्त्विति दृष्टान्तसंगतिः । फलं  
पूर्ववत् । बृहदारण्यके श्रूयते—‘स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय  
पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति ’ [ बृ० २।४।५ ]  
इत्युपक्रम्य पतिजायापुत्रपशुवित्तादिप्रपञ्चस्याऽऽत्मार्थत्वेन प्रियत्वमु-  
क्त्वाऽनन्यार्थतया निरुपाधिप्रियत्वेनानतिशयानन्दात्मनो ज्ञातव्यतामाह  
याज्ञवल्क्यः—‘ आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदि-  
ध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञा-  
नेनेदं सर्वं विदितम् ’ [ बृ० २।४।५ ] इति । अत्र संशयः—किं  
जीवोऽत्र द्रष्टव्यत्वातिरूपेणोपदिश्यते किं वा परमात्मेति । तत्र जीव  
इति प्राप्तम् । कुतः । पतिजायादिभोग्यजातवता भोक्त्रोपक्रमात् ।  
मध्येऽपि ‘ इदं महद्भूतमनन्तमपारं विज्ञानघन एवैतेभ्यो भूतेभ्यः  
समुत्थाय तान्येवानु विनश्यति न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति ’ [ बृ० २।४।  
१२ ] इति प्रकृतस्य द्रष्टव्यस्य भूतेभ्यः समुत्थानं जीवत्वरूपेण वद-  
न्जीवस्य द्रष्टव्यत्वं दर्शयति । श्रुत्यर्थस्तु—इदं प्रत्यग्रूपं महदनवच्छिन्नं  
भूतं सत्यमनन्तं नित्यमपारं सर्वगतं विज्ञानघनो ज्ञानैकतानः । जात्य-

(दी०।)‘अथास्मिन्प्राण एवैकधा भवति’ इत्यादि प्रश्नश्च व्याख्यानं च प्रश्न-  
व्याख्याने ताभ्याम् । अपि चैवमेके । अपि चैके वाजसनेयिन एव-  
मनेन प्रकारेण प्रश्ने ‘ य एष विज्ञानमयः पुरुषः क्लेष तदाऽभूदिति प्रति-  
वचनेऽपि ‘ य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः ’ इति परमार्थविज्ञानार्थं जीवं  
परामुशन्ति ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मोपक्रमोत्तत्परत्वं यथा तद्वदिहापि जीवोपक्रमाज्जी-  
वपरत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—वाक्येति । ‘ आत्मा वा अरे

(ब० व० १) न्तरासंमिश्रत्वमेवकारार्थः । स चैतेभ्यः कार्यकरणाकारेण परिण-  
तेभ्योऽविद्याभूतेभ्यः साम्येनोत्थाय जीवत्वमनुभूय तान्येव भूतानि ज्ञाना-  
द्विनश्यन्ति सन्त्यनु पश्चाद्विनश्यति जीवत्वं त्यजति । न हि तस्यागा-  
नन्तरमस्य रूपादिविशेषज्ञानमस्तीति । तस्माज्जीव इति प्राप्ते ब्रूमः—  
परमात्मैवात्र द्रष्टव्यतयोपदिष्ट आत्मा । कुतः । वाक्यान्वयात् । उपक्रमा-  
दिपर्यालोचनया वाक्यस्य ब्रह्मण्येवान्वयादित्यर्थः । तथा हि ‘अमृत-  
त्वस्य तु नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन’ [ बृ० २ । ४ । २ ] इति वित्तसा-  
ध्येन कर्मणा मोक्षं प्रत्याशा नास्तीति याज्ञवल्क्यादुपश्रुत्य मैत्रेयी  
मोक्षमाशासाना तत्साधनं पृच्छति—‘येनाहं नामृता स्यां किमहं  
तेन कुर्यां यदेव भगवान्वेद तदेव मे ब्रूहि’ [ बृ० २ । ४ । ३ ]  
इति । यदमृतत्वसाधनं त्वं वेत्थ तदेव मे ब्रूहीत्यर्थः । एवं पृष्टो  
याज्ञवल्क्य इदमात्मज्ञानमुपदिशति—‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः’  
[ बृ० २ । ४ । ५ ] इत्यादिना । न हि जीवज्ञानान्मोक्ष इति  
कश्चिदभ्युपैति अतो द्रष्टव्यः परमात्मा । तथा ‘आत्मनो वा अरे  
दर्शनेन’ [ बृ० २ । ४ । ५ ] इति यदात्मज्ञानात्सर्वज्ञानं प्रतिज्ञातं तदु-  
न्दुभ्यादिदृष्टान्तैः साधयन्नस्य परमात्मत्वं गमयति—‘स यथा दुन्दुभे-  
र्हन्यमानस्य न बाह्याञ्छब्दाञ्छक्नुयात्’ [ बृ० २ । ४ । ७ ] इत्या-  
दिना । दुन्दुभिशङ्खवीणाशब्दादिर्दृष्टान्तत्वेनोक्तस्तस्यायमर्थः—दुन्दु-  
भिशङ्खवीणापदैस्तज्जन्यसामान्यशब्दा लक्ष्यन्ते । तथा च यथा दुन्दु-  
भ्यादिशब्दसामान्यादुन्दुभ्यादिशब्दविशेषा भेदेनागृह्यमाणाः शुक्ति-  
ग्रहग्राह्यरजतवत्तत्र कल्पितास्तद्ग्रहणे गृहीता भवन्ति तथा चिद्रूपस्फु-  
रणं विना स्थितिकाले स्फुरणशून्यं जगत्तत्र कल्पितं तद्ग्रहणेन गृहीतं  
भवति ततो नातिरिच्यत इति । तथा ‘एतावदरे खल्वमृतत्वम् ।’  
[ बृ० ४ । ५ । १५ ] इत्युपसंहारदर्शनाच्चात्र द्रष्टव्य आत्मा परमा-  
त्मैवेति ॥ १९ ॥

(दी० १) द्रष्टव्यः’ इत्यादिनोक्तः परमात्मैव । कुतः । वाक्यस्य ‘अमृतत्वस्य तु  
नाऽऽशाऽस्ति वित्तेन’ इत्यादेरस्मिन्नेव परमात्मनि अन्वयः पर्यवसानं  
तात्पर्येण तस्मात् ॥ १९ ॥

(ब० व० १) ननु पतिजायादिभोग्यजातेन लिङ्गेन जीवोपक्रमः प्रतीयते स कथमित्यत आह—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ॥ २० ॥

जीवब्रह्मणोर्हि कार्यकारणयोर्भेदाभेदौ वर्तेते । अत्यन्तभेद एकविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधप्रसङ्गात् । तथा च तत्प्रतिज्ञासिद्धेरिदमभेदांशमादाय जीवोपक्रमं लिङ्गमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते ॥ २० ॥

जीवस्य कार्यत्वमभेदसमानसत्ताकभेदवत्त्वं चासहमानः समाधानान्तरमाह—

उत्क्रमिष्यत एवंभावादित्यौडुलोमिः ॥ २१ ॥

संसारदशायामत्यन्तभिन्नस्य जीवस्य ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारात्कार्यकारणसंघातादुत्क्रमिष्यत एवंभावात्परमात्मनैकीभावाद्भविष्यदभेदमादाय जीवोपक्रम इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ २१ ॥

नन्विदमप्यसंगतम् । सत्यकार्यकारणसंघातवतः संसारिणोऽत्यन्तभिन्नस्य मुक्तिदशायामभेदायोगादित्यरुच्या परमं समाधानमाह—

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ २२ ॥

ब्रह्मण एवाविद्याकल्पितभेदेन जीवरूपेणावस्थितेर्जीवोपक्रमविरोधं काशकृत्स्न आचार्यः श्रुतेस्तात्पर्यज्ञो मन्यते । अत एव विज्ञाना-

(दी० १) ‘आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति’ इति प्रियसंसूचितस्य विज्ञानात्मनः प्रतीतेः का गतिरित्यत आह—प्रतिज्ञेति । ‘आत्मनो वा ओरं दर्शनेन’ इत्यादिप्रतिज्ञा तत्सिद्धिस्तस्या लिङ्गं विज्ञानात्मनो द्रष्टव्यत्वादिसंकीर्तनं न तु वस्त्वभिप्रायमित्याश्मरथ्य आचार्यो मन्यते । कार्यकारणभावेन जीवपरमात्मनोरीषद्भेदस्य विद्यमानत्वात् ॥ २० ॥

भेदेनावस्थितस्य नामरूपाभ्याम् ‘तथा विद्वान्’ इत्यादिश्रुत्योत्क्रमिष्यत उत्क्रमणं करिष्यतस्तस्य नामरूपाद्विमुक्तस्यैवमभेदस्य भावाद्विज्ञानात्मनो द्रष्टव्यत्वाभिधानमित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । जीवब्रह्मणोर्भेदस्य विद्यमानत्वात् ॥ २१ ॥

अवस्थितेरिति । ‘अनेन जीवेनाऽऽत्मना’ इति श्रुत्या परमात्मन



(ब० व० १) त्मभावेन ब्रह्मणो भूतेभ्यः समुत्थानं जीवलिङ्गत्वेन प्रागुपन्यस्तं न विरुध्यते । अभेदादेव । तस्माद्द्रष्टव्ये ब्रह्मणि मैत्रेयीब्राह्मणवाक्यं समन्वितमिति सिद्धम् ॥ २२ ॥

( ब्रह्मणो निमित्तोपादानोभयकारणत्वम् । अधि० ७ )

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ २३ ॥

जन्माद्यस्येति सूत्रे यद्ब्रह्मणो जगत्कारणत्वमुक्तं तदत्र विचार्यते । यद्यपि जन्मादिनयानन्तर्यमेतस्य युक्तं तथाऽपि निर्णीततात्पर्यैर्वेदान्तैर्निमित्तत्वमात्र\* साधकानुमितेर्विरोधोक्तिः सुकरेति समन्वयावसाने लिखितमिदमधिकरणमिति बोध्यम् । न च जन्माधिकरणवैयर्थ्यं निर्विषयसमन्वयसाधनासंभवेन जगत्कारणात्मकविषयमात्रस्य तत्रोक्तत्वात् । उपादानत्वं त्वेतदधिकरणमित्यत्रोक्तमिति न कश्चिद्दोषः । जन्मादिनयस्याध्यायादिसंगतत्वादस्यापि तद्विचारात्मकस्यास्त्यध्यायादिसंगतिः । पूर्वपक्ष एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञागौणत्वं सिद्धान्ते तन्मुख्यत्वमिति फलभेदः । अत्र संशयः—किं ब्रह्मणो जगन्निमित्तत्वमात्रमुतोपादानत्वमपीति । तत्रेदम्—‘ तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय ’ [ छा० ६ । २ । ३ ] इत्यादिना सर्वत्रेक्षापूर्वक + कर्तृत्वश्रवणात्कुलालवन्निमित्तत्वमात्रमिति प्राप्ते ब्रूमः—‘ प्रकृतिश्च ’ ब्रह्म चकारान्निमित्तमपि । ‘ प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ’ प्रतिज्ञादृष्टान्तयोः सामञ्जस्यादित्यर्थः । प्रतिज्ञा हि—‘ येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ’ [ छा० ६ । १ । ३ ] इति । अस्यां च प्रतिज्ञायामात्मज्ञानेन सर्वविज्ञानमुच्यमानमात्मन उपादानत्वं गमयति । निमित्तत्वे तदसंभवात् । न

(दी० १) एव जीवरूपेणावस्थानमवस्थितिस्तस्या विज्ञानात्मनो द्रष्टव्यत्वाभिधानमिति काशकृत्स्न आचार्यो मन्यते ॥ २२ ॥

जीवब्रह्मणोर्वस्तुतो भेदाभावात् ‘ एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय ’ इत्यादिना कुतो जीवस्याभिधानमित्यत आह—प्रतिज्ञेत्यादिसूत्रम् ।

\* ईश्वरस्य निमित्तत्वेन कर्तृत्वमात्रसाधकमतस्य विरोधोक्तिर्निरासः सुकर इत्यर्थः । मम च यस्य ब्रह्मरूपविषयं विना साधनासंभवाज्जगत्कारणब्रह्मविषयस्य जन्मादिसूत्र उक्तत्वादिति भावः । + ईक्षापूर्वकेति । ईक्षापूर्वकं कर्तृत्वं निमित्तकारणेणैव कुलालादिषु द्रष्टव्येत्यर्थः ।

(ब० व० १) हि कुलाले ज्ञाते घटादिकं ज्ञातमिति शक्यते वक्तुम् । उपादानत्वे तु तयोरुपादानोपादेयोरव्यतिरेकाद्युक्तं तज्ज्ञाने तज्ज्ञानम् । दृष्टान्तोऽपि 'यथा सौम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मुन्यमं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्' [ छा० ६ । १ । ४ ] इत्युपादान-विषय एव दृश्यते । विकारो वागालम्बनमात्रं वस्तुतोऽसन्निति यावत् । तदेव साधयति—नामधेयमिति । शून्यशेषं निषेधति—मृत्तिकेति । निमि-त्तत्वमपि प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधादेव बोध्यम् । निमित्तस्योपादानाद्भेदे प्रतिज्ञादृष्टान्तयोरसामञ्जस्यं स्यात् । तथा बृहदारण्यकेऽपि प्रतिज्ञावृ-ष्टान्तौ दृश्येते । 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदि-तम्' [ बृ० ४ । ५ । ६ ] इति प्रतिज्ञाय 'स यथा दुन्दुभेर्हन्यमानस्य न बाह्याञ्शब्दाञ्शक्नुयाद्ग्रहणाय दुन्दुभेस्तु ग्रहणेन दुन्दुभ्याघातस्य वा शब्दो गृहीतः' [ बृ० ४ । ५ । ८ ] इति दृष्टान्तः । घटाद्यधिष्ठा-नतयाऽनुगतो यः प्रकाशः स उपादानमित्यत्र दृष्टान्तो यथा तथोच्यते बाह्यानुन्दुभिः शब्दसामान्यबहिर्भूतान्दुन्दुभेस्तच्छब्दसामान्यस्येत्यर्थः । तथा च हन्यमानदुन्दुभिर्जन्यस्य शब्दसामान्यबहिर्भूतशब्दविशेषानुग्र-हणाय ग्रहीतुं न शक्नुयादिति व्यतिरेकः । अन्यस्यापि दुन्दुभिः शब्दसा-मान्यस्य ग्रहणेन तु दुन्दुभ्याघातसंज्ञको विशेषशब्दो गृहीतो भवति । दुन्दुभ्याघातस्य वीररसाभिव्यञ्जकस्य विशेषशब्दस्य ग्रहणेन वा तद्वान्तरशब्दविशेषो गृहीतो भवतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

अभिध्योपदेशाच्च ॥ २४ ॥

इतश्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वप्रकृतित्वे । कुतः । अभिध्योपदेशात् । ध्यानोपदे-

(दी० १) पूर्वाधिकरणे प्रतिज्ञां मुख्यामाश्रित्य जीवपरत्वं वाक्यस्य निरस्तमिह निमित्तोपादानभेदात्सा गौणीत्याक्षिप्य समाधत्ते—प्रकृतिरिति । प्रकृति-रुपादानं ब्रह्म । चकारेण निमित्तकारणमपि । कुतः । 'येनाश्रुतं श्रुतं भवति' इत्यादिप्रतिज्ञा । 'यथा सौम्य' इत्यादिदृष्टान्तः । प्रतिज्ञा च दृष्टान्तश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तौ तयोरुपरोधः पीडनं संकोचनादि तद्विपरीतोऽनुपरोधस्तस्मात् ॥ २३ ॥

प्रकृतिर्निमित्तं चेदमचेतनं प्रधानमेव कुतो न स्यादित्यत आह—

(ब्र० व० १) शादित्यर्थः । 'सोऽकामयत' इति ध्यानोपदेशात्कर्तृत्वं 'बहु-  
स्याम्' इति ध्यानोपदेशात्प्रकृतित्वमिति ॥ २४ ॥

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ २५ ॥

प्रकृतित्वे हेत्वन्तरमिदम् 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव  
समुत्पद्यन्ते । आकाशं प्रत्यस्तं यन्ति' [ छा० १ । ९ । १ ] इत्याका-  
शशब्देन साक्षाद्ब्रह्म गृहीत्वा जगदुत्पत्तिप्रलययोरुभयोराम्नानाद्ब्रह्म  
प्रकृतिरित्यर्थः । यस्मिन्नुत्पत्तिलयौ यस्य कार्यस्य तत्कार्यं प्रति तदुपा-  
दानं यथा घटस्य मृदिति व्याप्तेरिति भावः ॥ २५ ॥

आत्मकृतेः परिणामात् ॥ २६ ॥

लोके हि कृतिमान्कर्ता कृतिविषयो मृदादिरुपादानमिति व्यवस्था ।  
प्रकृते चाऽऽत्मनः कृतिमत्त्वं कृतिविषयत्वं च श्रूयते । 'तदात्मानं स्वय-  
मकुरुत' [ तै० २ । ७ ] इति आत्मानमिति द्वितीयया कृतिविषयत्वम् ।  
स्वयमित्यनेन कृतिमत्त्वम् । तथा च ब्रह्म निमित्तमुपादानं च । कुतः ।  
आत्मकृतेः । आत्मसंबन्धिनी कृतिरात्मकृतिः । संबन्धो विषयविषयि-  
भावः । आधाराधारिभावश्च । ततो हेतोरित्यर्थः । नन्वात्मनः कर्तृ-

(दी० १) अभीति सोऽकामयत' इत्यादिना कारणस्य चैतन्यमभिध्यानम-  
भिध्या तस्या उपदेशस्तस्मात् । पुरुषाणां प्रधानाद्भिन्नत्वात्प्रतिज्ञाद्युप-  
रोधोऽपि चकारेण समुच्चीयते ॥ २४ ॥

ननु श्रौतार्थापत्तिलभ्योभयकारणत्वस्य ब्रह्माणि प्रलयाश्रवणार्थार्था-  
पत्त्या प्रतिरोध इत्यत आह—साक्षादिति । न प्रलयाश्रवणलिङ्गमस्ति ।  
कस्मात् । 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि' इत्यादौ साक्षादुभयस्यो-  
त्पत्तिप्रलयस्याऽऽम्नानात्पाठाद्वेदेन ॥ २५ ॥

उभयकारणत्वे कर्तृकर्मणोरैक्यं कुत्र तदुपलब्धमित्यत आह—  
आत्मेति । आत्मनः कर्मत्वेन कर्तृत्वेन च कारणं कृतिः 'तदात्मानम्'  
इति श्रुतौ कर्मत्वम् 'स्वयमकुरुत' इति श्रुतौ कर्तृत्वं तस्याः । सिद्धस्य  
कथं कार्यत्वमित्यत आह—परिणामात् । क्षीरस्येव दधिरूपेण । अथ  
वा परिणामादिति सूत्रान्तरम् । आत्मानमिति श्रुत्या निमित्तत्वमेव

( ब्र० व० १ ) त्वेन पूर्वसिद्धस्य कथं कृतिकर्मत्वमत आह—परिणामादिति । परिणामो विवर्तः । सिद्धस्यापि विवर्तात्मना साध्यत्वात्कर्मत्वोपपत्तिरित्यर्थः । मृद्घट इति प्रकृतिविकारयोः सामानाधिकरण्यं दृष्टमिति भावः ॥ २६ ॥

योनिश्च हि गीयते ॥ २७ ॥

‘ यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ’ [ मुण्ड० १ । १ । ६ ] ‘ कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम् ’ [ मु० ३ । १ । ३ ] इति च प्रकृतिवाचकयोनिशब्देनाऽऽत्मा गीयते यतोऽतश्च प्रकृतिर्ब्रह्मैवेत्यर्थः । तस्माद्ब्रह्मणः प्रकृतित्वं कर्तृत्वं चेति सिद्धम् ॥ २७ ॥

( परमाणुशून्यादीनां श्रुत्युक्तानामपि जगत्कारणत्वमपहाय ब्रह्मण एव प्रतिनियतजगत्कारणत्वम् । अधि० ८ )

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ २८ ॥

एतावता ग्रन्थेन ‘ ईक्षतेर्नाशब्दम् ’ [ ब्र० सू० १ । १ । ५ ] इत्यादिनाऽशब्दत्वादिभिः प्रधानकारणवादो निराकृतो न पुनरणुस्वभावासत्कारणवादाः । तेषामपि कारणत्वबोधकश्रुतयो दृश्यन्ते । तथा हि च्छान्दोग्ये श्वेतकेतुं प्रत्युद्दालकः सूक्ष्मवस्तुनि स्थूलस्यान्तर्भावं प्रतिपिपादयिषुराह—‘ न्यग्रोधफलमंत आहरेतीदं भगव इति भिन्धीति भिन्नं भगव इति किमत्र पश्यसीत्यण्वय इवेमा धाना भगव इत्यासामङ्गैकां भिन्धीति भिन्ना भगव इति किमत्र पश्यसीति न किञ्चन भगव इति । [ छा० ६ । १२ । १ ]

(दी०) कुत उपादानत्वमपीत्यत आह—परिणामात् । ‘ सच्च त्यच्च ’ इति श्रुत्याऽन्यस्यान्याकारप्रतीतिः । परिणामो रज्ज्वा इव सर्पाकारस्तस्मात् ॥ २६ ॥

नन्वस्त्वन्यरूपभवनं न चोपादानत्वमित्यत आह—योनिरिति । हि यस्माद्योनिश्चोपादानमपि ‘ यद्भूतयोनिम् ’ इत्यादिना गीयते पठ्यते ॥ २७ ॥

पूर्वाधिकरणे सृत्तिकादिदृष्टान्तात्प्रकृतिर्ब्रह्मेत्युक्तम् । इहापि प्रधानां भेदादिनिदर्शनाज्ञानाविवादा इत्याक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—एतेनेति ।

(ब्र० व० ।) 'एतस्य वै सौम्यैषोऽणिम एव महाज्ञयग्रोधस्तिष्ठति' [ छा० ६।१२।२ ] इति जगतः प्रागवस्थायां दृष्टान्तः श्रूयते । तत्र न किञ्चनाणुशब्द श्रवणाच्छून्यस्वभावाणुकारणवादा दार्ष्टान्तिकत्वेन प्रतीयन्ते । तथा 'असदेवेदमग्र आसीत्' [ छा० ३।१९।१ ] 'तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत' [ बृ० १।४।७ ] इत्यादा असत्स्वभाववादौ प्रतीयेते । तासां श्रुतीनां तेषु वादेषु तात्पर्यमस्ति न वेति संशयेऽस्तीति प्राप्तेऽतिदिशति-एतेनेति । प्रधाननिराकरणेन ये हेतवो शब्दत्वाच्चेतनत्वैकविज्ञानप्रतिज्ञानुपपत्त्याद्यस्तेषामण्वादिपक्षेऽपि साम्येन सर्वेऽण्वादिकारणवादा निराकृतत्वेन व्याख्याताः । न च न किञ्चनादिशब्दविरोधः । अनभिध्यक्तनामरूपत्वेनाविरोधात् । सूक्ष्मत्वाच्चाऽऽत्मन्यणुशब्दो गौणः । स्वभाववादस्तु पूर्वं समाहितः । अभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं द्योतयति । तस्माज्जगत्कारणे सर्वज्ञे जिज्ञास्ये वेदान्तानां समन्वयो नान्यत्रेति सिद्धम् ।

‘समन्वये स्पष्टलिङ्गमस्पष्टत्वेऽप्युपास्यगम् ।

ज्ञेयगं पदमात्रं च चिन्त्यं पादेष्वनुक्रमात् ’ ॥

इति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्दश्रीचरण-

शिक्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासुतवर्षिण्यां

प्रथमस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽध्यायः ॥

(दी० ।) एतेन प्रधाननिराकरणेनाण्वादिवादा व्याख्याता निराकृताः ।

पदाभ्यासोऽध्यायसमाप्तिं द्योतयति ॥ २८ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्यस्य

श्रीशंकरानन्दमगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रदीपिकायां प्रथमा-

ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

संपूर्णश्च प्रथमोऽध्यायः ॥

समाप्तश्च व्यासप्रणीतब्रह्मसूत्राणां समन्वयाख्यः प्रथमोऽध्यायः॥ १ ॥

अस्मिन्नध्याये—पादाः—अधिकरणानि—सूत्राणि

|           |    |       |     |
|-----------|----|-------|-----|
| प्रथमः—   | ११ | —     | ३१  |
| द्वितीयः— | ७  | —     | ३२  |
| तृतीयः—   | १४ | —     | ४३  |
| चतुर्थः—  | ८  | —     | २८  |
| <hr/>     |    | <hr/> |     |
| ४         | ४० |       | १३४ |
| <hr/>     |    | <hr/> |     |

(ब्र०व०।) अतिदेशाधिकरणे प्रधानवद्शब्दत्वं परमाण्वादीनामपीत्युक्तम् । संप्रति प्रधानस्य वैदिकशब्दवाच्यत्वाभावेऽपि स्मृतिरूपशब्दव-  
स्वमाशङ्क्य परिहरति—

( सांख्यस्मृत्या वेदसंकोचस्यायुक्तत्वम् । अधि० १ )

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्य-  
स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ १ ॥

प्रथमाध्याये सर्वज्ञे सर्वशक्तौ जगज्जन्मादिकारणे सर्वेषां वेदान्तानां  
समन्वयः प्रतिपादितः । अशब्दत्वादिहेतुभिः प्रधानादिकारणवादाश्च  
निराकृताः । इदानीं द्वितीयेऽध्याये प्रथमपादे सांख्यादिस्मृतितर्काभ्यां  
स्वपक्षे विरोधः परिह्रियते । द्वितीयपादे सांख्यादिमतानां दुष्टत्वं प्रति-  
पाद्यते । तृतीयाद भाग्यभागेन पञ्चमहाभूतश्रुतीनां परस्परं विरोधः  
परिह्रियते । द्वितीयभागेन जीवश्रुतीनां चतुर्थपादे लिङ्गशरीरश्रुतीनां  
विरोधपरिहारः । इत्येतदर्थमध्याय आरभ्यते । तदुक्तम्—

द्वितीये स्मृतितर्काभ्यामविरोधोऽन्यदुष्टता ।

भूतभोक्तृश्रुतेर्लिङ्गश्रुतेरप्यविरुद्धता ॥ इति ।

प्रथमाध्याये सूत्राणि ॥ १३४ ॥

अधिकरणानि ॥ ४० ॥

(दी०।) पूर्वाध्याये सर्वोपनिषदां जगत्कारणे ब्रह्माणि समन्वय उक्तः ।  
तस्मिन्विरोधाशङ्कयामयमध्यायः । तत्र प्रथमे पादे त्रयोदशाधिकर-

(अ० व० १) उक्तसमन्वयस्य स्मृत्यादिविरोधे तन्निरसनमनेन क्रियत इत्ये-  
नयोरध्याययोर्विषयविषयिभावः संबन्धः । निर्विषयकविरोधपरिहारा-  
योगाद्विषयभूतसमन्वयस्याऽऽदौ विचारः कृतोविषयिभूतविरोधपरिहार  
इदानीं क्रियत इति युक्तमेतस्याध्यायस्य पूर्वाध्यायानन्तर्यम् । श्रौतसम-  
न्वयविरोधपरिहारत्वावस्य पादस्य श्रुत्यध्यायसंगतिः । सर्वत्र पूर्वोत्तर-  
पक्षयोर्विरोधाविरोधौ फलमिति विवेकः । तत्र प्रथमं स्मृतिविरोधपरि-  
हारः । अत्र संशयः—उक्तसमन्वयः किं सांख्यादिस्मृत्या विरुध्यते न  
वेति । विरुध्यत इति प्राप्तम् । कुतः । सर्वज्ञकपिलादिप्रणीतत्वेन प्रामा-  
ण्यात् । श्रुतिरपि कपिलमुनिमप्रतिहतज्ञानं दर्शयति—‘ कर्षिं प्रसूतं  
कपिलं यस्तमग्रे ज्ञानैर्बिभर्ति जायमानं च पश्येत् ’ [ श्वेता० ५ । २ ]  
इति । यस्तावदग्रे सर्गादौ जायमानं कपिलनामानसृष्टिं स्थितिकाले च  
प्रसूतं भूतमविष्यद्वर्तमानविषयकज्ञानैर्बिभर्ति पुष्पाति तमीश्वरं पश्ये-  
दिति योजना । तस्मान्न ब्रह्माणि कारणे समन्वयो महर्षिप्रणीतप्रधान-  
कारणवादस्मृतीनामनवकाशरूपदोषप्रसङ्गात् । न च जगत्कारणे सिद्धे  
वस्तुनि विकल्पो युज्यते । तस्मात्प्रधानगुणतया श्रुतयो नेया इति  
चेदित्यन्तं सूत्रावयवार्थः । परिहरति—नेति । कुतः । अन्यस्मृत्यनव-  
काशदोषप्रसङ्गात् । तथाहि चेतनं प्रकृत्य ‘ तस्मादव्यक्तमुत्पन्नं त्रिगुणं  
द्विजसत्तम [ महाभा० १२ । ३३६ । ३० ] इति स्मृतिरव्याकृतनाम-  
रूपप्रपञ्चस्य ब्रह्मजन्यत्वमाह । तथा भगवद्गीतास्वपि ‘ अहं सर्वस्य  
जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ’ [ भ० गी० ७ । ६ ] इति चेतनकारणत्वं  
स्मर्यते । तथा च प्रधानकारणवाद एतत्स्मृतीनामनवकाशो दोषः प्रस-

(दी० १) णानि तत्रेदं द्विसूत्रं प्रथममधिकरणम् । तत्रापि श्रुतिवत्स्मृतेराप्तोक्त-  
त्वाच्च तद्विरोधाशङ्कां स्मृतिकाराणामपि कपिलस्य प्राधान्यात्प्रथमं  
तत्स्मृत्या विरोधमाशङ्क्य परिहरति—स्मृतीति । स्मृतेर्मूलप्रकृतिरित्याद्याया  
नावकाशोऽनवकाशः कर्मस्तुत्याद्यभावे प्रधानप्रतिपादकत्वमपि चेन्न  
स्यात्तद्वर्थाभावः स चासौ दोषश्च स्मृत्यनवकाशदोषस्तस्य प्रसङ्गः  
प्राप्तिस्तस्मादिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । अन्यासाम् । तस्मादव्यक्त-

(ब्र० व० १) ज्येत । अतः स्मृतिद्वयविरोधे श्रुत्यविरुद्धा स्मृतिः प्रमाणमित्य-  
प्रमाणसांख्यस्मृत्या न विरोधः । श्रुतिस्मैतदन्पकपिलविषया कपिलैक्ये  
प्रमाणाभावादिति ॥ १ ॥

इतश्च सांख्यस्मृतेरनवकाशो न दोष इत्याह—

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ ॥

सांख्यस्मृतिप्रसिद्धानां प्रधानादितरेषां महदहंकारादीनां तत्त्वानां  
लोके वेदे चानुपलब्धेश्च सांख्यस्मृतेरप्रामाण्यं न दोषः । तथा च तदे-  
कदेशप्रधानस्मृतेरप्यप्रामाण्यमिति भावः ॥ २ ॥

(योगस्मृत्याऽपि वेदसंकोचस्यायुक्तत्वम् । अधि० २ )

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ ३ ॥

अतिदेशत्वाच्च पृथक्सङ्गत्याद्यपेक्षा योगास्तावत्सेश्वरा इत्येतावान्का-  
पिलमताद्विशेषः । प्रधानादिप्रक्रिया समैव । तथा च कापिलमत-  
निरासेनैव पातञ्जलमतं निरस्तं भवतीत्यर्थः । न चातिदेशवैयर्थ्यम् ।  
ज्ञानसाधनत्वेन श्रुतिसिद्धयोगप्रतिपादकत्वेन प्रामाण्याशङ्क्यामतिदेश-  
सार्थक्यात् । तर्ह्यप्रामाण्ये कथं तस्माद्योगप्रमेति चेत् । उच्यते—तात्पर्यवि-  
षयभूतेऽर्थेऽप्रामाण्यं हि शास्त्रस्याप्रामाण्यमावहति यथा कापिलस्मृतेः ।  
न हि योगस्मृतेः प्रधानादौ तात्पर्यं येनाप्रामाण्यं भवेत् । किं तु योग  
एव स चाबाधितः श्रुतिसिद्धत्वात् । किञ्चिदालम्ब्य योगः प्रतिपादनीय

(दी० १) मुत्पन्नम् ' इत्यादीनां स्मृतीनामनवकाशोऽर्थाभावः स चासौ  
दोषश्चान्यस्मृत्यनवकाशदोषस्तस्य प्रसङ्गस्तस्मात् ॥ १ ॥

इन्द्रियाणां सर्वसिद्धत्वात्तत्सहपठितानामव्यक्तादीनां मन्वादिस्मृति-  
विशेषेऽपि ग्रहणमित्यत आह—इतरेषामिति । प्रधानादितराणि मह-  
दादीनि तेषामनुपलम्भनमनुपलब्धिस्तस्याः । लोके वेदे चेति शेषः ।  
चकारो व्याप्यस्यानुपलब्धावव्यापकस्योपलब्ध्यभावसमुच्चयार्थः ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणेऽपौरुषेयवेदानुसारिस्मृतिविरोधात्कापिलस्मृतेरप्रामाण्या-  
द्विरोधः समन्वयस्येत्युक्तम् । नन्वेवं योगस्मृतिर्वेदविरोधिनी सा च  
प्रधानादीम्प्रतिपादयति तया समन्वयस्य विरोध इति प्रत्युदाहरणे-



(ब्र० वा) इति परप्रसिद्धप्रधानादिकमालम्बनत्वेन गृहीतं तत्रापि प्रामाण्या-  
शङ्कायामतिदेश इत्यविरोधः । एवं यदंशे सांख्यस्मृतेरविरोधस्तदंशे प्रामा-  
ण्यमित्यधिकरणद्वयस्य तात्पर्यम् । योगस्य कथं श्रौतत्वमिति चेत्तद्व-  
क्ष्यामः । श्वेताश्वतरोपनिषदि ' त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम् ' [ श्वे०  
२ । ८ ] इत्यादिना योगप्रपञ्चः कृतः । त्रीणि कायग्रीवाशिंसी  
उन्नतानि यस्मिंस्तच्छरीरं समं संस्थाप्य युञ्जीतेति योजना । तथा  
काठकेऽपि ' तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ' [ का०  
२ । ६ । ११ ] इति । ' विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम् ' [ का० २ ।  
६ । १८ ] इति । इन्द्रियाणां स्थिरामैकाग्र्यलक्षणां धारणां योगविदो  
योगं मन्यन्ते । यथोक्तमैकाग्र्यमेव परमं तप इति वक्तुमिति शब्दः । एतां  
ब्रह्मविद्यां योगप्रकारं च सर्वं मृत्योः सकाशान्नचिकेता लब्ध्वा ब्रह्मप्रा-  
प्तोऽभूदित्यर्थः ॥ ३ ॥

(वैलक्षण्याख्ययुक्तिद्वाराऽपि वेदान्तवाक्यानामबाध्यत्वम् । अधि० ३)

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ ४ ॥

स्मृतिविरोधः परिहृतः । इदानीं न्यायविरोधः परिह्रियते । यद्यपि  
सापेक्षतर्केण निरपेक्षश्रुतिसमन्वयस्य न विरोधस्तथाऽपि साक्षात्कारस्य  
मोक्षसाधनत्वेन प्राधान्यात्तर्कस्य दृष्टानुसारेणार्थसमर्पकत्वेनापरोक्षार्थ-  
विषयकत्वात्प्रधानसाक्षात्कारस्य विषयतोऽन्तरङ्गस्तर्कः । शब्दस्तु परो-  
क्षार्थैकबोधनस्वभावो बहिरङ्ग इति बलवत्तर्केण विरुध्यत इत्याक्षेपो  
युक्तः । पूर्वं वेदविरुद्धस्मृतेर्मूलाभावादप्रामाण्यमुक्तं तर्हि तर्कस्य  
व्याप्तिपक्षधर्मतयोर्मूलत्वेन लोकसिद्धत्वात्तेन विरोध इति प्रत्युदाहर-  
णसंगत्याऽयमाक्षेपः । आकाशादिकं न चेतनप्रकृतिकं द्रव्यत्वाद्घट-  
वदिति तर्केण समन्वयो विरुध्यते न वेति संदेहे विरुध्यत इत्याह—न

(दी० १) नाऽऽशङ्क्यातिदेशेन समाधत्ते—एतेनेति । एतेनान्यस्मृत्यनवकाश-  
दोषप्रसङ्गेन योगो योगशास्त्रं प्रत्युक्तो निराकृतः ॥ ३ ॥

पूर्वाधिकरणे वेदविरुद्धार्थस्मृतेर्वेदवैलक्षण्यादतन्मूलत्ववद्ब्रह्मवैलक्ष-  
ण्याज्जगदप्यतन्मूलमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिपति—नेति । न ब्रह्म चेतनं जगतः

(ब्र० व० १) विलक्षणत्वादिति । जगच्चेतनप्रकृतिकमिति यदुक्तं तन्न । कुतः । विलक्षणत्वादस्य । अस्य जगतश्चेतनाद्विलक्षणत्वाच्चेतनं ब्रह्म शुद्धं जगदचेतनं परिच्छिन्नमशुद्धमिति विलक्षणम् । यद्यद्विलक्षणं न तत्तत्प्रकृतिकम् । तन्तुविलक्षणो घटो न तन्तुप्रकृतिक इति । ननु ब्रह्मजगतोर्वैलक्षण्यं कुत इत्यत आह—तथात्वं च शब्दादिति । तथात्वं वैलक्षण्यम् ‘ विज्ञानं चाविज्ञानं चाभवत् ’ [ तै० २ । ६ ] इत्यादिश्रुतितोऽवगतमित्यर्थः । अत्र श्रुतावधिज्ञानशब्देन जडमुच्यते ॥ ४ ॥

ननु ब्रह्मवज्जगदपि चेतनं श्रूयते—‘ ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमानाः ’ [ बृ० ६ । १ । ७ ] ‘ मृदब्रवीत् ’ ‘ आपोऽब्रुवन् ’ [ श० ब्रा० ६ । १ । ३ । २ ] ‘ ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्गाय ’ [ बृ० १ । ३ । २ ] इत्यादिश्रुतिभिरित्यत आह—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ ५ ॥

उक्तशङ्कानिरासार्थस्तुशब्दः । उक्तश्रुतिभिर्न जगतश्चेतनत्वं प्रत्येतदध्यम् । यतो मृदाद्यभिमानिनीनां देवतानां तत्र व्यपदेशो भवति न मृदादिमात्रस्य । इदं कुतः । विशेषानुगतिभ्याम् । कौपीतकिब्राह्मणे ‘ एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः ’ [ कौ० २ । १४ ] इति बृहदारण्यके प्राणसंवादे श्रुतप्राणानां देवताशब्देन विशेषितत्वान्न प्राणा इन्द्रियाणि किंतु तदधिष्ठात्र्यो देवता इति नेन्द्रियादिजगतश्चेतनत्वम् । ‘ अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत् ’ [ ऐ० आ० २ । ४ ] इत्यादिमन्त्रार्थवादादिषु सर्वत्र तदभिमानिदेवतानामनुगतेः श्रवणाच्च न चेतनं जगत् । ‘ ते ह वाचमूचुः ’ [ बृ० १ । ३ । २ ] इत्यत्रापि ते

(दी० १) कारणम् । कुतः । जगतो विलक्षणत्वाज्जडत्वात् । ‘ तथात्वं च ’ जडत्वमपि अस्य जगतः ‘ विज्ञानं चाविज्ञानं च ’ इत्यस्माच्छब्दाद्वाक्यात्सिद्धमित्यतो न जगतश्चेतन्यं कल्प्यमित्यर्थः ॥ ४ ॥

न कल्पयामि चैतन्यं किंतु ‘ ता आपोऽब्रुवन् ’ इत्यादिनोपलभ्यत इत्यत आह—अभीति । तुशब्दः शङ्कानिवृत्त्यर्थः । अभिमानिनीनां देवतानां व्यपदेशोऽभिमानिव्यपदेशः । नाबादीनाम् । कुतः । भोक्तृ-भोग्यरूपो विशेषः । अथ वा ‘ एता ह वै देवताः ’ इति देवताशब्द-

(ब० १०१) ह देवा वागभिमानिनीं देवतामूचुः । किमिति त्वं न उद्गायेति ।  
मोगमस्मभ्यं संपादयेत्यर्थो बोध्यः ॥ ५ ॥

तस्माच्चेतनस्य जगतो वैलक्षण्यान्न चेतनप्रकृतिकत्वमिति प्राप्ते  
रास्त्वान्तसूत्रम्—

दृश्यते तु ॥ ६ ॥

पूर्वपक्षनिरासार्थस्तुशब्दः । यदुक्तं चेतनविलक्षणं जगन्न तत्प्रकृति-  
कमिति तन्न । चेतनात्पुरुषाद्विलक्षणानां नखलोमादीमामचेतनानाम-  
चेतनाच्च गोमयाच्चेतनवृश्चिकस्योत्पत्तिर्यतो दृश्यतेऽत इत्यर्थः । प्रकृति-  
विकारयोरत्यन्तसादृश्ये प्रकृतिविकारभावानुपपत्त्या यत्किञ्चित्सादृश्यं  
वाच्यं तच्च प्रकृतेऽपि जगति स्फुरणाद्यनुवृत्त्या समानमिति भावः ।  
किं च ब्रह्मण्युपनिषद्वातिरिक्ततर्कादेः प्रमाणस्य प्रवेशाभावाच्च तेन  
विरोधः समन्वयस्य । तथा च श्रुतिः—‘नैषा तर्केण मतिरापनेया  
प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ’ [का० १ । २ । ९] इति । को अद्धा  
वेद क इह प्रवोचत् । इयं विसृष्टिर्यत आबभूव’ [ऋ० सं० १०।१२९।  
६] इति । ब्रह्मविषया मतिरेषा तर्केण नाऽऽपनेया न प्रापणीयेत्यर्थः ।  
यद्वा कुतर्केणाऽऽपनेया निरस्या न भवति । किं त्वग्न्येनैवाऽऽचार्येण  
वेदविदा प्रोक्ता सा सुज्ञानाय फलावसायिसाक्षात्काराय भवति हे  
प्रेष्ठ प्रियतमेति नचिकेतसं प्रति मृत्योर्वचनम् । को हि ब्रह्मव्यवहारभूमा  
अद्धा साक्षाद्वेद को वा तत्प्रवोचत्प्रवोचदित्यर्थः । छान्दसो दीर्घलोपः  
यत आत्मनः सकाशादियं विविधा सृष्टिर्बभूव स एव स्वं रूपं वेद  
नान्य इति मन्त्रप्रतीकयोरर्थः ॥ ६ ॥

(दी०१)विशेषः । ‘अग्निर्वाग्भूत्वा’ इत्यादिनाऽनुगमनमनुगतिः । विशो-  
न्नानुगतिश्च विशेषानुगती ताभ्याम् ॥ ५ ॥

सिद्धान्तमाह—दृश्यत इति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । दृश्यते  
लोके चेतनात्पुरुषात्क्रेशादि अचेतनाद्गोमयादेर्वृश्चिकादि वेदेऽपि ‘यथा  
सतः’ इत्यादिदृष्टान्ताच्चेतनस्याचेतनकारणत्वम् ॥ ६ ॥

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ ७ ॥

(ब्र० व०।) ननु चेतनस्य नामादिहीनस्याचेतननामादिमज्जगद्धेतुत्व उत्पत्तेः पूर्वं जगदसदेव स्यादिति चेन्न । कुतः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । असत्स्यादिति योऽयं प्रतिषेधस्तत्प्रतिषेधमात्रं न तु तस्य प्रतिषेध्यमस्तीत्यर्थः । अयं भावः—न हि कार्यसत्ता कारणाद्भिद्यते किं तु कारणमेव स्थितिदशाया-मपि जगत्ता ब्रह्मेव । तथा च ब्रह्मात्मकजगतः सत्त्वमुत्पत्तेः पूर्वमव्य-विशिष्टमिति नासज्जगदिति ॥ ७ ॥

आक्षिपति—

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ ८ ॥

ननु शुद्ध्यादिगुणकं ब्रह्म जगदुपादानमित्यसमञ्जसम् । कुतः । अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात् । अपीतौ प्रलयसमये जाड्याशुद्ध्यादिगुणकं जगद्ब्रह्मणि लीयमानं स्वनिष्ठजाड्यादिभिर्धर्मैर्ब्रह्म रूपयेत् । यथा शाकादौ लीयमानं हिङ्गूवादिकं स्वनिष्ठगन्धादिभिः शाकादिकं रूपयति तद्वत् । तथा च तद्वत्कारेणस्यापि ब्रह्मणोऽशुद्ध्यादिः प्रसज्येतेत्याक्षेप-सूत्रार्थः ॥ ८ ॥

परिहरति—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ ९ ॥

तुरेवार्थः । पूर्वोक्तमसमञ्जसं नास्येवेत्यर्थः । कुतः । दृष्टान्तभावात् । कार्यं

(दी०।) असदिति । निर्गुणे ब्रह्मणि प्रागुत्पत्तेर्जगतोऽभावादसत्कार्यमिति चेदेवं यदि तन्न । कुतः । प्रतिषेधमात्रत्वात् । कारणात्मना कार्यस्य विद्यमानत्वात्प्रतिषेधभावेन प्रतिषेधमात्रत्वादसत्कार्यमिति शब्दस्य ॥ ७ ॥

अपीताविति । स्थूलादिगुणकस्य कार्यस्य ब्रह्मणोऽभेदेऽपीतौ प्रलये ब्रह्मणोऽपि तद्वत्प्रसङ्गः स्थूलादिमत्त्वप्रसङ्गस्तस्मात् । अथ वा तद्वत्प्रस-ङ्गादभेदप्रसङ्गाद्भोक्तृभोग्याद्यभार्यात्प्रसङ्गेन । अथ वा तदभिन्नानां पुनरुत्पादमुक्तानामपि तद्वत्प्रसङ्गात्पुनरुत्पादप्रसङ्गात् । अथ वा भेदस-द्भावे तद्वत्प्रसङ्गोऽस्तिवतीतरकालवत्प्रलयाभावप्रसङ्गादसमञ्जसमसमी-चीनमौपनिषदं दर्शनम् ॥ ८ ॥

नत्विति । तुशब्द एवकारार्थः । त्वदुक्तं नैव । कुतः । दृष्टान्त-

(ब्र० व० १) कारणे लीयमानं स्वधर्मेण कारणं न रूषयतीत्यस्मिन्नर्थे शतशो दृष्टान्तानां सत्त्वादित्यर्थः । यथा घटशरावादिकं कार्यं मुदि लीयमानं मुदं स्वनिष्ठधर्मेन रूषयति । यथा वा स्वप्नप्रपञ्चो न स्वधर्मेः कारणमात्मानं रूषयति तथा मायिकं जगदुत्पत्तिस्थितिलयाख्यावस्थात्रयसाक्षिणं परमात्मानं न स्वनिष्ठजाड्यादिमिधर्मे रूषयेत् । परमात्मनोऽवस्थात्रयासंबन्धे वृद्धसंमतिरपि—

‘ अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।  
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ’ ॥

[ गौ० का० १ । १६ ] इति । माययाऽऽवृतस्वरूपो जीवो यदाऽऽचार्यप्रतिपादनावस्थायां स्वरूपज्ञानभागभवति तदाऽद्वैतं बुध्यत इति योजना । अजमित्युत्पत्त्यवस्थायाः संबन्धाभाव उक्तः । अनिद्रमिति लयावस्थाया अस्वप्नमिति स्थित्यवस्थाया इति भेदः । किं च कार्यस्य कारणात्मकत्वेऽपि न कारणं कार्यात्मकमिति न कार्यधर्मरूपणं कारणस्येति समञ्जसं वेदान्तशास्त्रमिति ॥ ९ ॥

स्वपक्षदोषाच्च ॥ १० ॥

ये दोषा विलक्षणत्वात्प्रकृतिविकारभावानुपपत्तिरुत्पत्तेः प्राग्जगतोऽसत्त्वप्रसङ्गोऽपीतौ तद्वत्प्रसङ्ग इति सांख्येनोद्भावितास्ते सांख्यपक्षेऽपि समानाः । शब्दादिहीनप्रधानसकाशाच्छब्दादिमतो विलक्षणस्य जगत उत्पत्त्यङ्गीकारादित्यर्थः । वस्तुतः प्रपञ्चसत्यत्ववादिनः सांख्यस्यैव ते दोषा न ममानिर्वचनीयवादिन इति भावः ॥ १० ॥

(दी० १) स्याऽऽद्ये स्थूलस्य घटादेः पृथिव्यादिकं प्रविशतो द्वितीयेऽविभक्तस्य तेन सुषुप्तादुत्थितस्य तृतीये तदज्ञानदाहे तदनुत्पादेन च सांख्यादेश्वतुर्थे घटाद्यवस्थानस्याभावेन भावात्सत्त्वात् । अथ वा त्वत्पक्षे दृष्टान्तस्याभावादेव ॥ ९ ॥

स्वपक्षेति । स्वस्य प्रतिवादिनः पक्षः स्वपक्षस्तस्मिन्विलक्षणत्वादेर्दोषभावात् । चकारोऽन्यत्र दोषभावे समुच्चयार्थः ॥ १० ॥

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदे-  
वमप्यविमोक्षप्रसङ्गः ॥ ११ ॥

(ब्र० व० १) केवलस्य तर्कस्याप्रतिष्ठानादप्यप्रतिष्ठितत्वाच्च न तेन समन्वयवि-  
रोधाशङ्केत्यर्थः । एकेन तार्किकेण यत्नेनानुमितोऽप्यर्थोऽन्येन श्रेष्ठतरेणा-  
न्यथा नीयत एवमन्येन श्रेष्ठतमेनान्यथा नयनमिति तर्कस्याप्रतिष्ठानं  
बोध्यम् । ननु तर्कमात्रस्याप्रतिष्ठितत्वे धूमज्ञानानन्तरं वह्न्यर्थप्रवृत्त्यनु-  
पपत्तिः । वाक्यार्थसंदेहे तर्केणानिर्णयप्रसङ्गश्च, किं च तर्काप्रतिष्ठाना-  
दित्ययमपि तर्कोऽप्रतिष्ठित एवेति न तेन परमतनिराकरणं स्यात्तस्मा-  
त्कस्यचित्तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वेऽपि कस्यचित्प्रतिष्ठानसंभवात्तेन समन्वय-  
विरोधाशङ्का युक्त्याक्षिपति—अन्यथाऽनुमेयमिति चेदित्यन्तेन ।  
अप्रतिष्ठिततर्कादन्येन प्रकारेण प्रतिष्ठिततर्केण समन्वयविरोधादिकम-  
नुमेयमिति शङ्कार्थः । तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वमङ्गीकृत्य समाधत्ते—एवमपीति ।  
अन्यत्र तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वेऽपि प्रकृते लिङ्गादिहीने ब्रह्माणि वेदनिरपे-  
क्षतर्कस्याप्रतिष्ठितत्वदोषादनिर्माक्षप्रसङ्ग एवेति समाधानार्थः । यद्वा  
महतां कपिलकणादादीनां परस्परविप्रतिपन्नैरागमनिरपेक्षैस्तर्कैस्तत्त्वनि-  
र्णयाभावादनर्माक्षप्रसङ्ग इत्यर्थः । तस्मादागमविरोधी तर्कोऽप्रमाण-  
मिति न तेन विरोध इति सिद्धम् ॥ ११ ॥

( काणादबौद्धादीनां स्मृतियुक्तिभ्यामपि वेदवाक्यानामबाध्य-  
त्वम् । अधि० ४ )

(दी० १) तर्कतस्तावत्स्वपक्षे दोषं परिहरिष्याम इत्यत आह—तर्केति । तर्कस्य  
युक्तेरनेनोक्तायाः परेण द्रूपणादप्रतिष्ठानमनवस्थितिस्तस्मात् । अन्यथा  
प्रतिष्ठितत्वेन कस्यचित्तर्कस्य स्वरूपमेतदनुमानादवगन्तव्यमिति चेदेवं  
यदि एवमपि कस्यचित्तर्कस्य प्रतिष्ठितत्वेऽप्यवैदिकप्रधानप्रतिपादकतर्क-  
स्याप्रतिष्ठितत्वादविमोक्षप्रसङ्गः । अप्रतिष्ठितत्वस्यापरित्यागप्राप्तिः ।  
अथ वा कपिलस्य सर्वज्ञत्वात्तदीयतर्कस्यान्यथाप्रतिष्ठितत्वमिति चेदे-  
वमपि सर्वज्ञानां बहुत्वात्सर्वभाषितत्वेऽपि अप्रतिष्ठितत्वमेवातो विना  
वेदं तर्कतस्तत्त्वज्ञानाभावात्संसारवादविमोक्षो मोक्षाभावस्तस्य प्रसङ्गः  
॥ ११ ॥

१ ग. वेदामूलतर्कस्य० । २ ग. दोषान्नितरामनि० । ३ क. °क्तेरनेकेनो० । ४ क. °त्वे कस्य० ।  
५ क. °ङ्गः । प्रति० । ६ क. °वैज्ञभा० ।

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ १२ ॥

(ब्र० व० १) अतिदेशत्वान्न पृथक्संगत्याद्यपेक्षा । ब्रह्म न जगदुपादानं विशु-  
द्धत्वाद्योमवदित्यनेन वैशेषिकाद्यनुमानेन ब्रह्मकारणबोधकसमन्वयो  
विरुध्यते न वेति संदेहे विरुध्यत इति प्राप्तम् । कुतः । अबा-  
धितत्वात् । तस्मादण्वादय एवोपादानमिति प्राप्तेऽतिदिशति । एतेन  
मन्वादिभिः शिष्टैः केनचित्सत्कार्यवादाद्यंशेन परिगृहीतप्रधानकारणवा-  
दनिराकरणप्रकारेण शिष्टापरिग्रहाः शिष्टैः केनचिदप्यंशेनापरिगृहीता  
अण्वादिकारणवादा व्याख्याता निरस्ता द्रष्टव्या इत्यर्थः । तर्कस्य  
वेदबाधितत्वादिति भावः ॥ १२ ॥

( भोक्तृभोग्यभेदवतोऽपि परब्रह्मणोऽद्वैतत्वस्याबाध्यत्वम् । अधि० ५ )

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् ॥ १३ ॥

अद्वितीयाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयः प्रत्यक्षादिना विरुध्यते न  
वेति संदेहे ब्रह्मणि तर्कस्याप्रतिष्ठितत्वाद्विरुध्यत एवेति प्रत्युदाहरणे-  
नायमाक्षेपः— भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेदिति । अद्वितीयब्रह्मणो जगदुपा-  
दानत्वे भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्य सर्वस्य ब्रह्मानन्यत्वेन भोग्यशब्दादेर्भोक्त्रा-  
त्मकत्वापत्तेर्भोक्तृत्वा भोग्यात्मकत्वापत्तेः प्रत्यक्षसिद्धः परस्परविभागो न  
स्यादिति प्रत्यक्षविरोधः समन्वयस्य भोक्तृभोग्यप्रपञ्चो नाद्वितीयवस्त्व-  
भिन्नः परस्परं भिन्नत्वाद्यतिरेकेण ब्रह्मवदित्यादितर्कविरोधश्च  
विपक्षे हेतुच्छित्तिर्बाधिकेति शङ्कार्थः । समाधत्ते—स्याल्लोकवदिति ।  
एकब्रह्मोपादानकत्वेऽपि भोक्तृभोग्यप्रपञ्चस्य परस्परं विभागः स्याल्लोक-  
वत् । यथा मृदात्मनाऽभिन्नानां घटशरावादीनां परस्परं भेदोऽस्ति यथा

(दी० १) पूर्वाधिकरणेऽत्यन्तं सालक्ष्ये कार्यकारणभावानुपपत्तिवत्समा-  
धिकपरिमाणत्वे कारणस्य तदनुपपत्तिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्यातिदेशेन  
समाधत्ते—एतेनेति । एतेन प्रधाननिराकरणेन शिष्टैर्न परिगृह्यन्त इति  
शिष्टापरिग्रहा अण्वादिकारणवादा अपि व्याख्याता निराकृताः ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे जगत्कारणे तर्कोऽप्रतिष्ठित इत्युक्तं तर्हि जगद्भेदे  
तर्कः प्रतिष्ठित इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—भोक्त्रेति । चेद्यदि  
ब्रह्म सर्वेणाभिन्नं भोग्यस्य भोक्तृस्वरूपापत्तिर्जीवाभिन्नेन ब्रह्मणा  
भोग्यस्याभेदान्भोक्त्रापत्तिस्तस्या इति शङ्कसे । नासौ दोषः स्यात् ।

(ब्र० व० १) वैकरज्जूपादानकानां दण्डसर्पादीनां परस्परं भेदस्तद्वदित्यर्थः । कल्पितभेदसत्त्वान्न प्रत्यक्षविरोधः । दण्डादौ व्यभिचारान्न तर्कः प्रमाणमिति मन्तव्यम् ॥ १३ ॥

ननु ब्रह्माभेदं जगतोऽङ्गीकृत्य लोकदृष्टान्तेन विरोधः परिहृतः । तस्य ब्रह्माभेद एव कुतो न स्यादित्याशङ्क्य जगतोऽनिर्वचनीयत्वान्न ब्रह्मातिरेकेण सत्तेत्याह—

( ब्रह्माणि भेदाभेदयोर्व्यावहारिकत्वमद्वितीयत्वस्य च तात्त्विकत्वम् । अधि० ६ )

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ १४ ॥

पूर्वं परिणामवादमालम्ब्याऽऽपाततः ‘ स्याल्लोकवत् ’ इति समाधानमुक्तम् । इदानीं विवर्तवादमाश्रित्य परमं समाधानमुच्यत इत्येकफलकत्वसंगतिः । संदेहः पूर्ववत् । तस्माद्ब्रह्मणः प्रपञ्चस्यानन्यत्वं पृथक्सत्ताराहित्यम् । कुतः । आरम्भणशब्दादिभ्यः । एकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञासिद्ध्यर्थं दृष्टान्त उपन्यस्तः ‘ यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ’ [ छा० ६ । १ । ४ ] इति । तत्र मृत्पिण्डे ज्ञाते कथं घटादिज्ञानमित्याशङ्क्य विकारो घटादिर्वागालम्ब्यनमात्रं यतो नामधेयं विकारः । ननु नामातिरेकेण विकारोऽस्तीत्युक्त्या मृत्तिकामात्रमेव विकारस्य पारमार्थिकं स्वरूपमिति तस्मिञ्ज्ञाते वस्तुतो घटादिज्ञातो भवतीत्युक्त्या विकारो मिथ्या कारणं तु सत्यमित्ययमर्थो दृष्टान्तवाक्ये सिद्धस्तथा दार्ष्टान्तिकेऽपि ब्रह्मव्यतिरेकेण प्रपञ्चसत्ता नास्तीति तदनन्यत्वम् । सूत्रस्थादिशब्देन ‘ ब्रह्मैवेदं सर्वम् ’ [ मु० २ । २ । ११ ] इत्यादि तदनन्यत्वप्रतिपादकं गृह्यते ॥ १४ ॥

(दी० १) अभेदेऽपि ब्रह्मणो भोक्तृभोग्ययोर्भेदः । लोकवत् । समुद्रादिभिन्नतरङ्गबुद्बुदयोरिव ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणे भेदाभेदसमाश्रयेण यद्विरोधसमाधानं कृतमेकदेशिना तेनैव विरोधमात्रमाशङ्क्य परिहरति—तदनन्येति । तस्मात्कारणादनन्यत्वमभिन्नत्वं कार्यस्य । कुतः । आरम्भणशब्दादिभ्यः । आरम्भणशब्दः ‘ वाचाऽऽरम्भणम् ’ इति । आदिशब्देन ‘ ऐतदात्म्यम् ’ इत्यादयः । स च तदाद्यश्च तेभ्यः ॥ १४ ॥



(अ० व० १) तदनन्यत्वे हेत्वन्तरमाह—

भावे चोपलब्धेः ॥ १५ ॥

भावपदं कारणसत्त्ववाचकं तदुपलब्ध्युपलक्षणार्थमेवमुपलब्धिपदं कार्योपलब्धिवाचकं कार्यसत्त्वोपलक्षणार्थम् । तथा चायं प्रयोगः । विकारः कारणादनन्यः कारणसत्त्वोपलम्भानुविधायिसत्त्वोपलम्भकत्वात् । यो यस्माद्भिन्नो न स तत्सत्त्वोपलम्भानुविधायिसत्त्वोपलम्भवान् । यथा घटात्पट इति । हेतावुपलम्भपदद्वयत्यागे वह्निसत्त्वानुविधायिधूमे व्यभिचारः स्यात्तद्वारणाय तद्ग्रहणम्\* । सत्त्वपदद्वयत्यागे यथाश्रुतसूत्रे चाऽऽलोकसत्त्वोपलम्भानुविधायिज्ञानवति रूपे व्यभिचारः । अतस्तदर्थं तद्ग्रहण+मिति । यद्वा भावाच्चोपलब्धेरिति सूत्रम् । न केवलं श्रुत्या कार्यकारणयोरनन्यत्वं किं तु प्रत्यक्षोपलब्धेर्भावाच्चानन्यत्वमित्यर्थः । न हि तन्तुव्यतिरेकेण पटो नाम कश्चिदुपलभ्यते किं तु संयोगविशेषावच्छिन्नास्तन्तव एव पटव्यवहारविषयाः प्रत्यक्षमुपलभ्यन्तेऽतोऽनन्यत्वं विकारस्य ॥ १५ ॥

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ १६ ॥

अवरस्य कार्यस्योत्पत्तेः प्राक्कारणानन्यत्वेन सत्त्वात्सत्त्वश्रवणादुत्पत्त्यनन्तरमनन्यत्वं सिद्धमित्यर्थः । ‘ ब्रह्म वा इदमग्र आसीत् ’ [ छा० ३ । ११ । १ ] इत्यादौ प्रपञ्चोपस्थापकेदंपदस्य ब्रह्मसामानाधिकरण्यात्तदनन्यत्वं द्रष्टव्यम् । अन्यथा ब्रह्मात्मना पूर्वं प्रपञ्चस्यासत्त्वे तत् उत्प-

(दी० १) तथैर्विनाभावाभावान्न भेद इत्यत आह—कारणस्य भावे च सत्त्व एव नासत्त्वे कार्यस्योपलम्भनमुपलब्धिस्तस्याः । अतोऽविनाभावादनन्यत्वमित्यर्थः ॥ १५ ॥

उत्पत्तेः प्रागूर्ध्वं च कार्यस्यासत्त्वान्न कारणेनानन्यत्वमित्यत आह—सत्त्वादिति । अवरस्य कार्यस्य सत्त्वाच्च विद्यमानत्वादेव प्रागूर्ध्वं च वर्त-

\* तद्ग्रहणमिति । तेन धूमत्याग्निभावानुविधायिभावत्वेऽपि न तद्भानानुविधायिभानत्वमग्निभानस्य धूमभानाधीनत्वादित्यर्थः । + तद्ग्रहणमिति । आलोकाभावेऽपि भटादिरूपसत्त्वान्न व्यभिचार इत्यर्थः ।

(ब्र० व० १) च्यनुपपत्तेः । न हि सिकतात्मनाऽविद्यमानं तैलं ताभ्यो जाये-  
तेति ॥ १६ ॥

असद्वचपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ १७ ॥

ननु 'असदेवेदमग्र आसीत्' इत्यादिना प्रागुत्पत्तेरसत्त्वव्यपदेशान्न  
कार्यस्य कारणात्मना पूर्वं सत्त्वमिति चेन्न । न ह्यत्यन्तासत्त्वाभिप्राये-  
णायमसत्त्वव्यपदेशः किं तु व्याकृतत्वरूपधर्मापेक्षयाऽव्याकृतत्वं धर्मान्तरं  
तेन धर्मान्तरेणायं सत्त्वव्यपदेशः । कुतः । वाक्यशेषात् । 'तत्सदासीत्'  
[ छा० ३ । १९ । १ ] इति वाक्यशेषः पूर्वमत्यन्तासतो ग्रहणे बाध्येत ।

तस्माद्व्याकृतं सदित्युच्यतेऽव्याकृतं चासदिति सिद्धं कारणानन्यत्वं  
कार्यस्य ॥ १७ ॥

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ १८ ॥

कारणानन्यत्वमुत्पत्तेः प्राक्सत्त्वं चेति शेषः । युक्तिरेवम्—घटो  
जायत इति प्रतीत्या घटस्य तावदुत्पत्तिकर्तृत्वं प्रतिभाति । न ह्युत्पत्तेः  
प्रागत्यन्तं घटस्यासत्त्वे तत्कर्तृत्वं युक्तम् । तस्मात्कारणात्मना सन्नेव घट  
उत्पत्तिकर्ता । किं च मृदात्मना पूर्वं घटस्यासत्त्वे मृदेव घटार्थिना  
नोपादीयेतासत्त्वाविशेषाद्यत्किंचिदेवोपादीयेतत्येवमादियुक्तिरूह्या । पूर्व-  
सूत्र उदाहृतसच्छब्दाच्छब्दान्तरं 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्' [ छा०  
६।२ । १ ] इत्यादौ विद्यमानसच्छब्दस्तस्मादपि कारणादनन्यत्वं पूर्वमु-  
त्पत्तेः सत्त्वं चेत्यर्थः ॥ १८ ॥

(दी० १) मानवत् । अतो न त्वदुक्तम् ॥ १६ ॥

असदिति असत्त्वस्य व्यपदेशोऽसद्व्यपदेशः 'असदेव' इत्यादिस्त-  
स्मान्न सत्कार्यमिति चेन्न । कुतः । धर्मान्तरेणाव्यक्तरूपेणास्तित्वं  
तद्यपदिश्यते । कुतः । वाक्यशेषात् । वाक्यस्य शेषो वाक्यशेषः 'तत्स-  
दासीत्' इत्यादिस्तस्मात् ॥ १७ ॥

उपक्रमानुसारी वाक्यशेषोऽपि स्यादित्यत आह—युक्तेरिति । घटादि-  
कार्यार्थिभिर्नियतं मृदाद्युपादानं युक्तिस्तस्या असदेवेत्युक्ताच्छब्दात्सदे-  
वेत्याद्युक्तं तदिति शब्दान्तरं तस्मात् । चकारः सत एवोपक्रम-  
सूचनार्थः ॥ १८ ॥

(ब्र० व० १) युक्तेरित्येतत्प्रपञ्चयति—

पटवच्च ॥ १९ ॥

ननु मृद्घटौ भिन्नौ विलक्षणप्रतीतिविषयत्वाद्घटपटवदित्युक्ते तस्य हेतुर्व्यभिचारमाह—पटवच्चेति । यथा संवेष्टितप्रसारितपटस्य विलक्षणप्रतीतिविषयत्वेऽपि न भेद एवं मृद्घटयोरित्यर्थः ॥ १९ ॥

न विलक्षणकार्यकारित्वमपि हेतुर्व्यभिचारादित्याह—

यथा च प्राणादिः ॥ २० ॥

यथा प्राणायामादिना निरुद्धः प्राणापानादिर्जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्तयति अनिरुद्धस्त्वाकुञ्चनप्रसारणादिकं कार्यं करोति नैतावता तस्य प्राणस्य भेदोऽस्ति । तस्मात्कार्यकारणयोरनन्यत्वं सिद्धम् । तदनन्यत्वात्त्वेकविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा सिद्धा भवति ॥ २० ॥

(सर्वज्ञत्वेन जीवसंसारमिथ्यात्वं स्वनिर्लेपत्वं च पश्यतः परमश्वरस्य हिताहितभाक्त्वदोषाभावः । अधि० ७ )

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २१ ॥

पूर्वं कार्यस्य कारणादनन्यत्वमेकविज्ञानप्रतिज्ञासिद्धये समर्थितं तर्हि तेनैव न्यायेन जीवब्रह्मणोरप्यभेदाज्जीवधर्मा हिताकरणादयो ब्रह्मणि

(दी० १) अभेदे कथं कार्यकारणभाव इत्यत आह—पटवदिति । यथैकस्य पटस्य संकोचप्रसारणाद्यवस्थास्वभेद एवमत्रापि कार्यकारणभावः । चकारो गोमहिषयोरिव भेदे कार्यकारणाभावसमुच्चयार्थः ॥ १९ ॥

पूर्वाधिकरणे कार्यकारणयोरनन्यत्ववज्जीवपरयोरपि तत् । अस्त्वेकस्य कार्यकारणवत्त्वं तथाऽपि कारणावस्थायां कार्यकृतार्थक्रिया किमिति न स्यादित्यत आह—यथा चेति । प्राणोऽपान इत्यादिः प्राणादिः स यथैक एव तत्तद्द्वारं प्राप्य तां तां प्राणाद्यर्थक्रियां करोति न पुनर्हृद्यवरुद्धः । चकारः पटस्यापि वेष्टितस्य न प्राणचरणाद्यर्थक्रियाकारित्वं समुच्चिनोति ॥ २० ॥

पूर्वाधिकरणे कार्यकारणयोरनन्यत्ववज्जीवपरयोरपि तत्सिद्धम् । इदानीं तेनैव विरोधमाह—इतरेति । इतरस्य शारीरस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वं

(ब्र० व० १) प्रसज्येरन्नित्याक्षेपात्संगतिः । जीवाभिन्नं ब्रह्म जगदुपादानमिति ब्रुवन्समन्वयो विषयः स किं यदि तादृग्ब्रह्म जगज्जनयेन्न तर्हि स्वानिष्टं जनयेदिति तर्केण विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वपक्षमाह—इतरव्यपदेशादिति । इतरस्य जीवस्य 'तत्त्वमसि' [ छा० ६ । ८ । ७ ] इत्यादिना ब्रह्मात्मत्वव्यपदेशादितरस्य ब्रह्मणो वा 'अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य' [ छा० ६ । ३ । २ ] इत्यादिना शारीरत्वव्यपदेशाद्ब्रह्मणः स्रष्टृत्वे जीवस्यैव स्रष्टृत्वं स्यात् । तथा च हिताकरणादिरूपदोषप्रसक्तिर्ब्रह्मणः । नञ्व्यत्यासेनाहितजरामरणादिबहुविधानर्थकरणादिरूपदोषस्य प्रसक्तिरित्यर्थः । आदिपदेन जीवजरादिकं मया सृष्टमिति ज्ञानं स्यात्तत्संहर्तृत्वं च स्यादित्यादिदोषो गृह्यते । तस्माज्जीवाभिन्नब्रह्मणो नानिष्टप्रपञ्चजनकत्वमभ्रान्तचेतनत्वादिति न चेतनोपादानकं जगदित्याक्षेपसूत्रार्थः ॥ २१ ॥

समाधत्ते—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २२ ॥

तुः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । यतः शारीरादधिकं सर्वज्ञं सर्वेश्वरं सर्वशक्तिं ब्रह्म जगदुपादानं स्रष्टुं चेति ब्रूमोऽतो न हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः । कुतः । भेदनिर्देशात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' [ बृ० २ । ४ । ५ ] 'सता सोम्य तदा संपन्नो भवति' [ छा० ६ । ८ । १ ] इत्यादिना कल्पितस्य भेदस्य व्यपदेशादित्यर्थः । न हि ब्रह्मणो नित्यमुक्तस्य हितमहितं वा किञ्चिदस्तीति न हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः । कल्पितभेदमादायैव सर्वासां कार्योपपत्तेरिति तात्पर्यम् ॥ २२ ॥

(दी० १) 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इत्याभ्यां ब्रह्मशारीराभ्यां व्यपदेशस्तस्मात् । हितस्याकरणं हिताकरणम् । आदिशब्देन विपरीतकरणादिः । हिताकरणादेर्दोषस्य प्रसक्तिः प्रसङ्गो ब्रह्मणः कारणत्वे । तत्र सूत्रस्य पूर्वावयवो हेतुः ॥ २१ ॥

अधिकमिति तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । अधिकं जीवादन्यद्ब्रह्म । कुतः । भेदनिर्देशात् । 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः' इत्यादिना कर्मकर्तृत्वादेर्भेदस्य निर्देशस्तस्मात् ॥ २२ ॥

\* एतेन भ्रान्त्याऽप्यनिष्टं न स्वी कुर्यादिति भावः ।

(ब्र० व० १) नन्वेकरूपब्रह्मणो जगत्कारणत्वे कार्यवैचित्र्यं न स्यादिति दोषं दृष्टान्तेन परिहरति—

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २३ ॥

यथैकपृथिवीजन्यानामश्मनां वज्रवैदूर्येन्द्रनीलपद्मरागादिभेदेन वैचित्र्यमेवं ब्रह्मकार्याणां स्वरूपवैचित्र्यं युज्यते । नन्वेकब्रह्माश्रितकार्येषु कथं धर्मवैचित्र्यं कथं वाऽर्थक्रियावैचित्र्यमित्याशङ्कानिरासार्थमादिवच्चेत्युक्तम् । तस्यार्थः—यथैकपृथिव्याश्रितानां बीजानां बहुविधं पत्रपुष्पफलगन्धरसादिवैचित्र्यं यथैकस्यान्नस्य केशनखादिविचित्रार्थक्रियारित्वं तत्सर्वमुपपद्यत इति । तदनुपपत्तिरुक्तदोषानुपपत्तिरित्यर्थः ॥ २३ ॥

( अद्वितीयादपि ब्रह्मणः क्रमेण नानाकार्याणां सृष्टिसंभावना । अधि० ८ )

उपसंहारदर्शनाच्चेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २४ ॥

असहायाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो विषयः स किं ब्रह्म नोपादानं कर्तुं वाऽसहायत्वात्संमतवदिति न्यायेन विरुध्यते न वेति संशये पूर्वमौपाधिकजीवभेदाद्धिताकरणादिदोषो नास्तीत्युक्तं संप्रत्युपाधितोऽपि विभक्तं ब्रह्मणः प्रेरकादिकं नास्ति ब्रह्मनानात्वाभावादिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—उपसंहारेति । लोके कुलालस्य कर्तुर्दण्डचक्राद्युपसंहारदर्शनान्मृदो वोपादानस्य स्वभिन्नकुलालादिसहायदर्शनात्तदुभयविलक्षणस्य ब्रह्मणो न जगत्कर्तृत्वमुपादानत्वं वा संभवतीति चेदिति शङ्कार्थः । समाधत्ते—क्षीरवद्धीति । हिशब्दो हेत्वर्थः । यथा लोके क्षीरं बाह्यसाधनान्यपेक्ष्य दध्याकारेण परिणमते तद्वद्ब्रह्मापीत्यर्थः ।

(दी० १) एकस्मिन्नपि भेदोऽनुपपन्न इत्यत आह—अश्मादीति । यथैकस्या भूमेर्निरर्थका अश्मानो महार्हा मणयश्चाऽऽदिशब्देन व्रीह्यादयश्च परस्परं भिद्यमाना न तस्या भिद्यन्ते तद्वज्जीवा भिन्नाश्चापि न ब्रह्मणो भिद्यन्तेऽतस्तस्य हिताकरणादेर्दोषस्यानुपपत्तिरप्रसङ्गः । चकारो भेदाभेदाभावे कार्यसत्त्व उक्तश्रुत्यादिसद्भावसूचनार्थः ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरण औपाधिकनानात्वेन समाधानं कृतम् । ईश्वरे तु तदपि नास्तीति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—उपसंहारेति । उपादानकारणस्य मृदादेरन्यस्य निमित्तस्य दण्डादेरसमवायिनश्च संयोगादेरुपसंहर-

(ब्र० व० १) न चौष्ण्यसापेक्षत्वं क्षीरस्यास्तीति वाच्यम् । औष्ण्यस्य दधि-  
भावे त्वरामात्रनिमित्तत्वादिति । श्रुतिरप्यसहायस्य ब्रह्मणः कार्यका-  
रित्वं दर्शयति—

न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।

न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते ॥

पराऽस्य शक्तिर्विविधा च श्रूयते

स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ॥ [ श्वे० ६ । ८ ]

इति ॥ २४ ॥

ननु चेतनत्वे सत्यसहायत्वं हेतुरतो न क्षीरे व्यभिचार इत्याशङ्क्य  
चेतनदृष्टान्ते तस्य व्यभिचारमाह—

देवादिवदपि लोके ॥ २५ ॥

लोक्यतेऽनेनेति लोकः शब्दो मन्त्रार्थवादेतिहासादिस्तस्मिन्यथा  
देवाः पितर ऋषय इत्येवमादयश्चेतनाः स्वतःसिद्धसामर्थ्याः साध-  
नान्तरं बाह्यमनपेक्ष्य संकल्पमात्रेणैव नानाविधकार्यकर्तार उपलभ्यन्ते  
तद्वद्ब्रह्मापीत्यर्थः । अयं भावः—कुलालस्तावद्बाह्यमान्तरं च संकल्पा-  
दिकमपेक्ष्य कार्यकर्ता भवति देवादयस्त्वान्तरसंकल्पमात्रमपेक्ष्य कार्येषु  
समर्थाः । तथा च यथैकस्य कार्यजनने सामर्थ्यं तथैवान्यस्येति निय-  
माभावान्न दृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानमिति ॥ २५ ॥

ननु निरवयवाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयः सावयवस्यैव नाना-  
कारेण परिणाम इति न्यायेन विरुध्यते न वेति क्षीरादिकदृष्टान्तकथ-  
नेन ब्रह्मणः परिणामित्वभ्रमोत्पत्त्या संदेहे कार्यकारणभावसंगत्या पूर्व-  
पक्षयति—

(दी० १) णमुपसंहारः संनिपातस्तस्य दर्शनाद्ब्रह्मणोऽन्यस्याविद्यमानत्वान्नो-  
पादानं ब्रह्मेति चेत्तन्न । हि यस्मात्क्षीरवत् । यथा क्षीरं बाह्यसाधनाद्यन-  
पेक्षं परिणमते तद्वद्ब्रह्मापि ॥ २४ ॥

अस्त्वचेतनस्यैवं न तु चेतनस्येत्यत आह—देवादीति । आदिशब्देन  
ऋण्यादयः । यथा चेतना अपि देवादयो लोके बाह्यसाधनानपेक्षास्त-  
द्वद्ब्रह्मापि ॥ २५ ॥

(ब० व० १) (ईश्वरस्योपादानरूपपरिणामिकारणत्वव्यवस्थापनम् । अधि० ९)

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २६ ॥

पूर्वाधिकरणस्य भ्रमोत्पादकत्वेन कारणत्वमेतस्य कार्यत्वमिति बोध्यम् । ननु ब्रह्म निरवयवं वा परिणमते सावयवं वा । आद्ये कृत्स्नस्य ब्रह्मणः कार्याकारेण परिणामप्रसक्तिः । ततश्च कार्यातिरिक्तं ब्रह्म न स्याददुर्ज्ञानत्वश्रुतिविरोधश्च । कार्यस्य प्रत्यक्षत्वात् । द्वितीये कृत्स्नप्रसक्तिर्नास्त्येकांशपरिणामेऽप्यपरांशस्थितिसंभवात् । तथाऽपि 'निष्कलम्' [ श्वे० ६ । १९ ] इत्यादिनिरवयवत्वशब्दकोपः । उभयस्मिन्पक्षेऽप्यनित्यत्वप्रसङ्ग इति ब्रह्मणः परिणामित्वभ्रममूलकः पूर्वपक्षः ॥ २६ ॥

सिद्धान्तयति—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २७ ॥

तुराक्षेपनिरासं ब्रूते । न तावत्कृत्स्नप्रसक्तिरस्ति । कुतः । श्रुतेः । यथा जगदुपादानत्वं ब्रह्मणः श्रूयत एवं कार्यव्यतिरेकेण ब्रह्मणः सत्त्वं श्रूयते 'एतावानस्य महिमा ।' [ छा० ३ । १२ । ७ ] इत्यादौ । तथा च श्रुत्यैव विवर्तवादः स्फुटीकृतः । न हि परिणामवादे कार्यव्यतिरेकेण सत्त्वं संभवति । तस्मात्कार्यातिरेकेण ब्रह्मणोऽवस्थानश्रुतेर्नोक्तदोष इत्यर्थः । ननु श्रुतिर्वा कथं कार्यातिरेकेण ब्रह्मणः सत्त्वं बोधयेदुक्तयुक्तिबाधितत्वादित्यत आह—शब्दमूलत्वादिति । ब्रह्मणः शब्दै-

(दी० १) पूर्वाधिकरणोक्तं परिणामित्वमाक्षिपति—कृत्स्नेनेति । ब्रह्म चेतनं चेत्यपरिणमते सर्वात्मनैकदेशेन वा । आद्ये कृत्स्नस्य ब्रह्मणः परिणामप्रसङ्गस्ततोऽनित्यत्वम् । द्वितीये निरवयवस्याभिधायकः शब्दो निरवयवत्वशब्दस्तस्य कोपो विरोधो निरवयवत्वं न स्यादित्यर्थः ॥ २६ ॥

श्रुतेरिति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । न कृत्स्नप्रसक्तिदोषः । कुतः । 'हन्ताहमिमाः' इत्यादिना कार्याद्ब्रह्मणो व्यतिरेकश्रुतेः । न निरवयवत्वशब्दकोपः । 'यतो वा इमानि' 'निष्क्रियम्' इत्यादिना कारणत्वस्य निरवयवत्वस्य च शब्दितत्वाच्छब्दमूलत्वाच्च ब्रह्मवादस्य ।

(ब्र० व० १) कप्रमाणकत्वाद्यथाशब्दं कार्योपादानत्वं तदतिरेकेण सत्त्वं चावि-  
रुद्धमित्यर्थः ॥ २७ ॥

जगतो ब्रह्मविवर्तत्वेन स्वप्नप्रपञ्चवन्मायिकत्वात्तदुपादानत्वेऽपि  
ब्रह्मणो न कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषः स्वप्नसाक्षिवादित्याह—

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २८ ॥

आत्मनि स्वप्नदृश्येवं ब्रह्मणीव हि यस्मान्द्वेतोरेकस्मिन्नात्मनि स्वप्न-  
दृशि निरवयवे विचित्राः सृष्टयः श्रूयन्ते 'न तत्र रथा न रथयोगा  
न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्नथयोगान्पथः सृजते' [ बृ० ४ । ३ । १० ]  
इत्यादौ । स्वप्ने रथादीनामभावे कथं तदुपलब्धि रित्याशङ्क्योक्तं श्रुता-  
वथेत्यादि । सूत्रे चशब्देन मायाविद्वष्टान्तं समुच्चिनोति । यथा लोके  
मायाविस्वरूपानुपमर्देनैव विचित्रा हस्त्यश्वादिमृष्टयो दृश्यन्ते तथा  
ब्रह्मण्यपि विविधसृष्टिरित्यर्थः ॥ २८ ॥

'यत्रोभयोः समो दोषः' इति न्यायेन कृत्स्नप्रसक्त्यादीनामनुद्धा-  
व्यत्वं दर्शयति—

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २९ ॥

सांख्यादयोऽपि निरवयवं प्रधानं जगत्परिणामीत्यङ्गी चक्रुः । तथा  
च कृत्स्नप्रसक्त्यादिदोषाः सर्वे समानाः । अणुवादिनोऽपि परमाणु-  
द्वयसंयोगेन द्यणुकादिमृष्टिमङ्गी चक्रुः । संयोगः किं \* व्याप्यवृत्तिरव्या-  
+ प्यवृत्तिर्वा, आद्ये × दृष्टविरोधः ○ कार्यप्रथिमानुपपत्तिश्च । द्वितीये

( दी० । ) शब्दो मूलं प्रमाणं यस्य सोऽयं शब्दमूलस्तस्य भावस्तत्त्वं  
तस्मात् ॥ २७ ॥

ननु शब्दोऽपि कथं विरुद्धं ब्रूत इत्यत आह—आत्मनीति । आत्मनि  
स्वप्नदर्शिनि एवं स्वरूपानुपमर्देन हि यस्माद्विचित्राः सृष्टयः 'न तत्र  
रथाः' इत्यादिश्रुत्या स्वानुभवेन च दृष्टाः । आद्यश्चकारो मायाव्यादि-  
निदर्शनसमुच्चयार्थः । द्वितीयोऽनुपपत्तेरलंकारत्वार्थः ॥ २८ ॥

स्वपक्षेति । स्वस्य प्रतिवादिनः पक्षः स्वपक्षस्तस्य दोषः कृत्स्नप्रस-

\* एकांश वृत्तित्वाभावः । + एकांश वृत्तित्वम् । × दृष्ट विरोध इति ।  
सांशद्रव्ये संयोगस्यैकांशवृत्तित्वं दृष्टं तद्विरोध इति भावः ○ कार्यप्रथिमानुपपत्तिरिति ।  
संयोगस्य व्याप्यवृत्तित्व एकस्मिन्नितरस्यान्तर्भावात्कार्यस्य पृथक्वायोगात्सर्वं कार्यं परमा-  
णुमात्रं स्यादिति भावः ।



( ब० व० । ) सावयवत्वं विनाऽव्याप्यवृत्तिसंयोगानुपपत्तिर्निर्वयवत्वव्या-  
कोप इत्यादयो दोषाः समाना ब्रह्मवादे ते दोषा न सन्ति च । तस्मादत्य-  
न्तमुपपन्नः परमात्मकारणतावादः ॥ २९ ॥

एकस्यापि ब्रह्मणो विचित्रकार्यशक्तिमत्त्वमुक्तं तत्समर्थयति—

( ईश्वरस्याशरीरत्वेऽपि मायावित्वम् । अधि० १० )

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ ३० ॥

मायाशक्तिमतो ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयोऽशरीरस्य न मायेति  
न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे पूर्वोक्तशक्तिमत्त्वविषयकशङ्कानिरासेन  
तत्समर्थनात्मकत्वाद्विषयविषयिभावसंगत्या विरुध्यत इति पूर्वपक्षे  
राद्धान्तः । सर्वोपेता सर्वशक्तियुक्ता परा देवता । कुतः । तद्दर्शनात् ।  
तस्याः सर्वशक्तियोगस्य श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । ' सर्वकर्मा सर्वकाम-  
सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तः ' [ छा० ३।१।४।२ ] इत्यादिश्रुतिः  
व्रष्टव्या ॥ ३० ॥

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ ३१ ॥

सर्वशक्तियुक्तानामपि देवादीनां चक्षुरादिकरणवतामेव विचित्रकार्य-  
कर्तृत्वमवगम्यते । ' अचक्षुष्कमश्रोत्रम् ' [ बृ० ३ । ८ । ८ ] इत्यादिना  
ब्रह्मणो विकरणत्वावगमान्न कर्तृत्वमिति चेद्यदत्रोत्तरं वक्तव्यं तत्पूर्वमेव  
विलक्षणत्वात् ' देवादिवदपि लोके ' [ ब० सू० २ । १ । २५ ] इत्या-  
दावुक्तम् । श्रुत्येकसन्नधिगम्यत्वान्न तर्केण विरोधाशङ्का यथैकस्य तथा  
वाऽन्यस्येति नियमाभावादित्यादिकमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

( दी० । ) क्तिप्रभृतिस्तस्मात् । चकारो ब्रह्मवादिनस्तदभावसमुच्चयार्थः ॥ २९ ॥

पूर्वाधिकरणे स्वप्नद्रष्टान्ते मायावित्वादीश्वरस्य कारणत्वमुक्तम् ।  
इदानीं ह्यशरीरस्य न मायेत्याक्षिप्य समाधत्ते—सर्वेति । अशरीराऽपि  
देवता मायाया आश्रयः । कुतः । सर्वोपेता च । सा यतः सर्वाभिः  
शक्तिभिरुपेता सर्वोपेताऽपि अशरीरैव । तदपि कुत इत्यत आह—तद्दर्श-  
नात् । तस्य सर्वोपेतत्वस्य सर्वकर्मत्वादिना दर्शनात् ॥ ३० ॥

विकरणेति । करणरहितत्वं विकरणत्वं तस्मात् । परस्या देवताया  
हस्तादिशून्यत्वेन न सर्वकर्मत्वादिकमिति चेदेवं यदि चोदयसि तच्चोद्यं  
शब्दमूलत्वादित्यत्रोक्तं निराकृतम् ॥ ३१ ॥

(ब्र० व० १) ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं हेत्वन्तरेणाऽऽक्षिपति—

( नित्यतृप्तस्येश्वरस्यापि प्रयोजनं विनाऽशेषजगदुत्पादकत्वम् ।  
अधि० ११ )

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ ३२ ॥

अवाप्तसकलकामाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो ब्रह्म विना फलेन  
न सृजति अभ्रान्तचेतनत्वात्संमतवदिति न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे  
पूर्वोक्तकर्तृत्वाक्षेपसंगत्या पूर्वपक्षः । ब्रह्मणो जगत्कर्तृत्वं न संभवति  
नित्यतृप्तत्वेन प्रयोजनाभिसंधिविरहितत्वात्प्रेक्षावत्प्रवृत्तेः प्रयोजनवत्त्वा-  
वगमादिति ॥ ३२ ॥

अत्र सान्धान्तः—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ॥ ३३ ॥

तुरुक्तशङ्कानिरासकः । यथा लोके राजतदमात्यादीनां फलं विनैव  
केवलं लीलारूपाः प्रवृत्तयो दृश्यन्ते यथा चोच्छ्वासादयः स्वभावादेवो-  
त्पद्यन्ते एवं ब्रह्मणोऽपि विचित्रकार्यरचना लीलाकैवल्यं केवललीला-  
मात्रं न फलसापेक्षम् । कथंचिद्वाजादीनां लीलायां फलसंभवेऽपि  
नित्यतृप्तस्य ब्रह्मणो लीलामात्रमेतदित्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

विधान्तरेण ब्रह्मणः कारणत्वमाक्षिप्य समाधत्ते—

( जीवानां कर्मानुरोधेन सुखदुःखनिमित्तमात्रस्येश्वरस्य

वैषम्यनैर्घृण्यदोषाभावः । अधि० १२ )

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३४ ॥

निरवद्याद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो विषमसृष्टिकर्ता स सावद्य

(दी० १) पूर्वाधिकरणे प्रामाणिकत्वेनाशरीरस्यापि मायावित्त्वं जगत्कारण-  
त्वाय कथितम् । इदानीं जगत्कारणत्वमीश्वरस्यानुपपन्नं प्रयोजनाभा-  
वादित्याक्षिपति—नेति । न चेतनः स्रष्टा । कुतः । चेतनसमीक्षायाः  
प्रयोजनवत्त्वात् । आप्तकामत्वाच्चेष्टस्य न प्रयोजनं किञ्चित्सृष्टौ ॥ ३२ ॥

लोकवदिति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । लोकवत् । यथा लोके  
राजादीनामाप्तकामानां विना प्रयोजनं लीलायाः केवलाया भावः  
कैवल्यं लीलैव कैवल्यं तत्प्रवर्तनं तद्वत् ॥ ३३ ॥

पूर्वाधिकरणे लीलया जगत्कारणत्वमुक्तम् । इदानीं कुर्वतो वैषम्यादि

(ब्र० व० १) इति न्यायेन विरुध्यते न वेति विशये पूर्वं मायामय्या लीलया ब्रह्मणो यत्प्रवृत्तमुक्तं तस्यात्राऽऽक्षेपात्संगतिसिद्धौ पूर्वपक्षः—ब्रह्म किं प्राणिकर्मसापेक्षं जगत्कर्तृ निरपेक्षं वा । नाऽऽद्यः । अनीश्वरत्वप्रसङ्गात् । द्वितीये वैषम्यनैर्घृण्ये प्रसज्येयाताम् । कांश्चित्तिर्यगादीनत्यन्तदुःखिनः सृजति कांश्चिन्मनुष्यादीन्सुखदुःखसाधारणान्कांश्चिद्देवानत्यन्तसुखिन इति वैषम्यं सर्वसंहर्तृत्वाच्च नैर्घृण्यम् । ततश्च सावद्यत्वं प्रसज्येतेति शङ्कां निराहरति—वैषम्यनैर्घृण्ये न स्याताम् । कस्मात् । सापेक्षत्वात् । प्राणि-कर्मसापेक्षत्वात् । कर्मानपेक्षत्वे हि वैषम्यादिः स्यान्न सापेक्षत्व इत्यर्थः । न च सापेक्षत्वेऽनीश्वरत्वम् । भूत्यादिसेवानुसारेण फलदातुराज्ञोऽराज-त्वाददर्शनात् । ईश्वरस्तु पर्जन्यवद्द्रष्टव्यः । यथा तत्तद्बीजे सत्यपि पर्जन्यं विनाऽङ्कुरानुपपत्तिस्तद्वदिति कर्मणैवोत्पत्तौ किमर्थमीश्वरस्य स्वीकार इति चोद्यं श्रुत्या पराकृतमिति भाष्ये द्रष्टव्यम् । नन्वीश्वरस्य कर्मसापे-क्षत्वं कुत इत्यत्राऽऽह—तथा हि दर्शयति । श्रुतिः स्मृतिश्चेत्यर्थः । ‘एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषत एष उ एवा-साधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते ’ [ कौ० ब्रा० ३ । ८ ] इति । ‘ पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ’ [ बृह० ३ । २ । १३ ] इत्याद्या श्रुतिः । यमुन्निनीषत ऊर्ध्वं नेतुमिच्छतीश्वरस्तं साधु कर्म कारयति पूर्वजन्मकृतसुकृतवशादिति योजना । पुण्यः सुखी पापो दुःखी । स्मृतिस्तु—‘ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । ‘(भ० गी० ४ । ११ ) इत्याद्या द्रष्टव्या ॥ ३४ ॥

न कर्म विभागाच्चेन्नानादित्वात् ॥ ३५ ॥

‘ सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ’ इत्यादिना सृष्टेः प्राग-

(दी० १) स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—वैषम्येति विषमस्य भावो वैषम्यं केषांचि-त्सुखं केषांचिद्दुःखं केषांचिर्दुःखे अपि । निर्वृणस्य भावो नैर्घृण्यं जगतः संहर्तृत्वादि वैषम्यं च नैर्घृण्यं च वैषम्यनैर्घृण्ये नेश्वरस्य । कुतः । धर्म-सापेक्षः सुखमधर्मसापेक्षो दुःखमुभयसापेक्ष उभयादि च करोति यतः । सापेक्षस्य भावः सापेक्षत्वम् । हि यस्मादयथा भवति तथा दर्शयति श्रुतिः—‘एष ह्येव’ इत्यादिना । स्मृतिरपि ‘ये यथा’ इत्यादिना ॥ ३४ ॥

न कर्मेति प्रथमतो जगदुत्पत्तौ नेश्वरस्य कर्मसापेक्षता । कुतः । यत

(ब्र०व०।)विभागावधारणान्न तदानीं कर्मास्ति ततः कर्मापेक्षया विषमा  
 सृष्टिरित्यसंगतमिति चेन्न । अनादित्वात् । संसारस्य बीजाङ्कुरवज्ज्हेतु-  
 हेतुमद्भावोपपत्तेरित्यर्थः । पूर्वसृष्टौ संपादितधर्माधर्मप्रपञ्चस्याऽऽत्यन्तिक-  
 नाशाभावात्तदपेक्षयोत्तरसृष्टौ न किञ्चिद्बाधकमिति भावः ॥ ३५ ॥

ननु संसारस्यानादित्वं कुत इत्यत आह—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ ३६ ॥

संसारस्यानादित्वमुपपद्यते च । अन्यथाऽकस्मादेव सृष्ट्यङ्गीकारे  
 मुक्तस्यापि पुनर्जन्मप्रसङ्गात्पूर्वसृष्टिसादृश्यानुपपत्तेश्च । श्रुतिस्मृत्योः  
 संसारस्यानादित्वमुपलभ्यते च । ‘अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य  
 नामरूपे व्याकरवाणि’ [ छा० ६ । ३ । २ ] इति प्राणधारणनिमित्तेन  
 जीवशब्देन सृष्ट्यादौ शारीरमभिलपन्प्राणधारणादिसंसारस्यानादित्वं  
 दर्शयति । ‘धाता यथा पूर्वमकल्पयत्’ इत्यादिश्रुतिरपि पूर्वकल्पस-  
 ङ्गावं दर्शयति । स्मृतिरपि संसारस्यानादित्वमाह—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते

नान्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा [म० गी० १५ । ३] ॥ इति ।

स्मृत्यर्थस्तु—अस्य संसारवृक्षस्य कल्पितस्य रूपं पारमार्थिकं  
 स्वरूपं ब्रह्म तथा घटोदिवदिह संसारस्य प्राकृतैर्व्यवहारभूमौ नोपल-  
 भ्यते । न चान्तोऽवधिरस्य विना ब्रह्मविद्यामुपलभ्यते नाप्यादिः ।  
 अनिर्वचनीयत्वादेव नापि संप्रतिष्ठा मध्यमिति ॥ ३६ ॥

( निर्गुणस्यापि ब्रह्मणो विवर्तरूपेण प्रकृतित्वसिद्धिः । अधि० १३ )

( दी० । ) उत्पत्तेः प्राग् कर्म सुकृतं दुष्कृतं च । तदेव कुतः ‘सदेव’  
 इत्यादिनोत्पत्तेः प्रागविभागादिति चेदेवं यदि तन्न । प्राथम्यानुपपत्तेः ।  
 अनादित्वात्संसारस्य । न विद्यत आदिर्नस्य सोऽयमनादिस्तस्य  
 भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ ३५ ॥

तदेव कथमित्यत आह—उपपद्यत इति । संसारस्यानादित्वमुपप-  
 द्यते । अन्यथा कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् । उपलभ्यतेऽपि सूर्या-  
 चन्द्रमसावित्यादौ, स्मृतौ च नान्तो न चाऽऽदिरित्यादौ । आद्यश्चकारो  
 विपर्ययप्रमाणाभावार्थः । द्वितीयश्चकारः प्रसिद्धिविरोधार्थः ॥ ३६ ॥

(ब्र० व० १) इदानीं परपक्षप्रतिषेधप्रधानपादमारब्धुकामः स्वपक्षे निर्दुष्टतामुपसंहरति—

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

पूर्वाधिकरणे कर्मवशादीश्वरस्य विषमसृष्टिहेतुत्वमुक्तं तदस्तु । विषमसृष्टिप्रयोजककर्मणः सत्त्वात्तद्वदुपादानत्वप्रयोजकसगुणत्वस्याभावाच्चोपादानत्वमिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽऽस्याऽऽरम्भः । निर्गुणाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं वदन्समन्वयो यन्निर्गुणं तन्नोपादानं यथा गन्ध इति न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे विरुध्यत इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्वधर्मोपपत्तेश्चेति । सर्वे जगत्कारणत्वसर्वज्ञत्वादयः कारणधर्मा ये विद्यन्ते तेषां पूर्वोक्तप्रकारेण ब्रह्मण्युपपत्तेर्ब्रह्मैव जगत्कारणमित्यौपनिषदं शास्त्रं निर्दोषमित्यर्थः । अयं भावः । यन्निर्गुणं तन्नोपादानमिति व्याप्तौ किं परिणामित्वाभावो व्यापक उत विवर्तोपादानत्वाभावः । नाऽऽद्यः । इष्टत्वात् । न द्वितीयः । आरोपितानित्यत्वोपादाने ज्ञानजात्यादौ व्यभिचारात् । तस्मान्निर्गुणत्वे ब्रह्मणो विवर्तजगदुपादानत्वमविरुद्धमिति तस्मान्न कथमपि समन्वयस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ ३७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्दश्रीचरण-

शिक्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीया-

यस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

इयता प्रबन्धेन मुमुक्षूणां सम्यग्ज्ञानोत्पत्तये वाक्यानां समन्वयः प्रतिपादितस्तस्मिन्समन्वये परपरिकल्पितदूषणनिरासेन स्वपक्षः स्था-

(दी० १) पूर्वाधिकरणे विषमसृष्टत्वस्यानेकान्ततोक्ता तेनैव निर्गुणस्यानुपादानत्वमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सर्वेति । सर्वे धर्माः सर्वधर्मास्तपामुपपत्तिस्तस्याः । निर्गुणस्यापि जगत्कारणत्वं भ्रमाधिष्ठानत्वेन सत्त्वादेरिव सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ ३७ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्यस्य

श्रीशंकरानन्दभगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रदीपिकायां द्वितीया-

ध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

(ब० व० १) पितः । इदानीं मुमुक्षूणामद्वैतशास्त्रे निर्विचिकित्सप्रवृत्तिसिद्धये परमतदुपपन्नप्रधानः पाद आरभ्यते—

( सांख्यानुमतप्रधानस्य जगद्धेतुत्वखण्डनम् । अधि० १ )

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ १ ॥

सांख्यमतस्य शिष्टपरिगृहीतत्वेनाभ्यर्हितत्वात्तदादौ निराक्रियते । पूर्वम् ‘ ईक्षतेनाशब्दम् ’ [ ब० सू० १ । १ । ५ ] इत्यादिना प्रधानपरत्वेन वेदान्तानां व्याख्यानं निरस्तमिह तु प्रधानसाधकवेदनिरपेक्षयुक्तीनामाभासत्वमुच्यते इति न पौनरुक्त्यम् । अत्र सांख्यादिमतनिरासेन समन्वयस्य तन्मतविरुद्धनिरासद्वारा दृढीकरणादस्य पादस्य श्रुत्यध्यायसंगती बोध्ये । समन्वये विरोधनिरासेन स्वपक्षस्थापनपरप्रथमपादेनास्य पादस्योपजीव्योपजीवकभावसंगतिः । स्वपक्षस्थापनं विना परमतनिरासायोगात्स्वसिद्धान्तज्ञानहेतुत्वाद्वा पूर्वपादस्योपजीव्यत्वं बोध्यम् । परमतनिरासपरत्वादेव सर्वेषामधिकरणानां पादसंगतिः । सर्वधर्मोपपत्तेश्चेत्यनेन ब्रह्मणि कारणधर्माणामुपपत्तिरित्युक्ते तेषां प्रधान एवोपपत्तिः किं न स्यादिति आक्षेपस्यात्र निरासादनयोराधिकरणयोराक्षेपलक्षणावान्तरसंगतिः । फलं तु पादसमाप्तिपर्यन्तं परमतयुक्तिविरोधाविरोधाभ्यां समन्वयासिद्धितत्सिद्धी इति विवेकः । तत्र प्रधानमचेतनं जगदुपादानमिति सांख्यसिद्धान्तो विषयः । संदिह्यमानस्यैवाधिकरणविषयत्वात्स च सिद्धान्तः संदिह्यते किं प्रमाणमूलो भ्रममूलो वेति । तत्र प्रमाणमूल एवेति युक्तम् । तथा हि बाह्याध्यात्मिकं जगत्सुखदुःखमोहात्मकसामान्योपादानकं भवितुमर्हति तदन्वितत्वात् । यद्यदन्वितं तत्तदुपादानकं यथा मृदन्वितं घटादिकं मृदुपादानकमिति । तथा च यदेव सुखदुःखमोहात्मकं किंचित्सिद्धं तदेव सत्त्वरजस्तमोगुणात्मकं प्रधानमिति प्रामाणिकः सांख्यसिद्धान्त इति प्राप्ते ब्रूमः । उक्तानुमानसिद्धं प्रधानं न जगदुपा-

(दी० १) पूर्वस्मिन्पादे वेदान्ताननुग्राहकाः सांख्यादितर्का निरस्ताः । इदानीं तेषामेव वेदान्तनिरपेक्षा ये तैः समन्वयस्य विरोधमाशङ्क्य तेषां दुष्टत्वप्रदर्शनेनाविरोधमाह द्वितीयेन पादेन । अत्रापि सांख्यस्मृतिवक्तृकप्राधान्यमङ्गीकृत्य तन्निरस्यति—रचनेति । अनुमीयत इत्यनुमानं प्रधानं तन्न

(ब० व० १) दानम् । कुतः । रचनानुपपत्तेः । चेतनाप्रेरितात्स्रष्टव्यज्ञानशून्या-  
त्प्रधानादनेकविविधविचित्रजगद्वचनानुपपत्तेरित्यर्थः । लोके विचित्रप्रा-  
सादादिरचनायां बुद्धिकुशलशिल्प्यादिकार्यत्वदर्शनादिति भावः । सूत्रे  
चशब्देन हेतोः स्वरूपासिद्धिं समुच्चिनोति । सुखादीनामान्तरत्वप्रतीते-  
स्तदन्वितत्वं जगतोऽसिद्धं तस्मादप्राणिकः सांख्यसिद्धान्त इति ॥ १ ॥

प्रवृत्तेश्च ॥ २ ॥

साम्यावस्थापन्ना गुणा हि प्रधानम् । साम्यावस्थायां च न किञ्चि-  
त्कार्यं जायते किं तु साम्यावस्थाप्रच्यवेन गुणानामङ्गाङ्गिभावे जाते  
कार्यस्योदय इति प्रक्रिया सा न युक्ता लोकेऽचेतनरथादिप्रवृत्तेश्चेत-  
नाधीनत्वदर्शनात् । प्रधानस्य साम्यावस्थाप्रच्युतिरूपप्रवृत्तेश्चेतनप्रेरणं  
विनाऽनुपपत्तेरित्यर्थः ॥ २ ॥

पयोम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ ३ ॥

नन्वचेतनस्य स्वयं प्रवृत्तिरपि दृश्यते । यथा क्षीरं वत्सविवृद्धये  
स्वयमेव प्रवर्तते यथा वा जलं स्वयमेव स्यन्दते तथा पयोम्बुवत्प्रधानं  
स्वयमेव प्रवर्तते इति चेन्न । यतस्तत्रापि परमात्मा प्रेरकः श्रूयते 'योऽप्सु  
तिष्ठन्' [ वृ० ३ । ७ । ४ ] इत्यादिना । तथा च पक्षत्वान्न व्यभि-  
चारः पयोम्बुनोरिति भावः ॥ ३ ॥

(दी० १) जगत्कारणम् । कुतः । तस्याचेतनत्वेन जगतो गिरिनदीसमुद्रादे रच-  
नायाः संनिवेशकरणस्यानुपपत्तेः । चकारोऽन्वयाद्यनुपपत्तिं समुच्चि-  
नोति ॥ १ ॥

प्रवृत्तेरिति । आस्तां तावदियं रचना । तत्सिद्ध्यर्थं या प्रवृत्तिः  
साम्यावस्थातः प्रच्युतिस्तस्या अप्यचेतनस्य प्रधानस्य चेतनानधिष्ठित-  
स्यानुपपत्तेः ॥ २ ॥

पय इति । पयो यथाऽचेतनं वत्सविवृद्ध्या अम्बु वा तावृद्धनिम्न-  
वेशगननाय प्रवर्तते तद्वत्प्रधानमपि प्रवर्तिष्यत इति चेत्तत्रापि पयसि  
वत्तस्याम्बुनि सेतुभेदकस्येश्वरस्य वा समाश्रयणं यतः ॥ ३ ॥

## व्यतिरेकानवस्थितेश्वानपेक्षत्वात् ॥ ४ ॥

(ब्र० व० १) (सांख्यानं त्रयो गुणाः साम्येनावतिष्ठमानाः प्रधानं न तद्व्यतिरेकेण प्रधानस्य प्रवर्तकं निवर्तकं वा किञ्चिद्बाह्यमपेक्ष्यमवस्थितमस्ति । पुरुषस्तूदासीनो न प्रवर्तको न निवर्तक इत्यतोऽनपेक्षं प्रधानमनपेक्षत्वाच्च कदाचित्प्रधानं महदाद्याकारेण परिणमते कदाचिन्न परिणमत इति एतदयुक्तम् । ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्सर्वशक्तित्वान्महामायत्वाच्च प्रवृत्त्यप्रवृत्ती न विरुध्येते ।) अपि च न स्वतन्त्रं प्रधानं जगदुपादानम् । कुतः । व्यतिरेकानवस्थितेः । स्वतन्त्रस्य तस्य कारणत्वे सर्वदा कार्यप्रसक्तौ कदाचिदपि कार्यव्यतिरेकस्यावस्थित्यभावप्रसङ्गादित्यर्थः । तदपि कुतः । अनपेक्षत्वात् । स्वतन्त्रस्य प्रधानस्य चेतनादिसहकार्यन्तरानपेक्षत्वाभ्युपगमाच्चयेत्यर्थः ॥ ४ ॥

## अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥

ननु तृणोदकादिकं निमित्तान्तरनिरपेक्षमेव क्षीराकारेण परिणमते तद्वत्प्रधानमपीति चेन्न । कुतः । अन्यत्राभावात् । धेन्वादेरन्यत्र बलीवर्दादौ तृणादेः क्षीरीभावस्याभावादित्यर्थः । तथा च धेन्वादिसापेक्षमेव तृणादिकं क्षीरी भवति । निरपेक्षत्वे बलीवर्दादावपि क्षीरीभावप्रसङ्ग इति भावः ॥ ५ ॥

(दी० १) अस्तु प्रधानेऽपि सत्त्वांशः प्रवर्तक इत्यत आह—व्यतीति । सत्त्वप्रधानव्यतिरेकेणानवस्थितेरनवस्थानाद्बाह्यस्यानपेक्षत्वात्सातत्येन महदादीनामुत्पादः स्यादिति शेषः । चकारोऽसिद्धान्तमाह ॥ ४ ॥

तृणादेः क्षीरस्याऽऽकारेण परिणामवन्न सातत्यमित्यत आह—अन्येति । नायं तृणपल्लवादिदृष्टान्तोऽप्यचेतनं प्रधानं जगत्कारणं साधयति । यतोऽचेतनस्य तृणपल्लवादेः स्वतन्त्रस्य न क्षीरादिपरिणामोऽपि । कुतः । अन्यत्र बलीवर्दादिभक्षिते परित्यक्ते वा क्षीरपरिणामस्याभावात् । चकारः प्रधानस्य स्वरूपासत्त्वसमुच्चयार्थः ॥ ५ ॥



### अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ ६ ॥

(ब्र० व० १) प्रधानस्य स्वतः प्रवृत्त्यभ्युपगमे पुरुषार्थस्यापेक्षाभावप्रसङ्गादित्यर्थः । न चेष्टापत्तिः । प्रधानमचेतनं चेतनस्य पुरुषार्थं साधयितुमेव प्रवर्तत इति स्वाभ्युपगमविरोधादिति भावः । यद्वाऽर्थाभावात्प्रयोजनाभावादित्यर्थः । तथा हि न तावत्प्रधानप्रवृत्तिः पुरुषस्य भोगापवर्गार्था भोग्यानामानन्त्यादनिर्मोक्षप्रसङ्गान्नाप्यपवर्गार्था भोगाभावप्रसङ्गात्प्रधानस्याप्रवृत्तिप्रसङ्गाच्च । पुरुषस्य स्वरूपेणावस्थितिलक्षणस्य मोक्षस्य प्रधानाप्रवृत्त्यैव सिद्धेः । तस्मात्प्रयोजनाभावान्न प्रधानस्य जगद्धेतुत्वम् ॥ ६ ॥

### पुरुषाश्मवदिति चेत्तथाऽपि ॥ ७ ॥

ननु पुरुष एव प्रधानस्य प्रवर्तकः । ननु स्वयमप्रवर्तमानः कथं परं प्रवर्तयेदिति चेत्पुरुषाश्मवदिति ब्रूमः । लोके यथा पङ्क्तुः पुरुषः स्वयमप्रवर्तमानोऽन्धं प्रवृत्तिशक्तिमन्तं प्रवर्तयति यथा वाऽयस्कान्तोऽश्मा संनिधिमात्रेणायः प्रवर्तयति एवं पुरुषः प्रवर्तक इति चेन्न । यतस्तथाऽपि दोषाणामनिर्मोक्षः । तथा हि प्रधानस्य पुरुषप्रेर्यत्वे प्रधानं स्वतन्त्रमिति स्वाभ्युपगमविरोधः । पुरुषस्य प्रवर्तकत्वे कूटस्थत्वहानिः । स्वस्य व्यापारं विना प्रवर्तकत्वायोगात्पङ्क्तोरपि वाग्व्यापारस्य सत्त्वाद्यस्कान्तस्य त्वनित्यसंनिधिरेव व्यापारः । प्रधानपुरुषसंनिधेर्नित्यत्वेन व्यापारत्वायोगः । नित्यस्यापि व्यापारत्वे प्रधानप्रवृत्त्यविच्छेदप्रसङ्ग इत्यादयो दोषा द्रष्टव्याः । ब्रह्मणस्त्वाविद्यकं प्रवर्तकत्वमिति न कौटस्थ्यहानिः ॥ ७ ॥

(दी० १) अभीति । पूर्वं प्रधानस्य प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इति स्थितम् । इदानीं तत्प्रवृत्तेरभ्युपगमेऽपि अर्थस्य प्रयोजनस्य निमित्तान्तराभाववेददुर्भणत्वेन चाभावात् ॥ ६ ॥

पुरुषेति । पुरुषावन्धपङ्क्तू तत्रान्धमधिष्ठाय प्रवर्तयति पङ्क्तुप्रवर्तकोऽयस्कान्तो वा स्वयमप्रवृत्तस्तद्वदप्रवृत्तोऽपि पुरुषः प्रवर्तयिष्यतीति चेत्तत्रापि तस्मिन्नपि दृष्टान्ते सिद्धान्तविरोधादयो नित्यसंनिध्यादयश्च दोषाः प्रसज्येरन् ॥ ७ ॥

## अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ ८ ॥

(ब० व० १) अपि च गुणत्रयसाम्यावस्था प्रकृतिः । साम्यावस्थाप्रच्युत्या गुणानामङ्गाङ्गिभावे महदाद्युत्पत्तिरिति वदता सांख्येनेदं वक्तव्यं प्रकृतिः किं कूटस्थोत विकारिणी । आद्ये परस्परानपेक्षाणां गुणानां साम्यावस्थाप्रच्युत्याऽङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः कार्यानुदयप्रसङ्गः । प्रच्युत्यङ्गीकारे स्वरूपहान्यापत्तेः । द्वितीये किं स्वतः प्रच्युतिरुतान्यतः । नाऽऽद्यः । सदा कार्यप्रसङ्गात् । न द्वितीयः । पुरुषस्योदासीनत्वाभ्युपगमहानेश्च । अतः प्रच्युत्यभावेनाङ्गाङ्गिभावानुपपत्तेः कार्याभावप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ८ ॥

## अन्यथाऽनुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ ९ ॥

नन्वनपेक्षस्वभावाः कूटस्थाश्च गुणा नानुमीयन्तेऽस्माभिः किं त्वन्यथा प्रकारान्तरेणैव यथा कार्योत्पत्तिसंभवस्तथाऽनुमीयन्ते\* । कार्यानुमेयत्वात्प्रधानस्येत्यङ्गाङ्गिभावसंभवात्कार्योत्पादः संभवतीति चेन्न । ज्ञशक्तिवियोगाद्गुणानां ज्ञानशक्तिरहितत्वादित्यर्थः । अयं भावः । अचेतनानां गुणानां साम्यावस्थाप्रच्युत्यादियोग्यत्वेऽपि प्रच्युतेर्निमित्तत्वासंभवात्किञ्चिन्निमित्तं वक्तव्यं तथा चान्यस्य निमित्तस्यासंभवेन स्वतो वैषम्ये सर्वदा वैषम्यं स्यात् । स्वतोऽप्यवैषम्ये सदा साम्यप्रसङ्ग इत्यङ्गाङ्गित्वानुपपत्तिस्तदवस्थेति कार्यानुत्पादोऽपि तदवस्थ इति ॥ ९ ॥

(दी० १) अङ्गिगुणः प्रवर्तकोऽस्त्वित्यत आह—अङ्गीति । सत्त्वादीनां साम्येऽङ्गित्वस्यानुपपत्तेः । चकारो जडत्वप्रयुक्तं सामान्यदूषणं समुच्चिनोति ॥ ८ ॥

साम्यावस्थायामपि वैषम्ययोग्या एव गुणास्तेनैकवाक्यतावशादङ्गित्वमपि स्यादित्यत आह—अन्यथेति । अन्यथाऽनुमितौ कार्यवशेनाङ्गित्वाद्यनुमितौ तस्य चैतन्यमपि स्यात् । न त्वेतदस्मिन्संभवति । कुतः । ज्ञशक्तेर्वियोगोऽभावस्तस्मात् । पुरुषस्यैव चेतनत्वादित्यर्थः । न चानुमानमपि सिध्यतीत्यर्थश्चकारस्य ॥ ९ ॥

\* यथा यथा कार्योत्पत्तिरतथा तथा स्वभावो गुणानामनुमीयत इत्यर्थः ।

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

(ब्र० व० १) सांख्या हि क्वचिन्महतः पञ्चतन्मात्रसर्गं वदन्ति क्वचिदहंकारा-  
त्क्वचिदेकादशेन्द्रियाणि क्वचिद्वाह्येन्द्रियाणि त्वगिन्द्रियेऽन्तर्भाव्य \*सप्ते-  
न्द्रियाणीति स्थापयन्ति । तथा च परस्परविप्रतिषेधादसमञ्जसं सांख्य-  
मतमित्यर्थः । तस्मात्सांख्यमतस्य भ्रान्तिमूलत्वात्तदीययुक्तिविरोधः  
समन्वेयस्य नास्तीति सिद्धम् ॥ १० ॥

ननु प्रपञ्चस्य ब्रह्मोपादानकत्वे ब्रह्मवच्चैतन्यं स्यात्कारणगुणस्य  
कार्येऽवश्यंभावादित्याशङ्क्येन नियमं तदीयप्रक्रियया व्यभिचारयति—

( असदृशोद्भवे काणाददृष्टान्तस्यारित्वम् । अधि० २ )

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ ११ ॥

प्रपञ्चस्य प्रधाननिष्ठाशब्दत्वादिगुणानन्वयात् + प्रधानानुपादानकत्व-  
वद्ब्रह्मगुणचेतनत्वानन्वयाद्ब्रह्मोपादानकत्वं न स्यादिति दृष्टान्तसंगत्याऽ-  
स्याऽऽरम्भः । यद्यपि स्वपक्षे दोषनिरासात्मकस्यास्याधिकरणस्य नात्र  
संबन्धः किं तु स्मृतिपाद एव तथाऽप्युक्तावान्तरसंगतिलोभादिह  
लिखितमिति मन्तव्यम् । अत्र चेतनाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो  
विषयः स किं कारणगुणाः कार्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भका इति  
न्यायेन विरुध्यते न वेति संदेहे विरुध्यत इति प्राप्ते व्यभिचारान्न  
विरोध इति राट्टान्तः । सूत्रे वाशब्दश्चार्थोऽनुक्ताणुसमुच्चयं × ब्रूते ।  
तथा च ह्रस्वपरिमण्डलाभ्यां द्यणुकपरमाणुभ्यां महद्दीर्घाणुवच्चेतनाद्ब्र-  
ह्मणोऽचेतनं जगद्भवतीति योजना । वैशेषिका हि ह्रस्वादणोश्च

(दी० १) सत्त्वगुणत्वाज्ज्ञानस्य तच्छक्तिरप्यविरुद्धेत्यत आह—विप्रतीति ।  
जडं ज्ञशक्ति च । एवं ग्रन्थेष्वपि क्वचित्सप्तेन्द्रियाणि क्वचिदेकादशे-  
त्यादिविप्रतिषेधस्तस्मादिदं सांख्यदर्शनमसमञ्जसम् । चकारान्महाज-  
नापरिग्रहादेश्चासमञ्जसम् ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरणे प्रधानगुणानन्वयाज्जगन्न तत्प्रकृतिकमित्युक्तम् । इहापि  
चैतन्यानन्वयान्न चेतनप्रकृतिकमित्याक्षिप्य समाधत्ते—महदिति ।

\* त्वक्कर्मैन्द्रियाणि मनश्चेति । + अशब्दास्पर्शरूपादिगुणानन्वयादिति तेषां जगति  
दृष्टत्वादिति भावः । × चतुरणुकादिसमुच्चय इत्यर्थः ।

(ब्र० व० १) द्यणुकान्महद्दीर्घं च त्र्यणुकं जायते द्यणुकगतह्रस्वत्वाणुत्वे तु त्र्यणुके स्वसमानजातीयह्रस्वत्वाणुत्वे नाऽऽरभेते किं तु द्यणुकगतत्रित्वसंख्या त्र्यणुके महत्त्वादिकमारभत इति वदन्ति । एवं परिमण्डलात्परमाणोरणुद्यणुकं जायते । परमाणुगतपारिमाण्डल्यं तु द्यणुके पारिमाण्डल्यं \* न + जनयति किं तु परमाणुगतद्वित्वसंख्या द्यणुकेऽणुत्वादिकमारभत इति प्रक्रियां दर्शयन्ति । एवं दर्शयतां वैशेषिकाणां कारणगुणाः कार्ये स्वसमानजातीयगुणारम्भका इति नियमाभासं वदतां कथं लज्जा न भवेद्यभिचारस्य × स्फुटत्वादिति तात्पर्यम् । 'एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः' [ब्र० सू० २।१।१२] इत्यस्यायं प्रपञ्च इति न तेन पौनरुक्त्यं शङ्कनीयमिति ॥ ११ ॥

इदानीं प्रकृतं परमतनिरासमुपक्रमते—

( परमाणूनां संयोगेन जगदुत्पत्तेर्युक्तिविरुद्धत्वम् । अधि० ३ )

उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ॥ १२ ॥

प्रासङ्गिकाव्यवहिते ÷ नास्य संगतिर्नापेक्षितेति व्यवहितेनोच्यते । ननु प्रधानस्य चेतनानधिष्ठितत्वात्कारणत्वाभावे तर्हि चेतनाधिष्ठिताः परमाणवः कारणं जगत इति प्रत्युदाहरणेनास्याऽऽरम्भः ।

(दी० १) यथा परमाणोः परिमण्डलादणुह्रस्वं च द्यणुकम् । अणोर्ह्रस्वाच्च द्यणुकान्महद्दीर्घं च त्र्यणुकादि तद्वच्चेतनमपि ब्रह्माचेतनस्याऽऽरम्भकमस्तु ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रधानस्य स्वातन्त्र्यान्न जगतां कारणत्वमिह त्वणूनामीश्वरस्याधिष्ठातुः सत्त्वात्कारणत्वमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—उभयथेति । उभयथाऽपि आद्यस्य कर्मणो निमित्तस्य भावोऽभावेऽपि दृष्टस्यादृष्टस्य वा दृष्टस्यापि प्रयत्नस्याभिघातादेर्वाऽदृष्टस्याप्यात्मसमवायिनो वाऽदृष्टवदात्मसंबन्धस्यापि सदातनत्वेऽसदातनत्वे वा

\* परिमण्डलः परमाणुस्तद्वतं परिमाणं पारिमाण्डल्यमिति । + द्यणुकस्य परिमाणान्तराभ्युपगमादित्यर्थः । × व्यभिचारेति । अणुह्रस्वेभ्यो द्यणुकेभ्योऽणु द्रव्यं न जायते ह्रस्वमपि न जायत इत्यव्यभिचारादिति भावः । ÷ पूर्वाधिकरणेत्यर्थः ।

( ब० व० । ) अत्र परमाणुप्रक्रियया जगदुत्पत्तिरिति वैशेषिकसिद्धान्तो विषयः स किं मानमूलो भ्रान्तिमूलो वेति विशये मानमूल इति प्राप्ते ब्रूमः—वैशेषिकाः खलु कर्मणा सृष्टेः पूर्वं निश्चलयोः परमाण्वोः संयोगे द्यणुकाद्युत्पत्तिरिति वदन्ति । तस्य कर्मणः किञ्चिन्निमित्तमभ्युपगम्यते न वा । आद्ये कर्मनिमित्तत्वेन प्रसिद्धं जीवप्रयत्नाद्यभिघातादिकमङ्गीकर्तव्यं \*न हि तत्संभवति सृष्ट्युत्तरकालीनत्वात्तस्य । द्वितीये कर्मानुत्पत्तिः । अत उभयथाऽपि न कर्मातः कर्माभावात्तदभावो द्यणुकादिक्रमेण सृष्ट्युत्पादाभाव इत्यर्थः । यद्वा जीवादृष्टवशादाद्यं कर्म परमाणुष्विति तत्सिद्धान्तस्तथा च तददृष्टं किं जीवनिष्ठं वा परमाणुनिष्ठं वा । उभयथाऽपि न कर्मादृष्टस्याचेतनस्य कर्माभिमुखयायोगात् । तथात्वे सर्वदा सृष्टिप्रसङ्गात् । न च जीवोऽदृष्टस्य प्रेरकस्तदानीं तस्य ज्ञानवत्त्वाभावात् । न च वैशेषिकाभिमत ईश्वरः प्रेरक इति वक्ष्यते । अतः सर्गाभाव इत्यर्थः । यद्वा परमाण्वोः संयोगोत्पत्तौ सृष्टिर्विभागोत्पत्तौ च प्रलयस्तयोश्च संयोगविभागयोः कर्मैव हेतुरिति तत्सिद्धान्तस्तथा च संयोगहेतुः कर्म नास्तीत्युक्तम् । एवं विभागहेतुः कर्म नास्तीत्याह—निमित्तस्यादृष्टस्य नोदनादेरभावाददृष्टं च भोगार्थमेव न प्रलयार्थमित्युभयथाऽपि न कर्मातः संयोगविभागहेतुर्कर्माभावात्तदभावस्तयोः सृष्टिप्रलययोरभाव इत्यर्थः । तस्मादनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १२ ॥

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ १३ ॥

तदभाव इत्यनुषङ्गः । तस्य परमाणुकारणवादस्यासंभव इत्यर्थः । कुतः । परमाणुव्यणुकयोः समवायाभ्युपगमात् । अभ्युपगमे को दोषस्तत्राऽऽह—साम्यादनवस्थितेरिति । यथा व्यणुकं परमाणुभ्यामत्यन्तं भिन्नं तत्समवायमपेक्षत एवं समयायोऽपि समवायिभ्यामत्यन्तं भिन्नः सन्नन्येन समवायेन समवायिभ्यां संबध्येत भिन्नत्वसाम्यादसंबन्धस्य

(दी०।) प्रलयाद्यभावदोषान्नाऽऽद्यं कर्माणुषु । अत आद्यस्य कर्मणोऽभावात्तज्जनकस्यापि तस्य संयोगस्याभावाच्च संयोगसचिवाः परमाणवो न द्यणुकादिक्रमेण जगदारभन्त इत्यर्थः ॥ १२ ॥

समवायेति । पूर्वं संयोगस्य निमित्ताभाव उक्तः । इदानीं संबन्धाभावः समवायस्याभ्युपगमोऽङ्गीकारस्तस्मात् । संयोगस्य यथा समवाय एवं

(ब्र० व० १) संबन्धत्वादर्शनात्तथा च तस्यापि भिन्नत्वसाम्यात्समवायान्तर-  
मित्यनवस्था स्यादित्यर्थः । स्वरूपस्य\* संबन्धत्वे समवायलोपप्रसङ्ग-  
इति बोध्यम् । तथा च समवायासिद्धौ समवेतव्यणुकादिसृष्ट्यसिद्धिः  
स्यादिति भावः ॥ १३ ॥

नित्यमेव च भावात् ॥ १४ ॥

परमाणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे प्रवृत्तेर्नित्यमेव भावात्प्रलयाभावप्र-  
सङ्गः । निवृत्तिस्वभावत्वे निवृत्तेर्नित्यमेव भावात्सृष्ट्यभावप्रसङ्ग इति  
भावः ॥ १४ ॥

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् ॥ १५ ॥

चतुर्विधाः परमाणवो रूपस्पर्शादिमन्तो नित्या अणवश्चेति वैशेषि-  
कसिद्धान्तः स नोपपद्यते । तथा हि परमाणवोऽनित्याः स्थूलाश्च भवि-  
तुमर्हन्ति रूपादिमत्त्वात्पटादिवत् । पटो हि रूपादिमत्त्वात्स्वकारणत-  
न्वपेक्षया स्थूलोऽनित्यश्च तद्वज्जगत्कारणस्यापि रूपादिमत्त्वेऽनित्यत्व-  
प्रसक्तौ कारणापेक्षया स्थूलत्वं स्यादिति न जगत्कारणस्य रूपादिमत्त्व-  
मिति तात्पर्यम् । सूत्रार्थस्तु—भवन्मते जगत्कारणस्य रूपादिमत्त्वाद्गु-  
त्वनित्यत्वविपर्ययस्थूलत्वमनित्यत्वं च प्रसज्येत लोके रूपादिमतः पटा-  
देस्तथा दर्शनादिति ॥ १५ ॥

(दी० १) समवायेऽपि समवायः समानत्वात्संबन्धत्वस्य भेदस्य वाऽतः सम-  
वायेऽपि समवाय इत्यनवस्थानमनवस्थितिस्तस्याः । चकारः संयोगस्य  
समवायानङ्गीकारे राद्धान्तविरोधादि समुच्चिनोति ॥ १३ ॥

अस्तु तर्हि परमाणव एवाऽऽद्यस्य कर्मणो निमित्तमित्यत आह—  
नित्येति । अणूनां प्रवृत्तिस्वभावत्वे सर्गस्य निवृत्तिस्वभावत्वे प्रलय-  
स्योभयस्वभावत्वे कार्यस्य पूर्वापरकालवैकल्यस्यानुभयस्वभावत्वे निमि-  
त्तस्य नित्यं सर्वदा भावात्प्रलयाद्यभावदोषः । चकारः पूर्वसूत्रवत् ॥ १४ ॥

अस्त्वागन्तुकं निमित्तं नित्यानामणूनामित्यत आह—रूपादीति ।  
नित्यत्वस्य विपर्ययोऽनित्यत्वमणूनाम् । कुतः । रूपादिमत्त्वात् । रूपा-  
दिमतां घटादीनामनित्यत्वदर्शनात् । चकारः कर्मव्यतिरिक्तस्य निमि-  
त्तस्य दुर्लभत्वं समुच्चिनोति ॥ १५ ॥

\* परमाणुद्वयसंयोगस्य स्वरूपसंबन्धोपपत्तेर्न समवाय इति ।

उभयथा च दोषात् ॥ १६ ॥

(अ० १०१) रूपासगन्धस्पर्शात्मिका पृथिवी स्थूला दृश्यते रूपरसस्पर्शात्मिका आपः सूक्ष्मा रूपस्पर्शात्मिका जः सूक्ष्मतरं स्पर्शात्मको वायुः सूक्ष्मतम इत्यनुभवागमसिद्धा प्रक्रिया । तत्र पृथिव्यादिवत्परमाणवोऽप्युपचितापचितगुणात्मकाः कल्प्यन्ते न वा । आद्येऽणुत्वव्याघातः । उपचितापचितगुणात्मकपृथिव्यादेः स्वरूपोपचयापचयदर्शनाद्गुणानां द्रव्यादतिरिक्तत्वेऽपि तादृशगुणवत्त्वेन पृथिव्यादीनामुपचयदर्शनादणुत्वव्याघात एव । न वा गुणगुणिनोर्भेदः संभवति । भेदे गथाश्ववत्पुणगुणिभावानुपपत्तेः । द्वितीये तत्कार्यपृथिव्यादिषु रूपाद्यनुपलम्भप्रसङ्ग इत्युभयथापि दोषादनुपपन्नः परमाणुकारणवादः ॥ १६ ॥

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ १७ ॥

प्रधानवादो हि सत्कार्यत्वाद्यंशेन मन्वादिभिः शिष्टैः परिगृहीतः । परमाणुकारणवादस्तु केनचिदंशेन कैश्चिदपि शिष्टैरपरिगृहीत इति शिष्टापरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा परमाणुकारणवादे कर्तव्या वेदविद्धिरित्यर्थः । सूत्रे चशब्देन वैशेषिकाभिमतपदपदार्थासंभवः सूचितः । सचासंभवः प्रतिपादितो भगवता भाष्यकृता । तस्मान्द्धान्त्येकमूलवैशेषिकादिमतेन न समन्वयस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ १७ ॥

(दी०) रूपादिमतां च घटादीनां परिमाणतारतम्यादस्त्वनित्यत्वम् । अणूनां समानपरिमाणत्वादात्मादिवन्नित्यत्वमित्यत आह—उभयथेति समानपरिमाणत्वे घायवीयादीनामपि रूपरसगन्धस्पर्शसद्भावो दोषोऽसमानपरिमाणत्वे हेतोरसिद्धिर्दोषः । चकारस्त्वनैकान्तिकत्वस्य समुच्चये ॥ १६ ॥

ननु काश्यपीयत्वादिदं मतमङ्गीकरणीयमित्यत आह—अपरिग्रहेति । न परिग्रहोऽपरिग्रहः सांख्यादिवादस्य सत्कार्याद्यंशे परिग्रहः सोऽप्यस्य न । तस्मादत्यन्तमनपेक्षा शिष्टैः परिग्रहोऽणुमात्रमपि न कृत इत्यर्थः । चकारस्त्वप्रयुक्तसमुच्चयार्थः ॥ १७ ॥

\* उपचितेति । पार्थिवः परमाणुरधिकगुणस्तत एकैकन्यूनगुणा जलादिपरमाणव इति ।

+ व्याघात इति । स्थूलत्वादिति तथा हि पार्थिवोऽणुराप्यात्स्थूलोऽधिकगुणत्वाद्घटवत् ।

( ब्र० व० । ) ईश्वराद्भिन्नानां बाह्यवस्त्वस्तित्ववादिबौद्धविशेषसंमतानां परमाणूनां शब्दस्पर्शादीनां च जगदुत्पादकत्वमतखण्डनम्, अधि० ४ )

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ १८ ॥

वैशेषिकस्तावत्परिमाणभेदेन देहादेराशुतरविनाशित्वाङ्गीकारावा-  
त्मनः स्थायित्वाङ्गीकाराच्चाध्वेनाशिकः । सर्वक्षणिकत्वबाधिनस्तु पूर्ण-  
वैनाशिका इत्यध्वेनाशिकमतनिराकरणान्तरं पूर्णवैनाशिकमतं बुद्धि-  
स्थमिदानीं निराक्रियत इत्यवान्तरसंगतिर्दृष्टव्या । तत्र तावद्बुद्धमुनि-  
नाऽऽगम उपादिष्टः स चाऽऽगमो वैभाषिकसौत्रान्तिकविज्ञानवादि-  
सर्वशून्यवाद्याख्यचतुर्विधशिष्यप्रतिपत्तिवैचित्र्याच्चतुर्विधो भवति । तत्र  
वैभाषिकसौत्रान्तिकयोजनं तदतिरिक्तपदार्थाश्च सर्वे क्षणिकाः सत्य-  
भूताः सन्तीयान्परं भेदो वैभाषिकस्य घटादिपदार्थाः प्रत्यक्षाः सौत्रान्ति-  
कस्य तु ज्ञाने घटाद्याकार उत्पन्ने तेनाऽऽकारेण प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षा घटा-  
द्योऽनुमीयन्त इति । तत्राऽऽदौ वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्बाह्यार्थास्ति-  
त्वाऽविशेषात्तयोर्मतमेकीकृत्य तन्मतं प्रमाणमूलं भ्रान्तिमूलं वेति संदेहे  
प्रमाणमूलमिति प्राप्तम् । तथा हि पृथिव्यप्तेजोवायवश्चत्वारि भूतानि  
चतुर्विधपरमाणुपुञ्जस्वरूपाणि एवं भौतिकानि रूपादिविषयेन्द्रियाणि  
परमाणुपुञ्जस्वरूपाणि । न हि परमाणुसमूहव्यतिरेकेणावयविभूतं  
किञ्चित्कायमस्तीति । परमाणुहेतुक एव पृथिव्यादिसमुदायो बाह्यः ।  
आध्यात्मिकश्च समुदायः स्कन्धहेतुकः । तथा हि रूपविज्ञानवेदनासं-  
ज्ञासंस्काराश्च पञ्चैते स्कन्धाः । तत्र रूपस्कन्धः सविषयेन्द्रियाणि । विष-  
याणां रूपादीनामाध्यात्मिकत्वमाध्यात्मिकेन्द्रियसंबन्धाद्दृष्टव्यम् । अह-  
मित्यालयविज्ञानप्रवाहो विज्ञानस्कन्धः । सुखादिप्रत्ययो वेदनास्कन्धः ।  
गौरश्च इत्यादिशब्दादिविशिष्टवस्तुविषयकसविकल्पकप्रत्ययः संज्ञा-  
स्कन्धः । रागद्वेषमोहधर्माधर्माः संस्कारस्कन्धः । तत्र विज्ञानस्कन्धश्चि-  
त्तमित्यात्मेति च गीयते । इतरे स्कन्धाश्चैत्याः । एतेषां चित्तचैत्यानां

(टी०।) पूर्वाधिकरणेऽध्वेनाशिका निरस्ताः । अस्तु, तेषां निरास उभय-  
भ्रष्टत्वात् । न बाह्यार्थवादिनो वैनाशिकास्तथेत्याक्षिप्य समाधत्ते—  
समुदायेति । चतुर्विधोऽणुहेतुकश्च भूतभौतिकसंहतिरूपः समुदायो  
रूपविज्ञानवेदनासंज्ञासंस्कारहेतुकश्च पञ्चस्कन्धरूपस्तस्मिन्नुभयहेतुकेऽ-



(ब० व० १) स्कन्धानां समुदायः सर्वव्यवहारास्पदम् । आध्यात्मिकश्च स्कन्धहेतुक इति सर्वक्षणिकत्ववादिनोर्वैभाषिकसौत्रान्तिकयोर्मतं तन्निराकरोति-समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिरिति । उभयहेतुकेऽपि समुदाये परमाणुहेतुके बाह्यसमुदाये स्कन्धहेतुक आध्यात्मिकसमुदाये च तदप्राप्तिस्तस्य समुदायस्याप्राप्तिरित्यर्थः । अचेतनानां परमाणूनां स्कन्धानां च स्वतः समुदायायोगादन्यस्य च स्थिरस्य चेतनस्य समुदायकर्तुरनभ्युपगमादिति सूत्रवाक्यशेषः ॥ १८ ॥

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ १९ ॥

ननु संहन्तुश्चेतनस्याभावेऽपि संघात उपपद्यते । तथा हि अविद्या संस्कारो विज्ञानं नाम रूपं षडायतनं स्पर्शो वेदनेत्येवंजातीयकानामविद्यादीनामितरेतरप्रत्ययत्वादितरेतरकारणत्वाद्घटीयस्त्रवदनिशमावर्तमानेष्वविद्यादिष्वर्थक्षिप्तः संघात उपपद्यत इति शङ्कार्थः । कार्यं प्रत्ययते जनकत्वेन गच्छतीति व्युत्पत्त्या प्रत्ययशब्दः कारणवचनः । अविद्यादीनामयमर्थः । क्षणिकेषु स्थिरत्वानित्यत्वादिभ्रान्तिरविद्या । सा च विषयेषु रागाद्यात्मकसंस्कारहेतुः । स च संस्कारो गर्भस्याऽऽद्यं विज्ञानं जनयति । तस्माच्चाऽऽलयाविज्ञानात्पृथिव्यादिचतुष्टयं शरीरस्य समुदायस्य कारणभूतं जायते । तदेव नामाश्रयत्वान्नामेत्युच्यते । तच्च नाम सितासितादिरूपं तच्छरीरं जनयति । गर्भभूतस्य देहस्य कललबुद्बुदाद्यवस्था नामरूपशब्दार्थ इति पर्यवसन्नं पृथिव्यादिचतुष्टयं नाम रूपं च शरीरं विज्ञानधातुश्चेति षडायतनानि यस्येन्द्रियजातस्य तत्षडायतनम् । नामरूपेन्द्रियाणां मिथः संबन्धः स्पर्शः । ततः सुखादिकावेदना । ततः पुनरविद्यादय इति । निराकरोति-नेति । कुतः । उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् । अयमर्थः-द्विविधो हि कार्योत्पादस्तवाभिमतो हेत्वधीनः कारणसमुदायाधीनश्चेति । तत्र हेत्वधीनो यथा-बीजादङ्कुरोऽ-

(दी० १) तमुदायेऽभिप्रेयमाणे तदप्राप्तिस्तस्य समुदायस्याप्राप्तिरसिद्धिरचेतनत्वात्समुदायिनां समुदायस्य च वस्तुत्वादित्यस्य स्थिरस्य चेतनसंहन्तुरसत्त्वात् ॥ १८ ॥

इतरेति । अविद्यासंस्कारविज्ञानादीनां स्थिरस्य चेतनस्यासत्त्वेऽपीतरेतरप्रत्ययत्वमितरेतरकारणत्वं तस्मादिति चेन्न । उत्पत्तिमात्रनिमि-

(ब्र० व० १) कुरात्पत्रं पत्रात्काण्डमित्यादौ । कारणसमुदायाधीनो यथा—  
पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालविशेषाणां मेलने सति तेभ्य उपकृताङ्गी-  
जाङ्कुरो जायते । आध्यात्मिकः कार्योत्पादोऽपि पूर्ववद्विविधस्तत्राऽऽद्यो  
हेत्वधीनकार्योत्पादोऽविद्यादीनां द्वितीयस्तु पृथिव्यप्तेजो वाय्वाकाशाल-  
यविज्ञानानां समवायात्कार्यस्योत्पाद इति । कार्येऽङ्कुरादौ काठिन्यस्नेहपा-  
कादीनां दर्शनात्पृथिव्यादीनां कारणत्वमूह्यम् । उभयविधेऽपि कार्योत्पादे  
न चेतनापेक्षेति । तत्राऽऽद्यमङ्गीकृत्य द्वितीयं कार्योत्पादं हेतुसमुदायाधीनं  
दूषयति—उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वादिति । अविद्यादीनामितरेतरकारणत्वेऽ-  
प्युत्पत्तिमात्रे निमित्तत्वान्न हेतुसंघाताधीनः कार्योत्पादः संभवति संहन्तुः  
स्थिरस्य चेतनस्यानङ्गीकारादित्यर्थः ॥ १९ ॥

सर्वक्षणिकत्ववादिनां हेत्वधीनोऽपि कार्योत्पादो न संभवतीत्याह—  
उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २० ॥

कार्यकाले विद्यमानस्यैव मृदादेः कारणत्वं दृश्यते न तु नष्टस्य ।  
भवन्मते तूत्तरस्य कार्यक्षणस्योत्पादे पूर्वस्य कारणक्षणस्य निरोधान्ना-  
शाङ्गीकारान्न हेत्वधीनोऽपि कार्योत्पादः संभवतीत्यर्थः ॥ २० ॥

ननु निर्हेतुक एव कार्योत्पादोऽस्तु तथा च नोक्तदोष इत्या-  
शङ्क्याऽऽह—

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २१ ॥

असति हेतौ कार्योत्पत्त्यङ्गीकारे पूर्वज्ञानचक्षुरालोकविषयेषु चतुर्षु  
हेतुषु सत्सु कार्यं नीलादिज्ञानं जायत इत्यस्याः प्रतिज्ञाया उपरोधः

(दी० १) तत्त्वात् । उत्पत्तौ केवलं निमित्तमविद्यादीतरवन्नतु संघातोत्पत्ता-  
विति मात्रशब्दार्थः ॥ १९ ॥

उत्तरेति । उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वमुक्तं तदप्यसंभवि उत्तरस्य कार्य-  
स्योत्पाद उत्पत्त्यवसरे पूर्वस्य कारणस्य निरोधादसत्त्वात् । चकार  
उत्पत्त्यसंभवसमुच्चयार्थः ॥ २० ॥

असत्येव कारणे कार्यस्योत्पादोऽस्त्वित्यत आह—असतीति ।  
असति कारणे कार्यस्योत्पादे प्रतिज्ञायाश्चतुर्विधानधिपत्यादीन्हेतून्प्रतीत्य

(ब० व० १) स्यात् । अन्यथा कार्यं सहेतुकमित्यङ्गीकृत्य कार्यपर्यन्तं हेतोः स्थित्यङ्गीकारे हेतुफलयोर्धैगपद्यमेकस्मिन्काले स्थितिः स्यादित्यर्थः । तथा च क्षणिकत्वप्रतिज्ञाहानिरिति भावः ॥ २१ ॥

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्याननिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २२ ॥

वैनाशिकाः खलु बुद्धिपूर्वकनाशो भावानामबुद्धिपूर्वकनाश आकाशं चेति त्रयमप्यवस्तु संनिरुपाख्यं निर्हेतुकं तुच्छमिति वदन्ति । तत्राऽऽकाशस्य निरुपाख्यत्वमुत्तरसूत्रे निरसिष्यते । अत्र तु बुद्धिपूर्वकनाशा-बुद्धिपूर्वकनाशरूपनिरोधद्वयं निराक्रियते । प्रतीपा प्रतिकूला सन्तं घट-मसन्तं करोमीत्येवमाकारिका संख्या बुद्धिः प्रतिसंख्या तत्पूर्वको निरोधो नाशः प्रतिसंख्याननिरोधोऽतत्पूर्वको नाशोऽप्रतिसंख्याननिरोधस्तयोर्निरोधयोः संतानिषु संताने वाऽप्राप्तिरसंभव इत्यर्थः । कुतः । अविच्छेदात् । न तावन्निरोधद्वयस्य संतानगोचरत्वम् । संतानस्याविच्छेदात् । संतानविच्छेदो हि चरमसंतानि विच्छेदाद्वक्तव्यः स न युक्तः । चरमसंतानिनः कार्यान्तरजनकत्वे संतानस्याविच्छेद एव । अजनकत्वे चरमसंतानिनोऽर्थक्रियाकारित्वरूपसत्त्वाभावेनात्यन्तासत्त्वात्पूर्वसंतानिनां सर्वेषां शून्यतापरिशेषापत्तिरर्थक्रियाया अभावात् । नापि संतानिप्रतियोगिकत्वं निरोधद्वयस्य संतानिनां घटादीनां क्षणिकत्वेन बुद्धिपूर्वकनाशायोगात् । नाप्यबुद्धिपूर्वकसमूलनाशस्त्वदभ्युपगतः संभवति मूलस्य मृदादेः प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । तस्मान्निरोधद्वयस्यानुपपत्तिः ॥ २२ ॥

(दी० १) चित्तचैत्ता उत्पद्यन्त इत्यस्योपरोधो बाधः । अन्यथा कार्यस्य क्षणे कारणस्य सत्त्वे कार्यकारणयोर्यैगपद्यं तथाऽत्रापि क्षणिकाः सर्वे संस्कारा इति प्रतिज्ञोपरोधः ॥ २१ ॥

मा भूद्वैनाशिकानां सन्पदार्थोऽसंस्तु स्यादित्यत आह—बुद्धिपूर्वको निरोधः प्रतिसंख्या निरोधस्तद्विपरीतोऽप्रतिसंख्याननिरोधः । निरोधरूपपदार्थः सुगतानामभिमतस्तस्य निरोधस्य संतानस्य नित्यत्वात्संतानिनो निरवयवविनाशस्य कर्तुमशक्यत्वादभावेनास्यैवासत्त्वम् । प्रतिसंख्याननिरोधश्चाप्रतिसंख्याननिरोधश्च तयोरप्राप्तिर्विरोधाभावात् । स एव कथमित्यत आह—अविच्छेदात् । संतानसंतानिनोः ॥ २२ ॥

उभयथा च दोषात् ॥ २३ ॥

(ब० व० १) स्थिरत्वादिभ्रान्तिरूपाविद्यायाः किं सम्यग्ज्ञानाद्विनाश उत स्वतो वा । नाऽऽद्यः । निर्हेतुकनाशाभ्युपगमहानिप्रसङ्गात् । द्वितीये सम्यग्ज्ञानोपदेशानर्थक्यमित्युभयथाऽपि दोषादसंगतं मतमित्यर्थः ॥ २३ ॥

आकाशस्य निरुपाख्यत्वं दूषयति—

आकाशे चाविशेषात् ॥ २४ ॥

‘आत्मन आकाशः संभूतः’ [ तै० २ । १ ] इति श्रुत्या शब्दगुण-  
कत्वेन चाऽऽकाशेऽपि पृथिव्यादिवद्वस्तुत्वप्रतिपत्तेरविशेषान्न निरुपा-  
ख्यत्वमित्यर्थः ॥ २४ ॥

आत्मनः क्षणिकत्वं दूषयति—

अनुस्मृतेश्च ॥ २५ ॥

अनुभवमन्वनन्तरमुत्पद्यमाना स्मृतिरनुस्मृतिस्तद्बलादात्मनोऽनुभवितुर्न  
क्षणिकत्वमित्यर्थः । अन्यानुभूतेऽन्यस्य स्मरणायोगादिति भावः ॥ २५ ॥

(दी० १) न केवलं निरोध्याभावोऽविद्यादीनां प्रतिसंख्यानिरोधे निमित्तमपि  
नास्तीत्यत आह—उभयेति । उभयथा यदि ज्ञानेन निर्हेतुकविनाशा-  
भ्युपगमो दोषश्चेद्विनैष ज्ञानेन ज्ञानतत्साधनोपदेशवैयर्थ्यदोषस्तस्मात् ।  
चकारस्त्वप्रतिसंख्यानिरोधसंकरसमुच्चयार्थः ॥ २३ ॥

आवरणाभावस्याऽऽकाशस्य यथा सतोऽप्यङ्गीकारस्तद्वन्निरोधयो-  
रप्यङ्गीकारः किं न स्यादित्यत आह—आकाश इति आकाशेऽप्यसत्त्व-  
मनुपपन्नं निरोधयोरिव । यथा गन्धादयो गुणाः पृथिव्यादयो भावा-  
स्तथा शब्दगुणोऽप्याकाशो भावोऽविशेषात् । चकार एकानेकादरणा-  
भावानुपपत्त्यादि समुच्चिनोति ॥ २४ ॥

विज्ञानस्य क्षणिकत्वात्तद्दृष्टान्तेनै सर्वस्य क्षणिकत्वात्तत्प्रणालि-  
कयाऽसत्त्वं सेत्स्यतीत्यत आह—अन्विति । अनुभवमनु जायमाना  
स्मृतिस्तस्याः कर्तुः स्थायित्वम् । अनुभवस्मृत्योरेकाधिकरणत्वात् ।  
दृष्टान्तेनान्येषामपि । चकारो ज्ञानस्यापि क्षणित्वाभावसमुच्च-  
यार्थः ॥ २५ ॥

### नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

(ब० व० १) क्षणिकात्कार्योत्पत्तिमिच्छताऽर्थादभावान्निरुपाख्यादेव कार्यो-  
त्पत्तिरङ्गीकृतेति प्रतिभाति । पूर्वक्षणाशं विना कार्यक्षणोत्पत्त्ययो-  
गात्साक्षादभावान्द्वावोत्पत्तिः स्वग्रन्थे दर्शिता च । तथा चासतोऽभा-  
वान्निःस्वरूपात्कार्योत्पत्तिर्न युक्ता । कुतः । अदृष्टत्वात् । निरुपाख्यान्नर-  
विषाणादेः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वादित्यर्थः । दृष्टत्वादिति वा पदच्छेदः । सत  
एव मृदादेः कार्योत्पत्तेरदृष्टत्वादित्यर्थः ॥ २६ ॥

### उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २७ ॥

किं चैवमभावान्द्वावोत्पत्त्यङ्गीकार उदासीनानां तत्तत्कार्यसाधनेषु  
कृष्यादिष्वप्रवर्तमानानां स्वगृहे तूष्णीमुपविष्टानामपि पुंसां स्वस्वाभि-  
मतस्य कार्यस्य सिद्धिः स्यादित्यर्थः । तस्मान्द्वात्येकमूलेन वैभा-  
षिकसौत्रान्तिकयोर्बाह्यार्थवादिनोर्मतेन समन्वयस्य न विरोध इति  
सिद्धम् ॥ २७ ॥

(विज्ञानवादिबौद्धसंमतविज्ञानस्य जगत्कर्तृत्वादित्खण्डनम् । अधि० ५)

### नाभाव उपलब्धेः ॥ २८ ॥

एवं क्षणिकबाह्यार्थवादनिराकरणं कृतं तन्निराकरणमुपजीव्य क्षणि-  
कविज्ञानमात्रसत्यत्ववादी प्रत्यवतिष्ठत इत्यनयोरुपजीव्योपजीवकभावः  
संगतिः । विज्ञानवादिनो बौद्धस्य योऽयं सिद्धान्तो विज्ञानातिरिक्तस्य

(दी० १) कार्यमेवासन्तं पदार्थं साधयिष्यति नानुपमृद्य प्रादुर्भावादिति  
न्यायेनाऽऽह—नासत इति । असतोऽविद्यमानान्मृशदेघटादिकं न  
जायते । कुतः । मृदादेरसत्त्वे घटादेरदृष्टत्वात् ॥ २६ ॥

पिण्डादेरुपमर्दादेव घटादिकार्यस्योत्पाद इत्यत आह—उदासीनेति ।  
एवमभावान्द्वावोत्पत्तौ कुसूलनिहितकुलमाषाणां कृषीवलानामुदासी-  
नानां कृषिमकुर्वतामपि सिद्धिः कृतकृत्यता शाल्यादिकं संपन्नं स्यादि-  
त्यर्थः । चकारः पिण्डादीनामकारणत्वसमुच्चयार्थः ॥ २७ ॥

पूर्वाधिकरणे समुदयानुपपत्त्यादिभिर्बाह्यार्थवादी निराकृतः । इदानीं  
विज्ञानवादी ताभिः प्रत्यवतिष्ठमानो निराक्रियते । अथ वा ताभिरेव

(ब्र० व० १) बाह्यपदार्थस्याभाव इति सोऽस्याधिकरणस्य विषयः । स किं मान-  
मूलो भ्रान्तिमूलो वेति संदेहे मानमूल इति प्राप्तम् । तथा हि नीलादिविज्ञा-  
नस्य स्वरूपतः सर्वार्थान्प्रत्यविशिष्टत्वाद्वाह्यार्थवादिनाऽपि तस्य नीला-  
दिविज्ञानत्वसिद्धये नीलाद्याकारत्वमङ्गीकरणीयम् । तथा च तेनैवाऽऽका-  
रेण सर्वव्यवहारोपपत्तौ किं बाह्येन नीलादिना बन्ध्यायमानेन । तथा च  
स्वप्रकाशनीलादिविज्ञानस्य क्षणिकत्वात्साकारत्वाच्च स्थायिनिराकार-  
विज्ञानाद्ब्रह्मणो जगत्सर्गं ब्रुवन्समन्वयो न सिध्यतीति प्राप्ते ब्रूमः ।  
विज्ञानव्यतिरिक्तानामर्थानामभावो न संभवति । कुतः । उपलब्धेः ।  
विज्ञानातिरिक्तानामर्थानां घटः पट इत्याद्यनुभवसिद्धत्वादित्यर्थः । न च  
विज्ञानाकारेणानुभवस्यान्यथा सिद्धिः । बाह्यार्थं विना तत्सारूप्यात्म-  
काकारस्य ज्ञानेऽप्यसिद्धेः । एवं च प्रतीयमानो बाह्यार्थ एवेति न  
ज्ञानस्य साकारत्वं नापि क्षणिकत्वं मानाभावात् । अनुमानस्य पक्षा-  
द्यनेकज्ञानसाध्यतया स्थायिनमनुमातारं विनाऽनुदयादिति स्थायिनिरा-  
कारब्रह्मणि समन्वयो न विरुध्यत इति ॥ २८ ॥

ननु जाग्रदवस्थायामुत्पन्नाः सर्वे प्रत्यया निरालम्बनाः प्रत्ययत्वात्स्व-  
प्रगन्धर्वनगरमायाविनिर्मितमायादिवदित्याशङ्क्य दृष्टान्ते बाधितविषयि-  
त्वमुपाधिरित्याह—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २९ ॥

स्वप्नादिप्रत्ययस्य जाग्रत्प्रत्ययस्य चान्योन्यं बाधितविषयत्वाबाधित-  
विषयत्वरूपवैधर्म्यान्न स्वप्नादिदृष्टान्तेन निरालम्बनत्वं जाग्रत्प्रत्ययस्ये-  
त्यर्थः । चशब्देन दृष्टान्ते साध्यवैकल्यं सूचितम् । स्वप्नादावपि प्राति-  
भासिकविषयाणां सत्त्वादिति ॥ २९ ॥

(टी० १) युक्तिभिः सर्वशून्यवादी प्रत्यवतिष्ठमानो निराक्रियते—नाभाव इति ।  
बाह्यानामर्थानां नाभावोऽसत्त्वं न । कुतः । स्तम्भकुम्भादीनां तत्तत्प्र-  
त्यय उपलम्भनमुपलब्धिस्तस्याः ॥ २८ ॥

ज्ञानाकाराणामेव तेषां स्वप्नवदुपलम्भः स्यादित्यत आह—वैधर्म्येति ।  
विरुद्धयोर्धर्मयोर्भावो वैधर्म्यं बाध्यत्वाबाध्यत्वे । तस्मान्नायं स्वप्नादि-  
वद्वाह्यार्थो ज्ञानाकारः । आदिशब्देन मायारजतादिकम् । चकारः  
श्रुतेरप्रामाण्यं समुच्चिनोति ॥ २९ ॥

(ब्र० व० १) किं च बाह्यार्थानामभावे घटज्ञानं पटज्ञानमित्यादिवैचित्र्यं ज्ञानेन स्यात् । न च पूर्वपूर्वानादिविचित्रवासनाबलाद्वैचित्र्यं स्यादिति वाच्यम् । बाह्यार्थाभावे वासनानामप्यभावादित्याह—

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ ३० ॥

वासनानां न भावो न संभव इत्यर्थः । कस्मादनुपलब्धेः । त्वत्पक्षे बाह्यार्थानामनुपलब्धेरित्यर्थः । वासनानां बाह्यार्थानुभवव्याप्यत्वाव्यापकाभावे व्याप्याभाव इति बाह्यार्थानुभवस्य वासनानां प्रति कारणत्वात्कारणाभावे कार्याभाव इति वा तात्पर्यम् । किं च वासनानां संस्काराभिधानानां त्वत्पक्ष आश्रयासंभवादनुपपत्तिः ॥ ३० ॥

नन्वहमित्यालयप्रत्यय एवाऽऽश्रय इत्यत आह—

क्षणिकत्वाच्च ॥ ३१ ॥

आलयविज्ञानस्य क्षणिकत्वाङ्गीकारान्नाश्रयत्वं संस्काराश्रयत्वे वा न क्षणिकत्वं संस्कारसमानकालीनस्य वा संस्कारकालेऽसतो वाऽऽश्रयत्वायोगादिति भावः ॥ ३१ ॥

सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ॥ ३२ ॥

पश्यनतिष्ठनेत्याद्यपशब्दप्रयोगाद्ब्रन्थतोऽनुपपन्नमिदं वेदबाह्यानां मतमुक्तप्रकारेणार्थतोऽप्यनुपपन्नमिति सर्वथाऽनुपपत्तेर्नाऽऽदरणीयं श्रेयो-  
र्थिभिः सौगतं मतमित्यर्थः । दर्शनमिति वक्तव्ये पश्यनेत्यपशब्दः । स्थान-  
मिति वक्तव्ये तिष्ठनेत्यपशब्दः । दृशेस्तिष्ठतेश्च धातोः शिति प्रत्यये पश्यति-

(दी० १) अबाध्यत्वं विचित्रार्थोपलम्भाद्विचित्राश्वार्थो वासनारविलास इत्यत आह—न भावेति । वासनानां विचित्राणां न भावो न सत्त्वम् । कुतः । अनुपलब्धेः । बाह्यानामर्थानामभावात् ॥ ३० ॥

मा भूद्बाह्यार्थ आलयविज्ञानवशादेव वासनानां विचित्राणां सत्त्व-  
नित्यत आह—क्षणिकेति । आलयविज्ञानस्थायित्वेऽपसिद्धान्तः क्षणि-  
कैव आश्रयाभाव इत्यर्थः । चकारो बाह्यार्थस्यासत्त्व आलयविज्ञान-  
स्याप्यसामर्थ्यमाह ॥ ३१ ॥

केनाप्यंशेन विज्ञानवादोत्पत्तौ तद्वृष्टान्तेन सौगतं मतमङ्गीकरणीय-  
मित्यत आह—सर्वथेति सर्वथा सर्वं क्षणिकमित्याद्यर्थतस्तिष्ठता पर-

(ब्र० व० १) षावादेशौ भवतो न युच्चप्रत्यये तस्याशित्वादिति बोध्यम् । ननु बाह्यार्थवादस्य केवलविज्ञानमात्रवादस्य चोक्तरीत्याऽसंभवाच्छून्यं निःस्वरूपमेव प्रपञ्चतत्त्वं किं न स्यादिति शङ्कायां पुनः 'नाभाव उपलब्धेः' [ब्र० सू० २ । २ । २८] इत्यादीनि सूत्राणि शून्यमतनिरासपरत्वेन योज्यन्ते । प्रपञ्चशून्यत्वस्य सर्वप्रमाणबाधितत्वेन तन्निरासाय पृथक्प्रयत्नानपेक्षणात् । तथा हि ज्ञानार्थयोर्नाभावः प्रमाणैरुपलब्धेत्यर्थः । वैधर्म्याच्चेति सूत्रं पूर्ववद्वाख्येयम् । प्रपञ्चस्य बाध्यत्वे बाधाधिष्ठानं किञ्चित्सत्यं वक्तव्यं निरधिष्ठानबाधायोगात् । तस्य चाधिष्ठानस्य त्वन्मते न भावो न सत्त्वं प्रमाणतस्तदनुपलब्धेरिति न भावोऽनुपलब्धेरिति सूत्रार्थः । क्षणिकत्वाच्चेति सूत्रे विभक्तेः पूर्वमुपदेशेत्यध्याहारः तथा च क्वचित्पदार्थानङ्गीकृत्य तेषां क्षणिकत्वोपदेशाच्छून्योपदेशाच्च व्याहृतार्थबोधकः सुगत इत्यर्थः । अन्त्यसूत्रं कृतव्याख्यानम् । तस्माद्भ्रान्त्येकशरणबौद्धमतेन न समन्वयस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

( जीवादिसप्तपदार्थवादिनां बौद्धान्तराणां मतखण्डनम्, अधि० ६ )

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ ३३ ॥

एवं मुक्तकञ्छानां बौद्धानां मते निरस्ते विवसनानां जैनानां मतं बुद्धिस्थं बुद्धिसंनिधिलक्षणसंगत्या निराक्रियते । तत्र संशयः । किं दिग्गम्बरमतं मानमूलं भ्रान्तिमूलमिति । मानमूलमिति प्राप्तम् । तथा हि—स्यादस्ति स्यान्नास्ति स्यादस्ति नास्ति च स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति चावक्तव्यः स्यान्नास्ति चावक्तव्यः स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्चेत्येवंरूपसप्तभङ्गीनयमस्तित्वनास्तित्वादिविरुद्धधर्मद्वयमादाय सर्वेषु पदार्थेषु योजयन्तो विवसनाः पदार्थमात्रस्यानेकरूपत्वमाचक्षत उपा-

(दी० १) स्थायिनेत्यादिशब्दतोऽनुपपत्तेः । चकारो वेदविरोधसमुच्चयार्थः । बाह्यार्थपदस्थाने ज्ञानज्ञेयपदप्रक्षेपेण शून्यवादनिराकरणमपि नाभाव इत्यादिसूत्रे करणीयम् ॥ ३२ ॥

पूर्वाधिकरण उपलब्ध्यादिभिर्विज्ञानवादशून्यवादौ निराकृतौ नैवं विवसनानां समयोऽनेकत्वाभयादिति प्रत्युदाहरणेन तद्विरोधमाशङ्क्य परिहरति—नैकेति । जीवाजीवौ तयोरास्रव संवरनिर्जरबन्धमोक्षाणां



(ब० व० १) शानादिव्यवहारसिद्धये । अन्यथा वस्तुन एकरूपत्वेन सर्वात्मनाऽ-  
स्तित्वं नास्तित्वं वा वक्तव्यमिति प्राप्यात्मनाऽपि सत्त्वाद्ब्रह्मस्तुप्राप्त्यर्थमु-  
पादानादिव्यहारो \* न स्यात् । अतः केनचिद्घटादिरूपेणास्ति केन-  
चित्प्राप्यादिरूपेण नास्तीत्यनेकरूपत्वमेव वस्तुनः । सप्तनयभङ्गो नाम  
सप्तस्वस्तित्वादिषु वस्तुन्येकत्र विरोधभङ्गस्तत्र यो नयो युक्तिः स  
इत्यर्थः । स्यादस्तीत्यादेरयमर्थः—स्यात्पदं कथंचिदित्यर्थकम् । वस्तु-  
नोऽस्तित्वविक्षायामाद्यो भङ्गः । असत्त्वविवक्षायां द्वितीयो भङ्गः ।  
क्रमेणोभयवाञ्छायां तृतीयो भङ्गः । युगपदुभयवाञ्छायामस्तित्व-  
नास्तित्वयोर्युगपद्वाचा वक्तुमशक्यत्वादवक्तव्यत्वं वस्तुन इति चतुर्थो  
भङ्गः । आद्यचतुर्थयोर्भङ्गयोः क्रमेण द्वाञ्छायां पञ्चमो भङ्गः ।  
द्वितीयचतुर्थयोर्विवक्षायां षष्ठो भङ्गः । आद्यद्वितीयचतुर्थानां  
वाञ्छायां सप्तमो भङ्गः । इत्येवमेकत्वानेकत्वानित्यत्वानित्यत्वादिविरु-  
द्धधर्मद्वयमादायोक्तनयो योजनीय इति । तस्माद्ब्रह्मस्तुमात्रस्य सत्त्वम-  
सत्त्वं चेत्येवमादिविरुद्धानेकधर्मवत्त्वमेवेत्येकरूपब्रह्मसमन्वयो न सिध्य-  
तीति प्राप्ते ब्रूमः—नैकस्मिन्नसंभवादिति । एकस्मिन्परमार्थरूपे वस्तुनि  
विरुद्धधर्माणामसंभवाद्वस्तुनोऽनेकरूपत्वं नास्तीत्यर्थः । यदस्ति तद-  
स्त्येव न नास्ति यन्नित्यं तन्नित्यमेव नानित्यम् । यथा प्रत्यगात्मा  
वस्तुभूत एवं प्रपञ्चस्यापि त्वन्मते वस्तुभूतत्वानेकरूपत्वसंभवोऽस्मन्मते  
तु प्रपञ्चो न सन्नाप्यसन्निकित्वनिर्वचनीय एव । तेन सर्वव्यवहारसंभव  
इति भावः ॥ ३३ ॥

(दी० १) पञ्चास्तिकायानां जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानां स्वसमयकल्पितानां  
भेदभिन्नानां संक्षेपतो द्वावेव पदार्थौ । तद्व्यवस्थार्थं स्यादस्ति स्यान्नास्ति  
स्यादस्ति च नास्ति च स्यादवक्तव्यः स्यादस्ति चावक्तव्यः स्यान्नास्ति  
चावक्तव्यः स्यादस्ति नास्ति चावक्तव्यश्चेतीमं सप्तभङ्गीनयमवतार-  
यन्ति । एकत्वादौ चास्यैव व्यवस्थापकत्वं मन्यन्ते । तदिदं नोपपद्यते ।  
कस्मात् । एकस्मिन्धर्मिणि सदसत्त्वादीनां युगपद्वाऽयुगपद्वाऽसंभ-  
वात् ॥ ३३ ॥

\* प्राप्तिपरित्यागरूपो नयनानयनव्यवहारः ।

(ब्र० ४०१) एतेषामार्हतानां देहपरिमाण एवाऽऽत्मेति मतं तददूषयति—  
एवं चाऽऽत्माऽकात्स्न्यम् ॥ ३४ ॥

यथैकत्र विरुद्धधर्मासंभवो दोषस्तेषामार्हतानां मत एवमात्मनोऽ-  
कात्स्न्यं परिच्छिन्नत्वं दोषान्तरं स्याज्जीवस्य देहपरिमाणत्वाङ्गीकारा-  
दित्यर्थः । तथा च परिच्छिन्नत्वादात्मनो घटादिवदनित्यत्वं स्यादिति  
भावः । किंचाऽऽत्मनो देहपरिमाणत्वे मनुष्यात्मनः कर्मवशाद्गजशरीरे  
कृत्स्ने प्रवेशो न स्यात्पुत्तिकाशरीरे वा कृत्स्नस्याऽऽत्मनः प्रवेशो न  
स्यात् ॥ ३४ ॥

ननु जीवस्य सावयवत्वाङ्गीकारात्पर्यायेण गजादिशरीरप्राप्तौ केचि-  
द्वयवा आगच्छन्ति सूक्ष्मपुत्तिकाशरीरप्राप्तौ च केचिदपगच्छन्तीति  
न मनुष्यात्मनः । स्थूलसूक्ष्मशरीरप्राप्तिविरोध इत्याहुः, निरा-  
करोति—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ ३५ ॥

पर्यायादप्यवयवगमनागमनाभ्यामपि तत्तत्स्थूलसूक्ष्मशरीरपरिमाण-  
त्वस्याऽऽत्मन्यविरोध इति न चेत्यर्थः । कुतः । विकारादिभ्यः ।  
आत्मनः सावयवत्वेन तत्तच्छरीरप्राप्त्या वृद्धिह्रासवत्त्वाङ्गीकारे विकार-  
वत्त्वप्रसक्तौ प्रदीपादिवदनित्यत्वं स्यादनित्यत्वे च बन्धमोक्षाभ्युपगमो  
बाध्येत जलतुम्बिकान्यायेन संसारसागरे मग्नस्य बन्धविच्छेदात्संततो-  
र्ध्वगमनं मुक्तिर्भवतीति त्वयाऽभ्युपगमादिति । यद्वा पूर्वसूत्रे परिच्छि-  
न्नत्वादात्मनोऽनित्यत्वं स्यादिति उक्तमयुक्तमनित्यत्वेऽपि बौद्धवत्सं-

(दी० १) एवमिति यथा सप्तमङ्गीनयादिकमनुपपन्नमेवमात्मनोऽकात्स्न्य-  
मसर्वगतपरिमाणमपि देहपरिमाणत्वे देहवदनित्यता स्यादित्यर्थः ॥ ३४ ॥

नियतपरिमाणस्यापि जीवस्यावयवागमनिर्गमनाभ्यां देहपरिमाणत्व-  
मित्यत आह—न चेति । पर्यायोऽवयवागमनिर्गमने । तस्मादपि नैवा-  
नित्यत्वामावेऽविरोधः । कुतः । विकारादिभ्यः । विकारो विक्रिया  
आदिशब्देनावयवानामात्मत्वं उत्पत्तिप्रलयस्थानां निरूपणत्वानिरूपण-  
त्वादयो दोषास्तेभ्यः । अथ वा परिमाणागमनिर्गमनयोरपि जीवस्य

(ब० व० १) ताननित्यत्वोपपत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—न चेत्यादिसूत्रम् । पर्याया-  
दपि संतानरूपेण नित्यत्वस्याऽऽत्मन्यविरोध इति न चेत्यर्थः । कुतो  
विकारादिभ्यः । संतानस्य संतानिव्यतिरिक्तस्य सत्त्वे तस्य च संता-  
निजन्यत्वाद्विकारवत्त्वं स्यादेवासत्त्वे नैरात्म्यवादप्रसङ्ग इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

किंच—

अन्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ ३६ ॥

मुक्तात्मनो यत्परिमाणं तदन्त्यं तच्च नित्यमप्यणुत्वाद्यन्यतमपरिमा-  
णत्वेन व्यवस्थितं चेति जैनसिद्धान्तः । तथा चान्त्यस्य परिमाण-  
स्य नित्यत्वेनावस्थितेस्तद्वृष्टान्तेनाऽऽत्मपरिमाणत्वेन हेतुनोभयोराद्यम-  
ध्यमपरिमाणयोर्नित्यत्वप्रसङ्गात्रयाणामाद्यमध्यमान्त्यपरिमाणानामवि-  
शेषः साम्यं स्यादित्यर्थः । नित्यपरिमाणानां त्रयाणामेकत्र संभवा-  
न्नित्यत्वमापाद्य तेन साम्यमापादितमिति द्रष्टव्यम् । परिमाणसाम्ये  
स्थूलक्ष्मशरीरप्राप्तौ परिमाणवैषम्यं न स्यादिति भावः । यद्वा सर्वदै-  
कमेव परिमाणं स्यादित्यापाद्यम् । तथा ह्यन्यपरिमाणस्य जन्यत्वे  
नित्यत्वविरोधादाद्यमध्यमकालावस्थानं वक्तव्यमिति यदन्यपरिमाण-  
मणुमहत्वादि तदेवैकं सर्वदा स्यान्नान्यत्तथा चान्त्यपरिमाणस्यावस्थि-  
तेरणुत्वाद्यन्यतमत्वेन नियतत्वादाद्यमध्यमकालयोरुभयोस्तस्य परि-  
माणस्य नित्यत्वादेकत्वादविशेषः । जीवोऽणुश्चेदणुरेव महान्श्चेन्महानेव

(दी० १) प्रवाहरूपेण नित्यत्वान्नायं दोष इत्यत आह—न च पर्यायादप्यविरो-  
धो विकारादिभ्यः । पर्यायात्परिमाणागमनिर्गमनरूपात् । अत्र चकारः  
सौगतमतोक्तदोषसमुच्चयार्थः । शेषं समानम् ॥ ३५ ॥

ननुक्तः सर्वो दोषो न जीवस्यानित्यमावहति किंतु तत्परिमाणस्या-  
नित्यत्वमित्यत आह—अन्त्येति । अन्यस्य मोक्षावस्थस्य परिमाणस्य  
नित्यत्वादवस्थानमवस्थितिस्तस्याः । उभयस्याऽऽदिमध्यावस्थस्य परि-  
माणस्य तद्वन्नित्यत्वं तस्मात् । अविशेषः । एकशरीरपरिमाणमेव स्यान्न  
चैतद्विष्टं तस्माज्जीवस्याप्यनित्यत्वम् । अथ वाऽन्त्यस्य जीवपरिमाणाव-  
स्थितत्वात्पूर्वयोरप्यवस्थयोरवस्थितपरिमाण एव जीवः स्यात् । ततश्चा-

(ब्र० व० १) स्यादित्यर्थः । तथा च न शरीरपरिमाणनियम इति भावः । तस्माद्युक्तविवसनमतेन न समन्वयस्य विरोध इति सिद्धम् ॥ ३६ ॥

इदानीं केवलं निमित्तकारणमेवेश्वरो नोपादानमिति येषां सेश्वर-  
सांख्यपा[ ५ ]तञ्जलिशैवकणभुगादीनां मतं तदीयं दूषयति—  
( तटस्थेश्वरवादस्यायुक्तत्वम्, अधि० ७ )

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ ३७ ॥

पूर्वं सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोधादसंभव इत्युक्तं तद्वदुपादानकर्तृत्व-  
योरेकत्र विरोधादसंभव इति दृष्टान्तसंगत्या निमित्तोपादानोभयात्मक-  
ब्रह्मसमन्वयासंभवाक्षेपे सिद्धान्तः— पत्युरीश्वरस्य जगदुपादानप्राधा-  
नादिप्रेरकत्वेन जगन्निमित्तत्वमात्रं न संभवति । कुतः । असामञ्जस्यात् ।  
ईश्वरस्य जगत्सर्जने प्रवृत्तौ रागद्वेषादिप्रसङ्गादसामञ्जस्यं स्यात् । प्रवृत्ते  
रागद्वेषादिपूर्वकत्वेन लोके दृष्टत्वाददृष्टानुसारित्वात्कल्पनायाः । अस्माकं  
तु श्रुत्यनुसारित्वाद्निर्वचनीयवाकित्वाच्च न दोष इति भावः ॥ ३७ ॥

संबन्धानुपपत्तेश्च ॥ ३८ ॥

प्रेर्यप्रधानादिभिः प्रेरकस्येश्वरसंबन्धो वाच्योऽसंबन्धस्य प्रेरकत्वा-  
योगान्न च संबन्धः संभवति निरवयवत्वाद्युतसिद्धत्वाच्च संयोगसमवा-  
ययोरनुपपत्तेरित्यर्थः । सिद्धान्ते त्वविद्यादिप्रेरकत्वं कल्पिततादात्म्येनो-  
पपद्यत इति भावः ॥ ३८ ॥

(दी० १) विशेषेण सर्वदैवाणुर्महान्वा जीवः स्यात् । चकारो जीवस्य रूप-  
त्वादिप्रसङ्गसमुच्चार्थः ॥ ३६ ॥

पूर्वाधिकरणे यथा सत्त्वासत्त्वयोरेकत्र विरोध उक्त एवमधिष्ठातृत्वो-  
पादानत्वयोरेकत्र विरोध इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य केवलनिमित्तत्वदूषणेन  
समाधत्ते—पत्युरिति । पत्युरीश्वरस्य न प्रधानपुरुषाद्यधिष्ठातृत्वम् ।  
कुतः । असामञ्जस्यात् । समञ्जसस्य भावः सामञ्जस्यं न सामञ्जस्य-  
मसामञ्जस्यम् । वैषम्यनैर्घृण्यकर्मेश्वरान्योन्याश्रयान्यपरस्परसङ्गत्वाभा-  
वादि तस्मात् ॥ ३७ ॥

राजादिवदस्तु अधिष्ठातृत्वमित्यत आह—संबन्धेति । नात्र स्वस्वा-  
मिभावलक्षणः संबन्धस्तत्रैव विप्रतिपत्तेः । न च संयोगो निरवयवत्वा-  
दीश्वरादीनाम् । न च समवायस्तस्य कार्यकारणद्रव्यसंबन्धत्वात् । एव  
मन्यस्यापि संबन्धस्यानुपपत्तिः । चकारः संबन्धस्याऽऽगन्तुकत्वाद्यनुपप-  
त्तिसमुच्चयार्थः ॥ ३८ ॥

(ब० व० १) किंच कुम्भकारस्य मुदादिप्रेरकत्वदृष्टान्तेनेश्वरस्य प्रधानादिप्रेर-  
कत्वं कल्पनीयं न हि तत्संभवति प्रधानस्य रूपादिहीनत्वेन दृष्टमुदादि-  
वैलक्षण्यात् । प्रधानादिविषयकप्रेरणाया ईश्वरस्यानुपपत्तेरित्याह—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ ३९ ॥

अधिष्ठानं प्रेरणा । सिद्धान्ते तु न दृष्टापेक्षा श्रुत्येकाशरणादिति  
भावः ॥ ३९ ॥

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ ४० ॥

ननु करणानीन्द्रियप्रत्यक्षाण्यपि यथा जीवेन प्रेर्यन्त एवं प्रधानादि-  
कमप्रत्यक्षमपीश्वरेण प्रेर्यत इति चेन्न । कुतः । भोगादिभ्यो दोषेभ्यः ।  
जीवो हीन्द्रियग्रामं भोगार्थं प्रेरयति तद्वदृष्टान्तेनेश्वरस्य प्रेरकत्वे तद्वद्भो-  
गादयः प्रसज्येरन्नित्यर्थः । यद्वा सशरीरस्यैव प्रेरकत्वदर्शनादीश्वरस्य  
च शरीरानुपपत्तेर्न प्रेरकत्वमित्याह—अधिष्ठानानुपपत्तेश्च । भोगाधि-  
ष्ठानं शरीरमधिष्ठानशब्दार्थः । करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः । करणवदिन्द्रि-  
याधिष्ठानं शरीरमित्यर्थः । तदीश्वरेऽङ्गी क्रियत एवेति चेन्न । शरीर-  
वत्त्वे भोगादिप्रसङ्गादीश्वरत्वमेव न स्यादित्यर्थः ॥ ४० ॥

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ ४१ ॥

किंच प्रधानजीवेश्वराणां या संख्या यच्च परिमाणं तदुभयमीश्वरेण  
परिच्छिद्यते न वा । आद्ये परिच्छिन्नसंख्यावस्वात्परिच्छिन्नपरिमाण-

(दी० १) अधिष्ठानमेव संबन्धमाक्षेप्यतीत्यत आह—अधीति । अधिष्ठातुः  
क्रियाऽधिष्ठानं तच्च नाधिष्ठेयमन्तरेण । न च स्वरूपेण संदिग्धस्य  
रूपादिहीनस्य प्रधानादेरधिष्ठेयत्वमतोऽधिष्ठेयाभावादधिष्ठानस्यानुपप-  
त्तिरधिष्ठानानुपपत्तिस्तस्याः । चकारोऽधिष्ठात्रधिष्ठानयोरपि स्वरूपानु-  
पपत्तिं समुच्चिनोति ॥ ३९ ॥

करणेति । मा भूत्कुम्भकुलालादिवदधिष्ठेयाधिष्ठातृत्वं करणवज्जीवे-  
न्द्रियवद्भाविष्यतीति चेन्न । कुतः । भोगादिभ्यः । भोगः सुखदुःखान्य-  
तरसाक्षात्कारः । आदिशब्देन जनिमरणादयस्तेभ्यो हेतुभ्यः । अथवाऽ-  
धिष्ठानस्य शरीरस्यानुपपत्तेरिति पूर्वसूत्रार्थः । द्वितीयसूत्रार्थस्तु करण-  
मिन्द्रियं तदस्यास्तीति करणवच्छरीरं कल्प्यमिति चेत् । शेषं  
पूर्ववत् ॥ ४० ॥

ननु नैतानि सर्वगते सर्वज्ञ ईश्वरे चोद्यानीत्यत आह—अन्तेति ।

(ब्र० व० १) वञ्च त्रयाणां प्रधानजीवेश्वराणां घटादिवदन्तवत्त्वं विनाशित्वं स्यात् । द्वितीय ईश्वरस्यासर्वज्ञत्वं स्यादित्यर्थः । तस्मादसंगतेन तार्किकपरिकल्पितेश्वरकारणवादेन न निमित्तोपादानब्रह्मसमन्वयविरोध इति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

( जीवोत्पत्त्यादेरयुक्तत्वम्, अधि० ८ ) ।

उत्पत्त्यसंभवात् ॥ ४२ ॥

एवं केवलाधिष्ठतैवेश्वर इति वेदासंगतमते निरस्ते निमित्तं प्रकृति-  
श्वेश्वर इति भागवतमतस्य वेदसंगतार्थत्वात्तदङ्गीकृतजीवोत्पत्त्यंशेऽपि  
प्रमाणमूलत्वं स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगत्याऽऽरम्भः । तद्भागवतमतं  
प्रमाणमूलं भ्रान्तिमूलं वेति संदेहे प्रमाणमूलमिति प्राप्तम् । तथा हि  
वासुदेवः खलु परमात्मा परमार्थतत्त्वं जगदुपादानं निमित्तं च तस्मा-  
द्वासुदेवात्संकर्षणाख्यो जीव उत्पद्यते ततो जीवात्प्रद्युम्नाख्यं मनो  
जायते मनसश्चानिरुद्धाख्योऽहंकार इति । तथा च जीवाभिन्नाद्ब्रह्मणो  
जगत्सर्गं ब्रुवतः समन्वयस्यासंभव इति प्राप्ते वेदाविरुद्धांशमङ्गीकृत्य  
वेदविरुद्धजीवाद्युत्पत्त्यंशं दूषयति—उत्पत्त्यसंभवादिति, परमात्मनो  
वासुदेवाज्जीवस्योत्पत्तेरसंभवान्न तन्मतं साध्वित्यर्थः । अन्यथा जीव-  
स्योत्पत्त्यङ्गीकारे घटादिवदनित्यत्वापत्त्या भगवत्प्राप्तिरूपमोक्षस्त्वदभ्यु-  
पगतः कस्य स्यादित्यर्थः ॥ ४२ ॥

न च कर्तुः करणम् ॥ ४३ ॥

लोके कर्तुर्देवदत्तादेः सकाशात्करणस्य कुठारादेरुत्पत्त्यदर्शनाज्जीवा-  
त्कर्तुः करणं मनो जन्य(जाय)त इत्येतन्न युक्तमित्यतश्च तन्मतमसंग-

(दी० १) ईश्वरस्येति शेषः । यदीश्वरः प्रधानादीनामात्मनश्चेयत्तां परिच्छि-  
नन्ति अन्तवान्स्यान्न चेदसर्वज्ञ इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

पूर्वाधिकरणे केवलनिमित्तत्वं निराकृतम् । अस्तु तर्ह्युपादानत्वमपि  
निरङ्कुशं जीवस्य प्रपञ्च इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—उत्प-  
त्तीति । वासुदेवात्परस्मात्प्रकृतेः संकर्षणजीवस्योत्पत्तेर्जन्मनो जातस्य  
मरणादिदोषस्तत्र च जीवस्य कृतनाशाकृताभ्यागमप्रसङ्गादिः । अतोऽ-  
संभवान्न संभवोऽसंभवस्तस्मान्न भागवतमतं सम्यक् ॥ ४२ ॥

यथा संकर्षणाज्जीवात्प्रद्युम्नस्य मनसो यथा वा प्रद्युम्नात्मनसोऽनि-

(ब्र० व० ।) तमित्यर्थः । अयं भावः—किं जीवो मनः करणान्तरमासाद्य जनयति अनासाद्य वा । आद्ये तत्करणान्तरं जीवजन्यं न वा \* आद्येऽनवस्थाऽऽद्यविकल्पावतारासंभवात् । द्वितीये तदेव मनोऽस्त्विति न मनसो जीवजन्यत्वम् । आद्यद्वितीये करणरहितस्यैव जीवस्य कार्यजननसामर्थ्याङ्गीकारे किं मनःकल्पनयेति ॥ ४३ ॥

ननु संकर्षणादयस्त्रयो न जीवादिरूपाः किं तु वासुदेववद्विज्ञानस्वरूपा ईश्वरा एवेत्याशङ्क्याऽऽह—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

संकर्षणादीनां त्रयाणां वासुदेववद्विज्ञानादिभावे वा विज्ञानैश्वर्यबलवन्निर्दोषनिरवद्यस्वरूपत्वेऽपि तदप्रतिषेधस्तस्योत्पत्त्यसंभवरूपदोषस्य प्रकारान्तरेणाप्रतिषेध इत्यर्थः । तथा हि न तावच्चतुर्णां वासुदेवादीनामीश्वराणां किञ्चित्प्रयोजनमस्ति एकेनैव सिद्धेः । भगवानेवैको वासुदेवः परमार्थतत्त्वमिति त्वत्सिद्धान्तहानिश्च । नन्वीश्वराणां संकर्षणादीनां त्रयाणां वासुदेवतुल्यानामेव वासुदेवादुत्पत्तिरभ्युपगम्यत इति नोक्तदोष इति चेत्तर्ह्यगत उत्पत्त्यसंभवो दोषः । संकर्षणादीनामीश्वरत्वाविशेषे वासुदेवस्य ततोऽतिशयाभावेन त्रयाणां वासुदेवेन जन्यत्वाजन्यत्वानुपपत्तेरिति ॥ ४४ ॥

( दी० । ) रुद्धस्याहंकृतेर्जन्मैवं वासुदेवादपि संकर्षणोत्पत्तिरस्तीत्यत आह—न चेति । कर्तुः संकर्षणात्करणं प्रद्युम्नो न जायते संकर्षणस्यैव कर्तृत्वस्य विप्रतिपत्तेरित्यर्थः । चकारः प्रद्युम्नादप्यनिरुद्धोत्पत्त्यभावसूचनार्थः ॥ ४३ ॥

न च सर्वज्ञत्वादिगुणानां संकर्षणादीनामुत्पत्तावपि नोत्पत्तिप्रसङ्गो दोष इत्यत आह—विज्ञानेति वाशब्दश्चेदर्थः । यदि सर्वे सर्वज्ञाः सर्वगता अनन्तगुणाश्च वासुदेवादयस्तदा वासुदेवाद्युत्पत्त्यसंभवो दोषस्तदवस्थः । अतस्तस्याप्रतिषेधः ॥ ४४ ॥

\* आसाद्य जनयतीति विकल्प आद्यः ।

## विप्रतिषेधाच्च ॥ ४५ ॥

(ब० वा०) क्वचिज्ज्ञानैश्वर्यशक्तिबलवीर्यतेजांसि वासुदेवगुणा इति प्रतिपादयन्ति क्वचिच्चोक्तगुणा एवाऽऽत्मानो वासुदेवा भगवन्त इत्यभेदं गुणगुणिनोर्वर्णयन्ति तथा च परस्परं विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसमिदं भागवतं मतमित्यर्थः । तस्मान्निरवद्ये ब्रह्मणि वेदान्तानां समन्वय इति सिद्धम् ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्ब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

( वेदान्तवादिमत आकाशस्यानित्यत्वकथनम्, अधि० १ )

न वियदश्रुतेः ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्पादे श्रुतिविरुद्धत्वात्परपक्षाणामप्रामाण्यमुक्तं तर्हि श्रुतीनामप्यन्योन्यविरोधाद्ब्रह्मकारणवादस्याप्यनपेक्षत्वं स्यादिति शङ्कानिरासार्थं परं पादद्वयमारभ्यते । पादद्वयस्यापि श्रुतीनामप्यन्योन्यविरोधनिरासेन समन्वयवृद्धीकरणाच्छ्रुत्यध्यायसंगतिः । पूर्वपादेनास्य प्रासङ्गिकीसंगतिः शङ्काव्याजेन दर्शिता । तत्र तावदादौ सृष्टिवाक्यानामवि-

(दी०।) तेषु संकर्षणादिषु वासुदेववद्विज्ञानादिगुणानां भावेऽस्मच्छास्त्रविरोधं वेदविरोधं विना [ नान्यविरोधं ] मन्यामह इत्यत आह-विप्रेति । अस्मिन्नेव शास्त्रे ज्ञानादीनां गुणत्वं त एव भगवन्तो वासुदेवा इत्यादिविप्रतिषिद्धं विरुद्धम् । 'चतुर्षु वेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वा शाण्डिल्य इदं शास्त्रमधीतवान्' इत्यादिवेदनिन्दादर्शनाद्वेदविरुद्धश्च सोऽयं विप्रतिषेधस्तस्मात् । चकारोऽन्यदूषणानामपि बलात्पतनाभ्युच्चयार्थः ॥४५॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

द्वितीयपादे स्वतन्त्रतर्काणां परस्परविरोधान्न तैर्विरोधः समन्वयस्येत्युक्तम् । तृतीयेन तु पादेन भूतश्रुतीनां भोक्तृश्रुतीनां च परस्परविरोधः परिह्रियते । तत्रापि भोक्तृत्वस्योपाधिकत्वादुपाधिषु चाऽऽकाशस्य



(ब्र० व० १) रोधं प्रतिपादयितुमाकाशमाभित्य विचार्यत आकाशस्य किमुत्पत्तिरस्त्युत नास्तीति । यद्यस्ति तर्हि विरोधः । तथा हि च्छान्दोग्य आकाशवायू विना 'तत्तेजोऽसृजत' [ छा० ६ । २ । ३ ] इति तेजआदिका सृष्टिः श्रूयते । तैत्तिरीयके तु 'आत्मन आकाशः संभूतः, [ तै० २ । ११ ] इत्याकाशादिका । तथा चानयोर्वाक्ययोर्विरोध इति पूर्वपक्षः । आऽध्यायात्पूर्वपक्षे श्रुतीनां मिथो विरोधादप्रामाण्यं फलं सिद्धान्ते विरोधाभावात्प्रामाण्यमिति बोध्यम् । एवं प्राप्त एकदेशिमतेन समाधत्ते— 'न वियदश्रुतेः' । वियन्नोत्पद्यते । कुतः । अश्रुतेः । वियत उत्पत्तिप्रतिपादकवाक्यस्याश्रवणादित्यर्थः ॥ १ ॥

यद्यप्यात्मन आकाशः संभूत इति श्रुतिरस्ति तथाऽपि सा गौणीति गूढोऽभिसंधिः । तथा चाऽऽकाशस्योत्पत्तेरनभ्युपगमादेव न विरोध इति गूढाभिसंधिमजानानः शङ्कते—

अस्ति तु ॥ २ ॥

तुशब्दः पक्षान्तरपरिग्रहे । च्छान्दोग्य आकाशोत्पत्तिश्रुत्यमावेऽपि सा श्रुतिस्तैत्तिरीयकेऽस्तीत्यर्थः । तथा च विरोधस्तदवस्थ इति शङ्कितुरभिप्रायः ॥ २ ॥

एकदेशी स्वाभिप्रायं प्रकटयति—

गौण्यसंभवात् ॥ ३ ॥

न ह्याकाशस्योत्पत्तिश्रुतिर्मुख्या किंतु गौणी । कुतः । 'असंभवात्' । आकाशोत्पत्तौ समवायिकारणादिसामर्थ्यभावाद्विभुत्वेन नित्यत्वानुमानाच्चाऽऽकाशस्योत्पत्तेरसंभवादिति सूत्रार्थः ॥ ३ ॥

(दी० १) पूर्वोत्पत्तिश्रवणात्प्रथमं तद्विषयाणां विरोधपरिहारार्थमाक्षिप्यते—नेति । वियदाकाशं न जन्मवच्छान्दोग्ये तस्य जन्मनोऽश्रुतेः ॥ १ ॥

अस्तीति तु शब्दो वियतोऽनुत्पत्तिवारणार्थः । कुतः । अस्ति तैत्तिरीयके 'आत्मन आकाशः संभूतः' [ इति ] श्रुतिर्यतः ॥ २ ॥

आकाशोत्पत्तिश्रुतिर्गौणी । कुतः । तस्य समवाय्यसमवायिकारणस्याऽऽकाशपरमाणुतत्संयोगानामसंभवात् ॥ ३ ॥

शब्दाच्च ॥ ४ ॥

( ब्र० व० १ ) ' वायुश्चान्तरिक्षं चैतदसृतम् ' [ षृ० २।३।३ ] इत्यादेरसृतशब्दान्नाऽऽकाशस्योत्पत्तिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

' ननु आत्मन आकाशः संभूतः ' [ तै० २।१।१ ] इत्यादिवाक्ये संभूतशब्दस्याऽऽकाशे गौणत्वं तेजआदौ तु मुख्यत्वमित्येतेद्विरुद्धमेकस्मिन्वाक्ये एकस्य शब्दस्य गौणमुख्यत्वादर्शनादित्यत आह—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ ५ ॥

यथैतस्मिन्नेव प्रकरणे ' अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात् ' [ तै० ३।२।१ ] इत्यादावन्नादिषु ब्रह्मशब्दो गौणः ' आनन्दो ब्रह्म ' [ तै० ३।६।१ ] इत्यत्र मुख्यो विषयभेदात् । एवं प्रकृतेऽपि विषयभेदादेकस्य संभूतशब्दस्य गौणत्वं मुख्यत्वं च स्यादित्यर्थः ॥ ५ ॥

इदमेकदेशिमतं दूषयन्सिद्धान्तयति—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः ॥ ६ ॥

विज्ञेयाद्ब्रह्मणः कृत्स्नस्य वस्तुजातस्याव्यतिरेकादात्मैकत्वविज्ञानात्सर्वविज्ञानप्रतिज्ञायां \*अहानिर्भवति ब्रह्मभिन्नसत्ताकस्य नित्यस्याऽऽकाशस्याभ्युपगमे तु प्रतिज्ञा बाध्येत । तस्मादाकाशस्योत्पत्तिमङ्गीकृत्य ब्रह्माधीनसत्ताकत्वाद्ब्रह्मणि ज्ञाते सर्वमाकाशादिकं ज्ञानं भवतीति सा प्रतिज्ञा समर्थनीयेत्यस्याकाशोत्पत्तिरित्यर्थः । किंच प्रतिज्ञायाः समर्थनं कार्यकारणाभेदपरेभ्यः शब्देभ्यो भवति । तथा हि कार्यकारणाभेदप्रतिपादनपरैर्मृदादिदृष्टान्तैः प्रतिज्ञां संसाध्य तत्साधनायैव

(दी० १) शब्दगम्येऽर्थे किमसंभवेनेत्यत आह—'शब्देति । अन्तरिक्षं चैतदसृतम् ' इत्यादेः । चकारो वेदेऽपि युक्तिसमुच्चयार्थः ॥ ४ ॥

एकस्य संभवपदस्यैकस्मिन्वाक्ये कथं गौणत्वं मुख्यत्वं चेत्यत आह—स्यादिति । एकस्यापि संभवपदस्य गौणार्थताऽऽकाशेऽन्येषु मुख्यता ब्रह्मशब्दवद्यथैकस्यापि ब्रह्मशब्दस्य तपोन्नप्रभृतिषु गौणार्थता परस्मिन्ब्रह्मणि मुख्यार्थतैवं स्याद्भवेत् ॥ ५ ॥

सिद्धान्तमाह—प्रतिज्ञेति । न वियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी । कुतः । कार्यकारणगोरव्यतिरेकादभेदात् । आकाशस्योत्पत्तौ ब्रह्मणस्तयोरभेदः

\* ख. अपरित्यागः ।

१ क. ग. 'या हा' ।

(ब० व० १) 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' [ छा० ६।२।१ ] तदैक्षत तत्तेजोऽसृजत' [ छा० ६।२।३ ], 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' [ छा० ६।८।७ ] इत्यादिशब्दाः कार्यजातं प्रदर्श्य तस्य ब्रह्मात्म्य-तिरेकं दर्शयन्ति । इदं सर्वमाकाशस्याकार्यत्वे बाधितं स्यादिति । नन्वेवमुत्पत्तिमन्त्रे सिद्धे पूर्वोक्तविरोधपरिहारः कथमिति चेदुच्यते । छान्दोग्ये हि तेजस उत्पत्तिमोत्रं \*श्रूयतेऽनाद्यैर्विभक्तिभिः । तैत्तिरीयके तु 'आकाशाद्वायुर्वायोरग्निः' [ तै० २।१ ] इति तेजसस्तृतीयत्वं श्रूयते । तथा च तयोर्वाक्ययोरेकवाक्यत्वादनवकाशतैत्तिरीकश्रुत्यनुसारेणाऽऽकाशं वायुं च सृष्ट्वा तद्वह्म तेजोऽसृजतेति छान्दोग्यश्रुतिः परिणम्यत इति नानयोर्वाक्ययोर्विरोध इति ॥ ६ ॥

यदुक्तं तैत्तिरीयके वियदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी सामग्र्यभावाद्विभुत्वेन नित्यत्वानुमानाच्चेति तन्न । भौतस्य ब्रह्मण एव वियत्सामग्रीत्वादित्यभिप्रेत्य तदीयानुमानमनुमानेनैव दूषयति—

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ ७ ॥

तुशब्द आकाशोत्पत्त्यसंभवाशङ्काव्यावृत्त्यर्थः । यतो [यत्र कार्यत्वं तत्र भेदो यत्र भेदस्तत्र कार्यत्वं लोकवत् । यथा लोके पटादीनां भेदो न कार्यत्वमन्तरेणास्ति कालादिभ्यो भेद आकाशस्य तरमाद्घटादिवत्] यावद्विकारजातं विभागो दृश्यते न त्वविकारे ब्रह्मणि विभागादर्शनाल्लोकस्य घटादेर्विकारस्यैव विभक्तत्वदर्शनादित्यर्थः । तथा चायं प्रयोगः । आकाशदिक्कालमनःपरमाणवः पराधीनसत्ताकाः स्वसमानसत्ताकवि-

(दी० १) स्यात् । तथा प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञाया येनाश्रुतमित्यादेरहानिरप-रित्यागः कार्यकारणाभेदेन । प्रतिज्ञाया अहानिरेव कुतो विवक्षितेत्यत आह—शब्देभ्यः । येनाश्रुतमित्यारभ्य 'एतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यन्ताच्छान्दोग्ये शब्दाः । एवं सर्वत्र । तेभ्यः ॥ ६ ॥

तथाऽपि तर्कविरोध इत्यत आह—यावदिति । तुशब्दस्तर्कविरोध-परिहारार्थः । विभागो भेदो यावद्विकारं यावत्कार्यम् । भेदो हि न कार्याभ्यूनवृत्तिर्नाप्यधिकवृत्तिः किंतु यत्र कार्यत्वं लोकवत् । यथा

\* ख. प्रथमं पश्चाद्वेति । धनुश्चिह्नान्तर्गतो ग्रन्थो ग. पुस्तके वर्तते ।

(ब्र० व० ।) भागवत्त्वादघटशरावादिवदित्याकाशोत्पत्तिवादिनं प्रति विभुत्वे हेतोः परोक्तस्यासिद्धिरपि बोध्या । आकाशेऽभूतशब्दप्रयोगस्त्वापेक्षिकः 'अमृता देवाः' इतिवदिति सिद्धं ब्रह्मकार्यं वियदिति ॥ ७ ॥

ननु च्छान्दोग्ये वायोरुत्पत्तिर्न श्रूयते तैत्तिरीयके तु श्रूयते तथा च पूर्ववदनयोर्वाक्ययोर्विरोधपरिहाराय वायूत्पत्तिर्गौणीति वाच्यम् । किंच 'सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' [बृ० १ । ५ । २२] इति वायोर्ल्यप्रतिषेधाच्च नित्यत्वमित्याशङ्कामतिदेशेन निराकरोति—

(स्वरूपवतो ब्रह्मणो वायोरुत्पत्तिकथनम्, अधि० २)

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ ८ ॥

एतेन वियत उत्पत्तिमत्त्वव्याख्यानेन वायुरपि वियदवाच्छिन्नब्रह्मजन्यत्वेन व्याख्यात इत्यर्थः । वायोर्नित्यत्व एकविज्ञानप्रतिज्ञाहान्यादेः समानत्वादिति भावः । वायोर्ल्यप्रतिषेधश्चाऽऽपेक्षिकः । अतिदेशत्वाच्च पृथक्संगत्यपेक्षेति मन्तव्यम् ॥ ८ ॥

(सद्रूपस्य ब्रह्मणोऽजन्यत्वं जगज्जनकत्वं च, अधि० ३)

असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पूर्वमसंभावितोत्पत्तिकयोरपि वियत्पवनयोरुत्पत्तिरस्ति श्रुतिबलादित्युक्तं तद्वदेव ब्रह्मापि ब्रह्मान्तरकार्यमस्तु कार्यकारित्वाद्विषयादिवदित्यनुमानानुगृहीतया 'जातो भवसि विश्वतोमुखः' [श्वे० ४ । ३] इत्यादिब्रह्मजन्मश्रुत्या ब्रह्मणोऽप्युत्पत्तिरस्तिवति दृष्टान्तसंगत्येदमारभ्यते । तत्र ब्रह्मणो नित्यत्वप्रतिपादकश्रुतीनामुक्तानुमानानुगृहीतश्रुत्या विरोधोऽस्ति न वेति संदेह अग्नेर्विस्फुलिङ्गोत्पत्तिवद्वह्मान्तराद्वह्मो-

(दी०।) लोके घटादीनां भेदो न कार्यत्वमन्तरेणास्ति च कालादिभ्यो भेद आकाशस्य तस्मात् । घटादिवत्कार्यम् ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरणे यथैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानप्रतिज्ञा न गौणीत्युक्तं तद्वत् सैषाऽनस्तमिता देवता यद्वायुः' इत्यादिका वायोर्नित्यत्वादिप्रतिपादिका श्रुतिर्न गौणीति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समाधत्त एतेनेति । एतेनाऽऽकाशोत्पत्तिकथनेन मातरिश्वा वायुरुत्पन्नो व्याख्यातः ॥ ८ ॥

पूर्वाधिकरणे यथा कारणस्याप्याकाशस्य कार्यत्वमुक्तं तद्वदिहापि कारणस्यापि ब्रह्मणः कार्यत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते— तुशब्दो ब्रह्मण उत्पत्तिशङ्कानिराकरणार्थः । सतो ब्रह्मण उत्पत्तेरसंभवः ।

(ब्र० व० १) त्पत्तिरुक्तश्रुतिबलादस्त्येवेति विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः । सतः सदा-  
त्मकस्य ब्रह्मण उत्पत्त्यसंभवः । कुतः । अनुपपत्तेः । सत्सामान्या-  
त्सत्सामान्यस्योत्पत्तेरनुपपत्तिर्विशेषस्यैव घटादेः सामान्यजन्यत्वदर्श-  
नाद्ब्रह्मणश्च विशेषत्वेन जन्यत्वे यत्तज्जनकं सामान्यं तदेव नो ब्रह्म  
ब्रह्मणः कार्यत्वेऽध्यस्तत्वेन जगदधिष्ठानत्वानुपपत्तेश्चेत्यर्थः । जन्मश्रुति-  
श्चौपाधिकविषया 'न चास्य कश्चिज्जनिता' [श्वे० ६।१] इत्या-  
दिबहुश्रुतिविरोधादित्यविरोधः ॥ ९ ॥

(कार्यकारणयोरभेदेन वायुभूतस्य ब्रह्मणस्तेजः सृष्टिः, अधि० ४)

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ १० ॥

'तत्तेजोऽसृजत' [छा० ६।२।३] इति छान्दोग्ये ब्रह्मजत्वं  
तेजसः श्रूयते तैत्तिरीयके तु 'वायोरग्निः' [तै० २।१] इति वायु-  
जत्वमित्यनयोर्वाक्ययोर्विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे सामान्यात्सामान्य-  
स्योत्पत्तिर्मा भूत्सामान्याद्व्यायोर्विशेषस्य तेजस उत्पत्तिः संभवति, एवं  
श्रुतिबलात्सर्वोपादानब्रह्मजत्वमपीत्यस्ति विरोध इति प्रत्युदाहरणसङ्गत्या  
पूर्वपक्षे पूर्वं ब्रह्मणः कार्यत्वेन जगदुपादानत्वं न संभवतीत्युक्तं तद्वद्वा-  
योरपि कार्यत्वात्तेजः प्रत्युपादानत्वं नास्त्येवेति ब्रह्ममात्रजत्वं तेजस  
इत्यविरोधः, वायोरग्निरिति पञ्चमी क्रमार्था न तु हेत्वर्था, इत्येकदे-  
शिना सिद्धान्तः कृतस्तं दूषयति—'तेजोऽतस्तथा ह्याह' इति । अतो  
मातरिश्चनः सकाशात्तेजो जायत एव हि यतस्तथा वायुजत्वं वायोरग्नि-  
रिति श्रुतिराह । न चेयं पञ्चमी क्रमार्था वाय्वनन्तरं तेज इति पदान्त-  
रकल्पनाप्रसङ्गात् । किंच आत्मन 'आकाशः संभूतः' इत्यादौ  
'पृथिव्या ओषधयः' [तै० २।१।१] इत्यन्ते च हेतुपञ्चम्या  
दर्शानामध्येऽकस्मात्क्रमार्था पञ्चमीत्यसङ्गतमेव । न चेवं क्वचिद्ब्रह्मज-  
न्यत्वं क्वचिद्वायुजन्यत्वमिति विरोधः । वायोर्ब्रह्मानन्यत्वेन वायुभावा-

(दी० १) कुतः । 'न चास्य कश्चिज्जनिता' इत्यादिश्रुतेर्युक्तितश्च तत्कारण-  
स्यानुपपत्तेः ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे कारणस्यानध्यस्तत्वमुक्तं तेनैव न्यायेन वायुस्तेजसः  
कारणमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तेजोऽग्निरतोऽस्माद्वायुरूपा-

( ब्र० व० । ) पन्नब्रह्मजन्यत्वस्य छान्दोग्यवाक्यार्थस्यैव वायोरग्निरिति वाक्यस्याप्यर्थत्वेनाविरोधादिति ॥ १० ॥

( वेदोक्ततेजोरूपब्रह्मणो जलोत्पत्तिसिद्धिः, अधि० ५ )

आपः ॥ ११ ॥

अतस्तथा ह्याहेत्यनुवर्तते । तेजोनन्तरभावित्वाद्पृथिव्योरिति तेजसो वायुजन्यत्वकथनानन्तरं तयोरपृथिव्योः क्रमेण बुद्धिस्थत्वाद्बुद्धि-संनिधिलक्षणसंगत्या क्रमेणाधिकरणद्वयमारभ्यते । 'तदपोऽसृजत' [ छा० ६।२।३ ] इत्यादिवाक्यस्यापां ब्रह्मजन्यत्वप्रतिपादकस्य 'अग्नेरापः' इति [ तै० २।१ ] वाक्येन विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे पूर्ववद्विरोधोऽस्तीति पूर्वपक्षेऽपामग्निदाह्यत्वात्तज्ज्यन्यत्वं नास्त्येवेत्याविरोध इत्येकदेशिसिद्धान्तं दूषयति—'आपः' इति । आपोऽतस्तेजसो जायन्ते हि यस्मात्तथा तेजोजन्यत्वमग्नेराप इति श्रुतिराहेत्यर्थः । त्रिवृत्कृतयोरतेजसोर्दाह्यदाहकभावेऽप्यत्रिवृत्कृतयोर्न विरोधः । छान्दोग्ये तेजोवच्छिन्नं ब्रह्म तच्छब्दार्थ इति पूर्ववद्विरोधपरिहारो बोद्धव्यः ॥ ११ ॥

अबनन्तरभावि पृथिवीमाश्रित्य विचारयति ।

( छान्दोग्योपनिषदुक्तजलोत्पन्नान्नशब्दस्य पृथिव्यर्थकत्वम्, अधि० ६ )

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

'ता आप ऐक्षन्त बह्व्यः स्याम प्रजायेमहीति ता अन्नमसृजन्त' [ छा० ६।२।४ ] इति श्रूयते तत्र संशयः । किमन्नशब्देनौदनादिकमुच्यते किं वा पृथिवीति । तत्रान्नशब्दस्यौदनादौ प्रसिद्धत्वादौदना-

(टी०।) देव । कुतः । हि यस्मात्तथाऽऽह श्रुतिः—'वायोरग्निः' इति ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरणे तेजसो वायुयोनित्वमुक्तमविरोधात् । इह तु तेजसो ब्रह्मयोनित्वे विरोधः प्रत्यक्ष इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—आप इति । आपोऽग्नेर्जायन्ते । हेतुः पूर्वसूत्रोक्तः 'अग्नेरापः' इति श्रुतेः ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे वायोरिति पञ्चम्यो उपादाने मुख्यार्थता स्वीकृता तद्वदन्नश्रुतेरपि माषादिषु मुख्यार्थत्वात्तेषामेव स्वीकार इति दृष्टान्ते-

( ब० १०१ ) विक्रमेवान्नशब्देनोच्यते । तथा च ब्रीहियवादेस्तज्जन्यौदनस्य च योगेन रूढ्या चान्नशब्दवाच्यस्य कचिदब्जजन्यत्वं कचित्तु ' पृथिव्या ओषधय ओषधीभ्योऽन्नम् ' [ तै० २ । १ ] इत्यत्र पृथिव्याविजन्यत्वमित्यनयोः श्रुत्योर्विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः । पृथिव्येवात्रान्नशब्देनोच्यते न ब्रीह्यादिकम् । कुतः । अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । ' तत्तेजोऽसृजत । इति महाभूतोत्पत्त्यधिकारात् । ' यत्कृष्णं तदन्नस्य ' [ छा० ६ । ४ । १ ] इति कृष्णरूपस्यान्नशब्दवाच्यस्य पृथिवीत्वज्ञापकस्य श्रवणाच्च । समानप्रकरणे ' अद्भ्यः पृथिवी ' [ तै० २ । १ ] इति च ' तद्यदपां शर आसीत्तत्समहन्यत सा पृथिव्यभवत् ' [ बृ० १ । २ । २ ] इति च पृथिव्या एवाब्जजन्यत्वप्रतिपादकशब्दान्तरसत्त्वाच्चेत्यर्थः । तत्र सृष्टिकाले यदपां शरो घनीभाव आसीत्तत्समहन्यत स घनीभावः संघातात्मना परिणत आसीत्सैवापां कठिनाकारपरिणामरूपा पृथिव्यभवदिति श्रुत्यर्थः । तथा च ब्रीह्याद्यन्नस्य नाबुपादानकत्वं किंतु पृथिव्युपादानकत्वमेवेत्यविरोध इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

( पूर्वपूर्वकार्योपाधिकाद्ब्रह्मण उत्तरोत्तरकार्योत्पत्तिसिद्धिः, अधि० ७ )

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ १३ ॥

एवं तावत्सृष्टिक्रमे महाभूतश्रुतीनामविरोधः प्रतिपादितः । इदानीं तानि भूतान्याश्रित्याऽऽश्रयाश्रयिभावसंगत्याऽन्यद्विचार्यते । किं महाभूताभिमानिन्यो देवताः स्वतन्त्रा एव भौतिकोत्पादने प्रवर्तन्त उतेश्वराधिष्ठिता इति विशये ' आकाशाद्वायुः ' [ तै० २ । १ ] इत्या-

( दी० ) नाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-पृथिवीति । ' ता अन्नमसृजन्त ' इत्यन्नशब्दाभिधेया पृथिवी । कुतः । अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः । अधिकारो महाभूताधिकारः । रूपम् । ' यत्कृष्णं तदन्नस्य ' इति कृष्णं रूपम् । ' अद्भ्यः पृथिवी ' इति शब्दान्तरेभ्यः ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणेऽधिकारादिभ्यः कार्यशब्दः कारणे नीतः । इह तु भूताधिष्ठात्रीणां देवतानां पारतन्त्र्ये न हेतुरिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते तदिति । तुशब्दः पूर्वपक्षव्यावृत्त्यर्थः । स परमात्मैवाऽऽकाशादिरूपं तत्तद्विकारजातं सृजति । कुतः । तदभिध्यानात् । तस्य

( ब्र० व० । ) दिना स्वस्वकार्योत्पत्तौ स्वातन्त्र्यश्रवणात्स्वतन्त्रा एवेति ब्रह्मणः सर्वसृष्टिकर्तृत्वप्रतिपादकश्रुत्या भूतसृष्टिश्रुतीनां विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः । स परमात्मा तत्तत्कार्यगोचरेक्षणात्मकाभिध्यानादेवेक्षिता तत्कारणाधिष्ठाता सर्वं कार्यं सृजति । कस्मात् । तल्लिङ्गात् । तस्य परमात्मनः सर्वनियन्तृत्वरूपालिङ्गस्य ‘ यः पृथिव्यां तिष्ठन् ’ [ बृ० ३ । ७ । ३ ] इत्यादिना श्रुतत्वादित्यर्थः । पृथिव्यां तदभिमानिदेवतायाम् । अयं भावः । आकाशादिपदानां भूतमात्रे रूढत्वाद्देवतापरत्वे लक्षणापत्तेर्न भूताभिमानिदेवतानां स्वातन्त्र्यमाकाशाद्यायुरित्यादौ श्रुतम् । न च ‘ ता आप ऐक्षन्त [ छा० ६ । २ । ४ ] इत्येतद्वादिपदानां देवतापरत्वे लिङ्गम् । तदीयेक्षणस्य तदवच्छिन्नब्रह्मनिष्ठत्वादिति न देवतानां स्वातन्त्र्ये किञ्चिन्मानमिति ॥ १४ ॥

( प्रलयकाले पृथिव्यादीनां विपरीतक्रमकल्पनम्, अधि० ८ )

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ १४ ॥

एवं भूतानामुत्पत्तिक्रमे चिन्तिते लयक्रमो बुद्धिस्थः प्रसङ्गसंयत्या विचार्यते । एतस्य विचारस्य प्रयोजनमद्वैतब्रह्माभिधानम् । प्रासङ्गिकत्वादेव नास्मिन्पादेऽसंगतिराशङ्कनीया । तत्र किं भूतानां श्रुतोत्पत्तिक्रमेणैव लयक्रम उत सोपानपरम्परारूढस्य व्युत्क्रमेणावरोहणव्युत्क्रमेणैव लयक्रम इति संदेहे श्रुतोत्पत्तिक्रमेणैवेति प्राप्ते ब्रूमः । अत उत्पत्तिक्रमाद्विपर्ययेणैव लयक्रमः स्वस्वकारणे कार्याणां लयस्य दर्शनादाकाशादीनां चोत्तरोत्तरभूतं प्रति कारणत्वस्योक्तत्वात् । किं च

( दी० । ) विकारस्याभिधानं पर्यालोचनं तस्मात् । अभिधानमपि भूतानामेव कुतो न स्यादित्यत आह—तल्लिङ्गात् । तस्य परमात्मनः ‘ यः पृथिवीमन्तरो यमयति ’ इत्यादिनाऽध्यक्षलिङ्गात् । तस्मान्नाभिधानं भूतानां केवलानामित्यर्थः ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणे पारतन्त्र्यं देवतानां तल्लिङ्गादित्युक्तं न तथा प्रलयक्रमे किञ्चिन्नियामकमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तुशब्दः प्रलय उत्पत्तिक्रमनिवारणार्थः । किंतु अतोऽस्मादुत्पत्तिक्रमाद्विपर्ययेण पृथिव्यग्निवत्यादिक्रम उक्त उपपद्यते । यतः कार्यस्य घटादेः कारणे



(ब्र० व० ॥) व्युत्क्रमेणैव लयक्रम उपपद्यते । अन्यथोत्पत्तिक्रमेण च लयाङ्गी-  
कारे सति कार्ये कारणस्य नाश इति स्यात्तच्चायुक्तमित्यर्थः ॥ १४ ॥

भूतोत्पत्तिलयविचारस्य यत्प्रयोजनमद्वैतब्रह्मध्यानं \* तत्प्रयोजनकं  
करणोत्पत्तिक्रममेकप्रयोजनकत्वसङ्गत्या विचारयति—

( प्राणादीनां भूतेष्वन्तर्भावान्न तेषां सृष्टिक्रमभङ्गः, अधि० ९ )

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लि-

ङ्गादिति चेन्नाविशेषात् ॥ १५ ॥

पूर्वोक्तभूतोत्पत्तिलयक्रम इन्द्रियोत्पत्तिक्रमेण विरुध्यते न वेति  
संदेहे विरुध्यत इत्याह—अन्तरेति ।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।

खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ।

[ मु० २ । १ । ३ ]

इति वाक्यं तल्लिङ्गशब्देनोच्यते । विज्ञायतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या विज्ञा-  
नशब्देन बुद्धिरिन्द्रियाणि च गृह्यन्ते । निश्चयात्मकमन्तःकरणं बुद्धिः  
संशयात्मकं च मन इति भेदः । तानीन्द्रियबुद्धिमनांसि भूतानामात्मन-  
श्चान्तराले तल्लिङ्गात्तस्याः सृष्टेर्गमकाद्वाक्यादनुक्रम्यन्ते । तथा चाऽऽत्मन  
इन्द्रियबुद्धिमनांसि तेभ्यश्च भूतानीत्यनेन क्रमेणाऽऽत्मन आकाशः  
संभूतः' इत्यादिक्रमस्य बाध इत्यनयोर्वाक्ययोर्विरोध इति चेन्न ।

(दी० ॥) सृष्टादौ प्रलयस्य दृष्टत्वात् । चकार; 'जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे' इत्यादि-  
स्मृतिसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणे दृष्टानुसारेणोत्पत्तेर्विपरीतः प्रलये क्रम इत्युक्तम् । इदा-  
नीमुत्पत्तिक्रममेवाऽऽक्षिप्य समाधत्त अन्तरेति । विज्ञानं बुद्धिर्मन इन्द्रियं  
संकल्पविकल्पात्मकं विवक्षितम् । विज्ञानं च मनश्च विज्ञानमनसी केन-  
क्रमेण जायमान आत्माकाशयोरन्तराले जायेते । कुतः । तल्लिङ्गात् ।  
तस्य ह्यन्तरालजन्मनो लिङ्गं भूतेभ्यः पूर्वमाज्ञातम् । 'एतस्माज्जायते  
प्राणः, इत्यादिना । स्वरूपकीर्तनं बुद्धेः 'बुद्धिं तु सारथिं विद्धि' इत्यने-

\* ख. ध्यानप्रयोजनकत्वम् ।

(ब्र० व।०) अविशेषात् । इन्द्रियमनोबुद्धीनां भौतिकत्वेन भूतोत्पत्तिक्रमादि-  
न्द्रियाद्युत्पत्तिक्रमस्याविशेषाद्येन क्रमेण भूतोत्पत्तिस्तेनैव क्रमेण भौति-  
कोत्पत्तिरित्यविरोध इत्यर्थः । ' एतस्माज्जायते प्राणः ' इत्यादिश्रुतिश्च  
सर्वेषामात्मनः सकाशादुत्पत्तिमात्रं ब्रूते न क्रममिति भावः । अतो न  
केनापि वाक्येन भूतसृष्टिवाक्यानां विरोध इति सिद्धम् ॥ १५ ॥

एवं तत्पदार्थसर्वोपादानब्रह्मसिद्ध्योपादेयभूतकरणश्रुतिविरोधो नि-  
रस्तः । इदानीं त्वंपदार्थसिद्ध्यै जीवविषयश्रुतिविरोधो निरस्यते  
पादसमाप्तिपर्यन्तम् । तत्र जीवोत्पत्तिनाशनिमित्तकजातेष्ट्यादिशा-  
स्त्राणां जीवनिव्यत्ववादिशास्त्रस्य च विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे देव-  
दत्तो जातो मृतश्चेति लौकिकव्यपदेशानुगृहीतजातकर्मादिशास्त्रविरो-  
धोऽस्त्येव । यथा करणोत्पत्तिश्रुत्या भूतश्रुतेर्न विरोधस्तथा जीवोत्पत्ता-  
वपि भूतश्रुतिविरोधस्याभावो वाच्यः । स न संभवति । उक्तयुक्त्या  
जीवोत्पत्तावुक्तभूतोत्पत्तिक्रममङ्गस्याऽऽवश्यकत्वादिति प्रत्युदाहरणेन  
पूर्वपक्षे राट्टान्तः ।

(वपुषो जन्ममरणयोर्मुख्यत्वेन जीवस्यैतयोर्भाक्तत्वम्, अधि०, १०)

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तव्यपदेशो

भाक्तस्तद्भावभावित्वात् ॥ १६ ॥

योऽयं लौकिकस्तयोर्जन्ममरणयोर्व्यपदेशो देवदत्तो जातो मृतश्चेति  
स चराचरव्यपाश्रयः स्थावरजङ्गमदेहविषयो मुख्यः । जीवे तु भाक्तो  
गौणः स्यात् । कुतः । जन्ममरणव्यपदेशस्य तद्भावभावित्वात् । देहो-

(दी० १) नेति चेन्नैतत् । कुतः । अविशेषात् । न हि परमेश्वराज्जनिरिति क्रमो  
नियन्तुं शक्यः किंतु भौतिकत्वादिना विशेषेण । नचासावस्ती-  
त्यर्थः ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणेन विशेषश्रवणेन क्रममङ्गो निवारितः । इदानीं विशेषा-  
श्रवणेनैवोदाहरणेन त्वंपदार्थस्योत्पत्तिरित्याक्षिप्य समाधत्ते चरेति ।  
जातो देवदत्तो मृतो देवदत्त इत्यादिव्यपदेशो जातकर्मसंस्कारश्च नाऽऽ-  
त्मन इति तुशब्द आह । तर्हि किमात्मकोऽयमित्यत आह—भाक्तः ।

(ब्र० व० १) त्पत्तिनाशानुविधायित्वादित्यर्थः । देहप्रादुर्भावाद्यपेक्षयैव जात-  
कर्मादिविधानमिति न तेन शास्त्रेण जीवनित्यत्वशास्त्रस्य विरोध इति  
भावः ॥ १६ ॥

एवं देहोत्पत्तिविनाशयोर्जन्मनाशौ मा भूतां कल्पाद्यन्तयोर्जीवस्य  
जन्मनाशौ किं न स्यातां स्वर्गादिफलकर्मशास्त्रविरोधाभावादिति  
प्रत्युदाहरणेन विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेनैतस्मादात्मनः 'सर्व एत आत्मानो  
व्युच्चरन्ति' [ बृ० माध्य० २ । १ । २३ ] इत्यादेर्जीवात्मनः परस्माद्ब्र-  
ह्मण उत्पत्तिवाक्यस्याविकृतस्यैव ब्रह्मणो जीवभावेन प्रवेशवाक्यस्य च  
विरोधसंदेहे विरोधोऽस्तीति प्राप्ते ब्रूमः—

( जीवजन्मन औपाधिकत्वेन तस्य वस्तुतो नित्यत्वम्, अधि० ११ )

नाऽऽत्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ १७ ॥

आत्मा जीवो नोत्पद्यते । कुतः । अश्रुतेः । उत्पत्तिप्रकरणेषु जीवो-  
त्पत्तेरश्रुतेस्ताभ्यः श्रुतिभ्यो जीवस्य नित्यत्वावगमात् । 'न च जीवो  
म्रियते' [ छा० ६ । ११ । ३ ] 'स वा एष महानज आत्माऽजरोऽ-  
मरोऽमृतः' [ बृ० ४ । ४ । २५ ] इत्यादिश्रुतयो जीवनित्यत्ववादिन्यो  
दृष्टव्याः । यत्तु कचिद्विस्फुलिङ्गदृष्टान्तेन परस्माद्ब्रह्मणो जीवोत्पत्ति-  
श्रवणं, तत्कार्यकारणसंघातोपाधिनिमित्तमिति श्रुत्यैव स्फुटीकृतम् ।  
विज्ञान एवायं जीव एतेभ्यः कार्यकारणसंघातापन्नभूतेभ्य उत्पत्तिमभ्यः  
साम्येनोत्थाय तानि भूतानि नश्यन्ति सन्ति स्वयमनुसृत्य विनश्यति  
विनाशानन्तरं संज्ञा नास्तीति याज्ञवल्क्येनोक्ते मैत्रेयी पप्रच्छ—'अत्रैव  
मा भगवन्मोहान्तमापीपदन्न वा अहमिमं विजानामि न प्रेत्य संज्ञाऽस्ति

(दी० १) भक्तिर्गुणयोग उपचार इति यावत् । तद्वशात्प्रवर्तत इति भाक्तः ।  
क्व तर्हि मुख्य इत्यत आह—चराचरव्यक्ताभ्यः । स्थावरजङ्गमशरीराभ्य-  
स्तस्य जन्मादेर्व्यपदेशः स्याद्भवेत् । कुतः । तद्भावभावित्वात् । तस्य  
शरीरस्य भावे भावो यस्यास्ति जन्मादिव्यपदेशस्य संस्कारस्यापि  
सोऽयं तद्भावभावी तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । अतः संस्कारोऽपि तदा-  
श्रयः ॥ १६ ॥

पूर्वाधिकरणे कृतनाशादिप्रसङ्गेन जन्मादिशब्दा देहविषया उक्ता  
नैवं कल्पादौ परमेश्वरादुत्पद्यमानस्य जीवस्य कश्चन विरोध इति प्रत्यु-  
दाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—नाऽऽत्मेति । नैवायमात्मा परस्मादात्मन

(ब्र० व० १) [ बृ० माध्य० ४।५।१४ ] इति । अद्य मां प्रति मोहान्तं मोहमापी-  
पददापादितवानसि प्रेत्य नाशानन्तरं संज्ञा नास्तीति । इदमहं न  
विजानामि त्वं तु प्रेत्य संज्ञा नास्तीति वदन्मां मोहयसीति प्रश्नार्थः ।  
तत्रोत्तरम्—‘ न वा अरेऽहं मोहं ब्रवीम्यविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनु-  
च्छित्तिधर्मा ’ [ बृ० माध्य० ४।५।१५ ] इति । अविनाशित्वमप-  
रिणामित्वं तत्र हेतुरनुच्छित्तीति । मोहं मोहकरं वाक्यम् । संज्ञा घटा-  
दिविशेषविज्ञानं नास्तीति मयोक्तं न स्वरूपाभाव इति नाहं मोहवादी ।  
भूतमात्रप्रयुक्तमेवास्योत्पत्त्यादिकं न स्वाभाविकमिति तात्पर्यम् ॥ १७ ॥

( जीवस्याचिद्रूपत्वखण्डनपूर्विका तच्चिद्रूपत्वसिद्धिः, अधि० १२ )

ज्ञोऽत एव ॥ १८ ॥

‘ अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिः ’ [ बृ० ४।३।११ ] इत्यादिस्व-  
प्रकाशत्वबोधकश्रुतेः ‘ पश्यश्चक्षुः शृण्वञ्छ्रोत्रम् ’ [ बृ० १।४।७ ]  
इत्याद्यागन्तुकज्ञानवत्त्ववादिश्रुतिभिर्विरोधोऽस्ति न वेति संदेहेऽस्तीति  
पूर्वपक्षे पूर्वाधिकरणसिद्धजीवानुत्पत्तिमुपजीव्य सिद्धान्तयति—ज्ञोऽत  
एवेति । जीवो ज्ञः स्वयंप्रकाशस्वरूपः । अत एवानुत्पत्तिमत्त्वादेवे-  
त्यर्थः । अनुत्पत्तौ हि स्वयंप्रकाशं ब्रह्मैवोपहितं जीव इत्यायाति । तथा  
च ब्रह्माभिन्नजीवोऽपि स्वयंप्रकाश इति भावः । पश्यश्चक्षुरित्यादि-  
श्रुतय आगन्तुकवृत्त्यभिप्रायेण स्वप्रकाशत्वाऽविरोधेन नेतव्या इत्यवि-  
रोध इति सिद्धम् । चक्षुर्द्रष्टा ॥ १८ ॥

(दी० १) आकाशादिवज्जायते । कुतः । तद्वदस्योत्पत्तेरश्रुतेः । बुद्ध्याद्युत्पत्तिव-  
दस्त्वनुमेयमित्यत आह—नित्यत्वात् । चशब्दादजन्यत्वादिभ्यश्च । नित्य-  
त्वादिकमेव कुत इत्यत आह—ताभ्यः । ताः श्रुतयः ‘ न जीवो म्रियते स  
वा एव महानज आत्मा ’ इत्याद्याः ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरणे जीवपरमात्मनोरैक्यादनुत्पत्तिर्जीवस्योक्ता । इदानीमा-  
गन्तुकज्ञानत्वेन जीवस्यैक्यमेवानुपपन्नमित्याक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—  
ज्ञ इति । ज्ञो नित्यचैतन्यरूपोऽयमात्मा । अत एवोत्पत्त्यसंभवादेव पर-  
मात्मवत् ॥ १८ ॥

( ब्र० व० । ) ( जीवस्याणुत्वखण्डनपूर्वकं तत्सर्वगतत्वप्रतिपादनम्, अधि० १३ )

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ १९ ॥

आत्मनो ब्रह्माभेदयोग्यत्वाय नित्यत्वं स्वप्रकाशत्वं चोक्तत्वेदानीं स्वप्रकाशत्वादीषद्विहितमनवच्छिन्नस्वरूपत्वमणुत्वानिरासेन साधयतीत्यान्तरबहिर्भावसङ्गतिः । एतदनन्तरभाव्यधिकरणत्रयेणानवच्छिन्नत्वावपि बहिष्ठं कर्तृत्वमध्यस्तमात्मनीति प्रतिपाद्यते । ततो ब्रह्माभेदयोग्यस्य जीवस्यांश इत्याधिकरणे ब्रह्मैक्यं विवक्ष्यत इत्यापादमवान्तरसङ्गतयः । अत्रानवच्छित्तुश्रुतीनाम् । ' एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः ' [ मु० ३ । १ । ९ ] इत्याद्यणुत्वश्रुतिभिर्विरोधोऽस्ति न वेति संदेहेऽस्तीत्याह—उत्क्रान्तीति । जीवस्योत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणादणुर्जीवः । स यदाऽऽत्माऽस्माच्छरीरादुत्क्रामति स तदा वागादिभिः प्राणैः सहोत्क्रामतीति मरणसमय उत्क्रान्तिः श्रूयते । ' एके चास्मालोकात्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ' [ कौ० १ । २ ] इति ' तस्मालोकात्पुनरेत्यस्मै लोकाय कर्मणे ' [ बृ० ४ । ४ । ६ ] इति गत्यागती श्रूयते । इदं चाऽऽत्मनो विभुत्वे न संभवतीत्यणुत्वं परिशिष्यते । शरीरपरिमाणस्याऽऽत्मनो नित्यत्वविरुद्धत्वेनासंभवादिति ॥ १९ ॥

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २० ॥

यद्यप्युत्क्रान्तिर्देहस्वाम्यनिवृत्तिरूपा विभुत्वेऽपि संभवति तथाऽप्युत्तरयोर्गत्यागतयोः स्वात्मना जीवात्मना संषट्त्वादणुत्वमित्यर्थः ॥ २० ॥

(दी०।) पूर्वाधिकरणे स्वयंप्रकाशत्वं जीवस्योक्तं तन्मनोवदणुपरिमाणस्योपपन्नमिति तदर्थमणुत्वं समर्थयते—उत्क्रान्तीति । उक्तान्तिः ' अस्माच्छरीरादुत्क्रामति ' इति श्रुतेः । गतिः ' चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ' इति श्रुतेः । आगतिः ' तस्मालोकात्पुनरैति ' इति श्रुतेः । तासां श्रवणादणुपरिमाणो जीवः ॥ १९ ॥

ग्रामस्वाम्यनिवृत्तिवदस्तूत्क्रान्तिस्तन्निर्दिशनेन गत्यागती अपि तथेत्यत आह—स्वात्मेति । उत्तरयोर्गत्यागतयोः स्वात्मनैव परिस्पन्दाधारेणैव निष्पत्तेः । चकारेणोत्क्रान्तेरपि मुख्यायास्तेनैव निष्पत्तेर्न तद्वृष्टान्तः ॥ २० ॥

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २१ ॥

(ब० व० १) ननु नायं जीवोऽणुः । अतच्छ्रुतेरनणुत्वश्रुतेः । 'स वा एष महानज आत्मा' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' [ तै० २ । १ । १ ] इत्यादिना महत्वश्रुतेरिति चेन्न । इतराधिकारात् । इतरस्य ब्रह्मणः सर्वेषु वेदान्तेषु प्रधानतया ज्ञेयत्वेन प्रकृतत्वात्तस्यैव महत्त्वश्रुतिरित्यर्थः ॥ २१ ॥

स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ॥ २२ ॥

'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' [ मु० ३ । १ । ९ ] इति स्वस्याणुत्वस्य वाचकशब्दाज्जीवोऽणुः ।

'वालाग्रशतभागस्य शतधाकल्पितस्य च ।

भागो जीवः स विज्ञेयः' [ श्वे० ५ । ९ । ]

इत्युन्मानाच्च । सर्वेभ्यः स्थूलपरिमाणेभ्य उद्धृत्य मानमुन्मानम् । अत्यन्तापकृष्टपरिमाणमिति यावत् । तस्मादित्यर्थः ॥ २२ ॥

नन्वात्मनोऽणुत्वे जाह्नवीतोयनिमग्नस्य देहव्यापिशैत्योपलब्धिविरोध इत्यत आह—

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २३ ॥

यथा चन्दनबिन्दुः शरीरैकदेशस्य सर्वशरीरव्यापि सुखं जनयति तथा जीवोऽपि देहव्यापिनं शैत्याद्युपलम्भं करिष्यतीत्यर्थः ॥ २३ ॥

(दी० १) नाणुरिति जीवोऽणुर्न । कुतः । अतच्छ्रुतेः । तस्याणुत्वस्य प्रतिपादिका श्रुतिस्तच्छ्रुतिस्तद्विपरीतार्था 'स वा एष महान् ।' इति । श्रुतिरतच्छ्रुतिस्तस्या इति चेन्न । कुतः । इतरस्य परमात्मनोऽधिकारात्प्रकरणात् ॥ २१ ॥

महानिति वदणुत्वस्याश्रवणान्नाणुर्जीव इत्यत आह—स्वशब्देति । स्वस्याणुत्वस्य वाचकः शब्द एषोऽणुरिति स्वशब्दः । उन्मानं च वालाग्रेत्यादिनाऽभिहितम् । चकारो हृदयावस्थानसमुच्चयार्थः ॥ २२ ॥

अणुश्चेज्जीवः पदोरगस्य मस्तके चन्दनस्य स्पर्शोपलम्भनस्य युगपद्विरोध इत्यत आह—अविरोधेति । अयं न विरोधोऽविरोधः किं वदित्यत आह—चन्दनवत् । यथा हरिचन्दनबिन्दुरेकत्र त्वचा संबद्धः सर्वशरीरसुखायैव मणुरात्माऽपि ॥ २३ ॥

अवस्थितिर्वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्बुद्धिर्हि ॥ २४ ॥

(ब्र० १०१) ननु नात्र चन्दनदृष्टान्तः 'अवस्थितिर्वैशेष्यात्' प्रत्यक्षेण चन्दन-  
बिन्दोरेकदेशेऽवस्थितिर्ज्ञायते जीवस्य तु नैवमिति । अनुल्यत्वादित्यर्थः ।  
तथा च व्यापिशैत्याद्युपलम्भरूपकार्येण महत्त्वकल्पने युक्तमिति शङ्का-  
भिप्रायः । निराकरोति नेति । कुतः । 'अभ्युपगमात्' जीवाणुत्वस्य ।  
कथमभ्युपगम्यते तत्राऽऽह—हृदि हीति । हि यतोऽल्पपरिमाणे हृदि  
जीवः पठ्यते 'योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'  
[ बृ० ४ । ३ । ७ ] इत्यादौ । तस्माज्जीवस्याणुत्वं श्रुत्याऽभ्युपगम्यत  
इत्यर्थः । अतो न दृष्टान्तवैषम्यमिति भावः ॥ २४ ॥

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २५ ॥

आत्मनोऽणुत्वेऽपि तन्निष्ठस्य ज्ञानस्य गुणस्य व्यापकत्वाद्गीकारा-  
द्यापकगुणाद्वा व्यापिकार्यं भविष्यति लोकवत् । व्यापिप्रभागुणकप्रदी-  
पादिवत् । गृहनिष्ठदीपस्याल्पत्वेऽपि प्रभात्मकगुणवशाद्यथा गृहव्यापि  
प्रकाशादिकार्यं जायते तद्वदित्यर्थः ॥ २५ ॥

ननु ज्ञानस्य व्यापकत्वेऽणुजीवव्यतिरेकेणावस्थानं वक्तव्यं तदयुक्तं  
गुणिव्यतिरिक्तदेशे गुणस्यावस्थानादर्शनात् । न च दीपप्रभान्यायः

(दी० १) अवस्थितेरिति । चन्दनबिन्दोरवस्थानं मस्तकादाववस्थितिस्तस्या  
विशेषः प्रत्यक्षं तद्विषयम् । विशेषस्य भावो वैशेष्यम् । तस्माद्विषयश्च-  
न्दनदृष्टान्त इति चेन्न । कुतः । जीवस्य देहैकदेशेऽवस्थानस्याभ्युपग-  
मात् । तदेव कुतः—हृदि हीति श्रुतेः ॥ २४ ॥

न निरवयव आत्मनि सावयवश्चन्दनबिन्दुर्दृष्टान्तः । न च चन्दन-  
स्यापि सर्वशरीरव्यापित्वमेकदेशस्थस्येत्यत आह—गुणाद्वेति । नानुभ-  
मवापलापो युक्त इति वाशब्दः प्रौढौ । अणोरपि जीवस्य स्वचेतन्या-  
द्गुणात्करणात्सर्वशरीरव्यापिता किंवदित्यत आह—लोकवत् । यथा  
लोके घटाद्येकदेशस्थानां मण्यादीनामणूनां गुणानां स्वप्रभया घटादि-  
व्यापितं तद्वत् ॥ २५ ॥

( ब्र० व० । ) प्रमाया दीपसंयुक्तद्रव्यान्तरत्वादित्यत आह  
व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २६ ॥

यथा गुणस्यापि गन्धस्य गुणिव्यतिरेकेण वृत्तिः पुष्पपुटिकातो कूरतः  
स्थितस्य पुंसो गन्धोपलम्भदर्शनात्तद्गुणिव्यतिरेको ज्ञानस्थेत्यर्थः ॥ २६ ॥  
तथा च दर्शयति ॥ २७ ॥

इह प्रविष्टः ' आ नखाग्रेभ्यः ' [ छा० ८ । १ । १ ] इति श्रुतिरपि  
चैतन्यगुणेनाऽऽत्मनो देहव्याप्तिं दर्शयतीत्यर्थः ॥ २७ ॥  
पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

' प्रज्ञया शरीरं समारुह्य ' [ को० ३ । ६ ] इत्यात्मज्ञानयोः कर्तु-  
करणभावेन पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

व्यापिगुणद्वाराऽस्य जीवस्य शरीरे व्याप्तिर्गम्यते तथा च व्यापकं  
ज्ञानं जीवस्त्वणुरिति महत्त्वश्रुतीनां बाध इति प्राप्ते जीवाणुत्वस्योपाधि-  
कत्वान्न वास्तवापरिच्छिन्नत्वश्रुतिबाध इति सिद्धान्तयति—

( दी० । ) ननु गुणस्याऽऽश्रयाव्यतिरेकोऽवुष्टचर इत्यत आह—व्यतीति ।  
गुणिनं जीवं परित्यज्य गुणस्य चैतन्यस्य वृत्तिव्यतिरेकोऽनानुपन्नः किं-  
दित्यत आह—गन्धवत् ॥ यथा केतक्यादेर्द्रव्यस्यातिकूरस्याऽपि तद्गुण-  
स्यान्यत्र वृत्तिस्तद्वत् ॥ २६ ॥

अणोर्जीवस्यापि चैतन्यं प्रमाणशून्यमित्यत आह—तथेति । हृदया-  
यतनत्वमणुषष्ठपरिमाणत्वं चाऽऽत्मनो विधाय तस्यैवाऽऽलोमभ्य आ  
नखाग्रेभ्य इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्याप्तिं दर्शयति । यथाऽ-  
स्माभिरङ्गीकृतं तथा । चकारो जीवस्य व्याप्तत्वे भोगसंकरसमुच्च-  
यार्थः ॥ २७ ॥

आ लोमभ्य इत्याद्या श्रुतिर्जीवस्य चैतन्यगुणेन व्याप्तिं शरीरस्य  
प्रकारान्तरेण वा ब्रूत इति न शक्यं ज्ञातुमित्यत आह—पृथगिति ।  
अणोरात्मनः कर्तुश्चैतन्यस्य गुणस्य शरीरव्याप्तौ प्रज्ञया शरीरं समारुह्य  
इति पृथगुपदेशात् ॥ २८ ॥

सिद्धान्तस्तु—



तद्गुणसारत्वात् तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २९ ॥

(ब० व०) तु शब्दः कृतपूर्वपक्षनिरासवाचकः । अणुर्जीवः किं ब्रह्मणस्तत्त्वा-  
न्तरमुत विकार आहो स्विद्वद्ब्रह्माभिन्नः । नाऽऽद्यः । एकविज्ञानात्सर्ववि-  
ज्ञानप्रतिज्ञाबाधात् । न द्वितीय इत्युक्तं विस्फुलिङ्गवृष्टान्तेनाविकृतस्यैव  
ब्रह्मणो जीवमाने 'स वा एष महान्' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इति ।  
तस्मात्सर्वश्रुत्यनुसारी तृतीयः पक्षः परिशिष्यते । तथा च ब्रह्मणोऽनव-  
धिकमहत्त्वावगमाज्जीवोऽप्यनवधिकमहत्त्ववान् 'स एष महानज आत्मा  
योऽयं विज्ञानमयः' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इति विज्ञानमयस्य जीवस्य  
स्वतो महत्त्वावगमाच्च । 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' [ मु० ३ ।  
१ । ९ ] इत्येतन्न जीवविषयं वेदितव्यत्वश्रवणात्, किं तु चक्षुराद्यगो-  
चरत्वेन दुर्बिज्ञेयब्रह्मविषयम् । बालाग्रशतभागस्येति वाक्यं तु जीव-  
स्यौपाधिकमणुत्वमनूद्य 'स चानन्त्याय कल्पते' [ श्वे० ५ । ९ ]  
इति वाक्यशेषेणाऽऽनन्त्यमपरिच्छिन्नत्वं बोधयति । किं चाऽऽत्म-  
नोऽणुत्वे देहव्याप्युपलम्भो न स्यात् । न च चन्दनबिन्दुवृष्टान्तस्तस्य  
सावयवत्वेनावयवद्वारा देहव्यापित्वसंभवात् । नापि व्यापिज्ञानाद्या-  
पिकार्यं संभवः । गुणिव्यतिरेकेण गुणस्यावस्थानायोगेन व्यापिज्ञान-  
स्यासंभवात् । न च गन्धन्यायेन गुणस्य ज्ञानस्य गुणिव्यतिरेकसंभवः ।  
गन्धस्यापि गुणत्वेन साश्रयस्यैवाऽऽगमनाङ्गीकारादन्यथा गुणत्वव्या-  
हृतेर्गन्धस्य द्रव्यत्वे न तद्वृष्टान्तो भवेत् । 'प्रज्ञया शरीरं समारुह्य'  
[ कौ० ३ । ६ ] इत्येतदपि प्रज्ञया बुद्ध्याख्यान्तः करणेनेति व्याख्येयम् ।  
कथं तर्हि जीवेऽणुत्वव्यपदेशः । तद्गुणसारत्वादिति ब्रूमः । तस्या बुद्धे-  
र्गुणा अणुत्वोत्क्रान्तिगत्यागतिमुखदुःखादयस्ते गुणाः सारः प्रधानं  
यस्य जीवस्य स तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् । तद्व्यपदेशोऽणुत्वादि-  
व्यपदेशो न स्वाभाविकः प्राज्ञवत् । प्राज्ञस्य परमात्मनः सगुणेषूपास-

(दी०) तद्वृणोति । तु शब्दो जीवस्य स्वाभाविकाणुत्वनिरासार्थः । कथं तर्ह्य-  
णुत्वमित्यत आह—तद्वृणसारत्वात् । तस्योपाधेरन्तःकरणस्य गुणा  
अणुत्वोत्क्रान्त्यादयः सारः प्रधानं यस्य सोऽयं तद्वृणसारस्तस्य भाव-  
स्तत्त्वं तस्मात् । तत्तेषामणुत्वोत्क्रान्त्यादीनां श्रुत्या व्यपदेश उपाधिगुणे-

(ब्र० व० १) नेषु 'दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' [छा० ८।१।१] 'अणीयान्घ्रीहे-  
र्यवाद्वा' [छा० ३।१४।३] इत्यादिषूपाधिवशाद्यथाऽणुत्वादिकं  
व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थः ॥ २९ ॥

नन्वात्मन्यणुत्वादिसंसारस्य बुद्ध्युपाधिकत्वे कदाचिदात्मनो बुद्ध्या  
वियोगे संसारो न स्यादित्यत आह—

\* यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तदर्शनात् ॥ ३० ॥

बुद्धिसंयोगस्य यावत्संसार्यात्मभावित्वान्न पूर्वोक्तदोषः । संयोगस्य  
यावदात्मभावित्वं कुत इत्यत आह—तदर्शनादिति । देहवियोगेऽपि  
बुद्धिसंयोगस्य श्रुतौ दर्शनाद्यावदात्मभावित्वमित्यर्थः । 'योऽयं  
विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स समानः सङ्गुमौ लोकाव-  
नुसंचरति ध्यायतीव लेलायतीव' [बृ० ४।३।७] इत्यादिका  
श्रुतिः । विज्ञानमयो बुद्धिप्रधानो जीवो बुद्ध्या समानः सन्निमममुं च  
लोकमनुसंचरति । तदेवाऽऽह—ध्यायतीवेति । बुद्धौ ध्यायन्त्यां सत्यां  
स्वयं ध्यायतीव चलन्त्यां चलतीव न वस्तुतो ध्यानादिरस्तीत्यर्थः ।  
भ्रममूलकस्य बुद्धिसंयोगस्य तत्त्वसाक्षात्कारपर्यन्तमवस्थानाद्यावदात्म-  
भावित्वमित्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ३० ॥

(दी० १) नोपहितस्य व्यपदेशः किंवदित्यत आह—प्राज्ञवत् । यथा प्राज्ञः  
परमात्मोपाधेर्हृदयाकाशदहरादेर्धर्मणोपहितो दहरादिना व्यपदिश्यते  
दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः' इति श्रुतेस्तद्वत् ॥ २९ ॥

यद्यात्मा बुद्धिगुणसारस्तस्य कार्यत्वेन विनाशस्यावश्यंभावात्कृतं  
ब्रह्मज्ञातेन कृतार्थश्वासत्यवादिनोऽनुपाहितस्याऽऽत्मनोऽप्रतीतेरित्यत  
आह—यावदिति । यावदात्मनो जीवस्य भावः 'अहं ब्रह्मास्मि' इति  
बोधानुत्पत्तिः स यस्यान्तःकरणसंबन्धस्यास्ति सोऽयं यावदात्ममावी  
तस्य भावस्तत्त्वं तस्मान्नान्तःकरणसंबन्धस्यानित्यत्वदोषः । कुतस्तदर्श-  
नात् । तस्यान्तःकरणस्य य आत्मना संबन्धोऽविनाशी तस्य 'योऽयं  
विज्ञानमयः' इत्युपक्रम्य ध्यायतीवेत्यादिना दर्शनात् । चकारो वस्तु-  
तोऽप्रतीतेरसत्त्वस्याहेतुत्वं समुच्चिनोति ॥ ३० ॥

\* ख. यावदात्मनो जीवस्य भावोऽहं ब्रह्मास्मीति बोधानुत्पत्तिः ।

१ क. 'ध्यायिषि' । २ ग. 'र्थः । यावदात्मनो जीवस्याहं ब्रह्मास्मीति बोधः । 'यो' ।

३ ख. स यस्येत्यादिसमुच्चिनोतीत्यन्तो ग्रन्थः पुस्तके नास्ति ।

(ब्र० व० १) ननु सुषुप्तौ ब्रह्मसंपत्तिकार्य\* नाशयोरभ्युपगमाच्च बुद्धिसंयोगस्य यावदात्मभावित्वमित्यत आह—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ ३१ ॥

यथा बाल्ये पुंस्त्वादेः सत एव यौवनेऽभिव्यक्तिरेवं बुद्धिसंयोगादेः सुषुप्तौ सूक्ष्मात्मना सत एवाभिव्यक्तिसंभवाद्यावदात्मभावित्वं न विरुद्धमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

ननु बुद्ध्यपरपर्यायान्तःकरणे किं प्रमाणं यत्प्रयुक्तः संसारः स्यादित्यत आह—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतर-

नियमो वाऽन्यथा ॥ ३२ ॥

इदमन्तःकरणमवश्यमभ्युपगन्तव्यमन्यथा मनसोऽनभ्युपगमे सर्वेषामिन्द्रियाणां स्वस्वविषयसंनिधानदशायां नित्योपलब्धिप्रसङ्गो युगपत्सर्वविषयोपलब्धिप्रसङ्गो मनोव्यतिरिक्तज्ञानसामग्र्याः सत्त्वात् । यदि सत्यामपि सामग्र्यां फलाभावस्तदा नित्यानुपलब्धिप्रसङ्गः । एकस्या-

(दी० १) ननु सुषुप्तिप्रलययोर्जीवस्य बुद्ध्याऽसंबन्धः सता सोम्येत्यादिवचनात्तदभावप्रसङ्गाच्चेत्यत आह—पुंस्त्वेति । तुल्यदोऽसंबन्धं वारयति । यस्यान्तःकरणस्य संबन्धः सुषुप्तिप्रलययोः सत एवाभिव्यक्तिः प्रकटीभावस्तस्य योगाद्युक्तत्वात् । किंवदित्यत आह—पुंस्त्वादिवत् । यथा विद्यमानमेव पुंस्त्वं बालस्य यौवनेऽभिव्यज्यते । आदिशब्देन स्त्रीत्वगुरुत्वादि स्त्रीबीजादौ तत्तत्काले । तद्वद्विद्यमान एव संबन्धे जागरणादावभिव्यज्यते ॥ ३१ ॥

अत्राऽऽह कश्चित्सत्यन्तःकरणे चोद्यं परिहारश्चेत्तदेव नास्तीत्यत आह—नित्येति । अन्यथाऽन्तःकरणाभावे स्फीतालोकमध्यवर्तिनश्चक्षुरादिसंनिकृष्टस्य घटादेर्नित्यं सर्वदोपलम्भस्य प्रसङ्गः स्यात् । नित्यमुपलब्धिश्चानुपलब्धिश्च नित्योपलब्ध्यनुपलब्धी तयोः प्रसङ्गः । न पुनः कदाचिदुपलम्भः । अथायमप्यस्ति अस्तु तर्ह्यन्यतरनियमः । अन्यतर-

(ब्र०व०।)प्युपलब्धिर्न स्यादित्यर्थः । अथ वैकस्योपलब्धिमितरेषामनुप-  
लब्धिमिच्छतां ज्ञानसामग्रीमध्येऽन्यतरस्याऽऽत्मन इन्द्रियस्य वा नियमः  
शक्तिप्रतिबन्धोऽङ्गीकर्तव्यः स न संभवति निर्धर्मक आत्मनि शक्तेर-  
भावात् । नापीन्द्रियस्य शक्तिप्रतिबन्धः प्रतिबन्धकामावात् । तस्मा-  
द्यासङ्गस्थल इच्छैव नियामिकेति वक्तव्यम् । इच्छा च नाऽऽत्मनो  
निर्गुणब्रह्माभिन्नत्वस्य श्रुतिशतेभ्यः प्रतिपादनात् । 'कामः संकल्पः'  
[ बृ० १ । ५ । ३ ] इत्यादिश्रुत्या मनोधर्मत्वस्येच्छादाय+वगतत्वाच्च ।  
तस्माद्यासङ्गनियामकेच्छान्यथाऽनुपपत्त्या श्रुत्या च सिद्धमन्तःकरणं  
तत्प्रयुक्तश्चाऽऽत्मनि संसार इति ॥ ३२ ॥

तद्वृणसारत्वमेवाऽऽत्मनः कर्तृत्वसाधनेन प्रपञ्चयति—

( जीवस्याकर्तृत्वनिरसनपूर्वकं तत्कर्तृत्वप्रतिपादनम्, अधि० १४ )

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ ३३ ॥

अत्राऽऽत्मनोऽसंगत्वश्रुतीनां कर्तुरिष्टसाधनबोधकविधिवाक्यैर्विरो-  
धसंवेहे सांख्योक्तबुद्धिकर्तृत्वव्यावर्तनेनाऽऽत्मन एव कर्तृत्वमत्र साध्यते ।  
तच्च कर्तृत्वमौपाधिकमित्युत्तराधिकरणे वक्ष्यत इति न विरोध इत्यभि-  
प्रायेण सिद्धान्तयति—कर्तेति । आत्मैव कर्ता न बुद्धिः कर्तुरपेक्षितो-  
पायविधिशास्त्रस्यार्थवत्त्वात् । आत्मनः कर्तृत्वे विधिशास्त्रमर्थवद्भवति ।  
अन्यथा बुद्धिः कर्त्री, आत्मा फलभोक्तेति कर्तुरपेक्षितोपायबोधकं  
शास्त्रमनर्थकमेव स्यात् । तस्मान्न केवलबुद्धेः कर्तृत्वं किं त्वात्मन  
इति ॥ ३३ ॥

(दी०।) स्याऽऽत्मनोऽविक्रियस्य यावद्वच्छक्तेरिन्द्रियस्य वा पूर्वोत्तरक्षणे  
समानरूपस्य नियमनं नियमः प्रतिबन्धः कल्पेत नैतन्नयमपि युक्तम् ।  
वाशब्दः प्रत्यक्षानुपलम्भप्रौढ्यर्थः ॥ ३२ ॥

पूर्वाधिकरणे बुद्ध्युपाधिनिमित्तं विरुद्धधर्मत्वमित्युक्तं तर्ह्युपाधरेव  
कर्तृत्वमित्याक्षिप्य समाधत्ते—कर्तेति अयं जीवः कर्ता । कुतः । यजे-  
त्यादिशास्त्रस्यार्थः प्रयोजनं यस्यास्ति स शास्त्रार्थवास्तस्य भावस्तत्त्वं  
तस्मात् ॥ ३३ ॥

\* ख. जीवस्य + ख. ग. तस्माद्यस्यावधानानवधानाभ्यामुपलब्ध्यनुपलब्धी भवतस्तन्मनः ।  
× ख. मनो विना ।

## विहारोपदेशात् ॥ ३४ ॥

(ब्र० व० १) 'स ईयतेऽमृतो यत्र कामम्' [ बृ० ४।३।१२ ] इति 'स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते' [ बृ० २।१।१८ ] इति च जीवप्रकरणे स्वप्नावस्थायां विहारस्य संचरणस्योपदेशात् । जीवस्य कर्तृत्वमित्यर्थः । अकर्तुः संचरणायोगादिति भावः । यत्र स्वप्नेऽमृतः स जीवः कामं विषया नीयते गच्छतीत्यर्थः । परिवर्तते विहरति ॥ ३४ ॥

किं च—

## उपादानात् ॥ ३५ ॥

'प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय' [ बृ० २।१।१७ ] इत्यात्मनो ग्रहणशक्त्युपादानश्रवणादकर्तृरुपादानायोगादात्मनः कर्तृत्वमित्यर्थः । प्राणानामिन्द्रियाणां विज्ञानेन मनसा तज्जन्यबुद्ध्या विज्ञानं ग्रहणशक्तिमादाय स्वापे हृदयं गच्छतीति योजना ॥ ३५ ॥

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ॥ ३६ ॥

'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च' [ तै० २।५।१ ] इति लौकिकवैदिकक्रियायां विज्ञानशब्दोपाख्यस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वव्यपदेशाच्चाऽऽत्मनः कर्तृत्वमित्यर्थः । यज्ञं संकल्पम् । ननु विज्ञानशब्दो बुद्धिपरो न जीवपर इत्यत आह—न चेदिति । विज्ञानशब्दो जीवपरो न चेत्तर्हि निर्देशविपर्ययः स्याद्बुद्धेः करणत्वेन कर्तृत्वव्यपदेशो विज्ञानं यज्ञं तनुत इति न स्यात्किंतु विज्ञानेनेति स्यादित्यर्थः ॥ ३६ ॥

(दी० १) रचनाभावेन तर्कमात्रं साधकमित्यत आह—विहारेति । विहरणं विहारः क्रिया तस्याः 'स ईयते' इत्यादिनोपदेशात् ॥ ३४ ॥

अथापि नोपनिषत्सु कर्तृत्वे तर्क इत्यत आह—उपेति । विज्ञानेन विज्ञानमादायेत्यादिना प्राणानामुपादानात्स्वीकारात्तर्कात्कर्तृत्वस्य ॥ ३५ ॥

एकस्याः क्रियाया उपचारादपि कर्तृत्वं स्यादित्यत आह—व्यपदेशेति । क्रियायां लौकिक्यां वैदिक्यां च 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' कर्माणि तनुतेऽपि च इत्यनेन कर्तृत्वव्यपदेशाच्चेद्यदि विज्ञानशब्देन कर्ता वाऽभिमतः किंतु करणं बुद्धिस्तदा निर्देशस्य विज्ञानमित्यस्य विज्ञानेनेति विपर्ययः स्यात् ॥ ३६ ॥

(ब्र० व० १) ननु स्वतन्त्रस्याऽऽत्मनः कर्तृत्वेऽनिष्टं न कुर्यात् । किं तु स्वस्ये-  
ष्टमेव कुर्यादित्यत आह—

उपलब्धिवदनियमः ॥ ३७ ॥

यथोपलब्धौ स्वतन्त्रोऽप्यात्मेष्टमनिष्टं चोपलभते तद्वदिष्टमनिष्टं च  
संपादयिष्यतीत्यनियम इत्यर्थः । अयं भावः । स्वातिरिक्तकारणानपे-  
क्षत्वरूपं स्वातन्त्र्यं तावन्न संभवतीश्वरस्यापि तदभावात्किंतु सकलका-  
रकपेरकत्वम् । तथा च तेषु कारकेष्वनिष्टसाधनेष्वपीष्टसाधनत्वभ्रमाद-  
निष्टमपि प्राप्नोतीति ॥ ३७ ॥

शक्तिविपर्ययात् ॥ ३८ ॥

इतश्च बुद्धिर्व्यतिरिक्तो जीवः कर्ता न बुद्धिरन्यथा बुद्धेः कर्तृत्वे  
करणशक्तिविपर्ययात् । करणशक्तिर्हीयेतेति यावत् । न चेष्टापत्तिः । कर-  
णसहितस्यैव कर्तृलोके कारिकाकारित्वदर्शनाद्बुद्धेरपि करणान्तरं कल्पनीयं  
स्यात् । तथा च नाममात्रे विवादो न वस्तुनि करणव्यतिरिक्तस्यैव  
त्वयाऽपि कर्तृत्वाभ्युपगमादिति ॥ ३८ ॥

समाध्यभावाच्च ॥ ३९ ॥

\* आत्माकारवृत्तिर्विद्यमानाऽप्यसतीव यत्र भवति स समाधिशब्दे-

(दी०) कर्तृत्वं नाम स्वातन्त्र्यम् । तथा च कथमयं बुद्धिमान्स्वस्यानिष्टं  
कुर्यादित्यत आह—उपलब्धीति । यथोपलब्धिं स्वतन्त्रोऽप्यनिष्टं  
करोति तद्वत् । अत एव नायमपि नियमः स्वतन्त्रो नानिष्टं  
करोतीति ॥ ३७ ॥

‘विज्ञानं यज्ञं तनुते’ इति विज्ञानस्यैव कर्तृत्वं वेदः श्रावयति  
सांख्याश्च तथैव विज्ञानशब्दवाच्यायाः केवलाया बुद्धेः कर्तृत्वमङ्गी-  
कुर्वन्ति तस्याश्च सर्वार्थकारित्वाच्छास्त्रार्थवत्त्वादिकं सर्वं पुरुषं उपच-  
रितं कर्तृत्वमापादयतीत्यत आह—शक्तीति । बुद्धेः कर्तृत्वे वर्णितन्या-  
येन करणान्तरापेक्षाया अवश्यंभावेन करणशक्तेर्बुद्धेः कर्तृत्वशक्तिरिति  
शक्तेर्विपर्ययो दोषस्तस्मान्न बुद्धिः कर्त्री ॥ ३८ ॥

नायं शक्तिविपर्ययदोषः पुरुषस्यासङ्गोदासीनत्वाद्बुद्धेरेव बन्धमो-

\* ख. जीवाकारबुद्धिवृत्तिः ।

(ब्र० व० १) नोच्यते । तस्य समाधेरात्मनोऽकर्तृकत्वेऽभावप्रसङ्गात्समाध्यन्य-  
थाऽनुपपत्त्याऽप्यात्मनः कर्तृत्वमित्यर्थः । समाधिग्रहणं श्रवणमनननिदि-  
ध्यासनानामुपलक्षणम् ॥ ३९ ॥

एवं बुद्धिव्यतिरिक्तात्मनः सिद्धं कर्तृत्वं तच्च न स्वाभाविकं किंतौ-  
पाधिकमित्याह—

( जीवकर्तृत्वस्याध्यस्तत्वेनावास्तविकत्वम्, अधि० १५ )

यथा च तक्षोभयथा ॥ ४० ॥

पूर्वं सांख्याभिमतबुद्धिकर्तृत्वनिरासेनाऽऽत्मनः कर्तृत्वं समर्थितं  
तत्किं स्वाभाविकमौपाधिकं वेति संदेहे पूर्वोक्तशास्त्रार्थवत्त्वादिभिरेव  
हेतुभिः स्वाभाविकमित्यस्त्यसङ्गत्यश्रु\*तिविधिशस्त्रयोर्विरोध इत्यस्या-  
धिकरणस्य पूर्वपक्षः । नन्वेतस्य पूर्वपक्षस्यैतदधिकरणनिरस्यत्वे पूर्वा-  
धिकरणं व्यर्थमिति चेन्न । तस्य बुद्धिकर्तृत्वनिरासेनैतदधिकरणविषयक-  
र्तृत्वप्रतिपादकत्वान्न व्यर्थतेति । अत्रेदमुत्तरम् । न तावत्कर्तृत्वं स्वाभा-  
विकं श्रुतावौपाधिकत्वेन कर्तृत्वस्य स्फुटीकृतत्वात् । तथा ह्याकाशे  
विपरिपततः श्येनस्येवाऽऽत्मन उपाधिकृतं भ्रमं स्वप्नजागरितयोः श्राव-  
यित्वा सुषुप्तौ लीनोपाधिकस्य तस्याऽऽत्मनः परमात्मानन्देन संपरिष्व-  
क्तस्य भ्रमाभावं श्रावयति ' तद्वा अस्यैतदाप्तकाममात्मकाममकामं रूपं  
शोकान्तरम् ' [ बृ० ४ । ३ । २१ ] इत्यारभ्य ' एषाऽस्य परमा गति-  
रेषाऽस्य परमा संपदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः ' [ बृ० ४ । ३ । ३२ ] इत्यन्तेन । तदेतत्प्राप्तं ब्रह्मास्य जीवस्याऽऽत्मकामं

(दी० १) क्षावित्यत आह—समाधेः ' आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः ' इत्यादिनो-  
क्तस्य पुरुषे विधिकृतस्यापि कर्तृत्वस्याभावेऽभावो वैयर्थ्यं तस्मात् ।  
चशब्दादनुभवविरोधादिकं समुच्चिनोति ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरणे शास्त्रार्थवत्त्वेन कर्तृत्वमुक्तम् । इदानीं न तन्मिथ्या  
किंतु तत्स्वरूपमित्याक्षिप्य समाधत्ते—यथा चेति । तथा सूत्रधारो  
वास्यादिव्यापारे हस्तादिकरणापेक्षः कर्ता न्यपि तथाऽपि वास्या-

\* ख. ' असङ्गो ह्ययमात्मा ' [ नृसिंहोत्तरतापिनी ९ ]

(ब्र० व० १) कामशब्दः कामयितव्यपरः सर्वत्र सर्वरूपेण कामयितव्यमित्यर्थः । तत्र हेतुराप्तकाममिति । आप्तकामत्वे हेतुरकाममिति । यतः परं काम्यं नास्ति तदकामम् । अशेषशोकसंसर्गशून्यत्वाद्याप्तकामत्वमित्याह— शोकान्तरमिति । शोकादन्तरं भिन्नमित्यर्थः । शोकं दुःखमन्तरयति निवारयतीति वा । उक्तस्य सुषुप्तात्मस्वरूपस्य परमपुरुषार्थत्वमाह— एषेत्यादिना । एतदेवाभिसंधाय भगवान्सूत्रकारो दृष्टान्तेनौपाधिकं कर्तृत्वमित्याह— ‘यथा च तक्षोभयथा’ इति । यथा तक्षोभयथा वास्यादिकरणान्यपेक्ष्य कर्ता दुःखी भवत्यनपेक्ष्य तु स्वरूपेणाकर्ता सुखी भवति तथाऽऽत्माऽपि बुद्ध्यादीनि करणान्यपेक्ष्य कर्ता संसरत्यनपेक्ष्य तु स्वभावतोऽकर्ता परमानन्दः । चशब्दस्त्वर्थः स्वाभाविककर्तृत्वानिरासं ब्रूते । शास्त्रार्थवत्त्वादित्यादिहेतवश्च कर्तृत्वं विनाऽनुपपन्नास्तत्साधयन्ति न तु कर्तृत्वस्य स्वाभाविकत्वमपि तद्धिनाऽनुपपत्तेरभावात् । यदुक्तं ‘विज्ञानं यज्ञं तनुते’ [ तै० २ । ५ । १ ] इति बुद्ध्यतिरिक्तात्मनः कर्तृत्वव्यपदेश इति तन्न । विज्ञानशब्दस्य चिदध्यस्तबुद्धौ रूढत्वात् । ‘स एष वाचश्चित्तस्योत्तरोत्तरक्रमो यद्यज्ञः’ इति श्रुत्यन्तरे यज्ञस्य वाग्बुद्धिजन्यत्वावगमात् । अत्रापि यज्ञसाधनं विज्ञानं बुद्धिरेवेत्यवधारणाच्च । चित्तेन ध्यात्वा वाचा मन्त्रोक्त्या यज्ञो जायते तेन चित्तस्य वाचश्च पूर्वोत्तरभावो यज्ञ इति श्रुत्यर्थः । तस्मादौपाधिकमात्मनः कर्तृत्वमिति सिद्धम् ॥ ४० ॥

( जीवस्येश्वरप्रवृत्तत्वेन न रागप्रवृत्तत्वम् , अधि० १६ )

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ ४१ ॥

यत्पुनरौपाधिकं जीवस्य कर्तृत्वमुक्तं तत्किमीश्वरायत्तं न वेति संदेहे जीवस्य करणाधिपत्वादेव कर्तृत्वसिद्धेस्तस्येश्वरायत्तत्वं नेति प्राप्तम् ।

(दी० १) दिव्यापारत्यागे हस्तादिमानपि तद्व्यापारस्याकर्ता यथैवमात्माऽन्तर्बहिः करणापेक्षः कर्ता तदभावे स्वरूपचैतन्येनाकर्तृत्युभयथा भवति । चस्त्वर्थः । एतावत्यंशे निदर्शनमित्यवधारणार्थः ॥ ४० ॥

पूर्वाधिकरणे कर्तृत्वं मिथ्याभूतमित्युक्तं तस्मिन्तस्य स्वातन्त्र्याच्च तन्मिथ्येत्याक्षिप्य समाधत्ते—परादिति । तुशब्द ईश्वरानपेक्षां वारयति ।



(ब्र० व० १) न च 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष उ एवासाधु कर्म कारयति तं यमधो निनीषते' [कौ० ३।८] इति श्रुत्येश्वरायत्तत्वं कर्तृत्वस्येति वाच्यम् । तथास्वे विधिनिषेधस्थान ईश्वर एवाभिषिक्त इति विधिनिषेधशास्त्रवैयर्थ्यं स्यादिति प्राप्ते तु शब्देन पूर्वपक्षं निरस्य प्रतिजानीते—परादिति । परमेश्वरादेव जीवस्य कर्तृत्वादिसंसारस्य मोक्षस्य च सिद्धिर्भवितुं मर्हति । कुतः । तच्छ्रुतेः । कर्तृत्वादेरीश्वरायत्तत्वश्रुतेः । ' एष ह्येव साधु कर्म कारयति ' [कौ० ३।८] ' य आत्मनि निष्ठन्नात्मानमन्तरो यमयति ' [बृ० माध्य० ३ । ७ । १० ] इत्याद्याया इत्यर्थः ॥ ४१ ॥

नन्वीश्वरस्य कारयितृत्वे धर्ममेव कारयेन्नाधर्ममन्यथा केनचित्पुंसा धर्मं केन चिदधर्मं कारयतो वैषम्यनिर्दयत्वे स्यातामित्यत आह—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ ४२ ॥

तुरुक्तशङ्कानिरासार्थः । जीवेन कृतो यः प्रयत्नो धर्माधर्मलक्षणस्तदपेक्ष एवेश्वरोऽन्यस्मिन्नपि जन्मनि धर्मादिकं कारयति तदपेक्ष्य सुखादिफलं ददाति तेन वैषम्यनैर्घृण्ये न प्रसज्येते अनादित्वात्संसारस्य पूर्वजन्मकृतधर्माद्यपेक्षा युक्तैव । नन्वीश्वरस्य कृतप्रयत्नापेक्षत्वं कुत इत्यत आह—' विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ' इति ईश्वरस्य कर्मसापेक्षत्वे खलु ' ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत ' ' ब्राह्मणो न हन्तव्यः ' इत्याद्ययोर्विहितप्रतिषिद्धयोरवैयर्थ्यं भवत्यन्यथा विधिनिषेधशास्त्रमनर्थकमेव स्यात् । धर्मकृतो दुःखमधर्मकृतश्च सुखं संपादयेदित्यादिदोषा आदिशब्दार्थः । तस्मादीश्वर एव पूर्वकृतसुकृताद्यनुसारेण धर्मादि कारयति तदनुसारेण फलदाता चेति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

(दी० १) परात्परस्मात्कर्तृत्वमुक्तं जीवस्य । कुतः । तच्छ्रुतेः । तस्य सापेक्षत्वस्य ' एव ह्येव साधु कर्म कारयति ' इति श्रुतेः ॥ ४१ ॥

एवं चेदीश्वरः कारयति विषमो निर्घृणश्च स्यादित्यत आह—कृतेति तु शब्दो वैषम्यनैर्घृण्यवारणार्थः । तन्निवारणं कुत इत्यत आह—कृतप्रयत्नापेक्षः । कृतो जन्मान्तरे प्रयत्नस्तस्यापेक्षा यस्य सोऽयं कृतप्रयत्नापेक्षः । तदेव कुत इत्यत आह—विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः । विहितम् । ' यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति ' इत्यादि प्रतिषिद्धं च ' न सुरां पिबेत् । इत्यादि तयोरवैयर्थ्यम् । आदिशब्दात्पुरुषकारादीनामपि । तेभ्यः ॥ ४२ ॥

(ब्र० १०१) ( औपाधिककल्पनैर्जीवेशयोर्जीवानां च परस्परं व्यवहार-  
व्यवस्था, अधि० १७ )

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि

दाशकितवादित्वमधीयत एके॥४३॥

एवं तावन्नित्यः स्वप्रकाशोऽकर्ताऽऽत्मेत्युक्तं तस्य प्रसिद्धाभेद-  
योग्यत्वस्यात्र ब्रह्माभेदः साध्यते । अत्र य आत्मनि तिष्ठन्नित्या-  
दिभेदश्रुतिजातस्य तत्त्वमसीत्याद्यभेदश्रुतिजातस्य च विरोधसंदेहे  
समबलत्वादस्ति विरोध इति प्राप्तम् । भेदं विना पूर्वोक्तस्य जीव-  
ेश्वरयोरुपकार्योपकारकभावस्य स्वामिभृत्यवत्संबन्धसापेक्षस्यानुपपत्तेः,  
अभेदं विना तत्त्वमसीत्यादेरनुपपत्तेरित्यनयोः समबलत्वम् । न चो-  
भयविधश्रुतिभ्यामंशाशिभावाङ्गीकाराच्च विरोध इति वाच्यम् ।  
ईश्वरस्य निरंशत्वादित्यस्ति विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः—‘ अंशः ’  
इत्यादि । जीव ईश्वरस्यांश इवांशो न तु स्वाभाविकोऽंश ईश्व-  
रस्य निष्फलमित्यादिनिरंशत्वश्रुतिविरोधात् । अत ईश्वरस्य कल्पि-  
तांशो जीवः । कुतः पुनर्जीवेश्वरयोरंशांशिभावो भेदाभेदश्रुति-  
भ्यामित्याह नानेत्यादिनैक इत्यन्तेन सूत्रेण । य आत्मनि तिष्ठ-  
न्नित्यादिना जीवेश्वरयोर्नानाव्यपदेशान्नेदव्यपदेशात् । अन्यथा चापि ।  
अनानात्वस्यापि व्यपदेशादित्यर्थः । तथा हि ‘ एके ’ शाखिन  
आथर्वणिकाः ‘ ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः ’ इत्यादिना  
ब्रह्मणो दाशदासकितवादिभावमामनन्ति । तस्मादनानात्वस्याभेदस्य  
व्यपदेश इत्यर्थः । दाशाः कैवर्ता दासा भृत्याः कितवा द्यूतकृतो नटाः ।

(दी० १) पूर्वाधिकरण ईश्वरात्कर्तृत्वमुक्तमिदानीमीश्वरो जीवाभेदादिना  
दुर्भण इति स एव नास्तीत्याक्षिप्य तदंशस्य जीवस्य सत्त्वेनांशिनमीश्वरं  
साधयति—अंश इति । जीवो ब्रह्मणोऽंश इवांशः । कुतः । नाना  
‘ सोऽन्वेष्टव्यः ’ इत्यादिनोक्तो द्रव्यत्वादिभेदस्तस्य व्यपदेशस्तस्मात् ।  
ननु चायं नानाव्यपदेशः सुतरां स्वामिभृत्यसारूप्ये युज्यत इत्यत  
आह—अन्यथा चापीति । अन्यथा व्यपदेशो भवति । प्रकृतादन्यथात्व-  
मनानात्वं तस्य तत्त्वमसीत्यादिनैक आथर्वणिको ब्रह्म दाशा इत्युप-

(ब्र० व० १) तस्मात्प्रत्यक्षसिद्धभेदानुवादेन श्रुतीनामभेदपरत्वात्कल्पितभेद-  
वानंशो जीव इति ॥ ४३ ॥

मन्त्रवर्णाच्च ॥ ४४ ॥

‘पादोऽस्य विश्वा भूतानि’ (छा० ३।१२।६) इति मन्त्र-  
वर्णादपि जीवोऽंश इत्यर्थः । भूतानि स्थावरादयो जीवाः पादोऽंश  
इत्यर्थः ॥ ४४ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ४५ ॥

किंचेश्वरांशत्वं भगवद्गीतासु—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

[ गी० १५।७ ] इति स्मर्यते । तस्मादीश्वरांशो जीवः ॥ ४५ ॥

ननु जीवस्येश्वरांशत्वे जीवगतदुःखेनेश्वरस्य दुःखित्वं स्यात् ।  
पादादिगतदुःखेनाङ्गिनो देवदत्तस्य दुःखित्वदर्शनादित्यत आह—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ ४६ ॥

यथा जीवो दुःखी नैवं परमात्मा दुःखी प्रकाशादिवत् । यथा  
सौरश्चान्द्रमसो वा प्रकाशो नभो व्याप्य वर्तमानो वक्रकाष्ठाद्युपाधि-

(दी० १) क्रम्य ब्रह्मे कितवा इत्यधीयते । चकारः पक्षान्तरेऽनुपपत्तिसमु-  
च्चयार्थः ॥ ४३ ॥

अन्यत्र मन्त्राद्यभावादिदमध्ययनमतात्पर्यवदित्यत आह—मन्त्रेति ।

‘एतावानस्य महिमा’ इत्यस्मात् ॥ ४४ ॥

अस्य मन्त्रस्यार्थः क्वचित्समृतौ न प्रतीयतेऽतोऽयमुपेक्षणीय इत्यत  
आह—अपीति । गीतासु च ‘ममैवांशः’ इत्यादिना स्मर्यते । अपि-  
शब्दो मन्त्रार्थास्मरणमप्रयोजकमपीत्याह ॥ ४५ ॥

यदि जीवपरमात्मनोरंशांशिभावस्तर्हि जीवदुःखित्वादिना परमा-  
त्मनोऽपि दुःखित्वादित्यत आह—प्रकाशेति । यथा जीवो दुःखित्वादि-  
गुणे नैवं परः । परमात्मान एकत्वे किंवत्तद्वृणाभाव इत्यत आह—  
प्रकाशादिवत् । यथा सौरादिप्रकाशोऽङ्गुल्यादिप्रदेश एव ऋजुवक्रादि-  
मान् । आदिशब्देन घटादिप्रदेश आकाशो धूमादिमान्न पुनः प्रकाशदेश  
आकाशदेशे च तद्वत् ॥ ४६ ॥

( ब्र० व० १ ) कृतवक्रभावमापन्नोऽपि न वस्तुतो वक्रभावं प्रतिपद्यते । यथा चाऽऽकाशो घटादिषु गच्छत्सु गच्छन्नेव न वस्तुतो गच्छति तद्वदित्यर्थः । बिम्बप्रतिबिम्बयोरीश्वरजीवयोर्भेदस्य सत्त्वान्न जीवदुःखेनेश्वरस्य दुःखित्वम् । उपाधेरुपहित\*पक्षपातित्वादिति भावः ॥ ४६ ॥

जीवदुःखेनेश्वरस्य दुःखित्वाभावे स्मृतिमप्याह—

स्मरन्ति च ॥ ४७ ॥

तत्र यः परमात्माऽसौ स सत्यो निर्गुणः स्मृतः ।

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षबन्धः स युज्यते [ महामा० १२ । ३५३ । १४-१६ ] इत्यादिना व्यासादयो जीवदुःखेनादुःखित्वमीश्वरस्य स्मरन्तीत्यर्थः । चशब्देन ' तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ' [ श्वे० ४ । ६ ] इत्याद्या श्रुतिः सूचिता ॥ ४७ ॥

ननु ' नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा [ बृ० ३ । ७ । २३ ] ' मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ' [ बृ० ४ । ४ । १९ ] इत्यादिना जीवेश्वरभेदमात्रप्रतिषेधात्सर्वभूतेषु चेतनस्याखण्डस्यैकरसत्वात्कथं मित्रं सेवितव्यं शत्रुः परिहर्तव्य इत्यादिलौकिकानुज्ञापरिहारौ स्यातां कथं वा ' ऋतौ भार्यामुपेयात् ' ' गुर्वङ्गनां नोपगच्छेत् ' इत्यादिवैदिकानुज्ञापरिहारौ संगच्छेते ग्राह्यत्याज्यभेदाभावादित्यत आह—

अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ ४८ ॥

उक्तौ लौकिकौ वैदिकौ चानुज्ञापरिहारौ सर्वत्राऽऽत्मन एकत्वेऽपि शरीरसंबन्धात्संगच्छेते । देहसंबन्धस्तादात्म्यम् । तत्तद्देहविशिष्टत्वे-

( दी० १ ) न युक्तिमात्रेण श्रद्धातुं शक्यमित्यत आह—स्मरन्ति चेति । व्यासादयः । ' तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः ' इत्युपक्रम्य कर्मात्मा त्वपरो योऽसावित्यादिना । चशब्दात्समामनन्ति । द्वा सुपर्णेत्यादिना ॥ ४७ ॥

मा भूद्दुःखित्वादि परमात्मनस्तथाऽपि न जीवस्यापि परमात्मत्वाद्विधिप्रतिषेधादित्यत आह—अनुज्ञेति । अनुज्ञा ' ऋतौ भार्यामुपे-

(ब्र० ५०।) नाऽऽत्मभेदादस्ति ग्राह्यत्याज्यभेदो ज्योतिरादिवत् । यथा ज्योतिषो बह्वेकत्वेऽपि इमशानसंबन्धी वह्निः परिहार्यो नेतरो यथा वा सौरः प्रकाश एकोऽप्यमेध्यादिसंयुक्तः परिहार्यो नेतर एवमात्माऽपीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

ननु तथाऽपि सर्वशरीरेषु कर्मकर्तुं श्वेतनस्यैकत्वादेकदेवदत्तशरीरावच्छेदेन कर्मकरणे धर्मादिकं यज्ञदत्तशरीरावच्छेदेनापि जायेतेत्यत आह—

असंततेश्चाव्यतिकरः ॥ ४९ ॥

परिच्छिन्नान्तःकरणोपाधिकस्य कर्तुः परिच्छिन्नस्य देवदत्तात्मनो यज्ञदत्तशरीरेणासंततेरसंबन्धान्धर्मादि\*रव्यतिकरः । देवदत्तस्य यज्ञदत्तस्य शरीरावच्छेदेनापि धर्मादिप्रसङ्गो नास्तीत्यर्थः ॥ ४९ ॥

आभास एव च ॥ ५० ॥

यथाऽनेकघटजलप्रतिबिम्बितानां सूर्याभासानां मध्य एकस्मिन्सूर्याभासे कम्पमाने सूर्याभासान्तरं न कम्पत एवभीश्वराभास एवायं जीव इति नैकस्मिन्जीवे धर्मादिसंबन्धिनि जीवान्तरस्य धर्मादिसंबन्ध इत्यर्थः । किंच येषां सांख्यादीनां बहवो विभवश्चात्मानः सर्वशरीरसंब-

(दी०।) यात् ' इत्यादिका । परिहारः ' न गुरुदारेषु गच्छेत् ' इत्यादिः । तावेतावनुज्ञापरिहारौ । देहस्य संबन्धो देहसंबन्धः । अहं मनुष्य इत्याद्यभिमानस्तस्मात् । स्वभावेन यो यस्य न धर्मः सोऽन्यसंबन्धान्धवतीत्यस्य को दृष्टान्त इत्यत आह—ज्योतिरादिवत् । यथा ज्योतिरादि स्वभावतः प्रशस्तं मूत्रादिगतमप्रशस्तम् । आदिशब्देन भूमिर्वैदूर्यादिरूपा प्रशस्तां प्रेतशरीरादिरूपाऽप्रशस्ता । एवं परमात्माऽप्युपाधिविशेषसंबन्धाद्विधिप्रतिषेधभागपि भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

तथा स्वामिन एकत्वात्फलस्य दुःखादेः सर्वशरीरेष्वेकत्वं स्यादित्यत आह—असन्ततेरिति । न संततिरसंततिः । अन्तःकरणोपाधिकस्य कर्तुर्भोक्तुरनेकत्वान्न मुखदुःखादेः सर्वशरीरेषु व्यतिकरः संकरः । चकारो ष्टाकाशादिनिदर्शनादि समुच्चिनोति ॥ ४९ ॥

एवं चेद्वैतापत्तिरित्यत आह—आभास इति । जलसूर्यकादिवदामास एव जीवो न वस्त्वन्तरं परमात्मनः । चकारस्तस्यासत्त्वमपि वारयति ॥ ५० ॥

(ब्र० व० १) निधनस्तेषामेव धर्मादिसांख्यं प्राप्नोति । तथा हि सांख्यमते तावद्भोगसाधनप्रधानसंनिधानस्य सर्वात्मनामवशिष्टत्वादेकस्याऽऽत्मनः सुखादिसंबन्धे सर्वात्मनां सुखादिसंबन्धः स्यादेव । न्यायमतेऽपि देवदत्तात्मनः सुखादिहेतुमनःसंयोगस्य सर्वात्मनामवशिष्टत्वात्फलानियमः स्यादेव ॥ ५० ॥

नन्वदृष्टनियमात्फलनियम इति चेत्तत्राऽऽह—

अदृष्टानियमात् ॥ ५१ ॥

सांख्यमते प्रधानसमवेतमदृष्टं ततश्च प्रधानस्य सर्वसाधारण्याददृष्टस्याप्यनियमात्फलानियमस्तदवस्थः । न्यायमतेऽप्यदृष्टहेतुमनःसंयोगस्य सर्वात्माविशेषादिदमस्यादृष्टमस्य नेत्येवं रूपस्यादृष्टनियमस्याभावात्फलानियम इत्यर्थः ॥ ५१ ॥

नन्वहमिदं फलं प्राप्नुवामीदं परिहरिष्यामीदं करिष्ये नेदं करिष्ये इत्येवं रूपाभिसंध्यादयः प्रत्यात्मनियताः सन्तः \* स्वप्रयोज्यादृष्टनियमहेतवो भविष्यन्तीत्यत आह—

अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ॥ ५२ ॥

अभिसंध्यादिष्वपि साधारणमनःसंयोगसाध्येष्वदृष्टवदनियम इत्यर्थः ॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ ५३ ॥

नन्वात्मनां विभुत्वेऽपि स्वस्वशरीरावच्छिन्न एवाऽऽत्मप्रदेशेऽभि-

(दी०) एवं कल्पनातो बहव आत्मानः सर्वगताः संभवन्ति तेषु च सुखदुःखादिनियमोऽदृष्टवशादित्यत आह—अदृष्टेति । बहूनामात्मनां मनःसंयोगे साधारणे सति अस्यैवादृष्टमित्यस्यादृष्टस्य न नियमोऽनियमस्तस्माद्ब्रह्मात्मस्वीकारो न साधुः ॥ ५१ ॥

तत्र ज्ञानेच्छादीनां नियामकत्वमित्यत आह—अमीति । अभिसंधिरभिप्रायो ज्ञानम् । आदिशब्देनेच्छादयस्तेष्वप्येवमनियमो यथाऽदृष्टस्य । चकारोऽस्याः कल्पनायाः श्रुतिविरोधं समुच्चिनोति ॥ ५२ ॥

प्रदेशादिति सर्वगतानामपि सर्वेषामात्मनां तत्तद्देहस्य प्रदेशात्परिच्छे-

(ब्र० व० १) संध्यादिहेतुमनःसंयोग इति भवत्यभिसंध्यादिनियम इति चेन्न । सर्वात्मनां सर्वशरीरेष्वन्तर्भावादस्याऽऽत्मन इदं शरीरमित्यत्र नियामकाभावादस्याऽऽत्मनोऽस्मिन्शरीरे प्रवेश इति प्रवेशकल्पना न संभवतीत्यर्थः । तस्मादस्मत्पक्ष एव सकलदोषाभाव इति सिद्धम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीमद्वैपायनसूत्रवृत्तौ ब्रह्माभूतवर्षिण्यां द्वितीयाध्यायस्य  
तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं महामूतजीवश्रुतिविरोधं परिहृत्य लिङ्गशरीरविषयश्रुतिविरोधं परिहर्तुं पादान्तरं करिष्यमाणः पूर्वाधिकरणे कर्तृस्वरूपावधारणेन बुद्धिस्थानां कर्तृपकरणानामिन्द्रियाणामुत्पत्तिं साधयति—

( इन्द्रियाणामनादित्वनिराकरणपूर्वकं तेषामात्मसमु-  
त्पन्नत्वम्, अधि० १ )  
तथा प्राणाः ॥ १ ॥

अस्मिन्नपि पादे पूर्वपक्षे श्रुतीनां मिथो विरोधेनाप्रामाण्याद्वैपायनसमन्वयसिद्धिः फलं सिद्धान्ते तासामविरोधेन प्रामाण्यात्समन्वयसिद्धिरिति बोध्यम् । तत्र तावत् ' आत्मन आकाशः संभूतः ' [ तैत्ति० २ । १ । १ ] इत्याद्युत्पत्तिप्रकरणेष्विन्द्रियाणामुत्पत्तिर्न श्रूयते । क्वचिच्च ' ऋषयो वा एते अग्रे सदासीत्कतमे ऋषय इति प्राणा वा ऋषयः ' [ शत० ब्रा० ६ । १ । १ । १ ] इत्यत्र सृष्टेः प्राणिन्द्रियाणां सद्भावश्च-

(दी० १) दाज्ञानादीनामुत्पाद इति चेन्न । कुतः । सर्वेषामप्येकस्मिन्देहेऽन्तर्भावात्समयत्वात् ॥ ५३ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां द्वितीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

तृतीयपादे मूतश्रुतीनां मोक्षश्रुतीनां च परस्परविरोधाभावाच्च तत्कृतसमन्वयविरोध इत्युक्तम् । इदानीं भौतिकश्रुतीनां परस्परविरोधापाकरणेन तत्कृतं विरोधं समन्वये वारयति चतुर्थेन पादेन । तत्रापि भोगोपकरणानां भौतिकानां प्राणप्राधान्यात्प्रथमं प्राणोत्पत्तिमाह—तथा प्राणा

( ब्र० व० १ ) वणादनुत्पत्तिरिति भाति । क्वचित्तु ' एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च । खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी ' [ मु० २ । १ । ३ ] इत्याद्यादुत्पत्तिरिन्द्रियाणां श्रूयते । एतासां श्रुतीनां मिथो विरोधोऽस्ति न वेति संदेहे विनिगमकाभावादस्ति विरोध इति प्राप्ते सृष्टेः पूर्वमिन्द्रियसद्भावश्रवणादुत्पत्तिश्रुतिर्गौणीत्यविरोध इत्येकदेशिना सिद्धान्तितं तद्वृषयति—' तथा प्राणाः ' इति तथा ' एतस्माज्जायते प्राणः ' इत्याद्यादाहृतवाक्यस्थाकाशादिवत्प्राणा इन्द्रियाणि जायन्त उत्पत्तिश्रुतेरविशेषादित्यर्थः ॥ १ ॥

यदुक्तं सृष्टेः प्रागिन्द्रियसद्भावश्रवणादुत्पत्तिश्रुतिर्गौणीति तत्राऽऽह—  
गौण्यसंभवात् ॥ २ ॥

गौण्या उत्पत्तिश्रुतेरसंभवो गौण्यसंभवस्तस्मादेकदेश्युक्तमयुक्तमित्यर्थः । प्राणानां नित्यत्व एकविज्ञानप्रतिज्ञा बाध्येतेति भावः । सद्भावश्रुतिस्तु हिरण्यगर्भात्मकावान्तरप्रकृतिरूपप्राणानां नित्यस्वविकारापेक्षया प्राक्सद्भावं बोधयति, अवान्तरप्रलये हिरण्यगर्भेन्द्रियाणां लयाभावादिति बोध्यम् ॥ २ ॥

इन्द्रियाणां मुख्यं जन्मेत्यत्र हेत्वन्तरमाह—  
तत्प्राक्श्रुतेश्च ॥ ३ ॥

तत्तत्र ' एतस्माज्जायते प्राणः ' [ मु० २ । १ । ३ ] इत्यादिवाक्ये जायत इति जन्मवाचिपदस्य स्ववाच्यत्वादिषु मुख्यस्य स्वाद्यपेक्षया प्राची-

( दी० १ ) इति । पूर्वपादाद्यधिकरणे यथाऽऽकाश उत्पन्नः परस्मादित्युक्तं तथा प्राणा अप्युत्पद्यन्ते । अथवा यथा लोकादयः परस्मादुत्पन्नाः श्रूयन्ते तथा प्राणाः ॥ १ ॥

ऋषयो वाव तेऽग्रेऽसदासीत्' इत्यनया श्रुत्या प्राणानामनुत्पत्तेस्तदुत्पत्तिश्रुतिर्गौणी स्यादित्यत आह—गौणीति । गौण्या असंभवो गौण्यसंभवस्तस्मात् । अत्र च प्रतिज्ञाहान्यादयः प्रागुक्ता एव हेतवः ॥ २ ॥

तथाऽपि जनेरुपचारनिवारणं किमुक्तमित्यत आह—तदिति । तेभ्य



(ब्र० व० १) तेषु प्राणेन्द्रियादिषु श्रुतेश्चेन्द्रियाणां मुख्यं जन्मेत्यर्थः । एकस्मिन्वाक्य एकस्य पदस्य कचिद्गौणत्वं कचिन्मुख्यत्वमित्यस्यासंभवादित्यर्थः ॥ ३ ॥

उत्पत्तिप्रकरणेष्विन्द्रियाणामुत्पत्तिर्न श्रूयत इति यदुक्तं तन्न छान्दोग्य उत्पत्तेः श्रुतत्वादित्याह—

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ ४ ॥

ब्रह्मप्रकृतिकानि तेजोबलानि तच्छब्देनोच्यन्ते तथा च प्राणेन मनसा च सहिताया वाचः 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपो मयः प्राणस्तेजोमयी वाक्' [ छा० ६ । ५ । ४ ] इत्यनेन तेजोबलजन्यत्वाभिधानादस्त्युत्पत्तिश्रुतिरित्यर्थः । तस्मादुत्पत्तिश्रुतिसद्भावात्सृष्टेः प्राक्सद्भावश्रुतेश्चान्यविषयत्वादस्ति श्रुतीनामविरोध इति सिद्धं ब्रह्मविकारत्वमिन्द्रियाणामिति ॥ ४ ॥

एवमिन्द्रियाणामुत्पत्तिं प्रसाध्य तेभ्यो जीवस्य विवेकार्थं \* तदाश्रितसंख्यां निर्णेतुकाम आश्रयाश्रयिभावसंगत्या पूर्वपक्षयति—

( इन्द्रियाणामेकादशसंख्याकत्वस्य वेदान्तसमतत्वम् , अधि० २ )

सप्तगतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ ५ ॥

'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्' [ मु० २ । १ । ८ ] इति सप्तेन्द्रियाणि श्रूयन्ते । कचित् 'अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः' [ बृ० ३ । २ । १ ] इत्यत्राष्टौ ग्रहाः पुरुषपशुबन्धका इन्द्रियाणि, रागाद्युत्पादन-

(दी० १) आकाशादिभ्यः प्राक्पूर्वं जायत इति पदं यथा तेषु नोपचरितं तथा प्राणेष्वपीत्यर्थः ॥ ३ ॥

तथाऽपि छान्दोग्येन तेषामुत्पत्तिः श्रूयत इत्यत आह—तत्पूर्वेति । ब्रह्मप्रकृतिकं यत्तेजस्तत् पूर्वकत्वात्कारणत्वाद्वाचो वागाख्येन्द्रियस्य प्राणस्यातोऽर्थात्तत्रापि श्रवणमित्यर्थः ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे श्रुतिप्रमाणात्प्राणोत्पत्तिर्वर्णिता तद्वत् । 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इत्यस्याः प्रामाण्यात्सप्त वै प्राणा इत्याक्षिपति (अर्थं वा न्यायानुसारात्प्राणानामुत्पत्तिरुक्ता । अत्रापि 'प्राणमुत्क्रामन्ते सर्वे' इति

\* ख. ग. 'मिन्द्रियाश्रितं' ।

(ब्र० ४०१) द्वारेणेन्द्रियाकर्षका विषया अतिग्रहा इत्यर्थः । 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणा द्वाववाञ्चौ' [ तै० सं० ५ । ३ । २ । ५ ] इत्यत्र नव । अवाञ्चौ पायूपस्थौ । 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्वशमी' [ तै० सं० ५ । ३ । २ । ३ ] इत्यत्र दश । 'दशमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशः' [ बृ० ३ । ९ । ४ ] इत्यत्रैकादश । आत्मा मनः । एवं कचिद्द्वादश कचिच्चयोदशेन्द्रियाणि श्रूयन्ते । तासां श्रुतीनां विरोधसंदेहे विरोधोऽस्तीति प्राप्त एकदेशिमत्तं सप्तैवेन्द्रियाणि । कुतः । गतेः । श्रुत्या सप्तत्वावगतेरित्यर्थः ॥ ५ ॥

किंच 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' इतीन्द्रियाणां शीर्षण्यत्वेन विशेषितत्वात्सप्तेन्द्रियाणि । ये शीर्षण्याः सप्त द्वे चक्षुषी द्वे श्रोत्रे द्वे नासिके एका वागिति ते प्राणा इति सप्तानामेवेन्द्रियत्वावगमादष्टत्वादिसंख्याश्रवणं त्वेकस्यैवान्तःकरणस्य संशयनिश्चयगर्वस्मरणरूपवृत्तिभेदेन मनोबुद्ध्यहंकारचित्तानीति चतुष्टयवत्सप्तानामेव वृत्तिभेदेनोपपद्यत इत्यविरोधः श्रुतीनामिति प्राप्तं तद्वदूषयति—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ ६ ॥

तुशब्देन प्राणानां सप्तत्वनिरासः । यतो 'हस्तौ वै ग्रहः' [ बृ० ३ । २ । ८ ] इत्यादिना हस्तादयो व्यतिरिक्ताः प्राणाः श्रूयन्ते । सप्तत्वसंख्यायामसंभावितान्तर्भावे सप्तत्वातिरेके स्थिते सप्तत्वसंख्येन्द्रियनिष्ठैकादशत्वसंख्यायामन्तर्भावयितुं शक्यते न्यूनसंख्याया अधिकसंख्यायामन्तर्भावसंभवात्, अतो नैवं मन्तव्यं सप्तैव प्राणा इति सूत्रार्थः । यद्यपि ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं कर्मेन्द्रियपञ्चकं मनश्चेत्येकादशेन्द्रियाणि विहाय हृदयाहंकारौ प्राणानां द्वादशत्वत्रयोदशत्वसंख्यापादकौ श्रूयेते तथाऽपि तयोरन्तःकरणभेदत्वान्नाधिकसंख्यापादकत्वमित्येकादशेन्द्रि-

(दी० १) लाघवन्त्यायात्सप्त प्राणा इत्याक्षिपति]—सप्तेति सप्तसंख्यानामवगतिः सप्तगतिः । सप्त प्राणाः प्रभवन्तीत्यस्मात् । सामान्यवचनमिदं विशेषादधिका भविष्यन्तीत्यत आह—विशेषितत्वादपि ( चेति ) तेषां 'सप्त वै शीर्षण्याः' इत्यनेन ॥ ५ ॥

हस्तादय इति । तुशब्दः सप्तभ्यो व्यतिरेकमाह । हस्तादयो हस्त आदिर्येषां ते त्वगादयो हस्तादयोः 'हस्तौ वै ग्रहः' इत्यादिनोक्ताः । स्थिते सप्तभ्योऽतिरेकेऽतोऽस्मादतिरेकान्नैवं सप्तैवेति किं त्वेकादश । कुतः

(ब्र० ० व) पाणीति निरवद्यम् । 'सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः' [ तै० सं० ५।३। २। ५ ] इत्यत्र न सप्तोद्देशेन प्राणत्वविधानं किंतु प्राणोद्देशेन स्थानभेदमात्रेण चतुर्णामिवेन्द्रियाणां सप्तत्वमिति न तद्विरोधः । 'नव वै पुरुषे प्राणा नाभिर्दशमी' [ तै० सं० ५। ३। २। ३ ] इति वाक्यं पुरुषाकारदेहे छिद्राभिप्रायं न प्राणाभिप्रायमित्यविरोध इति सिद्धम् । नन्विदं सूत्रद्वयव्याख्यानमसङ्गतं 'सप्त प्राणाः प्रभवन्ति' [ मु० २। १। ८ ] इति घ्राणरसनचक्षुःश्रोत्रत्वङ्मनोवाचां सप्तत्वावगतिशीर्षण्यानां विशेषितत्वमिति हेतुद्वयवैयधिकरण्येन सूत्रे चकारानुपपत्तेः । ये शीर्षण्याः सप्त ते प्राणा नेतर इत्यत्र परिसंख्यापत्तेश्च । अत एव तदुत्तरं द्वितीयसूत्रे व्याख्यानमप्यसङ्गतमिति चेत्तर्ह्यन्यथा सूत्रद्वयं व्याख्यास्यामः । मरणसमये येषां सहगमनं तेषामेव भोगसाधनत्वादिन्द्रियत्वम् । तथा च मुख्यं 'प्राणमनूत्क्रामन्तः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति' [ बृ० ४। ४। २ ] इति प्राणादीनां सप्तानामेव गतेः सहगमनस्य श्रवणात्सप्तैवेन्द्रियाणि । ननु सर्वशब्दश्रवणात्कथं सप्तानामेव गतिश्रवणं तत्राऽऽह—विशेषितत्वाच्चेति । स यत्रैष चाक्षुषः पुरुषः पराङ्पर्यावर्ततेऽथारूपज्ञो भवति' [ बृ० ४। ४। १ ] 'एकी भवति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न वदति न शृणोति न मनुते न स्पृशतीत्याहुः' [ बृ० ४। ४। २ ] इति चक्षुरादीनां सप्तानामेव प्रकृतानां विशेषितत्वात् । सर्वशब्दः प्रकृतगामी सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र सर्वशब्दो यथा निमन्त्रितप्रकृतब्राह्मणपरस्तद्वदिति शङ्कासूत्रार्थः । यत्रोत्क्रान्त्यवस्थायां चक्षुरधिष्ठातृदेवः स एष चाक्षुषशब्दवाच्यः पुरुषो रूपादिविषयव्याप्तिं विहाय वर्तते तदानीमयमरूपज्ञो भवति हृदये चक्षुरेकी भवति पार्श्वस्थांश्च नायं पश्यतीत्याहुरिति श्रुत्यर्थः । सिद्धान्तसूत्रार्थस्तु सप्तैभ्योऽतिरिक्ता हस्तादयोऽपि बन्धकत्वेन श्रूयन्ते 'हस्तौ वै ग्रहः' इत्यादिना । ग्रहत्वं बन्धकत्वं हस्तादीनां सहगमनं विना न संभवति । सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्तीत्यविशेषेण सर्वेन्द्रियाणामुत्क्रान्तिश्रवणाच्च भवन्त्येकादशोत्क्रान्तिमन्तः प्राणाः । न च सर्वशब्दस्य प्रकृत-

(दी०।) 'दशमे पुरुषे प्राणाः' इत्यादिश्रुतेः । अथ वा सप्तैव प्राणा अवगम्यन्ते । तमुत्क्रामन्तमित्यादिवचनात् । ननु सर्वशब्दश्रवणे कथं सप्तैवेत्यत

(ब्र० व० १) विशेषितसप्तप्राणपरत्वं प्रकरणाच्छ्रुतेर्बलीयस्त्वात् । सर्वे ब्राह्मणा भोजयितव्या इत्यत्र त्वनन्यगत्या प्रकृतपरत्वं सर्वशब्दश्रुतेरिति शिष्टसूत्राक्षरार्थः पूर्ववदिति । तस्मादेकादशैवोत्क्रान्तिमन्तः प्राणा इति सिद्धम् ॥ ६ ॥

नन्विन्द्रियाणामुत्क्रान्तिर्न संभवति तेषामपरिच्छिन्नाहंकारजन्यत्वेन विभुत्वादित्याक्षेपसङ्गत्या साङ्ख्यमतं दूषयति—

(साङ्ख्यसंमतेन्द्रियसर्वगतनिराकरणपूर्वकं तेषां परिच्छिन्नत्वकथनम्, अधि० ३ )

अणवश्च ॥ ७ ॥

इमे प्राणा अणवः परिच्छिन्ना इन्द्रियाग्राह्यत्वेन सूक्ष्माश्चेत्यर्थः । न तु परमाणव इति सूत्रार्थः । तथात्वेऽणवात्मपक्षोक्तानां शरीरव्याप्तिस्तु-  
खादिकं न स्यादित्यादिदोषाणां प्रसङ्गादितीन्द्रियाणां विभुत्वे काशी-  
स्थविश्वेश्वरदर्शनस्पर्शने सेतुवासिनामपि स्यातामुत्क्रान्तिगत्यागतिश्रु-  
तिविरोधश्च स्यादित्यादिदोषा द्रष्टव्याः । तस्मात्परिच्छिन्नाः सूक्ष्माश्च  
प्राणा इति सिद्धम् ॥ ७ ॥

इन्द्रियाणामुत्पत्त्यादिकमुक्त्वा मुख्ये प्राणेऽप्युत्पत्तिसंदेह आद्याधिक-  
रणन्यायमतिदिशति—

( प्राणस्यानादित्वखण्डनपूर्वकं तदुत्पत्तिसमाधानम्, अधि० ४ )

श्रेष्ठश्च ॥ ८ ॥

इन्द्रियस्वरूपे प्राणे च ज्ञाते तद्यापारान्मुख्यप्राणस्य भेदचिन्ता

(टी० १) आह—विशेषितत्वाच्च । मनोविज्ञानयोरेककोट्यां चक्षुरादीनां विशेष-  
ितत्वात्सर्वशब्दः सप्तविषयः । चकारोऽपि [‘इ’ यत्तानियतं श्रेयः’ इति  
न्यायसूत्राच्चा ( चना ) र्थः । द्वितीयसूत्रे न कोऽपि विशेषः पूर्वस्माद्वाख्या-  
नात् ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरण एकादशेन्द्रियाणि उत्क्रामन्तीत्युक्तं तदयुक्तं व्यापि-  
त्वादिन्द्रियाणामित्याक्षिप्य समाधत्ते—अणव इति प्राणा इत्यनुवर्तते ।  
अणवोऽप्यसर्वगतपरिमाणाः प्राणान् इत्यर्थः ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरण उत्क्रान्त्यादिवशात्प्राणानामणुत्वमङ्गीकृतं तद्वादिदानी-

(ब्र० व० १) करिष्यमाणा सुकरेति मध्येऽयमतिदेशः कृतः । 'न मृत्युरासीद-  
मृतं न तर्हि न रात्र्या अह्ना आसीत्प्रकेतः । आनीदवातं स्वधया तदेकं  
तस्माद्भान्यन्न परः किंचनाऽऽस' [क्र० सं० म० १०।१२९।२] इत्यत्राऽऽनी-  
त्पदेन प्राणसंचारस्य महाप्रलये श्रुतत्वात्संचारवतः प्राणस्य स्थितिरिति  
न प्राणस्योत्पत्तिरित्यभ्यधिकाशङ्कायामयमतिदेशः । इन्द्रियवच्छ्रेष्ठोऽपि  
प्राणो ब्रह्माविकारः । 'एतस्माज्जायते प्राणः' [मु० २।१।३]  
इत्युत्पत्तिश्रवणस्याविशेषादित्यर्थः । श्रुत्यर्थस्तु तर्हि तस्मिन्महाप्रलये  
मृत्युर्मृत्युमद्वानासीदमृतं देवभोग्यं च नासीत्तथा रात्रेरह्नाश्च प्रकेतश्चिह्नमू-  
तश्चन्द्रः सविता च नाऽऽस्तां स्वधया सहेति संबन्धः । स्वधाशब्देन  
पितृभ्यो दीयमानं तदर्चनं चोच्यते तर्हि शून्यवादः स्यादित्यत  
आह—आनीदिति । तदेकं मूलकारणं परं ब्रह्मावातं वाय्वादिप्रपञ्चर-  
हितमानीदासीदिति यावत् । तस्मादात्मनोऽन्यत्किंचिदपि नाऽऽस ह  
न बभूव किलेति हकारस्यान्वय इति ॥ ८ ॥

मुख्यप्राणस्योत्पत्तिचिन्तानन्तरं तत्स्वरूपं निरूपयति—

(प्राणवायोः स्वतन्त्रताकथनम्, अधि० ५)

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ ९ ॥

'यः प्राणः स वायुः' इति महान्वायुरेव प्राण इति श्रूयते, तथा  
च महान्वायुरेव प्राण इत्येकः पूर्वपक्षः । नन्वयं पूर्वपक्षोऽसंगतः ।  
छान्दोग्ये—'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [छा० ३।१८।१] इत्युपक्रम्य  
मनोरूपब्रह्मणो वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्रैश्चतुष्पात्त्वं वदन् 'प्राण एव ब्रह्म-  
णश्चतुर्थः पादः स वायुना ज्योतिषा भाति च तपति च' [छा० ३।१८।४]

(दी० १) मुत्पत्तेः प्राक्प्राणचेष्टाश्रवणान्मुख्यप्राणस्य नोत्पत्तिरिति दृष्टा-  
न्तेनाऽऽक्षिप्य पादाद्यधिकरणन्यायातिदेशेनोत्पत्तिमाह—श्रेष्ठ इति  
श्रेष्ठो मुख्यः प्राणः सोऽपि जायते । कुतः । 'एतस्माज्जायते प्राणः' इति  
श्रुतेः ॥ ८ ॥

पूर्वाधिकरणे मुख्यप्राणस्य पृथगुत्पत्तिर्वायोरिन्द्रियेभ्यश्चोक्ता साऽ-  
युक्ता मुख्यप्राणस्य वायुस्वरूपत्वादिन्द्रियत्वाद्द्वेत्याक्षिप्य समाधत्ते—न  
वाय्विति । मुख्यप्राणो न वायुः प्रसिद्धः । न च करणानां वृत्तिः

(ब्र०४०।) इति । माति, अभिव्यक्तो भवति तपति स्वव्यापार उद्य-  
च्छतीति वाय्वपेक्षया प्राणस्य भिन्नत्वकथनेन निर्धारणाभावादत्र  
प्राणस्य प्राणेन्द्रियत्वेऽपि ' एतस्माज्जायते प्राणः ' ' खं वायुः ' [ मु०  
२।१।३ ] इत्यादौ भेदनिर्देशेन निर्धारणाभावतादवस्थादिति  
चेत्तर्हि तिष्ठतु श्रुतिद्वयं मिथो विरुद्धं सांख्यमतरीत्येन्द्रियव्यापार एव  
प्राणोऽस्त्विति प्राप्ते ब्रूमः—प्राणो न वायुक्रिये । न वायुर्नापीन्द्रिय-  
व्यापार इत्यर्थः । कुतः । ' एतस्माज्जायते प्राण इत्यादा तत्र तत्र  
वायोरिन्द्रियेभ्यश्च प्राणस्य पृथगुपदेशादित्यर्थः । नन्विन्द्रियेभ्यः पृथ-  
गुपदेशेऽपीन्द्रियव्यापारात्स नास्तीति चेन्न वृत्तिवृत्तिमतोरभेदात्तर्हि  
' यः प्राणः स वायुः ' इति श्रुतिविरोधः कथं परिहरणीय इति चेदु-  
च्यते—महावायुरेव हि प्राणापानादिपञ्चात्मनाऽवतिष्ठमानः प्राण इत्यु-  
च्यते । तथा च विकारविकारिणोर्वास्तवाभेदकाल्पनिकभेदयोः सत्त्वाच्च  
भेदाभेदश्रुत्योर्विरोध इति सिद्धम् । अत्र पूर्वपक्षे वाय्विन्द्रियव्यापा-  
राभ्यां जीवस्य विवेकः फलं, सिद्धान्ते तूभयातिरिक्तप्राणादपीति  
विशेषः ॥ ९ ॥

ननूभयातिरिक्तस्य श्रुत्यवगतस्वतन्त्रभावस्य प्राणस्य देहेऽभ्युपगमे  
जीवप्राणयोरुभयोः स्वतन्त्रयोरेकवाक्यत्वाभावात्सद्यः शरीरोन्मथन-  
प्रसङ्ग इत्यत आह—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ १० ॥

तुरुक्तस्य प्राणस्वातन्त्र्यस्य निरासार्थः । प्राणस्य न जीववत्स्वा-  
तन्त्र्यं किं तु राजापेक्षया मन्त्रिण इव गुणमाव एव । स्वातन्त्र्यं त्वस्य  
प्राणस्य प्रजापेक्षया मन्त्रिण इवेन्द्रियापेक्षया, तथा च नोक्तदोष इति

(दी०।) क्रिया । वायुश्च क्रिया च वायुक्रिये । कुतः । ताभ्यां पृथगुपदेशः  
' स वायुना ज्योतिषा ' इति वायोरिन्द्रियेभ्यः ' अथ ह य एवायं मुख्यः  
प्राणः ' इत्यादिना तस्मात् ॥ ९ ॥

एवं चेज्जीववत्प्राणोऽपि स्वतन्त्रः स्यादित्यत आह—चक्षुरिति ।  
तुशब्दः प्राणस्य स्वातन्त्र्यनिवारणार्थः । चक्षुरादिवत् । चक्षुरादीनां  
यथा न स्वातन्त्र्यं तद्वत्प्राणस्य । कुतः । तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । तैरिन्द्रियैः

(ब० व० १) तात्पर्यार्थः । सूत्राक्षरार्थस्तु चक्षुरादिवत्प्राणोऽपि जीवं प्रति करणभूतः । कुतः । तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः । तैश्चक्षुरादिभिः सह प्राणसंवादादिषु प्राणस्य शिष्टेः शासनादित्यर्थः । समानजातीयानामेव सहशासनस्य युक्तत्वात् । आदिशब्देनाचेतनत्वभौतिकत्वाद्विहेतुसंग्रहः ॥ १० ॥

ननु प्राणस्य चक्षुरादिवत्करणत्वं न युक्तमसाधारणविषयामावा-  
दित्यत आह—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥ ११ ॥

न चोक्तदोषः प्राणस्याकरणत्वादेव । कथं तर्ह्यात्मानं प्रति करण-  
भावः । इन्द्रियान्तरेण्यसंभावितस्यासाधारणाख्यस्य कार्यस्य निर्वा-  
हकत्वादिति ब्रूमः । तथा हि श्रुतिरुक्तं कार्यं प्राणस्यासाधारणं दर्शयति  
प्राणसंवादे षाणादिभ्यो मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठत्वं निर्धार्य—‘ तान्वरिष्ठः  
प्राण उवाच मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविमज्यैतद्वाण-  
मवष्टभ्य विधारयामि ’ [ प्र० २ । ३ ] इति । बाणं शरीरम् । ‘ प्राणेन  
रक्षन्नवरं कुलायम् ’ [ बृ० ४ । ३ । १२ । ] इति श्रुतिरपि देहस्थितिः  
प्राणनिमित्तेत्याह । अवरमनेकाशुचि नीडं कुलायं देहाख्यं गृहम् ।  
प्राणस्थित्या रक्षञ्जीवः सुप्तिं यातीति योजना ॥ ११ ॥

न केवलं देहधारणमेवास्यासाधारणं कार्यं किञ्चन्यदपीत्याह—

पञ्चवृत्तिर्मनोषद्वयपदिश्यते ॥ १२ ॥

यथा मनोऽनेकवृत्त्याख्यासाधारणकार्यापेक्षयाऽनेकधा व्यपदिश्यत

(दी०) । सह शिष्टिः शासनमुपदेशः प्राणसंवादादौ । आदिशब्देन संहत-  
त्वाचेतनत्वादयस्तेभ्यः ॥ १० ॥

स्यादेतत् । यथाऽन्येषां प्राणानां रूपादयो विषयास्तथाऽस्यापि  
कश्चन स्यादित्यत आह—अकरणेति । प्राणस्य विषयान्तरासत्त्वं न  
दोषः । कुतः । अकरणत्वात् । करणस्यैवायं दोषो न त्वकरणस्य ।  
चकारो देहधारणं प्रयोजनं समुच्चिनोति । कथमेतदित्यत आह—तथा  
हि दर्शयति । हि यस्माद्यथाऽस्मामिरुक्तस्तथा ‘ अहमेवैतत्पञ्चधाऽऽ-  
त्मानं प्रविमज्य ’ इत्यादिश्रुतिगणो देहधारणं दर्शयति । चकारो यदस्ति  
तस्य विषयः कल्पनीय इति नियमामावदर्शनार्थं वा ॥ ११ ॥

देहधारणं कार्यं जीवस्य प्राणस्य वेति संदेहादन्येप्राणकार्यस्याव-

(ब्र० ५०।) एवमुच्छ्वासनिःश्वासधीर्यशरीरोत्क्रान्त्याख्यानि चत्वारिकार्या-  
णि, पञ्चमं च कार्यं भक्षितान्नादिरसानां समवेतत्वेन सर्वाङ्गेषु नयनम-  
पेक्ष्य, पञ्चवृत्तिः प्राणो व्यपदिश्यते क्रमेण प्राणोऽपानो ध्यान उदानः  
समान इति, तदसाधारणकार्यापेक्षया जीवोपकरणत्वं मनोवदिति  
सिद्धम् ॥ १२ ॥

एवं मुख्यप्राणस्योत्पत्तिं स्वरूपं चोक्त्वा परिमाणविशेषविषयप्राणा-  
णुत्पत्तिर्वाह्योत्क्रान्त्यादिश्रुतेः 'सम एभिस्त्रिभिर्लोकैः समोऽनेन सर्वेण  
प्राणः' [ बृ० १ । ३ । २२ ] इति श्रुतेः प्राणविभुत्वविषयायाश्च मिथो  
विरोधोऽस्ति न वेति संवेहेऽणवश्चेत्यधिकरणन्यायातिदेशेन सिद्धान्त-  
यति—

( प्राणस्य समष्टिरूपेणाऽऽधिदैविकी विभुताऽऽध्यात्मिकी तु तस्या-  
ल्पताऽदृश्यता चेन्द्रियवदिति, अधि० ६ )

अणुश्च ॥ १३ ॥

चक्षुरादिब्रह्माणोऽपि परिच्छिन्नः सूक्ष्मश्चेत्यर्थः । सम एभिस्त्रिभि-  
र्लोकैरिति श्रुतिश्च सकलवायुपरा नाऽऽध्यात्मिकप्राणमात्रपरेत्यविरोध  
इति । अन्तरङ्गप्राणस्वरूपकथनानन्तरं बहिरङ्गं परिमाणमुच्यत इति  
संगतिर्बोध्या ॥ १३ ॥

( इन्द्रियगणस्य देवताविशेषार्थानत्वकथनम्, अधि० ७ )

(दी०) शनान्निरर्थकः प्राण इत्यत आह—पञ्चेति । पञ्च वृत्तयो यस्य स तथा ।  
किंवत्पञ्चवृत्तिरित्यत आह—मनोवत् । यथा मनः प्रमाणविपर्ययविक-  
ल्पनिद्रास्मृतिभिः पञ्चवृत्ति तद्वत् । तर्हि योगानामिव तर्कमूलमिदमि-  
त्यत आह—व्यपदिश्यते । श्रुत्या 'प्राणोऽपानो ध्यान उदानः समानः'  
इति ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे वायुक्रियाभ्यां तत्त्वान्तरं प्राणोऽस्तीत्युक्तम् । अस्तु  
तत्त्वान्तरं तथाऽपि तस्य जीवमनूत्क्रामस्यासंभवो व्यापित्वादित्या-  
क्षिप्त समाधत्ते—अणुश्चेति । मुख्यप्राणोऽप्यसर्वगतपरिमाणोऽपि पूर्व-  
प्राणवत् ॥ १३ ॥



ज्योतिरावधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ १४ ॥

(ब्र० व० १) पूर्वमाध्यात्मिकप्राणस्याणुत्वमाधिदैविकयोः सम एभिरिति श्रुत्या व्यापित्वमित्युक्तं तत्प्रसङ्गेनाऽऽध्यात्मिकानां प्राणानामाधिदैविकदेवता-  
धीनचेष्टावत्त्वमस्ति न वेति विचार्यत इति प्रसंगसंगेति; । अत्र 'चक्षुषा  
हि रूपाणि पश्यति' [बृ० ३।२।५] इति श्रुत्या चक्षुरादेर्दे-  
वतानिरपेक्षचेष्टावत्त्वं प्रतीयते । 'आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्रावि-  
शत्' [ऐ० १।२] इत्यादिश्रुत्या तु सूर्यादिदेवताधीनचेष्टावत्त्वं  
प्रतीयते । अनयोर्मिथो विरोधोऽस्तीति न वेति संदेहोऽस्ति विरोध इति  
प्राप्त एकदेशिसिद्धान्तः—देवतानां करणाधिष्ठातृत्वे तासामेव भोक्तृ-  
त्वप्रसक्तौ जीवस्य भोक्तृत्वं न स्यादिति युक्तिसहकृतायाश्चक्षुषा हीति  
श्रुतेर्बलीयस्त्वादादित्यश्चक्षुरित्यादिश्रुतेर्गौणार्थतेति न विरोध इति तं  
दूषयति ज्योतिरित्यादिना । तुरुक्तसिद्धान्तनिरासार्थः । अधिष्ठीयते  
प्रेर्यत इत्यधिष्ठानमधिष्ठितमित्यर्थः । ज्योतिरादिभिरग्न्याद्यभिमानिनी-  
भिर्देवताधिष्ठितमेव वाक्चक्षुरादिकं चेष्टते तदामननात् । तस्य देवता-  
धिष्ठितत्वस्याऽऽदित्यश्चक्षुरित्यादिश्रुत्युक्तत्वादित्यर्थः । अचेतनानां स्वत-  
श्चेष्टानुपपत्तेरिति युक्तिरपि द्रष्टव्या । अक्षिणी प्राविशत्प्रेर्यप्रेरकभावे-  
नेति श्रुत्यर्थः । न च देवतानामेव भोक्तृत्वं तस्याश्रवणात् । यो यद-  
धिष्ठाता स तत्साध्यफलभोक्तेति व्याप्तेश्च सारथौ व्यभिचारः । न  
च देवता इन्द्रियसाध्यफलभोगिन्य इन्द्रियाधिष्ठातृत्वाज्जीववदिति  
वाच्यम् । कृतपापफलभोगस्येन्द्रियसाध्यस्य 'न ह वै देवान्पापं गच्छ-  
ति' [बृ० १।५।२०] इत्यादेर्देवेषु बाधितत्वात् । न च चक्षुषा ही-  
त्यादिश्रुतिविरोधः, तत्र देवतानपेक्षत्वस्याश्रवणादिति सिद्धं देवाधिष्ठे-  
यत्वं प्राणानामिति । किंच श्रुत्यन्तरेऽपि प्राणदेवतयोरधिष्ठात्रधिष्ठेय-  
भावं द्योतयति—'स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत  
सोऽग्निरभवत्' [बृ० १।३।१२] इत्यादिना वागादीनामग्न्यादिभावाप-  
त्तिकथनादग्न्यादिभावश्च तदधिष्ठातृकत्वमेवान्यस्यासंभवात्स प्राणो

(दी० १) पूर्वाधिकरणे त्विन्द्रियाणामुत्पत्त्यादिकं वर्णितं तेषां चाग्न्याद्य-  
धिष्ठितत्वं श्रुतमुपपन्नं समनन्तराधिकरणे प्राणसमत्ववदिति दृष्टान्तेनाऽऽ-  
क्षिप्य समाधत्ते—ज्योतिरिति । तुशब्दः प्राणानामधिष्ठानत्वं वारयति ।  
ज्योतिरादिर्यस्याऽऽदित्यादेस्तदिदं ज्योतिरादि । ज्योतिरादेराधिष्ठानं

(ब्र० ब० १) वाचमेव प्रथमामुद्धीथकर्मणि प्रथमामत्यवहत, मृत्युमतीत्यनिरा-  
कृत्य प्रापयत् । इन्द्रियाणां प्राणाधीनस्थितिकत्वात्प्राणस्य वागादिस्थिति-  
संपादनद्वारा तन्मृत्युनिराकर्तृत्वं बोध्यम् । किं प्रापयदित्याशङ्क्य  
प्राणो वाचः स्थितिं संपाद्याग्निदेवतया साकमधिष्ठात्रधिष्ठेयभावं प्राप-  
यदित्याह—सा यदेति । सा वाक्प्राणेन यदा मुक्तमृत्युरभवत्तदा लब्ध-  
स्थितिका सती स्वयमग्निरभवत्तद्देवताकाऽभवदिति श्रुत्यर्थः ॥ १४ ॥

यदुक्तं देवतानामेव भोक्तृत्वप्रसङ्ग इति तत्राऽऽह—

प्राणवता शब्दात् ॥ १५ ॥

प्राणवता जीवेनैवेन्द्रियाणां स्वस्वामिभावः संबन्धः, इन्द्रियसा-  
ध्यभोगभागी जीव एवेति यावत् । कुतः । शब्दात् । ‘ अथ यत्रैतदा-  
काशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः ’ [ छा० ८ ।  
१२ । ४ ] इत्यादिश्रुतेरित्यर्थः । अथ देहे प्राणप्रवेशानन्तरं यत्र  
कृष्णतारे छिद्रभूतमाकाशमनुविषण्णमनुगतं चक्षुस्तत्र स आत्मा चक्षु-  
र्ध्यात्तश्चाक्षुषस्तस्य रूपादिदर्शनाय वृत्तिरूपाय चक्षुर्न चैतन्यायेति  
श्रुत्यर्थः । एतत्सूत्रतात्पर्यार्थो न च देवतानामेव भोक्तृत्वमित्या-  
दिनोक्तः ॥ १५ ॥

तस्य च नित्यत्वात् ॥ १६ ॥

तस्य जीवस्य स्वकर्मोपाजिते देहे कर्तृत्वेन भोक्तृत्वेन नित्यत्वाच्च

(दी० १) ज्योतिराद्यधिष्ठानं वागादि । तस्य ज्योतिराद्यधिष्ठानस्य वागादेः  
‘ अग्निर्वाग्भूत्वा ’ इत्यादिनाऽऽमननात् ॥ १४ ॥

एवं चेद्देवानामेव सुखादिभोगः स्यादित्यत आह—प्राणवतेति ।  
प्राणवता जीवेन वागादीनां संबन्धो भोक्तृत्वसाधनत्वलक्षणः ।  
कुतः । शब्दाद्वैदिकात् । ‘ अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः ’  
इत्यादेः ॥ १५ ॥

यथा शरीरेण संबन्धस्तथाऽधिष्ठानाधिष्ठातृत्वलक्षणस्तामिरपीत्यत  
आह—तस्य चेति । तस्य शारीरस्य नित्यत्वादस्मिञ्शरीर एव भोक्तृ-  
त्वान्न देवानामिन्द्रादिशरीरे भोगस्य सत्त्वात्तासाम् । चकारोऽनेकदुःख-

(अ० ४०।) न देवतानां भोक्तृत्वमस्मिन् शरीर इत्यर्थः । तस्माद्देवतानां प्राणाधिष्ठातृत्वे न किञ्चिद्वाधकमिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

ननु सत्त्विन्द्रियेषु तदधिष्ठातृदेवताचिन्ता तान्येव प्राणव्यापारव्यतिरेकेण न सन्तीत्याक्षेपे समाधत्ते—

( विलक्षणत्वेन प्राणादिन्द्रियाणां पृथक्त्वम्, अधि० ८ )

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ १७ ॥

‘ एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि ’ [ मु० २।१।३ ] इति श्रुतौ मुख्यप्राणादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वं प्रतीयते । ‘ हन्तास्यैव सर्वे रूपमसामेति त एतस्यैव सर्वे रूपममयन् ’ [ बृ० १।५।२१ ] इति श्रुतौ मुख्यप्राणात्मत्वमिन्द्रियाणां गम्यते । हन्तेदानीमस्यैव मुख्यप्राणस्यैव सर्वे वागादयो वयं रूपमसामेत्याशिषं दत्त्वा ते वागादय एतस्यैव प्राणस्य रूपं बभूवुरित्यर्थः । तथा चानयोर्विरोधसंदेहे नियामकामावावृत्ति विरोध इति प्राप्ते ‘ एतस्माज्जायते प्राणः ’ इति वाक्ये मनस इन्द्रियेभ्यः पृथङ्निर्दिष्टत्वेऽपि नेन्द्रियेभ्यस्तत्त्वं किंत्विन्द्रियत्वमेवेति यथा तद्वत्प्राणादिन्द्रियाणां पृथङ्निर्दिष्टत्वेऽपि न प्राणात्तत्त्वान्तरत्वमिति नानेन वाक्येन हन्तास्येति वाक्यस्य विरोध इत्येकदेशिसमाधानं कृषयति—त इन्द्रियाणीति । प्राणात्तत्त्वान्तराणीन्द्रियाणीति बहिरिषे प्रतिज्ञा तत्र हेतुस्तद्व्यपदेशादिति भेदव्यपदेशादित्यर्थः । उक्तहेतुरितरेण सूत्रभागेण विवृणोति—त इति । श्रेष्ठान्मुख्यप्राणादन्यत्रान्ये ते प्रकृता वागादयः प्राणा इन्द्रियाणीत्युच्यन्ते न प्राणः ‘ एतस्माज्जायते ’ इत्यादौ व्यपदेशो भेददर्शनात् । नन्वयं भेदव्यपदेश इन्द्रियमनसोरपि समान इत्युक्तमिति चेन्न । ‘ मनःषष्ठानीन्द्रियाणि ’

(दी०।) संभिन्नस्यास्य भोगस्य देवताभिन्नभोग्यत्वं समुच्चिनोति ॥ १६ ॥

पूर्वाधिकरणे ज्योतिराद्याधिष्ठितानीन्द्रियाणीत्युक्तमिदानीं प्राणव्यापारव्यतिरिक्तानीन्द्रियाण्येव न सन्तीत्याक्षिप्य प्राणस्यानिन्द्रियत्वमाह—[ अथ वा प्राणेन्द्रियस्याक्षत्वाधिष्ठानाभाववदन्यत्राप्यभावः स्यादित्याक्षिप्य प्राणस्यानिन्द्रियत्वमाह ] त इन्द्रियाणीति । ते प्रकृताः

(ब्र० व० १) [म० गी० १५।७] इति स्मृत्या मनस इन्द्रियेभ्यस्तत्त्वान्तरत्वाभावाभ्युपगमात् । न च प्रकृतेऽपि हन्तास्येति श्रुत्येन्द्रियाणां प्राणास्तत्त्वान्तरत्वाभावाभ्युपगमः । 'त एतस्यैव सर्वे रूपमभवत्स्तस्मादेत एतेनाऽऽख्यायन्ते प्राणाः' [बृ० १ । ५ । २१] इति वाक्यशेषेणेन्द्रियेषु प्राणशब्दस्य लाक्षणिकत्वप्रतिपादकेन प्राणादिन्द्रियाणां तत्त्वान्तरत्वाभ्युपगमात् । न हीन्द्रियेभ्योऽतत्त्वान्तरे चक्षुषीन्द्रियशब्दो लाक्षणिको दृष्टस्तस्मात्त एतस्यैव सर्वे रूपमभवन्नित्यनेन प्राणाधीनचेष्टावत्त्वमिन्द्रियाणामुच्यते न + तद्यापारत्वम् ॥ १७ ॥

किंच—

भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

वागादीन्द्रियप्रकरणमुपसंहृत्य 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' [बृ० १ । ३ । ७] इति भिन्नप्रकरणे प्राणस्येन्द्रियेभ्यो भेदेन श्रुतेर्न प्राणव्यापारत्वमिन्द्रियाणामित्यर्थः । आस्ये भवमासन्यं प्राणं वागादय ऊचुरिति श्रुत्यर्थः ॥ १८ ॥

इतश्च प्राणादिन्द्रियाणि तत्त्वान्तराणीत्याह—

वैलक्षण्याच्च ॥ १९ ॥

सुषुप्त्यवस्थायां प्राणस्य स्थितिर्नेन्द्रियाणामित्यादिबहुवैलक्षण्यात्तत्त्वान्तराणीत्यर्थः । तस्मान्नोदाहृतवाक्ययार्विरोध इति सिद्धम् । = इदं

(दी० १) प्राणाः श्रेष्ठादन्यत्र मुख्यं प्राणं विहायेन्द्रियाणि न तु मुख्यस्य प्राणस्य रूपाणि । कुतः । तस्मात्प्राणान्देहेनेन्द्रियाणां व्यपदेशात् 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इत्यनेन ॥ १७ ॥

अस्तु प्राणात्तेषां भेदो न तु प्राणस्तेभ्यो भिन्न इत्यत आह—भेदश्रुतेरिति । 'अथ हेममासन्यं प्राणमूचुः' इत्यादिना प्राणस्य तेभ्यो भेदश्रुतेः ॥ १८ ॥

भेदश्रुतिरियं वाक्चक्षुषोरिव मविष्यतीत्यत आह—वैलक्षण्यादिति । सुषुप्ते सर्वेषामिन्द्रियाणां प्रविलयो न प्राणस्यै 'य एवैतस्मिन्पुरे जाग्र-

\* अ. यत्र तत्त्वान्तरं तत्रैव लाक्षणिकशब्दप्रवृत्तिर्न तु तत्त्वान्तरव्यतिरिक्तेषु । + अ. प्राणव्यापारत्वम् । × अ. नेन्द्रियाधीनमित्यर्थः । = ग. इदमित्यारभ्य दिगन्तो ग्रन्थस्तदधिकः ।

यथाश्रुतमाख्यानसारेणोक्तम् । अन्ये तु बहिष्प्रतिज्ञाकल्पनादिदोषप्रस-  
ङ्गाद्यपदेशभेदस्य संज्ञाभेदरूपस्य तत्त्वान्तरत्वे साध्ये व्यभिचारित्वात्प्र-  
करणभेदरूपस्य तस्य ' भेदश्रुतेः ' इत्यनेन पौनरुक्त्यापातादत्राधिकर-  
णद्वयं कल्पयामासुस्तथा हि किमेकादश वागादय एवेन्द्रियाण्युत मुख्य-  
प्राणोऽपीति विषये ' इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम् ' इत्यादिपाणिनिस्मरणात्प्रा-  
णस्यापि वागादिवज्जीवभावापन्नपरमेश्वरलिङ्गत्वादिन्द्रियत्वमिति प्राप्ते  
सिद्धान्तः—श्रेष्ठान्मुख्यप्राणादन्यत्र ते वागादय एवेन्द्रियाणि । कुतः ।  
तद्यपदेशादिन्द्रियव्यपदेशादिन्द्रियशब्दस्य तेषु रूढेरिति यावत् । स्मरणं तु  
रूढस्यैवेन्द्रियशब्दस्य यथाकथंचिद्व्युत्पत्तिं दर्शयति गच्छतीति गौरिति-  
वदिति । नन्विदमयुक्तं प्राणव्यापारातिरेकेणेन्द्रियाणामसत्त्वादित्याक्षेप  
इदमारभ्यते—' भेदश्रुतेः ' ' वैलक्षण्याच्च ' इति । ' एतस्माज्जायते  
प्राणः ' इत्यादि दूषयतीत्यन्तमत्र पठितव्यम् । प्रकरणभेदाद्वैलक्षण्याच्च  
न प्राणव्यापारत्वमिन्द्रियाणामिति नोक्तवाक्यद्वयविरोध इतीदं भाष्य-  
दूषणमयुक्तम् । ' \*जगद्वाचित्वात् ' [ ब० सू० १ । ४ । १६ ]  
इत्यादौ बहिष्प्रतिज्ञादर्शनादिन्द्रियरूपाः प्राणाः श्रेष्ठादन्य इत्यन्त-  
प्रतिज्ञासंभवाच्चापुनरुक्तशब्दानामेकस्मिन्वाक्ये पृथग्जन्मव्यपदेशादिति  
हेतोर्भाष्ये विवक्षितत्वात्तत्सिद्ध्यर्थमेव सृष्टिवाक्यमुदाहृत्य प्राणेन्द्रि-  
यशब्दयोरपुनरुक्त्यप्रतिपादनात्प्राणस्य निर्विषयत्वेनेन्द्रियत्वसंशयायो-  
गादिन्द्रलिङ्गत्वेन संशये देहादावपि संशयप्रसङ्गान्निर्बीजमधिकरणद्वय-  
कल्पनमिति दिक् ॥ १९ ॥

एवं ' न विद्यदश्रुतेः ' [ ब० सू० २ । ३ । १ ] इत्यारभ्य भूताद्यु-  
त्पाद्यव्यापारभूतोत्पत्तिविषयश्रुतिविरोधो निरस्तः । इदानीमुत्पादक-  
व्यापारभूतोत्पादनविषयश्रुतिविरोधो निरस्यते । तत्रात्रिवृत्कृतभूतो-  
त्पादनं पारमेश्वरमेवेति श्रुतिषु निःशङ्कमवगतं, त्रिवृत्कृतभौतिकोत्पा-  
दने तु श्रुतिषु विप्रतिपत्तिर्दृश्यते । तथा हि—सदात्मकाद्ब्रह्मणस्तेजो-  
बलानां परोक्षत्वेन देवतापदयोग्यानां सृष्टिमुक्त्यपदिश्यते—' सेयं  
देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनाऽऽत्मनाऽनुप्रविश्य

(दी०।)ति' इतिश्रुतेः, प्रत्यक्षतश्चेन्द्रियेभ्यः प्राणस्य वैलक्षण्यात् । चकारां  
वाक्चक्षुषोरपि कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियकृतभेदसमुच्चयार्थः ॥ १९ ॥

(ब्र०व०१) नामरूपे व्याकरवाणीति 'तासां त्रिवृत्तं त्रिवृत्तमेकैकां करवाणीति' [ छा०६।३।२।३ ] सा सद्ब्रह्माख्या देवता पूर्वमीक्षणं कृत्वा व्यवहारायोग्यसूक्ष्मभूतान्युत्पादयित्वा तेन व्यवहाराभावाद्यवहारयोग्यभौतिकोत्पादनार्थं पुनरीक्षणप्रकारमाह—हन्तेत्यादिकरवाणीत्यन्तेन । अनेनेति पदात्पूर्व व्यवहारापेक्षायामिति शेषः । तत्र संशयः । किं जीवकर्तृकं त्रिवृत्कृतभौतिकोत्पादनमुत परदेवताकर्तृकमिति । संगतिस्तु पूर्वं नामरूपभेदात्प्राणेन्द्रिययोर्भेद इत्युक्तं तत्प्रसङ्गेन नामरूपव्याकरणं किंकर्तृकमिति विचार्यत इति प्रसङ्गलक्षणा बोध्या । तत्र लोके चारेण परसैन्यं प्रविश्य संकलयामीत्यादौ न राज्ञः साक्षात्संकलनकर्तृत्वं किंतु चारस्यैवेति यथा तद्वदनेन जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकमेष भौतिकोत्पादनमिति भवत्यस्य वाक्यस्य 'आकाशो ह वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता' [ छा० ८।१४।१ ] इति वाक्येन विरोध इति प्राप्ते ब्रूमः—

( सर्वजगत्सर्जने जीवस्याशक्तत्वादीशस्यैव सर्वशक्तिमत्त्वात्तस्यैव तन्निर्मातृत्वम्, अधि० ९ )

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २० ॥

तुशब्देन जीवकर्तृकत्वनिरासः । त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्यैव संज्ञामूर्तिक्लृप्तिर्नामरूपव्याकरणं कार्यं भवितुमर्हति । कस्मात् । सेयं देवतेत्युपक्रम्य व्याकरवाणीति व्याकरणस्य परदेवताकर्तृकत्वोपदेशात् । न चानेन जीवेनेति विशेषणाज्जीवकर्तृकत्वं मेरुसमुद्रादिनामरूपादिव्याकरणे सामर्थ्याभावरूपलिङ्गसहकृतसंनिधेर्बलीयस्त्वेनानेन जीवेनेत्यस्य संनिहितानुप्रविश्येत्यनेन संबन्धात्, अनेन जीवेनेत्यस्य गुणभूतस्य व्याकरवाणीत्यनेन प्रधानेनान्वययोग्यतालक्षणलिङ्गस्योक्तसंनिध्यपेक्षया दुर्बलत्वात्तस्मात्सर्वत्रेश्वरकर्तृकमेव नामरूपव्याकरणमित्यविरोध इति सिद्धम् ॥ २० ॥

(दी०१) पूर्वाधिकरणे प्राण इन्द्रियाणीति पृथङ्निर्देशात्तस्य च तेषां च तत्त्वान्तरत्वमुक्तं तद्वज्जीवेनेति श्रवणान्नामरूपयोरुत्पादनं जीवेन क्रियत इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—संज्ञेति । तुशब्दो जीवकर्तृत्वं वारयति । संज्ञाऽऽदित्यादिरूपा मूर्तिः सिताभितरूपा संज्ञामूर्त्योः क्लृप्तिः कल्पनं नामरूपव्याक्रियेत्येतत्त्रिवृत्कुर्वतः परमेश्वरस्य । कुतः । व्याकरवाणीत्युत्तमपुरुषोपदेशात् ॥ २० ॥

(ब्र० व० १) एवं यद्वाविज्ञातमिवाभूदित्येतासामेव देवतानां समासः '[छा० ६। ४। ७] इत्यन्तेन श्रुतिप्रबन्धेन तेजोब्रह्मज्ञानां त्रिवृत्करणमुक्त्वा तासामेव देवतानां बहिस्त्रिवृत्कृतानामध्यात्ममपरं त्रिवृत्करणमुक्तम्—' इमास्तिस्त्रो देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृद्वैकैका भवति '[छा० ६। ४। ७] इति तद्विदानीमाचार्यो यथाश्रुतं दर्शयति—

\* मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २१ ॥

अविज्ञातं विशेषरूपेणादृष्टमिवाभूदिति यत्स आसां तिसृणां देवतानां समासः समुदाय इति यावदिति श्रुत्यर्थः । इमास्तिस्त्रिवृत्कृता देवताः पुरुषं शरीरं प्राप्य त्रिवृत्कार्यत्रयरूपेणैकैकदेवता तेजआदिलक्षणा वर्तत इति द्वितीयश्रुत्यर्थः । तथा हि । पृथिव्या ब्रीहियवादि-रूपायाः पुरुषेणाशितायाः कार्यत्रयं शरीरे वर्तते पुरीषं मांसं मनश्चेति । एवं पीतानामपि मूत्रं लोहितं प्राणश्चेति कार्यत्रयम् । तेजसोऽन्यादि-क्षीपकस्य घृतादिरूपस्य कार्यत्रयमस्थि मज्जा वागिति । प्राणस्य जला-धीनस्थितिकत्वमात्रेण जलकार्यत्वव्यपदेशः । तस्य वायुकार्यत्वप्रसिद्धेः । एवं मनसोऽप्यन्नभक्षणे स्वास्थ्यमात्रेण तत्कार्यत्वम् । वाचोऽपि ज्ञाना-मुकूलत्वसाम्भवेन तेजःकार्यत्वव्यपदेश इति बोध्यम् । एवं देहे कार्यत्रय-रूपेण वर्तनमेवाऽऽध्यात्मिकं त्रिवृत्करणमिति । तदिदमाह सूत्रकारः— मांसादीति । भूमेरन्नात्मिकायाः कार्यं भौमं मांसादि । आदिपदेन पुरी-षमनसी गृह्येते । एवमितरयोरतेजसोः कार्यत्रयं यथाशब्दमवगन्तव्यमि-त्यर्थः ॥ २१ ॥

(दी० १) अस्तु बहिस्त्रिवृत्करणं यथाकथंचिदन्तस्तु त्रिवृत्करणं दुर्लभमित्यत आह—मांसादीति । पुरीषादीति वक्तव्ये तस्य शरीराद्वहिष्ठस्य दर्शनं यतस्तदाह । मांसादीति । मांसमादिर्यस्य मनःपुरीषस्य तदिदं मांसादि । भौमं भूमेर्विकारः । यथाशब्दं शब्दमनतिक्रम्यास्य कार्यस्याभिधानात् 'तस्य यः स्थविष्ठो धातुः' इत्यादिना । इतरयोश्चातेजसोरपि मूत्रलो-हितप्राणास्थिमज्जाधातवः कार्याणि । अतोऽन्तरपि त्रिवृत्करणम् ॥ २१ ॥

\* ख. पुरीषादीति वक्तव्ये तस्य शरीराद्वहिष्ठस्य दर्शनं यतस्तत आह—मांसादीति । मांसादिर्यस्य मनःपुरीषस्य तदिदं मांसादि भौमम् ।

(ब० व० १) एवमनेन सूत्रेण त्रिवृत्करणमेतदधिकरणविषयः प्रदर्शितस्तत्रेयं शङ्का भवति—ननु सर्वेषां त्रिवृत्करणे विशेषाभावादियं पृथिवीमा आप इदं तेज इत्यसाधारणो वृद्धव्यवहारः कथं संगच्छते कथं वाऽऽध्यात्मिक-व्यवहार इदं मांसादि पृथिवीकार्यमिदं जलस्येति तत्राऽऽह—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २२ ॥

तुशब्द उक्तशङ्कानिरासार्थः । सर्वेषां पृथिव्यादीनां त्रिवृत्करणावि-  
शेषेऽपि वैशेष्यात्स्वभागाधिक्यात्तद्वादः पृथिव्यादिवादः संगच्छत  
इत्यर्थः । अभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतनार्थस्तस्मात्सिद्धः श्रुतीनामविद-  
द्धानां ब्रह्मणि समन्वयः ॥ २२ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ द्वितीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

पूर्वस्मिन्पादे जीवोपकरणभूतभौतिकानि ब्रह्मणो जायन्त इत्युक्तं

(दी० १) एवं चेत्सर्वं त्रिवृत्कृतं कथं भूमिरियमित्यादिव्यपदेश इत्यत आह—  
वैशेष्यादिति । तुशब्दो भूम्यादिव्यपदेशाभाषनिवारणार्थः । तद्वादस्तस्य  
भूम्यादेर्वादो व्यपदेशो नानुपपन्नः । कुतः । वैशेष्याद्विशेषस्य भावो  
वैशेष्यं भूम्याद्याधिक्यं तस्मात् । तद्वाद इत्यभ्यासोऽध्यायपरिसमाप्तिं  
द्योतयति । वियत्पादे प्राणपादे च प्रथमं वियदाद्युत्पत्तिवादिन्यः  
श्रुतयो न सन्तीति विरोधाभावात्पूर्वपक्षाक्षेपः । अन्यत्र तच्छ्रुतीनां  
सत्त्वाच्छ्रुत्योर्विरोधात्प्रत्यधिकरणभुमयोरप्रामाण्यमिति पूर्वपक्षः । सिद्धान्तैकदेशिना तदप्रामाण्य\*मिति सिद्धान्तः ॥ ॥ २२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्यस्य

श्रीशंकरानन्दभगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रदीपिकायां द्वितीय-

स्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥ ४७॥ ८७ ॥

\* ख. °प्यनिराकरणं यत इति प्रस्तः पूर्वपक्षः । सिद्धान्तैकदेशिना निराकरणेन प्रकारान्तरे-  
ण प्रामाण्यनिराकरणमिति सिद्धान्तः ।



(ब० व० १) तदुपजीव्य तदुपहितस्य जीवस्य संसारप्रकारं वैराग्यार्थं निरूपयितुं देहान्तरारम्भे भूतसूक्ष्मसंपरिष्वक्तस्यैव लोकान्तरगमनमित्याह—

(जीवस्य भाविशरीरधीजरूपसूक्ष्मभूतवेष्टितस्यैवतो गमनम्, अधि० १)

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः

प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये ब्रह्माणि समन्वयस्य स्मृतिन्यायश्रुतिविरोधनिरासेनानध्यवसायलक्षणाप्रामाण्यनिरासे तार्तीयो विचारो भवतीत्यनयोरध्याययोर्द्वैतुर्हेतुमद्भावाः संगतिः । अत्र प्रथमपादे जीवस्य परलोकगमनागमनविचारेण वैराग्यं निरूप्यते ' तस्माज्जुगुप्सेत ' [ छा० ५ । १० । ८ । ] इति श्रुतेः । द्वितीयपादे त्वंपदार्थतत्पदार्थयोः परिशोधनं क्रियते । तृतीयपादे सगुणविद्यासु गुणोपसंहारः । चतुर्थपादे निर्गुणब्रह्मज्ञानस्य बहिरङ्गाणि यज्ञाभमादीन्यन्तरङ्गाणि शमादीनि च निरूप्यन्ते । अत्र श्लोकः—

तृतीये विरतिस्तत्त्वंपदार्थपरिशोधनम् ।

गुणोपसंहृतिर्ज्ञानबहिरङ्गादिसाधनम् ॥ इति ।

तथा च तत्तद्विचारात्मकत्वेन तत्तदधिकरणानां तत्तत्पादसंगतिर्बोध्या । तत्र जीवो मुख्यप्राणेन्द्रियसहकृतो मूलाविद्याधर्माधर्मपूर्वभ्रमसंस्कारात्मकपूर्वप्रज्ञासहकृतः पूर्वदेहं परित्यज्य देहान्तरं गच्छतीति श्रुतिसिद्धम् । तादृशो जीवः किं देहान्तरारम्भकैः पञ्चीकृतभूतभागेरेतद्देहवन्मुख्यप्राणादीनामाधारभूतैरसंपरिष्वक्तो गच्छत्युत संपरिष्वक्तो वेति संदेहे मानामावादसंपरिष्वक्तो गच्छतीति पूर्वपक्षः । तथा च निराधारप्राणादिगमनासंभवान्न वैराग्यमिति फलं, सिद्धान्ते तु तत्संभववाद्वैराग्यमिति बोध्यम् । तत्रायं सिद्धान्तः—तदन्तरप्रतिपत्तौ देहान्तरप्रतिपत्तौ तदारम्भकभूतैः संपरिष्वक्तो रंहति गच्छति । कुतः ।

(दी० १) पूर्वस्मिन्नध्यायेऽविरोधो ब्रह्माणि समन्वितानां वेदान्तानामुक्तः । इदानीं तत्प्राप्तिसाधनं ब्रह्मज्ञानं सोपायमिह चिन्त्यते । तत्रापि प्रथमे पादे पञ्चाग्निविद्यामाश्रित्यार्यं संसरणं चिन्त्यते वैराग्यार्थम्—तदन्तरेति ।

(ब० व० १) प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । तथा हि द्युलोकपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु पञ्चस्वग्निदृष्टोपासनाख्यपञ्चाग्निविद्याप्रस्तावे प्रवाहणाख्यस्य राज्ञः समां प्रविष्टं श्वेतकेतुं राजा पप्रच्छ—‘वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति’ [ छा० ५ । ३ । ३ ] अयमर्थः—अस्मिँह्लोके जलमयदधिपयःप्रभृतिद्रव्यकहोमे अन्ध्रापूर्वं कृते तद्भुतं जलं यजमानं प्राप्य तद्वारा द्युलोकाख्याग्निं गच्छच्छ्रद्धाख्याहुतित्वमापन्नं यजमानेन्द्रियाधिष्ठातृदेवास्तस्मिन्नग्नौ जुह्वति तच्च हुतं जलं सोमाख्यदेहात्मना परिणमते । स च जलमयो देहः पर्जन्येऽग्नौ वृद्धमिमानिदेवविशेषे हुतः सन्वृष्टिर्भवति । तदेव जलं सोमाख्यदेहभावं वृष्टिभावं चाऽऽपन्नं पृथिव्यामग्नौ हुतं सद्ब्रीहियवाद्यन्नभावमाप्नोति । ताश्चात्रान्नभावमापन्ना आपः पुरुषाग्नौ हुताः सत्यो रेतोभावमाप्नुवन्ति । ताश्च रेतोभावमापन्नाः पञ्चमाहुतिरूपा आपो योषिदग्नौ हुता गर्भात्मना स्थिताः पुरुष इति संज्ञां लभन्त इति पुरुषवचस्त्वमपामिति वस्तुगतिः । तां वस्तुगतिं जानन्नेव राजा पञ्चम्यामाहुतौ हुतायां यथा पुरुषशब्दाख्या आपः पुरुषाकारेण परिणमन्ते तथा किं त्वं वेत्थेति पप्रच्छ । एवं पृष्टः श्वेतकेतुः पितरं गौतममागत्योवाचैवं राज्ञाऽहं पृष्टोऽस्मि तस्योत्तरं न जानामीति । स च गौतमः स्वयमप्यज्ञः सन्नाजसमीपं गत्वा तां विद्यां ब्रूहीत्युवाच । एवमुक्तस्य राज्ञो गौतमं प्रति निरूपणं पञ्चाग्निविद्योपदेशस्तत्र चापां पुरुषवचस्त्वप्रकारः स्फुटीकृतः । एवं प्रश्ननिरूपणाभ्यामबादिभूतसंपरिष्वक्तो रंहतीति गम्यते ॥ १ ॥

ननूक्तप्रश्ननिरूपणाभ्यामद्भिः संपरिष्वक्तो गच्छतीति गम्यते तथा च कथमभितरभूतपरिष्वङ्गः सिद्धस्तत्राऽऽह—

त्र्यात्मकत्वात् भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

नुरुक्तचोद्यनिरासार्थः । अपां त्रिवृत्करणश्रुत्या त्र्यात्मकत्वाद्देहस्य यजमानद्वारा निर्गताब्जन्यत्वे सिद्ध इतरभूतद्वयजन्यत्वं तत्परिष्वङ्गश्च

(दी० १) पूर्वशरीराच्छरीरान्तरं तदन्तरं तस्य प्रतिपत्तौ प्राप्तौ भूतसूक्ष्मैः परिष्वक्तो रंहति गच्छति । कुतः । प्रश्ननिरूपणाभ्याम् । प्रश्नः, ‘वेत्थ यथा पञ्चम्यामाहुतावापः’ इत्यादि । निरूपणं च ‘इति तु पञ्चम्यामाहुतावापः’ इति आभ्याम् ॥ १ ॥

उदाहृते प्रश्ननिरूपणे अब्बेष्टितत्वं गमयतो न तु तदन्यैर्भूतसूक्ष्मैः परिष्वेष्टितत्वं गमयत इत्यत आह—त्र्यात्मकत्वादिति । तुशब्दश्चोदित-

(ब० व० १) सिध्यति । यद्वा वातपित्तश्लेष्मभिस्त्रिभिः शरीरस्य त्रयात्मकत्वा-  
ज्जलमाश्रज्यत्वं न संभवति वातपित्तयोर्वायुतेजःकार्यत्वात्तथा चाबि-  
तरभूतचतुष्टयजन्यत्वमपि गन्धस्वेदपाकप्राणावकाशानां पञ्चभूतका-  
र्याणां दर्शनात् । तर्हि श्रुतावब्रह्मणं कथं तत्राऽऽह—भूयस्त्वादिति ।  
यद्यपि देहे पृथिवीभूयस्त्वमेव तथाऽपि तेजआद्यपेक्षयाऽपां भूयस्त्वं  
बोध्यम् ॥ २ ॥

प्राणगतेश्च ॥ ३ ॥

प्राणानां मुख्यप्राणचक्षुरादीनां जीवद्वशायां देहात्मना स्थितभूता-  
श्रितानां गमनदर्शनात् । ‘तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रा-  
मन्तः सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति’ [ बृ० ४ । ४ । २ ] इति श्रुत्या  
मरणकाले प्राणानां गतिश्रवणाद्भूताश्रिता एव प्राणा गच्छन्तीति  
वक्तव्यं तथा च भूतसंपरिष्वक्तस्य रहणमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ४ ॥

ननु ‘यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षु-  
रादित्यम्’ [ बृ० ३ । २ । १३ ] इत्यादिना वागादीनां प्राणा-  
नामग्न्यादिषु देवेषु गतेर्लयस्य श्रवणान्न तेषां लोकान्तरं प्रति गति-  
र्यया भूतसंपरिष्वङ्गसिद्धिः स्यादिति चेन्न । ‘प्राणमनूत्क्रामन्तः

(दी० १) शङ्कानिवृत्त्यर्थः । नायं दोषः । त्रयात्मकत्वात् । तेजोबन्नात्मकत्वात् ।  
अपां त्रयात्मकत्वे कुतोऽपां व्यपदेश इत्यत आह—भूयस्त्वात् । तासा-  
मपां सायंप्रातराहुतिमारभ्य यावद्भूयस्त्वात् ॥ २ ॥

ननु आहुतिद्वाराऽदृष्टेन संपरिष्वक्तो गच्छतीति गम्यते न तु भूतसू-  
क्ष्मैरित्यत आह—प्राणेति । प्राणानां गतिः प्राणगतिः ‘तमुत्क्रामन्तम्’  
इत्यादिनोक्ता तस्याः । प्राणानां सूक्ष्माश्रयाणामवगतिरित्यर्थः । चकारः  
‘स एतास्तेजोमात्राः’ इत्यादिश्रुतिं प्रमाणत्वेन समुच्चिनोति ॥ ३ ॥

अग्न्यादीति । ‘अग्निं वागप्येति’ इत्यग्निगतिश्रुतिः । आदिशब्देन  
‘वातं प्राणः’ इत्यादि । तस्याश्च न प्राणानामाश्रयत्वेन भूतसूक्ष्मत्वमिति  
चेत्तन्न । कुतः । भाक्तत्वात् । प्राणानां जीवेन सह गमनात्प्राणानाम-

(ब्र० व० १) सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति ' [ बृ० ४।४। २ ] इति श्रुतिविरोधेन यत्रास्येत्यादिश्रुतेः ' ओषधीर्लोमानि वनस्पतीन्केशाः ' [ बृ० ३। २। १३ ] इति सहपाठेन भाक्तत्वावगमात् । न हि मृतस्य लोमानि केशाश्च प्रत्यक्षेण दृश्यमाना ओषधिवनस्पतिषु लयं गच्छन्तो दृश्यन्ते । अतस्तत्सहपाठादग्न्यादिषु वागादिलय औपचारिक इत्यर्थः ॥ ४ ॥

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ५ ॥

ननु द्युलोकादिषु पञ्चाग्निष्वपामाहुतित्वे सिद्धे पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रकारो निश्चेतुं शक्यते तदेव नास्ति प्रथमे द्युलोकाख्याग्नावपामाहुतित्वस्याश्रवणात्किं तु 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः श्रद्धां जुह्वति' [ छा० ५। ४। २ ] इति प्रथमेऽग्नौ श्रद्धैवाऽऽहुतित्वेन श्रूयत इति चेन्न । हि यतस्ता एवाऽऽपः श्रद्धाशब्देनोच्यन्ते । कुतः । उपपत्तेः । अपां हि होमद्रव्यत्वेनाऽऽहुतित्वं संभवति । मनोवृत्तिविशेषरूपश्रद्धा तु मनसः सकाशात्पृथक्कृत्य होमायोपादातुं न शक्यते तदाहुतिजन्यसोमाख्यशरीरादेरब्बाहुल्यानुपपत्तिश्च । तस्माच्छ्रद्धापूर्वस्मिंलोकेऽबहुलदधिपयःप्रभृतिद्रव्यस्य हुतस्य द्युलोकाग्नावाहुतित्वेन पर्यवसानादप्सु श्रद्धाशब्दो लाक्षणिक इत्यर्थः । 'आपो हास्मै श्रद्धां संनमन्ते पुण्याय कर्मणे' इति श्रुतावपां श्रद्धाजनकत्वश्रवणात्तेन संबन्धेन चाप्सु श्रद्धाशब्दस्य लक्षणा । अस्मै पुंस आपो दर्शनमात्रेण स्नानादिपुण्यकर्मसिद्ध्यर्थं श्रद्धां संनमन्ते जनयन्तीति श्रुत्यर्थः ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

ननु भवतु सोमवृष्ट्यादिक्रमेण पञ्चम्यामाहुतावपां पुरुषवचस्त्वप्रका-

(दी०) ग्न्यादिगतिश्रुतिर्भाक्तोपचारिता ' ओषधीर्लोमानि ' इतिवत्तस्या भावो भाक्तत्वम् । तस्मात् ॥ ४ ॥

प्रथम इति । प्रथमे 'अग्नौ श्रद्धां जुह्वति' इत्येतस्मिन्नपामश्रवणान्नापां सर्वत्रानुवृत्तिरिति चेत्तन्न । ता एव हि यस्मादुपपत्तः । अपां कारणानां कार्यस्य श्रद्धाख्यशब्दस्य सद्भावः । 'आपः' इति श्रुतेरपि ॥ ५ ॥

अश्रुतत्वादिति । प्रश्ननिरूपणाभ्यां जीवानामश्रुतत्वादंश्वे(व्वे)ष्टि-

(ब्र० ५०१) रस्तथाऽप्यद्यादिभूतपरिष्वक्तो जीवो रंहतीत्युक्तमेव, अद्यादिव-  
जीवस्य रंहणकर्तृत्वस्याश्रुतत्वादिति चेन्न । इष्टादिकारिणां प्रतीतेः । 'अथ  
य इमे ग्राम इष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति' [ छा० ५ ।  
१० । ३ ] इत्यादिना गार्हस्थ्ये स्थित्वेष्टापूर्तादिकर्मकारिणां धूमादिमार्गेण  
चन्द्रलोकप्राप्तिमुक्त्वा तानिष्टादिकारिणश्चन्द्रलोकस्थान्सोमराजशब्देन  
निर्दिशति 'एष सोमो राजा' [ छा० ५ । १० । ४ ] इति ।  
इहापि पञ्चाग्निविद्यायां 'तस्मिन्नेतस्मिन्नग्नौ देवाः भञ्ज्यां जुह्वति  
तस्या आहुतेः सोमो राजा संभवति' [ छा० ५ । ४ । २ ] इति  
सोमराजशब्दश्रवणात् एवेष्टादिकारिणः प्रतीयन्तेऽतो भूतसंपरिष्वक्त-  
जीवानां रंहणमित्यर्थः ॥ ६ ॥

नन्विष्टादिकारिणां भूतपरिष्वक्तानां चन्द्रलोकं प्रति रंहणं कर्मफल-  
भोगायेत्येतदसंगतं 'ते चन्द्रं प्राप्यान्नं भवन्ति तास्तत्र देवा यथा  
सोमः राजानमाप्यायस्वापक्षीयस्वेत्येवमेनास्तत्र भक्षयन्ति' [ बृ०  
६ । २ । १६ ] इति श्रुतौ लोकं गतानामिष्टादिकारिणामन्नत्वेन भक्षय-  
त्वश्रवणात् । यथा यज्ञे सोमं राजानं चमसस्थमुत्विज आप्यायस्व  
पुनराप्याय्याऽऽप्याय्यापक्षीयस्व पुनःपुनरपक्षय्यापक्षय्य भक्षयन्त्येवमे-  
नान्कर्मिणो देवा भक्षयन्तीति श्रुत्यर्थः । तत्रोत्तरमाह—

भाक्तं वाऽनात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ७ ॥

वाशब्दश्चोदितदोषनिरासार्थः । तेषामिष्टादिकारिणामन्नत्वं भाक्त-  
मेव न मुख्यमन्यथा 'स्वर्गकामो यजेत' इति श्रुतिबाधप्रसङ्गात् ।  
अतः कर्मिणां देवान्प्रति पुत्रभार्यादिवद्भोगोपकरणत्वमात्रेणान्नत्वव्य-  
पदेशः । कर्मिणामनात्मवित्त्वाच्च देवान्प्रति गुणभावेन भोग्यत्वं तथा  
हि श्रुतिरनात्मविदां देवभोग्यत्वं दर्शयति—'अथ योऽन्यां देवता-

(दी० १) तानां ग्रहणमयुक्तमिति चेत्तन्न । कुतः । इष्टादिकारिणाम् 'अथ य  
इमे ग्रामे' इत्यादिना दक्षिणमार्गेण चन्द्रं यियासतां प्रतीतेः ॥ ६ ॥

'तद्देवानामन्नं यद्देवा भक्षयन्ति' इति श्रुतेश्चन्द्रप्राप्तिरपुरुषार्थ इति चेत्त-  
त्राऽऽह—भाक्तमिति । वाशब्दश्चन्द्रप्राप्तेरपुरुषार्थत्वव्यावृत्त्यर्थः । तेषां  
देवानामन्नत्वं भाक्तमुपचरितम् । कुतः । अनात्मवित्त्वात्तेषाम् । हि यस्मा-

(ब्र० ४०।)मुपास्तेऽन्योऽसाधन्योऽहमस्मीति न स वेद यथा पशुरेवं स देवानाम्' [ बृ० १।४।१० ] इति । भेददृष्टीनामनात्मविस्वात्पशुवद्देवानामुपकरोति हविरादिदानेनेति देवभोग्य इति श्रुतितात्पर्यम् । यद्वाऽनात्मविस्वादित्यादिसूत्रभागस्यायमर्थः—पञ्चाग्निविद्याविद्वानाऽऽत्मविच्छब्देनोच्यते । तथा चाऽऽत्मवित्पञ्चाग्निविद्यावित्स न भवतीत्यनात्मवित्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । केवलेटादिकारिणां पञ्चाग्निविद्यानभिज्ञानां देवान्प्रत्यन्नभावेन भोगत्वं पञ्चाग्निविद्याप्रशंसार्थं गौणमेव श्रुतावुक्तमिति भावः । नन्वन्नत्वस्य मुख्यत्वेऽपि प्रशंसा संभवतीत्यत आह—तथाहीति । यथाऽन्नत्वस्य गौणत्वं तथा हि श्रुतिर्दर्शयति 'स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते' [ प्र० ५।४ ] इति । तस्येष्टादिकारिणः सोमलोके विभूत्यनुभवोऽन्नत्वस्य मुख्यत्वे न संभवति तस्मादन्नत्वस्य गौणत्वात्परलोके भोगार्थं भूतसंपरिष्वक्तस्य रंहणमिति सिद्धम् ॥ ७ ॥

(कर्मान्तरैः सानुशयस्य जीवस्य लोकान्तरारोहणम्, अधि० २ )

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च ॥ ८ ॥

पूर्वकर्मसमवेतानामपा पञ्चमाहुतौ पुरुषात्मना परिणामश्रवणं हेतुमाश्रित्यावादिभूतपरिवेष्टितस्य जीवस्य रंहणमुक्तं तदयुक्तं, स्वर्गादवरोहतां जीवानां कर्माभावेन तत्समवेतापामप्यभावादिपक्षेपसंगतिः । पूर्वपक्षे चन्द्रलोकभोगानन्तरं तस्मादवरोहतां कर्माभावेन तदनुगुणतिर्यगादियोनिप्राप्त्यभावाच्च कर्मफलषु वैराग्यमिति फलं सिद्धान्ते

(दी०।) यथाऽस्माभिस्तेषामन्नत्वं भोग्यत्वेनोक्तं तथा श्रुतिर्दर्शयति 'अथ योऽन्याम्' इत्यादिना ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरणेऽवरोहेऽपि (ब्र०)वेष्टितस्य जीवस्य पञ्चम्यामाहुतावाप इत्युपलम्भादारोहेऽपि कर्मसमवायिनीभिरद्भिः परिवेष्टितो गच्छतीत्युक्तम् । इदानीमवरोहे कर्माभावादपामप्यभाव इत्याक्षिप्य समाधत्ते—कृतेति । कृतस्य पुण्यस्यात्यये विनाशेऽनुशयवान्कर्मानुशयवानत्राऽऽगच्छति वृष्टा जातमात्रस्य सुखाद्यवाप्तिः । अथ वा 'तद्य इह रमणीयचरणाः'

(ब्र० व० १) कर्मणः सत्त्वाद्वैराग्यमिति विवेकः । एवं हि स्वर्गिणामवरोहणं श्रूयते—‘तस्मिन्यावत्संपातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते’ [छा० ५। १०। ५] इत्यारभ्य रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः कपूयां योनिमिति तस्मिंश्चन्द्रलोके यावद्भोक्तव्यकर्मोषित्वा भोक्तव्यकर्मसमाप्त्यनन्तरमेतमेव वक्ष्यमाणमध्वानमाकाशवायुधूमाभ्रादिरूपं प्रति पुनरागच्छन्ति, ते चाऽऽगता रमणीयचरणाः पुण्यकर्माणां ब्राह्मणादिपुण्ययोनिं प्रविशन्ति कपूयचरणाः कुत्सितकर्माणस्तिर्यगादियोनौ जायन्त इति तत्र संशयः—किं स्वर्गादवरोहन्तः सानुशया उत निरनुशया इति । अनुशयशब्देनाऽऽमुष्मिकफलप्रापककर्मातिरिक्तं कर्मोच्यते । तत्र यावत्संपातमुषित्वेति सर्वकर्मनाशानन्तरमवरोहणश्रवणान्निरनुशया एवावरोहन्तीति प्राप्ते ब्रूमः । कृतस्य स्वर्गमुखप्रापककर्मजातस्य भोगेनात्यये नाशेऽनुशयवानेवावरोहति । कुतः । दृष्टस्मृतिभ्याम् । तथा हि दृष्टा प्रत्यक्षा श्रुतिः ‘तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा’ [छा० ५। १०। ७] इति । तेषां कर्मिणां मध्ये ये केचिदिह कर्मभूमौ पुण्यं कृतवन्तस्ते स्वर्गादवरोहन्तो रमणीयां ब्राह्मणादियोनिमापद्येरन्निति । यत्तदभ्याशो ह क्षिप्रं ह्यवश्यमेवेत्यर्थः । योनिशब्दः स्थानवचनः शरीरं ब्रूते । यद्वा लोके जन्मनैव प्रतिप्राण्युच्चावचमध्यरूपभोगो दृष्टः स च निरनुशयानामवरोहाङ्गीकार आकस्मिक एव स्यादिति सूत्रस्थदृष्टशब्दार्थः । स्मृतिरपि ‘वर्णा आश्रमाश्च स्वकर्मनिष्ठिताः प्रेत्य कर्मफलमनुभूय ततः शेषेण विशिष्टदेशकालकुलरूपायुःश्रुतवित्तवृत्तमुखमेधसो जन्म प्रतिपद्यन्ते’ [गौ० शा० ११। २९] इति सानुशयानामेवावरोहणं दर्शयति । वर्णा वर्णिन आश्रमा आश्रमिणः । प्रेत्यास्माल्लोकात्समुत्थाय चन्द्रलोकमधिरुह्येत्यर्थः । ततः शेषेण भुक्तफलादन्येन कर्मणाऽनुशयाख्येन जन्म प्रतिपद्यन्त इति संबन्धः । श्रुतं ज्ञानं वृत्तमाचारः । देशादयो विशिष्टा येषां ते तथोक्ता इति । यत्तु ‘यावत्संपातमुषित्वा’ [छा० ५। १०। ५] इति सकलकर्मनाशानन्तरं श्रवणमिति तत्र यावत्पदस्य स्वर्गे भोक्तव्याशेषकर्मपरत्वेन

(दी० १) इत्याद्या श्रुतिः । स्मृतिरपि ‘तच्छेषेण विशिष्टम्’ इत्याद्या । ताभ्यां

(ब्र० व० १) सकलकर्मपरत्वाभावादिति । तस्मात्सिद्धं सानुशयानामवरोहणम् । ते च कर्मिणोऽवरोहे येन मार्गेण चन्द्रलोकमारूढास्तेनैव मार्गेणावरोहन्त्युत मार्गविशेषेणेति प्रश्न उत्तरमाह—यथेतमनेवं चेति । धूमाकाशयोरेवाऽऽरोहणमार्गे श्रुतयोरवरोहणमार्गे श्रुतत्वाद्यथेतं यथागतमवरोहन्तीति गम्यते । पूर्वश्रुतानां राज्यादीनामभवणादभ्राद्यधिकश्रवणाच्चा-नेवं पूर्वमार्गविपरीतमार्गेणावरोहन्ति न यथाश्रुतपूर्वमार्गेणेत्यर्थः ॥ ८ ॥

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्णार्जिनिः ॥ ९ ॥

ननु रमणीयचरणा रमणीयां योनिमापद्यन्त इति श्रुतिबलात्सानुशयानामवरोहणमित्येतदसंगतं तस्यां श्रुतौ चरणाद्योन्यापत्तिभ्रवणाच्चरणस्याऽऽचारात्मकस्य कर्मणोऽनुशयाद्विन्नत्वादिति चेन्नायं दोषो यतः काष्णार्जिनिराचार्य इयं चरणश्रुतिरनुशयोपलक्षणार्थेति मन्यते ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ १० ॥

ननु चरणश्रुतिरनुशयोपलक्षणार्थे यसंगतं चरणस्यैव सदाचारदुराचारात्मकस्य सदसद्योनिप्रापकत्वसंभवादित्यथा कर्मण एवानुशयाख्यस्य सदसद्योनिप्रापकत्वे चरणस्याऽऽनर्थक्यं स्यादिति चेन्न । इष्टादिकर्मणां चरणाख्याचारनिर्वर्त्यत्वेन चरणापेक्षत्वात्तत्र चरणस्यार्थवत्त्वादित्यर्थः ॥ १० ॥

(दी० १) चाऽऽगच्छति यथेतं यथागतमनेवं च तद्विपर्ययेणापि अमावादिरूपेण प्रकारान्तरेणापि ॥ ८ ॥

चरणादिति । तद्य इह रमणीयचरणादागमनं नानुशयादिति चेन्न । यतस्तस्यानुशयस्योपलक्षणार्थं चरणश्रुतिरिति काष्णार्जिनिराचार्यो मन्यते ॥ ९ ॥

आनर्थक्यमिति । चरणशब्दस्य श्रौतशीलार्थपरित्यागेन लाक्षणिका-नुशयस्वीकारे शीलस्याऽऽनर्थक्यं प्रयोजनशून्यतैव स्यादिति चेन्न । तदपेक्षत्वात् । तस्य शीलस्यापेक्षा यस्य कर्मणः 'आचारहीनम् ।' इत्यादिस्मृतेस्तदपेक्षं तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात् ॥ १० ॥



(ब्र० १०१) वस्तुतः कर्मचरणयोर्न भेद इत्याह—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ११ ॥

बादरिस्त्वाचार्यः सुकृतदुष्कृते एव चरणशब्देनोच्येते इति मन्यते । लोक इष्टादिकारिणि धर्मं चरत्येष महत्तमेति कर्मचरणयोरभेदेन प्रयोग-दर्शनादित्यर्थः । तस्मादिष्टादिकारिणां चन्द्रलोकं गतानां पुनरवरोह-णेऽनुशयोऽस्तीति सिद्धम् ॥ ११ ॥

एवमिष्टादिकारिणां गतिं विचार्य तेभ्यो निकृष्टानामनिष्टादिका-रिणां गत्वागती विचारयितुमिष्टादिकारिण एव चन्द्रलोकं गच्छन्तीत्ये-तदाक्षिपति—

( पापिनां याम्यलोकगमनम् , अधि० ३ )

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ १२ ॥

अत्र पापिनां शुभमार्गेण गमनमपि नास्तीति सिद्धान्तोक्त्या वैरा-ग्यदृढीकरणात्पादसंगतिः । पूर्वपक्ष इष्टानिष्टकारिणामविशेषेण चन्द्र-लोकगतेरिष्टादिकरणं व्यर्थमिति फलंति सिद्धान्ते पापिनां चन्द्रलोक-गत्यभावात्तदर्थं यज्ञादिकरणं सार्थकमिति विवेकः । अत्र पापिनां चन्द्रलोकगतिरस्ति न वेति संदेहेऽस्तीत्याह—अनिष्टेति । इष्टादिकारि-णामिवानिष्टादिकारिणामपि चन्द्रलोकगमनं ' ये वै के चास्माल्लोका-त्प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति ' [ कौ० १ । २ ] इति श्रुत्या श्रुतमतो धर्मिण एव चन्द्रलोकं गच्छन्तीत्येतदसंगतमित्यर्थः ॥ १२ ॥

(दी० १) सुकृतेति । बादरिराचार्यश्चरणशब्देन सुकृतदुष्कृते एवाभिधीयेते इति मन्यते तु शब्दो लक्षणाध्यावृत्त्यर्थः ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे यावच्छ्रुतेरारब्धफलविषयत्वेन संकोचः कृतस्ततोऽ-न्येन कर्मणा वर्तत इत्युक्तमत्र तु चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति सर्व-श्रुतेस्तद्वन्न संकोच इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिपति—अनिष्टेति । इष्टापू-र्तादिव्यतिरिक्तं कुर्वन्तीति अनिष्टादिकारिणो, ये तेषामप्यविशेषेण ये वै के चेत्युपक्रम्य चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्तीति श्रुतं यतोऽतश्चन्द्र-गमनम् । चकारो याक्तिकत्वप्रदर्शनार्थः ॥ १२ ॥

(ब्र०व०१)ननु धर्मिणामधर्मिणां च चन्द्रलोकगमनं पापिनां नरकप्राप्ति-  
बोधकशास्त्रविरुद्धमिति चेन्न पापिनां चन्द्रलोकगमनाङ्गीकारेऽपि तत्र  
भोगानङ्गीकारात्किंतु चन्द्रलोकगमनमात्रं कृत्वा ततोऽवरोहतां  
पापिनां नरकेष्वेवानुभव इति प्राप्ते ब्रूते—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहाव-

रोहौ तद्गतिदर्शनात् ॥ १३ ॥

तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः । मोगार्थं हि चन्द्रलोकगमनम् । तत्र पापिनां  
भोगासंभवात्तद्गमनं व्यर्थमेवातश्चन्द्रलोकमेव ते सर्वे गच्छन्तीति [भुति-  
रिष्टादिकारिमात्रविषया । सर्वे सुकृतिन एव चन्द्रलोकं गच्छन्तीति ।  
पापिनस्तु यमलोकमारुह्य संयमने यमालये स्वपापानुरूपा यामीयांतना  
अनुभूय पुनरिमं लोकं प्रत्यवरोहन्तीत्येवंभूतावेवेतरेषां पापिनामारो-  
हावरोहौ भवतः । कुतः । तद्गतिदर्शनात् । यमलोकगतेः भुतौ दर्शना-  
दित्यर्थः । 'न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम् ।

अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे' [क०१।२।  
६ ] इति । 'वैवस्वतं संगमनं जनानाम्' [ ऋ० सं० मं १०।१४ । १ ]  
इत्यादिकं पापिनां यमलोकगतौ लिङ्गम् । सम्यगवश्यंभावेन परः  
परस्ताद्देहपातादूर्ध्वमयते गम्यत इति व्युत्पत्त्या संपरायः परलोकः ।  
तत्साधनभूतकर्मविशेषः सांपरायः । स बालमविधेकिनं विशेषतो वित्त-  
निमित्तेन मोहेन मूढं छन्नदृष्टिमत एव प्रमाद्यन्तं प्रमादं विषयासक्तिं  
कुर्वन्तं प्रति न भाति । स च बालो न केवलमज्ञ एव किंतु विपरीत-  
दर्शी यतोऽयमेव लोकोऽज्ञपानादिस्ति न पर इति मननशीलस्त-  
स्मात्तदनु रूपं पापमाचरन्पुनःपुनर्जन्ममरणप्राप्त्या मे मम वशमापद्यत  
इति मृत्योर्नचिकेतसं प्रति वचनम् । जनानां परलोकं गतानां  
पापिनां संगमनं सम्यग्गम्यं वैवस्वतं यमं राजानं हविषा प्रीणय-  
तेत्यर्थः ॥ १३ ॥

(दी०१)संगमन इति । तुशब्दोऽनिष्टादिकारिणां चन्द्रगतिं व्यावर्तयति ।  
संयमने याम्ये पुर इतरेषामनिष्टादिकारिणां दुःखानुभवार्थं आरोहः,  
दुःखमनुभूयावरोहः । तावेवाऽऽरोहावरोहौ । कुतः । तद्गतिदर्शनात् ।  
तदयाम्यं पुरं वा तस्याः 'पुनर्वशमापद्यते मे' 'वैवस्वतं संगमनं जना-  
नाम्' इत्याभ्यां दर्शनात् ॥ १३ ॥

स्मरन्ति च ॥ १४ ॥

(ब्र० १०१) मन्वाद्यः शिष्टाः पापिनां नरकभोगं स्मरन्त्यतश्च धर्मिणामेव चन्द्रलोकगमनं नान्येषामित्यर्थः ॥ १४ ॥

अपि च सप्त ॥ १५ ॥

सप्त रौरवाद्यो नरकाः पापफलभूमित्वेन स्मर्यन्ते पौराणिकैस्तान्पापिनः प्राप्नुवन्तीति न चन्द्रलोकप्राप्तिरिति भावः ॥ १५ ॥

ननु पापिनो यमसंबन्धिनीर्यातना अनुभवन्तीति यदुक्तं तदसंगतं रौरवादिषु चित्रगुप्तादीनामधिष्ठातृत्वस्मरणादित्यत आह—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ १६ ॥

तत्रापि रौरवादिषु तस्यैव यमस्याधिष्ठातृव्यापारादविरोधश्चित्रगुप्तादीनां यमप्रयुक्तत्वादिति भावः ॥ १६ ॥

उपासकानामर्चिरादिमार्गः केवलकर्मिणां धूमादिमार्ग इति श्रुतिस्मृत्यादिषु व्यवस्था तथा चैतन्मार्गद्वयभ्रष्टानां पापिनां तृतीयमार्गोक्तेरपि न तेषां चन्द्रप्राप्तिरित्याह—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ १७ ॥

पञ्चाग्निविद्यायां प्रवाहणाख्येन राज्ञा मृतैर्जनैर्बहुभिश्चन्द्रलोकः

(श्री०१)स्वैपुरुषवचनविश्वासिनां नैतावता प्रत्यय इत्यत आह—स्मरन्तीति । स्मरन्ति च व्यासादयः संयमने गमनं तेषाम् । चकारः प्रसिद्धिसमुच्चयार्थः ॥ १४ ॥

तथाऽपि लोकपालपुरे कथं दुःखत्वमित्यत आह—अपि सप्तेति । अपि सप्त नरका महारौरवप्रभृतयः स्मर्यन्ते पौराणिकैः ॥ १५ ॥

ननु न यमायत्तास्ते तेषु चित्रगुप्तादीनां स्मरणादित्यत आह—तत्रापीति । तत्रापि तेषु अपि रौरवादिषु तद्व्यापारस्तस्य यमस्य व्यापारः समाज्ञा तस्माद्यमायत्तत्वमस्य । चित्रगुप्तादीनामप्यविरोधः । चकारः शङ्कोया अतिमन्दत्वसूचनार्थः ॥ १६ ॥

ननु मार्गद्वयस्य प्रकृतत्वादन्यतरेण तैरपि गन्तव्यमित्यत आह—विद्येति । एतयोः पथोरिति विद्याकर्मणोर्ग्रहणमिति यस्मात्तयोः 'तद्य

(ब्र० व० १) कथं न संपूर्यते तत्प्रकारं किं त्वं न जानासीति श्वेतकेतुः पृष्ट-  
स्तस्य प्रश्नस्य श्वेतकेतुपितरं गौतमं प्रति राज्ञ एव प्रतिवचनं श्रूयते 'अथै-  
तयोः पथोर्न कतरेणचन तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि  
भवन्ति जायस्व भ्रियस्वेत्येतत्तृतीय\* स्थानं तेनासौ लोको न संपूर्यते'  
[ छा० ५ । १० । ८ ] इति । अत्रैतयोरिति पदस्यार्थमाह सूत्रकारः—  
विद्याकर्मणोरिति । अर्थ इति शेषः । कुतः । विद्याकर्मणोरेव देवया-  
नपितृयाणात्मकमार्गद्वयसाधनत्वेन प्रकृतत्वात्प्र\*कृतवाचकत्वमेतच्छ-  
ब्दस्य युक्तमित्यर्थः । एतदुक्तं भवति—एतयोर्विद्याकर्मणोः पथोर्मार्ग-  
साधनयोरन्यतरेण मार्गसाधनेन विद्यया कर्मणा वाऽन्य+तरस्मिन्पथि  
नाधिकृताः पापिनस्तेषां क्षुद्रजन्तुलक्षणोऽसकृदावर्तिजन्ममरणबाहुल्य-  
युक्तस्तृतीयः पन्था इति न चन्द्रप्राप्तिरिति श्रुतौ जायस्व भ्रियस्वे-  
त्यनेन जन्ममरणबाहुल्यमुक्तम् । स्थानशब्दो मार्गद्वयोपक्रमानुरोधात्तृ-  
तीयं मार्गं लक्षयति । सूत्रे तुशब्देन चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छ-  
न्तीतिश्रुतिप्रयुक्तशङ्कानिरासः कृतः सर्वशब्दस्य पुण्यपुरुषमात्रपरत्वा-  
दिति भावः ॥ १७ ॥

ननु पापिनामस्मिँलोके देहप्राप्त्यर्थं चन्द्रलोकगमनमङ्गीकर्तव्यं  
'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' [ छा० ५ । ३ । ३ ]  
इत्याहुतिसंख्यानियमेन देहप्राप्त्यभिधानादन्यथा संख्यानियमामाषप्र-  
सङ्ग इत्यत आह—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ १८ ॥

तृतीयमार्गे प्रविष्टानां पापिनां देहप्राप्त्यर्थमाहुतिसंख्यानियमो  
नाऽऽदरणीयः । कुतः । तथोपलब्धेः । संख्यानियमं विनैव 'जायस्व  
भ्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' [ छा० ५ । १० । ८ ] इति श्रुतौ तृती-  
यमार्गे देहप्राप्तेरुपलब्धेरित्यर्थः । इष्टादिकारिणाभेदायं संख्यानियम

(दी० १) इत्थं विदुः' इति विद्या 'इष्टापूर्ते दत्तम्' इति कर्म । प्रकृतत्वात् ।  
पूर्वमुक्तत्वात्तेषां च तयोरभावादतो नान्यतरेण गमनम् । तुशब्दो  
जायस्व भ्रियस्वेत्यनेन तृतीयं स्थानं दर्शयति ॥ १७ ॥

तथा स्याद्भूतिपञ्चकपूरणार्थं चन्द्रमसि तेषामपि गमनमित्यत आह—

\* ख. उक्तवाचकत्वम् । + ख. तत्कस्मिन्नपि ।

(ब्र० १०१) इति भावः । किंच 'पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति' पञ्चम्यामाहुतावापां पुरुषवचस्त्वं प्रतिपाद्यते नापञ्चम्यामाहुतौ पुरुषवचस्त्वं निषिध्यते वाक्यभेदप्रसङ्गात् । तथा च ये चन्द्रं गतास्तेषां संख्यानियम इतरेषां तु विनैव संख्यानियमं भूतान्तरप्रविष्टाभिरद्भिर्देह आरभ्यत इत्यनियमः ॥ १८ ॥

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ १९ ॥

अपि च लोके मारतादौ द्रोणधृष्टद्युम्नादीनां सीताद्रौपद्यादीनां चायोनिजत्वं स्मर्यते । तत्र द्रोणादीनां योषिदाहुतिरेका नास्ति धृष्टद्युम्नादीनां योषित्पुरुषविषये द्वे आहुती न स्त इत्याहुतिसंख्याया अनियमः । एवमन्यत्रापीति भावः ॥ १९ ॥

दर्शनाच्च ॥ २० ॥

किंच लोके जरायुजाण्डजस्वेदजोद्भिज्जेषु चतुर्विधेषु देहेषु स्वेदजोद्भिज्जयाः स्त्रीपुंन्यक्तिसंयोगं विनैवोत्पत्तिदर्शनान्नाऽऽहुतिसंख्यानियम इत्यर्थः । जरायुजं मनुष्यादिशरीरमण्डजं पक्ष्यादिकं स्वेदजं यूकादिकमुद्भिज्जं वृक्षादिकम् ॥ २० ॥

ननु 'तेषां खल्वेषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्त्याण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' [ छा० ६ । ३ । १ ] इति श्रुतौ शरीरत्रैविध्यं श्रूयतेऽतः कथं चातुर्विध्यमत आह—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ २१ ॥

श्रुतौ 'आण्डजं जीवजमुद्भिज्जम्' [ छा० ६ । ३ । १ ] इत्यत्र

(दा० १) न तृतीय इति । नायमाहुतिनियमस्तृतीये स्थाने । कुतः । यूकादौ तथोपलब्धेः । आहुतिनियमस्यादर्शनात् ॥ १८ ॥

ननु पुरुष आहुतिनियमस्य दर्शनात्तद्वृष्टान्तेन जीवान्तरेऽपि स नियमोऽनुमीयत इत्यत आह—नायं मनुष्येष्वपि नियमः । द्रोणद्रौपद्यादीनां योनिमन्तरेणापि शरीरस्योत्पत्तिदर्शनात् । चकारात्पुराणेष्वपि ॥ १९ ॥

तथाऽपि कचिद्वृष्टं भूयो दृष्टं न बाधत इत्यत आह—दर्शनादिति । स्वेदजोद्भिज्जयोरआहुतिपञ्चकमन्तरेणाप्युत्पत्तिदर्शनात् । चकारो नियमभङ्गसमुच्चयार्थः ॥ २० ॥

ननु स्वेदजमेव नास्ति अण्डजं जरायुजमुद्भिज्जमिति त्रयाणामेव

(ब्र० १००।) तृतीयेनोद्भिज्जशब्देनावरोधः संग्रहः । संशोकजस्य स्वेदजस्य । वृक्षादिकं हि पृथिवीमुद्भिद्य जायते स्वेदजं तु जलमुद्भिद्येत्युभयोरवयवार्थत्वाविशेषादुद्भिज्जपदेन संग्रहः श्रुतौ कृतः । न ह्येतावता चातुर्विध्यहानिर्भवति स्थावरजङ्गमात्मकत्वेनोभयोर्भेदस्य दुरपह्नवत्वादिति भावः । तस्मादनिष्टादिकारिणां न चन्द्रलोकप्राप्तिः किं त्विष्टादिकारिणामेवेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

( अवरोहिणो जीवस्य वियदादिसमानत्वम्, अधि० ४ )

\* साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ २२ ॥

पूर्वमिष्टादिकारिणश्चन्द्रं गताः कर्मफलभोगानन्तरं सानुशया अवरोहन्तीत्युक्तमत्र तेषामवरोहप्रकारश्चिन्त्यते । तत्रावरोहश्रुतिः पठ्यते 'अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथेतमाकाशमाकाशाद्वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽभ्रं भवत्यभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति ' [ छा० ५ । १० । ७ ] इति । अथ भोक्तव्यकर्मसमाप्त्यनन्तरमध्वानमेवाऽऽह—यथेतमिति । यथागतमित्यर्थः । इदमुपलक्षणमनेवमित्यपि द्रष्टव्यम् । याः खत्वापश्चन्द्रलोके देहमारब्धवत्यस्ताः कर्म-

(दी०।) श्रवणादित्यत आह—तृतीयेति । तृतीयशब्देनोद्भिज्जमित्येतस्मिन्नावरोधः स्वीकारः संशोकजस्य स्वेदजस्य ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणे स्थानशब्दो मार्गपरत्वेन नीतस्तृतीयमिति त्रित्वसंख्यायोगात्तर्हीहापि वायुर्भूत्वेत्युत्तरत्र वायुतादात्म्यश्रवणादाकाशमित्यत्रापि

\* क. समानो भावो रूपं येषां ते सभावास्तेषां भावः साभाव्यं सारूप्यं सादृश्यमिति यावत् । कुतः । उपपत्तेः । एतदेव व्यतिरेकमुखेण व्याचष्टे न हान्यस्यान्यभाव उपपद्यते । युक्तमेतद्यदे(दे)वशरीरमनगरभावेन परिणमते देवदेहसमयेऽजगरशरीरस्याभावाद्यदि तु देवाजगरशरीरे समसमये स्याताम् । न देवशरीरमनगरशरीरं शिल्पिशतेनापि क्रियते, न हि दधिपयसी समसमये परस्परात्मनी शक्ये संपादयितुं, तथेहापि सूक्ष्मशरीराकाशयोर्युगपद्वाक्च परस्परात्मत्वं भवितुमर्हति । एवं वाख्यादिष्वपि योज्यम् । तथा च तद्वावस्तत्सादृश्येनौपचारिको व्याख्येय इति भामतीनिबन्धेऽर्थः । तथा च कल्पतरुकारः—स्वाभाव्यापत्तिरिति पाठे स्वसमो भावो येषां ते स्वभावाः स्वाभाव्यमिति समपदाभ्याहारः स्यादतः स्वा(सा)भाव्यापत्तिरिति युक्तः पाठस्तं व्याचष्टे समान इति )

(ब्र० व० १) क्षय इता आकाशं गतास्तत्समा यदा भवन्ति तदा तदुपहिता अनुशयिनो जीवा अप्याकाशसमा भवन्तीत्याहु—आकाशमिति । एवं वाय्वावापि योजनीयं वायुर्भूत्वा वायुसमो भूत्वा । एवमेवमग्रेऽपीति सिद्धान्तार्थः । पूर्वाधिकरणे 'जायस्व भ्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्' [छा० ५ । १० । ८] इत्यत्र स्थानशब्दस्य मार्गद्वयोपक्रमसामर्थ्या- तृतीयमार्गलक्षकत्वमुक्तं तद्युक्तमिमौ द्वौ ब्राह्मणावित्युपक्रम्यायं तृतीय इत्यादौ तृतीयस्योपक्रान्तसजातीयस्यैव वर्शनाविह तु भवति श्रुतेर्मुख्या- र्थपरित्यागे मानाभाव इति प्रत्युदाहरणसंगतिः । पूर्वपक्षे भवति श्रुतेर्मु- ख्यत्वसिद्धिः फलं सिद्धान्ते गौणत्वसिद्धिरिति विवेकः । तत्र संशयः । किं स्वर्गाद्वरोहन्तो जीवा आकाशादिस्वरूपं प्रतिपद्यन्त उत तत्साम्य- मिति । तत्र भवति श्रुतेर्मुख्यत्वानुरोधावाकाशादिस्वरूपापत्तिरेव जीवा- नामिति प्राप्ते ब्रूमः । जीवानां तैराकाशादिभिः सामाव्यापत्तिः साम्या- पत्तिरेव । कुतः । उपपत्तेः । लोके क्षीरस्य दधिभावो युक्तः क्षीरकाले दध्यभावाविह तु पूर्वं विद्यमानाकाशादिभावो जीवस्य दुरुपपादः । किंच जीवस्याऽऽकाशस्वरूपापत्तौ वाय्वाविक्रमेणावरोहाभावप्रसङ्ग इत्यादियुक्तिवशाद्भवति श्रुतेर्गौणत्वमङ्गीकर्तव्यमित्याकाशादिसंबन्धमा- त्रमेव जीवानाम् । संबन्धश्च सावृश्यातिरिक्तो न संभवतीति सावृश्य- मेवेति सिद्धम् ॥ २२ ॥

एवमाकाशादिषु वर्शान्तेषु पूर्वपूर्वसादृश्यानन्तरमुत्तरोत्तरसावृश्यमि- त्युक्तं तदुपजीव्य विचार्यते किं जीवश्चिरकालमेकसावृश्येनावस्थाया- परसावृश्यं गच्छत्युताल्पकालमिति विषये नियामकशास्त्राभावादनियम इति प्राप्ते सिद्धान्तपति—

(दी० १) अनुशयिनस्तेन सह तादात्म्यं स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समा- धत्ते—सामाव्येति । तैराकाशादिभिः समानो भावः सभावस्तस्य भावः सामाव्यं सूक्ष्मत्वादितस्तस्याऽऽपत्तिः । न त्वाकाशादिरूपत्वं जीवस्य । कुतः । अन्यस्याऽऽकाशादेर्जीवस्य वा तादात्म्याभावस्योपपत्तेर्न्याय्य- त्वात् ॥ २२ ॥

(ब्र० व० १) (स्वर्गादवतरणकाले स्वर्गवृष्टिपृथिवीपुरुषयोषित्सु क्रमशो जनिष्यतो जीवस्य स्वर्गे वृष्टौ च जन्मनि त्वरा तदितरेषु च जन्मनि विलम्ब इति कथनम्, अधि० ५ )

नातिचिरेण विशेषात् ॥ २३ ॥

जीवो नातिचिरेणालपं कालमेवाऽऽकाशादिवर्षान्ते सावृश्येनावस्थाय वर्षधाराद्वारा पृथिवीं प्रविशति । कुतः । विशेषात् । पृथिव्यनन्तरं ब्रह्मादौ प्रवेशमुक्त्वा ब्रह्मादिव्यो जीवस्य निःसरणसमये ब्रह्मादिषु चिरकालावस्थानरूपविशेषं वर्शयित्वा निःसरणं वर्शयति श्रुतिः—‘अतो वै खलु दुर्निष्पपतरम् ’ [छा० ५ । १० । ६] इति । एकस्तकारो लुप्तश्छान्दसप्रक्रियया । अतोऽस्माद्ब्रह्मादिभावाद्दुर्निष्पपततरं दुःखतरं जीवानां निःसरणं भवतीत्यर्थः । ब्रह्मादिव्यो जीवस्य दुःखं निःसरणं भवतीत्युक्त आकाशादिव्यः सुखं निःसरणं जातमिति प्रतीयते, यथा लोके कश्चित्पण्डितोऽनेकराजसमासंचारं चरित्वा कस्यांचिद्राजसमायामान्दोलिकाप्रतिष्ठामविन्दतेत्युक्त इतरासु समास्वान्दोलिकां न लब्धवानिति प्रतीयते तद्वत् । ब्रह्माकाशादिषु सुखदुःखे जीवस्य दीर्घकालावस्थानालपकालावस्थाने एव तदानीं स्थूलशरीराभावेन मुख्यसुखदुःखबोरसंभवात् । तस्माद्ब्रह्मादिप्रवेशात्पूर्वमल्पमेव कालं तत्तत्सावृश्येनावस्थानमिति सिद्धम् ॥ २३ ॥

( सस्यादौ जीवस्य न मुख्यजन्म किं तु संश्लेषमात्रमिति कथनम्, अधि० ६ )

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ २४ ॥

तस्मिन्नेवावरोहे जीवानां वर्षधाराद्वारा पृथिवीप्रवेशानन्तरं पठ्यते—

(दी० १) (पूर्वाधिकरण आकाशादिसमानरूपतामनुशयिनः प्राप्नुवन्तीत्युक्तम् ।) तर्हि आकाशादेः प्राकृतलयान्तमवस्थानादनुशयिनोऽपि तावदवस्थानमित्याक्षिप्य समाधत्ते—नातीति । आकाशादिसामान्यरूपताया जीवस्य नातिचिरेण नातिदीर्घेण कालेन निर्गमनमिति । कुतः । ब्रह्मादिपाठात् ‘अतो वै खलु दुर्निष्पपतरम् ’ इत्येतस्मादेव दीर्घकालतया विशेषात् ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणे ‘अतो वै खलु दुर्निष्पपतरम् ’ इति विशेषात्तिलमापा-



(ब्र० व० १) 'त इह ब्रीहियवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्ते' [छा० ५ । १० । ६] इति । तेऽनुशयिनो जीवा इत्यर्थः । तत्र संशयः । किं जीवानां ब्रीह्यादिभावेन जन्मश्रुतिर्मुख्योऽतः जीवान्तराधिष्ठिते ब्रीह्यादौ संसर्गमात्रमिति । तत्र पूर्ववदुर्निष्पत्तयस्तद्वत्स्य पूर्वोक्तयुक्तिबलाच्चिरकालावस्थानलक्षकत्वेऽपि प्रकृते क्षीरस्य दधिभावेनेवाद्यादिभूतसंपरिष्वक्तजीवानामद्यादिद्वारा ब्रीह्यादिभावेन मुख्यस्यैव जन्मनः संभवाद्ब्रीह्यादिस्थावरशरीरेषु सुखदुःखभाजोऽनुशयिनो जीवा इति प्रत्युदाहरणे पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—अन्यैर्जीवैराधिष्ठिते ब्रीह्यादौ संसर्गमात्रमनुशयिनां भवति पूर्ववद्यथाऽऽकाशादौ संसर्गमात्रं तद्वत् । कुतः । पूर्ववदभिलापात् । यथाऽऽकाशादिषु वर्षान्तेषु कर्मपरामर्शमन्तरेणैव प्रवेश उक्त एवं ब्रीह्यादिष्वपि कर्मपरामर्शं विनैव प्रवेशाभिलापादित्यर्थः । पूर्ववदिति पक्षं सूत्रेऽर्थद्वयाभिप्रायेण प्रयुक्तमिति पुनरुपादाय व्याख्यातं तस्मात्कर्मपरामर्शाभावाच्च ब्रीह्यादिष्वनुशयिनां सुखदुःखभाक्त्वं यत्र त्वनुशयिनां सुखदुःखभाक्त्वं तत्र कर्मपरामर्शो 'रमणीयचरणाः' इत्यादिना वृश्यत इति 'जायन्ते' इति श्रुतिः संसर्गमात्राभिप्राया न मुख्येति बोध्यम् ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ २५ ॥

ननु ज्योतिष्टोमादिकं कर्म पशुहिंसायोगादशुद्धं तत्कारिणामनुशयिनां ब्रीह्यादिषु स्थावरेषु दुःखानुभवार्थं मुख्यमेव जन्मास्त्विति चेन्न । ज्योतिष्टोमादेः शब्दाद्विधिशस्त्राद्धर्मत्वेनावगतत्वाच्च दुःखहेतुत्वमित्यर्थः ॥ २५ ॥

(दी० १) दिग्धिव कश्चिन्न विलम्ब आकाशादिष्वित्युक्तं तर्हि जायन्त इति विशेषात्तिलमाषादिष्वनुशयिनां जन्म स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अन्येति । 'इह ब्रीहियवाः' इत्यादावन्येन तिलमाषादिजीवेनाधिष्ठितमन्याधिष्ठितं तस्मिंस्तच्छरीराधिष्ठित एवाधितिष्ठति । अनुशयी तु पूर्ववत् यथा वाप्यादौ संश्लेषमात्रं तद्वद्ब्रीह्यादावपि । कुतः । तत्रापि सुकृतदुष्कृतादिव्यापारमन्तरेण तद्भावापत्तेरभिलापादुक्तत्वात् ॥ २४ ॥

अशुद्धमिति । स्वर्गादवरोहिणां पशुहिंसा लक्षणमशुद्धं पापमस्तीति चेन्न । पश्वादेर्हिंसाया वैदिकाच्छब्दात्कृत्वङ्गताया अवगतत्वात् ॥ २५ ॥

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ २६ ॥

(ब० व० १) अथ ब्रीह्यादिभावानन्तरमनुशयिनां रेतः सिञ्चतीति रेतःसिक्त-  
द्योगस्तद्भावः श्रुतावाग्मनायते ' यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति '   
[ छा० ५ । १० । ६ ] इत्यनुशयी ब्रीह्याद्यन्नद्वारा पुरुषं प्रविष्टस्त-  
द्भूयो भवति तद्भावं गच्छतीत्यर्थः । न ह्यत्रानुशयिनो रेतःसिग्भावो  
मुख्यः संभवति, इदानीं पुरुषं प्रविष्टत्वेनाप्राप्तयौवनत्वादतस्तद्भावस्त-  
त्संसर्गो वक्तव्यः । तथा च ब्रीह्यादावपि संसर्ग एव । आकाशादावपि  
संसर्गस्यैवावगतत्वेन संदंशन्यायादिति भावः ॥ २६ ॥

नन्वनुशयिनां सर्वत्र संसर्गस्यैवाङ्गीकारे मुख्यं जन्म क्वापि न  
स्यात्तथा ' रमणीयां योनिमापद्येरन् ' [ छा० ५ । १० । ७ ] इत्या-  
दिश्रुतेर्गौणत्वप्रसङ्ग इत्यत आह—

योनेः शरीरम् ॥ २७ ॥

योनौ रेतसि प्रविष्टे ततः शरीरमनुशयिनामनुशयाख्यकर्मभोगाय  
जायत इत्याह शास्त्रं ' तद्य इह रमणीयचरणाः ' [ छा० ५ ।  
१० । ७ ] इत्यादि । तस्माद्ब्राह्मणादियोनावेवानुशयिनां मुख्यं जन्म  
न ब्रीह्यादाविति गत्यागतिविधेककृतं वैराग्यं ज्ञानसाधनमित्यन-  
वद्यम् ॥ २७ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य प्रथमपादः ॥ १ ॥

(दी० १) अस्तु ब्रीह्यादिभावो विना पापमित्यत आह—रेतःसीति । अथ  
ब्रीह्यादिभावानन्तरं रेतःसिचाऽपि योगो रेतःसिग्योगः । ब्रीह्याद्यानां  
बहुत्वात्कण्डनाद्यवसर एव प्रवसितत्वान्न तेन योग इति भावः ॥ २६ ॥

नन्वस्तु प्रवासो बहुत्वं वाऽथापि कश्चन स्थित्वा तेन योगं यास्य-  
तीत्यत आह—योनेरिति । योनेरधि अनुशयिनां शरीरान्तरं ' तद्य इह  
रमणीयचरणाः ' इत्यादि श्रावयति शास्त्रं तेनेदमवगम्यते तृतीयस्था-  
निनामेव ब्रीह्यादिभावो नानुशयिनाम् ॥ २७ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य प्रथमः

पादः ॥ १ ॥ ६ ॥ २७ ॥

(ब्र० ४०।) एवं गत्यागतिनिरूपणेन कर्मफलेभ्यो विरक्तस्य महावाक्यार्थ-  
ज्ञानाय तत्त्वंपदार्थौ शोधयितुं पादमारम्भाणो गत्यागतिनिरूपणेनैव  
जाग्रदवस्थानिरूपितेत्यभिसंधायाऽऽत्मनः स्वयंप्रकाशत्वसिद्धये स्वप्ना-  
वस्थां वक्तुं पूर्वपक्षयति—

( स्वप्नदृष्टेर्भिष्यात्वकथनम्, अधि० १ )

संधये सृष्टिराह हि ॥ १ ॥

तथा चानयोः पादयोर्हेतुहेतुमद्भावः संगतिः । सिद्धे विरक्तेऽस्य  
पादस्य प्रवृत्तेस्तत्त्वंपदार्थयोर्मध्ये त्वंपदार्थस्योद्देश्यत्वाच्च स्थानतोऽपी-  
त्यतः प्राक्तनस्यावस्थानिर्मुक्तत्वं प्रतिपाद्यते, ततश्चा पादसमाप्तेस्तत्प-  
दार्थो विचार्यते । तत्र स्वप्नावस्थाया जाग्रदानन्तर्यात्स्वयंज्योतिष्वसिद्धौ  
स्पष्टसाधनत्वाच्चाऽऽदौ विचारः । जाग्रदवस्थायां सूर्यादिप्रकाशसत्त्वे-  
नाऽऽत्मनः स्वप्रकाशस्वं दुर्ग्रहं स्वप्ने तु सूर्याद्यभावेऽपि प्रत्यक्षतया  
दृश्यमानात्सुग्रहमिति स्वप्नस्य स्वयंज्योतिष्वसिद्धौ स्पष्टसाधनत्वं मन्त-  
व्यम् । एवं हि स्वप्नं प्रकृत्य श्रूयते, न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो  
भवन्ति । अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते ' [ बृ० ४ । ३ । १० ]  
इत्यादि तत्र संशयः । किं स्वप्नसृष्टिर्व्यावहारिकी घटादिवदुत श्रुति-  
रजतवन्मायामात्रमिति । पूर्वपक्षे घटादिवत्सत्या स्वप्नावस्थाऽतो  
जीवस्य पृथक्करणयोगाद्ब्रह्माभेदरूपवाक्यार्थान्वयासिद्धिः फलं सिद्धान-  
न्ते तत्सिद्धिरिति भेषः । तत्रेवं पूर्वपक्षसूत्रं संध्य इति । संध्ये जाग्रत्सु-  
षुप्तयोः संधौ भवे स्वप्ने सृष्टिर्व्यावहारिक्येव हि यतः श्रुतिरेवमाह  
' अथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते ' [ बृ० ४ । ३ । १० ] इति ॥ १ ॥

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ २ ॥

किं चैके शाखिनोऽस्मिन्नेव स्वप्ने कामानां निर्मातारं तथा जीवमिव

(दी०।) एवं प्रथमेन पादेन कर्मफलस्य यातायातरूपत्वेन वैराग्यं निरूपितम् ।  
इदानीं विरक्तस्य तत्त्वंपदार्थविवेकाय द्वितीयः पाद आरभ्यते । जागर-  
णावस्थाया उक्तत्वाद्दुर्विवेकत्वाच्च तत्र त्वमर्थस्य स्वप्रकाशत्वस्य  
स्वप्नावस्थामेवोपरीकृत्य पूर्वपक्षमाह—संध्य इति । जागरणसुषुप्तयोः  
संधौ भवं संध्यं स्वप्नस्थानं तस्मिन् रथादीनां सृष्टिः सत्यैव । कुतः । हि  
यस्मान्न तत्र रथा इत्युपक्रम्य पथः सृजत इत्यन्तेनाऽऽह ॥ १ ॥

ननु सृजत इत्याक्षिप्तकर्तृकोऽयं लकारः । अत एवासत्यत्वमित्यत

(ब्र० व० १) परमात्मानमामनन्ति—‘य एष सुतेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः’ [क० ५।८] इति । एषु चक्षुरादिकरणेषु सुतेषु निर्व्यापारे-  
ष्वित्यर्थः । ननु भूतौ कामानां बुद्धिबृत्तिविशेषाणां निर्माता परमात्मेति  
भ्रूयते नार्थनिर्मातेत्यत आह—पुत्रादयश्चेति । काम्यन्त इति व्युत्पत्त्या  
पुत्रादय एव कामा इत्यर्थः । निर्मातृत्वं परमात्मन इत्यर्थः । तथा च  
स्वप्नसृष्टिः सत्येश्वरकर्तृकत्वात्क्षित्यादिवदित्यनेन सूत्रेणोक्तम् ॥ २ ॥

तस्माच्छ्रुत्यनुमानाभ्यां स्वप्नसृष्टिः सत्येति प्राप्ते प्रत्याह—

मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिध्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ ॥

तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः स्वाप्नसृष्टिर्मायामात्रं श्रुक्तिरजतवत् । कुतः ।  
कात्स्न्येनोचितवैशकालादिसंपत्त्या \* बाधामावेन चानभिध्यक्तस्वरू-  
पत्वात् । न हि रथादीनामुचितो देशः स्वप्ने संभवति देहान्तर्नाडीप्रवि-  
ष्टमनोवच्छिन्नसाक्षिनिष्ठत्वात् । नाप्युचितः कालोऽस्ति घटिकामात्रव-  
र्तिनि स्वप्ने बहुसंघत्सरसाध्यसंसरणस्य दर्शनात् । तस्मात्प्रातिभासिक  
एव स्वप्नप्रपञ्चः । यदुक्तम् । ‘अथ रथाद्यथयोगान्पथः सृजते’ [बृ० ४।  
३ । १०] इति जीवकर्तृकां सृष्टिं श्रुतिराहेति सृष्टेः सत्त्वमिति । तच्छ्रु-  
त्येव ‘न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति’ [बृ० ४ । ३ ।  
१०] इत्यादिकया स्वप्ने रथाद्यभावबोधिकया परिहृतम् । अनुमाने  
चोचितवैश्याद्विजन्यत्वमुपाधिः ( + स्वप्नसृष्टिः सत्येश्वराकर्तृकत्वादित्यत्र

(दी० १) आह—निर्मातारमिति । एके शाखिनोऽस्मिन्नेव संध्ये स्थाने कामानां  
निर्मातारमात्मानमामनन्ति । ‘कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः’ इति ।  
नन्वत एव मनोरथमात्रत्वात्तेषामसत्त्वमित्यत आह—पुत्रादयश्च ।  
कामा इति शेषः । काम्यन्त इति कामाः । यस्मात्पुत्रपौत्रानित्युपक-  
्रम्यान्ते कामानामित्याह । आद्यश्चकारः प्राज्ञस्य कर्तुरभावे कर्तृमात्र-  
सत्यत्वं समुच्चिनोति । द्वितीयश्चकारो मनोरथानामपि सत्यत्वमाह ॥ २ ॥

इदानीं सिद्धान्तमाह—मायेति । तुशब्दो रथादीनां सत्यत्वं व्याव-  
र्तयति । कुतः । तन्मायामात्रं मायैव स्वप्नवृष्टं यतस्तदपि कुतः ।  
कात्स्न्येनानभिध्यक्तस्वरूपत्वात् । देशतः शतयोजनादिना कालतो

(ब० व० १) योगाद्वहेः प्रकाशनसामर्थ्यतिरोभावस्तद्वदित्यर्थः । ननु जीवस्येश्वरत्वाभाव एवास्त्विति शङ्कां वाशब्देन निरस्यति । अभेदस्य श्रुतिसहस्रसिद्धत्वादिति भावः । तस्मादुचितसामर्थ्यमावाजाग्रदवसरे बाधितत्वाच्च शुक्तिरूप्यवन्मायामात्रं स्वप्नदर्शनमिति तद्वस्थाविनिर्मुक्तोऽयमात्मेति सिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं बाह्यकरणोपरमरूपं स्वप्नमात्मनः स्वप्रकाशत्वार्थं परीक्षयान्तः—करणोपरमरूपां सुषुप्तिं स्वप्नान्तरमाविनीं तस्य ब्रह्मत्वाय निरूपयति—

( सुषुप्तिस्थानरूपस्य हृत्स्थब्रह्मण एकत्वस्थापनम्, अधि० २ )

तदभावो नाडीषु तच्छृतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

सुषुप्तेः स्वप्ननाशरूपत्वात्तदानन्तर्याच्च हेतुहेतुमद्भाव आनन्तर्यं वा संगतिः । तत्र सुषुप्तिवाक्यानि विप्रतिपन्नानि दृश्यन्ते ' तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति ' [ छा० ८ । ६ । ३ ] इति । तत्तासु स्वप्राग्रवस्थासु यत्रावस्थायामेतद्बाह्येन्द्रियोपरमणं यथा स्यात्तथा सुषुप्तः संहृतबाह्येन्द्रिय इति यावत्समस्तोऽविशेषवृत्तिः संप्रसन्नः संहृतान्तःकरणश्च यदा स्वप्नं न जानाति तदा नाडीषु सुप्त इत्यर्थः । कचिन्नाडीभिः सरणानन्तरं पुरीतति सुषुप्तिः श्रूयते ' ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते ' [ बृ० २ । १ । १९ ] इति । कचित्परमात्मनि सुप्तिः श्रूयते ' य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते ' [ बृ० २ । १ । १७ ] इति । ' सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' [ छा० ६ । ८ । १ ] इत्यादिभिः । तत्र संशयः—किं जीवस्य नाडीपुरीतत्परमात्मनां मध्ये यत्र कुत्रचित्सुषुप्तिरुत नाडीपुरीतत्प्रवेशानन्तरं परमात्मन्येवेति । तत्र पूर्वपक्षे सुषुप्तिस्थानविकल्पाज्जीवस्य ब्रह्मैक्यानि-

(दी० १) भावोऽपीत्यत आह—देहयोगेति । वाशब्दोऽतिरोभावनिराकरणार्थः । जीवेश्वरान्यत्वनिवृत्त्यर्थो वा । सोऽपि तिरोभावोऽपि देहयोगाद्दहं मनुष्य इत्याद्यभिमानात् ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रपञ्चमिष्ट्यात्वं वर्णयता त्वंपदार्थस्य स्वयंप्रकाशत्वं दर्शितं तत्पदार्थेनैक्याय तच्चेत्कस्यांचिदवस्थायामुपलभ्येत स्यात्तदा संभावितं न तूपलभ्येत इत्याक्षिप्याऽऽह—तदभाव इति । तस्य स्वप्नस्याभावस्तदभावः सुषुप्तिः सा नाडीषु देहान्तःस्थितासु शिरासु आभ्य

(ब्र०व०।)ननु यथेश्वरः संकल्पमात्रेण जगत्सृजत्येवं तदंशो जीवोऽपि संकल्पमात्रेण निमित्तेन स्वाप्नं जगत्सृजतु तथाचोचितनिमित्ताभावान्मिथ्यास्वप्नसृष्टिरित्यसंगतमित्यत आह—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ५ ॥

जीवेश्वरयोरभेदेऽपि मायैश्वर्यस्य तिरोहितत्वान्न जीवस्य संकल्पमात्रेण स्रष्टृत्वमिति पराभिप्रायः । जीवस्य तिरोहितमीश्वरत्वं परस्याऽऽत्मनोऽभिध्यानादभेदाभ्यासरूपध्यानप्राप्तादीश्वरप्रसादादभिव्यक्तं भवति कुतः । तत ईश्वरादज्ञानाद्वन्धे ज्ञानात्तद्विपर्ययो मोक्ष इति श्रुतिर्दशयति । तस्मादीश्वरप्रसादरहितानां नेश्वरत्वाभिव्यक्तिरित्यर्थः । श्रुतिस्तु पठ्यते—‘ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्युप्रहाणिः । तस्याभिध्यानात्तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आप्तकामः’ [ श्वे० १। ११ ] इति । देवं स्वप्रकाशमीश्वरमहंत्वेन साक्षात्कृत्य सर्वपाशानां मिथ्याज्ञानरागादीनां क्लेशानामपहानिः क्षयो यस्मिन्संभवत्येवं क्षीणैः क्लेशैस्तत्कार्यजन्ममरणक्षयो भवति । निर्गुणविद्याफलमुक्त्वा सगुणविद्याफलमाह—तस्येति । तस्येश्वरस्याऽऽभिमुख्येन ध्यानादुक्तहानिद्वयापेक्षया तृतीयमणिमाद्यैश्वर्यं देहभेदे देहविशेषे सिद्धदेहे प्राप्तं मुक्त्वा निर्गुणविद्योदये केवलोऽद्वितीय आप्तकामो निरतिशयानन्दात्मनैवावतिष्ठत इति क्रममुक्तिवाक्यार्थः ॥ ५ ॥

ननु जीवस्येश्वरत्वतिरोभावे को हेतुरित्याशङ्क्याऽऽह—

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ६ ॥

सोऽपि जीवस्येश्वरत्वतिरोभावो देहेन्द्रियादियोगात् । यथा भस्म-  
(दी०।)तथाऽपि परमात्मनाऽपि क्रियमाणत्वात्स्वप्नमृत्योराकाशादिवत्सत्यता न च जीवपरमात्मनोरैक्यमन्यथा जीवे नित्यशुद्धबुद्धत्वादिकं स्यादित्यत आह—परेति । न नित्यशुद्धत्वादिकं नास्ति किंतु तिरोहितम् । तर्हि प्रादुर्भावे नोपाय इत्यत आह—पराभिध्यानात् । परस्य परमात्मनोऽभिध्यानान्निदिध्यासनादुत्पन्नसाक्षात्कारस्य प्रादुर्भवति । तुशब्द उपायान्तरं वारयति । कुत एतदित्यत आह—ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ हि यस्मात्ततः परमात्मनः सकाशादस्य जीवस्य तदज्ञानाद्वन्धः संसारो विपर्ययो मोक्षस्तज्ज्ञानात् ‘ज्ञात्वा देवम्’ इत्यादिश्रुतेः ॥ ५ ॥

ननु जीवश्चेत्परमात्मनोऽभिन्नोऽशस्ततो नित्यशुद्धत्वादीनां न तिरो-

(ब० व० १) योगाद्वहेः प्रकाशनसामर्थ्यतिरोभावस्तद्वदित्यर्थः । ननु जीवस्येश्वरत्वाभाव एवास्त्विति शङ्कां वाशब्देन निरस्यति । अभेदस्य श्रुतिसहस्रसिद्धत्वादिति भावः । तस्मादुचितसामर्थ्यभावाज्जाग्रदवसरे बाधितत्वाच्च शुक्तिरूप्यवन्मायामात्रं स्वप्नदर्शनमिति तदवस्थाविनिर्मुक्तोऽयमात्मेति सिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं बाह्यकरणोपरमरूपं स्वप्नमात्मनः स्वप्रकाशत्वात् परीक्ष्यान्तः—  
करणोपरमरूपां सुषुप्तिं स्वप्नान्तरमाविनीं तस्य ब्रह्मत्वाय निरूपयति—

( सुषुप्तिस्थानरूपस्य हृत्स्थब्रह्मण एकत्वस्थापनम्, अधि० २ )

तदभावो नाडीषु तच्छूतेरात्मनि च ॥ ७ ॥

सुषुप्तेः स्वप्ननाशरूपत्वात्तदानन्तर्याच्च हेतुहेतुमद्भाव आनन्तर्यं वा संगतिः । तत्र सुषुप्तिवाक्यानि विप्रतिपन्नानि दृश्यन्ते ' तद्यत्रैतत्सुप्तः समस्तः संप्रसन्नः स्वप्नं न विजानात्यासु तदा नाडीषु सुप्तो भवति ' [ छा० ८ । ६ । ३ ] इति । तत्तासु स्वप्नाद्यवस्थासु यत्रावस्थायामेतद्बाह्येन्द्रियोपरमणं यथा स्यात्तथा सुषुप्तः संहृतबाह्येन्द्रिय इति यावत्समस्तोऽविशेषवृत्तिः संप्रसन्नः संहृतान्तःकरणश्च यदा स्वप्नं न जानाति तदा नाडीषु सुप्त इत्यर्थः । कचिन्नाडीभिः सरणानन्तरं पुरीतति सुषुप्तिः श्रूयते ' ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते ' [ बृ० २ । १ । १९ ] इति । कचित्परमात्मनि सुप्तिः श्रूयते ' य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते ' [ बृ० २ । १ । १७ ] इति । ' सता सोम्य तदा संपन्नो भवति ' [ छा० ६ । ८ । १ ] इत्यादिभिः । तत्र संशयः—किं जीवस्य नाडीपुरीतत्परमात्मनां मध्ये यत्र कुत्रचित्सुषुप्तिरुत नाडीपुरीतत्प्रवेशानन्तरं परमात्मन्येवेति । तत्र पूर्वपक्षे सुषुप्तिस्थानविकल्पाज्जीवस्य ब्रह्मैक्यानि-

(दी० १) भावोऽपीत्यत आह—देहयोगेति । वाशब्दोऽतिरोभावनिराकरणार्थः । जीवेश्वरान्यत्वनिवृत्त्यर्थो वा । सोऽपि तिरोभावोऽपि देहयोगावहं मनुष्य इत्याद्यभिमानात् ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रपञ्चमिष्ट्यात्वं वर्णयता त्वंपदार्थस्य स्वयंप्रकाशत्वं दर्शितं तत्पदार्थेनैक्याय तच्चेत्कस्यांचिदवस्थायामुपलभ्येत स्यात्तदा संभावितं न तूपलभ्येत इत्याक्षिप्याऽऽह—तदभाव इति । तस्य स्वप्नस्याभावस्तदभावः सुषुप्तिः सा नाडीषु देहान्तःस्थितासु शिरासु आभ्य

(ब० व० १) यमः सुषुप्तौ भ्रमनिवृत्तावपीषद्वह्नैक्यप्राप्तेरनियमादिति फलं सिद्धान्ते तन्नियम इति भेदः । तत्रैकयागनिष्पादकत्वेन श्रुतव्रीहियववदेकशयननिष्पादकनाड्यादीनां विकल्प इति प्राप्ते ब्रूमः । तदभावः स्वप्राभावः सुषुप्तिर्नाडीष्वात्मनि चेति नाड्यादीनां समुच्चय एव न विकल्प इत्यर्थः । समुच्चयश्च नाडीपुरीतत्वप्रवेशं विना सत्संपत्तेरभावात्तयोर्नाडीपुरीततोगुणत्वेन परमात्मनः प्रधानत्वेन ज्ञेयः । कुतः । तच्छ्रुतेः । तस्य नाड्यादीनां सुषुप्तिस्थानत्वस्य श्रुतत्वादुक्तसमुच्चयानङ्गीकारे श्रुतीनां संग्रहो न स्यादिति भावः । किंच विभोर्जीवस्य स्वप्रागन्तरं नाडीपुरीततोः संचारोऽन्तःकरणाद्युपाधेः सत्त्वात्संभवतीत्युपाधिसंचारं विना स्वतस्तस्य संचाराभावात्सुषुप्तौ तूपाध्यभावान्नाडीपुरीततोः शयनं जीवस्य न संभवतीत्यपि द्रष्टव्यम् ॥ ७ ॥

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ८ ॥

यतः परमात्मैव सुषुप्तिस्थानमत एव हेतोरस्मात्परमात्मनो जीवस्य प्रबोध उपदिश्यते । प्रबोधकाले कस्माज्जीवात्मानः समुत्तिष्ठन्तीति प्रश्ने परमात्मनः सकाशादुत्तिष्ठन्तीति श्रवणादात्मनोऽन्यस्य सुप्तिस्थानत्व इदं श्रवणं बाध्येतान्यत्र सुप्तस्यान्यस्मादुत्थानायोगादिति भावः । तस्मात्सुप्तौ मिथ्याज्ञानाभावमात्रेणैषद्वह्नसंपत्तेः सत्त्वान्मूलाज्ञाननिवृत्तौ साकल्येन ब्रह्मसंपत्तिरविरुद्धेत्यस्ति जीवस्य ब्रह्मैक्यनियम इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

( स्वप्रावस्थितस्यैव जीवस्य तस्मात्समुद्बोधो नापरस्येति कथनम्, अधि० ३ )

( दी० १ ) उपसृप्य पुरीतद्वेष्टिते हृदये तदन्तःस्थ आत्मनि ब्रह्माणि अस्य जीवस्य । चकारात्पुरीतलब्धम् । एतल्लयमपि कुत इत्यत आह — तल्लयस्य 'नाडीषु सृप्तो भवति' 'पुरीतति शेते' 'स्वमपीतो भवति' इति नाडीपुरीतद्वह्नाख्यश्रुतेः । विकल्पे तु अन्यतरबाधः स्यात् ॥ ७ ॥

अत इति । यस्मात्सुषुप्तिरात्मनि भवति अतोऽस्माद्धेतोरस्मादात्मनः प्रबोधोऽस्य जीवस्यात आत्मनः प्राधान्यम् ॥ ८ ॥



स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ९ ॥

(ब्र० व० १) सुषुप्तः परमात्मनः सकाशाज्जीव उत्तिष्ठतीति परमात्मैव सुषुप्ति-  
स्थानमित्युक्तं तद्युक्तं सुप्तादन्यस्य प्रबोधसंभवेन सुप्तस्य नाढ्यादिस्था-  
नत्वेऽप्यविरोधादित्याक्षेपात्संगतिः । पूर्ववदेव फलम् । तत्र यः सुप्तो  
जीवः स एवोत्तिष्ठत्युत स वाऽन्यो वेत्यनियम इति संशये जलराशौ  
क्षिप्तबिन्दोरिवानियम इति प्राप्ते ब्रूमः । यः सुप्तो जीवः स एवोत्ति-  
ष्ठति नान्यः । कुतः । कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । पञ्चभ्यो हेतुभ्यो  
दिनद्वयसाध्यकर्मणोऽर्धं कृत्वा सुप्तः पुनरुत्थायावाशिष्टमर्धं कर्म करोति ।  
अनुशब्देन प्रत्यभिज्ञा योऽहं पूर्वदिने काशीनाथमद्राक्षं सोऽहमिदानीं  
मणिकार्णिकायां स्थितोऽस्मीत्याद्याकारा सूच्यते । पश्चात्सेतुं गतस्य  
स तादृशः काशीनाथ इत्यादिस्मरणं स्मृतिशब्देनोच्यते । ' पुनः  
प्रतिन्यायं प्रतियोन्याद्रवति बुद्धान्तायैव ' [ बृ० ४ । ३ । १६ ] इत्यादि  
श्रुतिजातं शब्दः । अयनं गमनमायः प्रतिनियतगमनं प्रतिन्यायः स  
यथा भवति तथा योनिं शरीरं प्रति सुप्तः पुनरागच्छति जागराये-  
त्यर्थः । कर्मविद्याविधयो विधिशब्देनोच्यन्ते । यदि सुप्तस्य पुनर्नो-  
त्थानं तदोक्तहेतवो बाध्येरन्नित्यर्थः । तस्मात्सुप्त एवोत्तिष्ठतीति  
सिद्धम् ॥ ९ ॥

एवमवस्थात्रयनिर्मुक्तत्वमात्मनो द्रष्टुरव्यभिचारिण उक्त्वा मूर्च्छा-  
वस्था किं सुप्ताबन्तर्भवत्युतातिरिक्ता वेति संदेहेऽतिरेके प्रमाणाभावात्सु-  
षुप्तिरेव मूर्च्छेत्युपजीव्योपजीवकभावेन पूर्वपक्षे सिद्धान्तः—

(दी० १) पूर्वस्मिन्नाधिकरणे ब्रह्मणि साम्यापत्तिरुक्ता जीवस्येह तु तत्संपन्नस्य  
मुक्तवन्न तस्य प्रतिबोधः किं त्वन्यस्येत्यनुपपत्त्या तामाक्षिप्याऽऽह—स  
एवेति । यस्तु परमात्मनि शयानस्तस्मात्स एव विनिर्गच्छति । तुशब्दोऽ-  
न्यं वारयति । कुतः । कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः । कर्मस्थितस्य शेषोऽ-  
ध्ययनादिः । अनुस्मृतिः पूर्वदिवसभोजनादिः । शब्दः प्रतिन्यायं प्रति-  
योनीत्यादिः । विधिर्ज्योतिष्टोमेनेत्यादिः । तेभ्यः । तस्यैवानुत्थाने कर्मा-  
दिकं न सिध्येदित्यर्थः ॥ ९ ॥

(ब्र० व० १) (मूर्च्छाया जाग्रदाद्यवस्थान्तरभिन्नत्वम्, अधि० ४)

मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ॥ १० ॥

पूर्वपक्षे मूर्च्छावस्थाविवेकार्थं यत्नो न कार्य इति फलं सिद्धान्ते तु यत्नः कर्तव्य इति बोध्यम् । न तावत्स्वप्नजागरिते मूर्च्छावस्था ज्ञानाभावाच्चापि मरणावस्था प्राणोष्मणोः सत्त्वान्नापि सुषुप्तिर्वैलक्षण्यात् । मुग्धस्य शरीरे कम्पो भयंकरं वदनं निश्चले उन्मीलिते नेत्रे निश्चलश्च प्राणोऽवतिष्ठति नैवं सुषुप्तौ भवति तस्मात्परिशेषादर्थसंपत्तिर्मुग्धेऽतिरिक्तैव । ननु मुग्धेऽपि बाह्यान्तःकरणानामभावेन सत्संपत्तेः सुषुप्ताविवाविशेषात्कथमर्धसंपत्तिरिति चेत् । सत्यम् । न हि ब्रह्मणोऽर्धसंपत्तिं मुग्धस्य ब्रूमः किं तु सुषुप्त्यवस्थायां ये धर्माः प्रसन्नवदनत्वानिमीलितनेत्रत्वप्राणोच्छ्वासविशेषविज्ञानराहित्यादयस्तत्र विशेषविज्ञानराहित्यादिनाऽर्धेन धर्मजातेन मूर्च्छावस्थायाः संपन्नत्वादर्थेन मरणावस्थाधर्मजातेन कम्पनादिना च युक्तत्वादर्थसंपत्तिर्मूर्च्छेत्युच्यत इत्यनवद्यम् ॥ १० ॥

एवमुद्देश्यत्वेन प्रथमं जिज्ञास्यं त्वपदार्थं स्वप्रकाशं सर्वावस्थाविनिर्मुक्तं निर्विशेषं संशोध्य तज्जिज्ञासोपरमानन्तरं जिज्ञास्यं विधेयं तत्पदार्थमवसरसंगत्या शोधयितुं तस्य निर्विशेषत्वमाह—

( ब्रह्मणो नीरूपभावस्य वेदान्तसंमतत्वम्, अधि० ५ )

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ॥ ११ ॥

‘सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः ’ [ छा० ३ । १४ । २ ] इत्यादिना ब्रह्मणः सविशेषत्वं श्रूयते, ‘ अस्थूलमनणु ’ [ बृ०

(दी० १) पूर्वाधिकरणे सोऽहमिति प्रतिज्ञानात्सुप्तप्रबुद्धैक्यं तर्हि विशेषविज्ञानाभावप्रत्यभिज्ञानात्सुषुप्तिरेव मूर्च्छेति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्याऽऽह मुग्ध इति । मुग्धे मूर्च्छां प्राप्ते जीवे न सुषुप्तिवत्सर्वात्मना संपत्तिः किंतु अर्धसंपत्तिः । कुतः । परिशेषात् । न जागरणस्वप्नौ वृत्तिज्ञानरहितत्वात् । नापि सुषुप्तिर्गात्रकम्पादीनामुपलम्भात् । नापि मृतिः पुनरुत्थानात् । अतः प्रसक्तानां जागरणादीनां प्रतिषेधेऽन्यत्र प्रसक्तौ शिष्यमाणायाः संपत्तेः संप्रत्ययः सोऽयं परिशेषस्तस्मात् ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मण्यर्धसंपत्तिरुक्ता जीवस्य सैवानुपपन्ना ब्रह्मणः सविशेषनिर्विशेषत्वेनानेकरूपत्वेनानिश्चितरूपत्वादित्याक्षिप्याऽऽह—

(ब० व० १) ३।८।८] इत्यादिना निर्विशेषत्वं तत्र संशयः । किमुभयश्रुत्यनुसारादुभयरूपं ब्रह्मोत्तररूपम्, एकरूपमित्यत्रापि सविशेषं निर्विशेषमेवेति फलभेदः । तत्र यथा मूर्छावस्थाया विरुद्धसुषुप्तिमरणावस्थोभयधर्मवत्त्वं तथा ब्रह्मण उभयरूपत्वं भवतु श्रुतत्वाच्चेति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षे सिद्धान्तः । न तावत्स्वतः परस्य ब्रह्मण उभयलिङ्गमुभयरूपत्वं संभवति सत्यस्य वस्तुनो द्वैरूप्यायोगात् । न ह्येकमेव वस्त्वेकदा तद्भेदभाववच्च दृष्टम् । एतेन मूर्छादृष्टान्तो निरस्तः । वैलक्षण्यान्नापि स्थानत उपाधितः परस्योभयरूपत्वं तात्त्विकं युक्तमग्निसंयोगमात्रेण जलस्योष्णस्वभावत्वाददर्शनात् । तस्मादेकरूपं ब्रह्म । तदप्येकरूपत्वं निर्विशेषत्वमेव हि यतः सर्वत्र वेदान्तेषु ब्रह्मपरेष्वशब्दमस्पर्शमित्यादिषु सविशेषत्वनिरासेन ब्रह्मोपदिश्यते तस्मान्निर्विशेषमेवैकरसं ब्रह्म ॥ ११ ॥

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ १२ ॥

ननु न निर्विशेषमेव ब्रह्म । कुतः । भेदात् । प्रतिविद्यं ब्रह्मण आकारभेदेन भेदात्कस्यांचिच्छाखायां चतुष्पाद्ब्रह्मोपदिश्यते कस्यांचित्षोडशकलं कस्यांचिच्चैलोक्यशरीरं वैश्वानराख्यं तस्मात्सविशेषमपि श्रुतिसामर्थ्यादङ्गीकर्तव्यमिति चेन्न । प्रत्येकं प्रत्युपाध्यतद्वचनाद्ब्रह्मणः परस्पाभेदस्यैव श्रवणादिस्वार्थः । 'यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्म\* शरीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मा' [बृ० २।५।१] इत्यादिश्रुतौ ब्रह्मणः सर्वोपाधिषु पृथिव्यच्चादिष्वभेदः श्रूयते । अस्यां पृथिव्यां तेजोमयः स्वप्रकाशो

(दी० १) न स्थानत इति । परस्य परमात्मनः स्वभावत उभयलिङ्गमुभयरूपम् । 'अस्थूलमनणु' इत्यादि मनोमयः प्राणशरीर इत्यादि च न स्थानतोऽपि पृथिव्यादिस्थानयोगादप्युभयलिङ्गम् । कुतः । हि यस्मात्सर्वेषु वेदान्तेष्वशब्दमस्पर्शमरूपमित्यादिनैकमेव श्रूयते ॥ ११ ॥

न भेदादिति । न ब्रह्माशब्दादिगुणकमेकलिङ्गं कुतश्चतुष्पात्षोडशकलमित्यादिना परस्य ब्रह्मणो भेदादिति चेन्न । कुतः । यश्चायमस्यां

(ब० ७०।) नाशरहितो यः पुरुषो यश्चाऽऽत्मानं देहमाधिकृत्य वर्तमानः शारीरो जीवस्तावुभौ सर्वेषां भूतानामुपकारकौ सन्तौ मधुस(रः) शरीरपृथिव्यभिन्नः पुरुषोऽयमेव योऽयमात्मा सर्वकारणभूत इति श्रुत्यर्थः ॥ १२ ॥

अपि चैवमेके ॥ १३ ॥

किंचैके शाखिन एवं भेदनिन्दापूर्वकमभेदमेव ब्रह्मणः समामनन्ति 'मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' [ क० ४। ११ ] इति शास्त्राचार्यसंस्कृतमनसैवेदं ब्रह्म ज्ञातव्यं ज्ञाते त्विह ब्रह्मणि किंचिदपि भेदजातं नास्ति यस्त्वविद्याकृतं नानारूपं सदिति पश्यति स मरणान्मरणं पुनः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु सगुणनिर्गुणपरश्रुतिद्वये सति कथं निर्गुणे ब्रह्मणि पक्षपातस्तत्राऽऽह—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ १४ ॥

रूपादिहीनं निर्विशेषमेव ब्रह्मावधारयितव्यं न सविशेषम् । कुतः । 'अस्थूलम्' [ बृ० ३। ८। ८ ] इत्यादिनिषेधशास्त्रस्य निर्गुणब्रह्मप्रधामत्वादित्यर्थः । उपासनावाक्यानां सविशेषे तात्पर्याभावात्तात्पर्याङ्गीकारे \*वाक्यभेदापत्तेरितरेषां सविशेषवाक्यानां प्रत्यक्षादिसिद्धप्रपञ्चानुवादकत्वेन निर्विशेषपरत्वात्तदनन्यत्वमित्यादिना प्रपञ्चमिथ्यात्वसाधनाच्च न सविशेषत्वं ब्रह्मणः प्रामाणिकमिति भावः ॥ १४ ॥

(दी०।) पृथिव्यामित्यादिना प्रत्येकं प्रत्युपाधि अतद्वचनादभेदवचनात् ॥ १२ ॥

नन्वेकस्यां शाखायामिदं वचनं नात्यन्तमादरणीयमित्यत आह— अपीति । एवं भेददर्शनं निन्दापूर्वकम् । 'मृत्योः स मृत्युम्' इत्युपक्रम्य नेह नानाऽस्ति किंचन इत्यभेदमेके शाखिन आमनन्ति । अपिचशब्देनाभेद एव युक्तोऽपि ॥ १३ ॥

ननु नायं तर्कगम्योऽर्थः श्रुतेश्चोभयत्र विद्यमानत्वादित्यत आह— अरूपवदिति । हि यस्मादरूपवदेव ब्रह्म न तु सगुणमवगन्तव्यम् । कुतः । तत्प्रधानत्वात् । तस्यारूपवतः प्रधानत्वात्प्रतिपाद्यत्वात् । अस्थूलमनण्वित्यादिभिर्वाक्यैः । एतच्च समन्वयसूत्रे स्थितम् ॥ १४ ॥

(ब्र० ४०।) ननु तर्हि सविशेषश्रुतीनां का गतिरत आह—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ १५ ॥

यथा सूर्यादिप्रकाशो वक्रवंशाद्युपाधिना वक्र इव दीर्घ इवर्जुरिव भवति तद्वद्ब्रह्मापि पृथिव्याद्युपाधिवशात्तदाकारमिव भवति तादृश औपाधिकाकारः सविशेषश्रुतीनां गतिरिति तासामवैयर्थ्यान्निरर्थकत्वाभावाच्च विरोध इत्यर्थः ॥ १५ ॥

ननु कीदृशं निर्विशेषं ब्रह्मेत्यत आह—

आह च तन्मात्रम् ॥ १६ ॥

तन्मात्रं चैतन्यैकरसं निर्विशेषं श्रुतिराह । ‘ यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्माऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव ’ [ बृ० ४ । ५ । १३ ] इत्येकरसे दृष्टान्तः । यथा लोके सैन्धवघनो लवणमूर्तिविशेषोऽन्तर्बहिश्च विलक्षणरसशून्यः सर्वो लवणैकरसस्तथाऽयमात्माऽन्तर्बहिर्भेदरहितः सर्वः स्वप्रकाशचिदेकतानस्तिष्ठतीति श्रुत्यर्थः ॥ १६ ॥

किंच प्रपञ्चनिषेधमुखेन ब्रह्मण उपदेशाद्ब्रह्म निर्विशेषम् । सविशेषवाक्यैरेव तत्सिद्धेर्निर्विशेषोपदेशानर्थक्यं भवेदित्यत आह—

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ १७ ॥

‘ अथात आदेशो नेति नेति ’ [ बृ० २ । ३ । ६ ] इत्यादिश्रुतिर्निषेधमुखेनैव ब्रह्म दर्शयति । पञ्चभूतोक्त्यानन्तर्यमथशब्दार्थः, तस्याः

(दी०।) एवं तर्हि सगुणप्रतिपादकानां वाक्यानां वैयर्थ्यमित्यत आह—प्रकाशवदिति । यथा प्रकाशः सूर्यादेरङ्गुल्यादिक्रजुवक्रतामनु स्वयमपि क्रजुर्वक्र एवमुपाधिभेदेनाऽऽत्मनोऽपि सगुणत्वमतस्तद्वाक्यानामवैयर्थ्यं तस्मात् । चकारो घटाकाशादिनिर्दर्शनसमुच्चयार्थः ॥ १५ ॥

ननु संत्यपि रूपान्तरे मनसः स्थैर्यार्थमरूपस्य प्राधान्यमित्यत आह—आह चेति । तन्मात्रं चैतन्यमात्रं रूपान्तररहितं कृत्स्नः प्रज्ञानघन इति श्रुतिराह । चकारो नीरूपे मनसः स्थैर्यं वारयति ॥ १६ ॥

ननु इयं श्रुतिरेकरूपत्वं विधत्ते न पुना रूपान्तरं प्रतिषेधति अत आह—दर्शयतीति । अथो यस्माद्रूपान्तरप्रतिषेधं दर्शयति नेति नेती-

(ब्र० व० १) परब्रह्मधीहेतुत्वमतःशब्दार्थः, इतिशब्दः पूर्वोक्तपञ्चभूतपरा-  
मर्शी, तन्निषेधावधिभूतः परमात्मेत्यादेश उपदेश इत्यर्थः । सूत्रगताथो-  
शब्दस्तथार्थः । तथा स्मर्यते च निषेधमुखेन ब्रह्मेत्यर्थः ।

‘ ज्ञेयं यत्तत्पवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽसृत्तमश्नुते ।

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥ ’ [गी० १३ । १२]

इति भगवद्गीता । आदिमत्कार्यमस्य न विद्यत इत्यनादिमत्का-  
र्यरहितमित्यर्थः । न सन्न कारणं कस्यचिन्न कार्यं स्वयं कस्यचिदि-  
त्यर्थः ॥ १७ ॥

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ १८ ॥

यत एव परप्रतिषेधोपदेशो निर्विशेषोऽयमात्माऽत एवौपाधिकसवि-  
शेषत्वमादाय जलसूर्यकादिवदित्युपमा गृह्यते । ‘ यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा  
विवस्वानथो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो  
देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा ’ इति ।

‘ एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।

एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ’ [ ब्रह्मविम्बु० १२ ] ।  
ज्योतिःस्वभावो विवस्वानेकोऽपि तत्तत्पात्रगता भिन्ना अपोऽनुगच्छन्ब-  
हुधा क्रियत एवमयमात्मा देवः स्वप्रकाशोऽजः कूटस्थनित्य एकोऽपि  
भिन्नेषु क्षेत्रेष्वनुगच्छन्नुपाधिना भेदरूपः क्रियत इति योजना । तथा  
चैतद्दृष्टान्तबलादपि ब्रह्मणो निर्विशेषत्वमिति सूत्रकृत्तात्पर्यम् ॥ १८ ॥

दृष्टान्तवैषम्यं शङ्कते—

अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् ॥ १९ ॥

ननु यथाऽम्बु सूर्यादिभ्यो मूर्तेभ्यो भिन्नं दूरस्थं प्रतिबिम्बोपाधिभूत-

(दी० १) त्यादिना । नायं प्रतिषेधो लौकिकः । यतः स्मर्यतेऽपि च न सत्त-  
दित्यादिना ममैवमित्यादिना च ॥ १७ ॥

ननु प्रतीयमानो भेदः कथमतात्त्विक इत्यत आह—अत एवेति ।  
यत एकरूपताऽस्योक्ता नानारूपत्वं निराकृतम् । अस्मादेव कार-  
णात्प्रतीयमानस्य भेदस्योपमा भवति । यथा जलसूर्यकः प्रतिबिम्बः ।  
आदिशब्देन चन्द्रप्रतिबिम्बादि । तथा च श्रुतिः—‘ यथा ह्ययं ज्योति-  
रात्मा ’ इत्यादिषु ‘ एक एव ’ इत्यादिषु च तदुपमीयते ॥ १८ ॥

उपाधिभेदोऽनेकत्वमाक्षिपति—अम्बुवादिति । यथाऽम्बु सूर्यान्मूर्ते-

(ब० व०।) मुपलभ्यते तद्वद्यापकादात्मनो दूरस्थोपाधेरग्रहणादात्मनो मूर्त-  
त्वामावाञ्चं विषमो दृष्टान्त इति न तथात्वं न सूर्यादितुल्यत्वमिति  
शङ्कार्थः ॥ १९ ॥

तत्रोत्तरमाह—

वृद्धिहासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ २० ॥

यथा सूर्यप्रतिबिम्बस्य जलान्तर्भूतस्य जलगतवृद्धिहासचलनादे-  
र्भाक्त्वं न वास्तवमेवमविकृतपरमात्मनो देहाद्युपाध्यन्तर्भावाद्देहगतवृ-  
द्धिहासादिभाक्त्वं न स्वाभाविकमित्येतावतांऽशेनोभयोर्दृष्टान्तदार्ष्टा-  
न्तिकयोः सामञ्जस्याद्भवति सूर्यादिदृष्टान्तः । न हि सर्वात्मना साम्यं  
दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः शक्यते वक्तुं दृष्टान्तत्वविरोधादिति भावः ॥ २० ॥

किंचाऽऽगमसमधिगम्येऽर्थे न चोद्यमित्याह—

दर्शनाच्च ॥ २१ ॥

परस्यैव ब्रह्मणो देहान्तरानुप्रवेशस्य प्रतिबिम्बभावरूपस्य श्रुतौ  
दर्शनादित्यर्थः । ‘पुरश्चक्रे द्विपदः पुरश्चक्रे चतुष्पदः । पुरः स पक्षी  
भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्’ [बृ० २ । ५ । १८] । इति श्रुतिः ।  
पुरः शरीराणि द्विपादयुक्तानि चतुष्पादयुक्तानि च चक्रे कृत्वा पुरश्चक्षुरा-  
द्यभिव्यक्तेः पूर्वं स पुरुष ईश्वरः पक्षी लिङ्गशरीरं भूत्वा शरी-

(दी०।) व्यवहितं गृह्यत एवमम्बुवत्परमात्मनोऽभिन्नस्योपाधेः परमात्मनो वा  
मूर्तस्याग्रहणादेव न तथात्वं न सूर्यकादिसमानत्वमस्य भेदस्य ॥ १९ ॥

समाधत्ते—वृद्धीति । दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोर्न साम्यं लोके किमुत  
वेदे । एकस्य कथं तिर्यगादिविचित्राणि रूपाणीत्यस्य समाधानार्थं  
सूर्यकादिदृष्टान्तो विवक्षितेऽर्थे श्रुत्योक्तः । विवक्षितं तु यथा जलवृद्धय-  
वृद्धिभाक्त्वं तच्चलनादौ चलनादिभाक्त्वमेकस्यापि तद्देदाद्देदभाक्त्व-  
मिति वृद्धिहासभाक्त्वमुपाधेरस्य । कुतः । उपाधौ देहादावन्तर्भावाद-  
हमित्याद्यभिमानेन क्रोडीकृतः । कुत एतदित्यत आह—एवमुभयस्य  
दृष्टान्तस्य दार्ष्टान्तिकस्य सामञ्जस्यम् ॥ २० ॥

ननु शरीरान्तः परमात्मप्रवेशे सत्युपमागवेषणं न तस्माद्विन्नजीवप्र-  
वेश इत्यत आह—दर्शनेति ‘पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत्’

(ब्र० व० १) राणि सृष्ट्वाऽऽविशदित्यर्थः । तस्मान्निर्विशेषमेव चैतन्यैकरसं ब्रह्मेति सिद्धम् ॥ २१ ॥

ननु निषेधश्रुतिभिर्निर्विशेषं ब्रह्म सिध्यतीति यदुक्तं तदयुक्तं ताभिर्ब्रह्मणोऽपि निषिद्धत्वादित्याक्षेपसंगत्याऽधिकरणमारभ्यते—

( ब्रह्मणो निषेधातीतत्वेन सत्यत्वस्थापनम्, अधि० ६ )

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ २२ ॥

तत्र पूर्वपक्षे ब्रह्मासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् । द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च [ बृ० २ । ३ । १ ] इत्युपक्रम्य पञ्चभूतात्मकं रूपद्वयं तेजोब्रह्मात्मकं भूतत्रयं मूर्तं स्थूलावयवं प्रत्यक्षं वाय्वाकाशात्मकं भूतद्वयं परोक्षममूर्तमिति द्वेधा विभज्य तत्र मूर्तस्य सूर्यश्चक्षुर्गोलकं च कार्यं सारोऽमूर्तस्य तु सूर्यान्तर्वातीकिरणात्मको हिरण्यगर्भश्चक्षुर्गोलके दक्षिणे चक्षुरूपेण वर्तमानः सार इति चोक्त्वा तस्य करणात्मकलिङ्गशरीररूपस्य हिरण्यगर्भस्य पुरुषशब्दवाच्यस्य वासनामयानि स्वाप्नरूपाणि मायामयानि दर्शयित्वा रूपद्वयवतो ब्रह्मणः स्वरूपं बोधयितुमिदमारभ्यते—‘अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत्परमस्त्यथ नामधेयं सत्यस्य सत्यमिति प्राणा वै सत्यं तेषामेष सत्यम्’ [ बृ० २ । ३ । ६ ] इति उपक्रमे वावशब्द एवकारार्थः । सपरिक्करूपद्वयोपन्यासानन्तर्यमथशब्दार्थः । रूपद्वयोपन्यासस्य ब्रह्मज्ञानहेतुत्वं ब्रह्मणो वक्तव्यत्वेन परिशेषो वाऽतःशब्दार्थः । इतिशब्देन ब्रह्मणो रूपद्वयं सपरिक्करं यदुपन्यस्तं तत्पराभूयते । इतिशब्देन परासृष्टं सर्वं नञ्वावीप्सया निषिध्यते । नेति नेतीति वीप्सया विषयजातस्य सर्वस्य निषेधे ह्यविषयः प्रत्यगात्मा निषेधावाधिभूत इति निर्विचिकित्सं ज्ञानं भवति ।

(दी० १) अनेन जीवेनेत्यादिना परमात्मन एव प्रवेशस्य दर्शनात् । चकारो जीवस्य परमात्मध्यतिरिक्तग्राहकप्रमाणाभावसूचनार्थः ॥ २१ ॥

पूर्वाधिकरणे निर्विशेषमेव ब्रह्मेत्युक्तं निषेधप्राधान्यादेवं च नेति प्राधान्याद्ब्रह्मापि न स्यादित्याक्षिप्याऽऽह—प्रकृतेति । प्रकृतं मूर्तामूर्तरूपेण यदेतावत्त्वमिष्यता तस्य भावः । प्रकृतैतावत्त्वं तदेव प्रतिषेधति



(ब्र० व० १) एवं नेति नेतीति ब्रह्मोपदेशं कृत्वा नेति नेतीत्युपदेशस्य कोऽर्थ इत्याकाङ्क्षायां तमेधोपदेशं निर्वक्ति—न ह्येतस्मादिति । हि यस्मादेतस्मान्नेति नेतीत्यादिब्रह्मणोऽन्यव्यतिरिक्तं नास्ति ब्रह्मैव तु परमस्ति तस्मान्नेतीत्युच्यत इति निर्वचनवाक्यस्यार्थः । यद्वा नेति नेतीति यः प्रपञ्चनिषेधरूप आदेशः कृतः स एतस्मादित्यनेन परामुश्यते । एतस्मान्नेतीति प्रपञ्चनिषेधरूपा ब्रह्मोपदेशनादन्यत्परमुपदेशनं न ह्यस्तीत्यर्थः । ब्रह्मणो नामधेयकथनव्याजेनापि स्वरूपमाह—अथेति । नेति नेतीति निषेधस्य ब्रह्मविषयत्वाभावसूचनार्थोऽथशब्दः । नामधेयमाह—सत्यस्य सत्यमिति । तद्व्याचष्टे श्रुतिः ‘प्राणाः’ इति । प्राणशब्देन लिङ्गशरीरमुच्यते तस्य सत्यत्वं स्थूलदेहापेक्षया स्थायित्वं द्रष्टव्यम् । एष परमात्मा सत्यस्यापि परं सत्यमिति वस्तुगतिः । तत्र नेतिनेतीति निषेधस्य को वा विषय इति संदिह्यते किं प्रपञ्चो ब्रह्म चेत्युभयमपि निषिध्यत उतैकमेकमित्यत्रापि किं प्रपञ्चो निषिध्यत उत ब्रह्मेति । तत्र नियामकाभावादुभयमपि प्रतिषिध्यत इति प्राप्ते । यद्वा निरधिष्ठाननिषेधायोगादेकं ब्रह्मैव निषिध्यते प्रपञ्चस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वेन निषेधायोगादिति प्राप्ते ब्रूमः । ब्रह्मणो यद्रूपद्वयं सपरिकरं प्रकृतं प्रधानमेतावस्वमियत्तापरिच्छिन्नं तत्प्रकृतैतावत्त्वं तदेव प्रतिषेधति नेति नेतीत्यादिश्रुतिरिति शब्दस्य प्रधानत्वेन प्रकृतपरामर्शित्वात् । ब्रह्म तु न प्रधानत्वेन प्रकृतं ‘द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे’ [ ष० २ । ३ । १ ] इतिरूपद्वयात्मकजगद्रूपसर्जनत्वेनैवोक्तत्वादितश्च ब्रह्मणो न निषेधो यस्मात्ततः प्रपञ्चनिषेधानन्तरं भूयो ब्रह्मास्तीति ब्रवीति न हीत्यादि परमस्तीत्यन्तं निर्वचनवाक्यं तस्मादित्यर्थः । ब्रह्मणो निषेधे किमस्तीति ब्रूयादिति भावः । निर्वचनवाक्यस्य द्वितीयव्याख्यायां तु ततः प्रपञ्चनिषेधस्य परस्तादथ नामधेयमित्यादिवाक्यं ब्रह्म ब्रवीत्यतो नेतीत्यादिवाक्येन निषेधमात्रं न ज्ञेयं किंतु तेन निषेधेन भावरूपं ब्रह्म ज्ञातव्यमिति सूत्रभागस्यार्थः । न च प्रपञ्चनिषेधे प्रत्यक्षविरोधस्तस्य व्यावहारिकप्रामाण्यादित्यनवद्यम् ॥ २२ ॥

(दी०) निराकरोति नेतिशब्दः कुत एतदित्यत आह—ततो ब्रवीति च भूयः । ततस्तस्मात्प्रतिषेधादनन्तरं भूयः पुनरन्यत्परमस्तीति ब्रवीति । चकारोऽत्यन्तसतो निर्धारसमुच्चयार्थः । अथ वा ततो ब्रवीति च भूय इति ततः प्रतिषेधादनन्तरं भूयः पुनर्ब्रवीति ‘अथ नामधेयं सत्यस्य सत्यम्’ इत्यादिना ॥ २२ ॥

(ब्र० व० १) ननु यदि ब्रह्मास्ति तर्ह्युपलभ्येत तत्राऽऽह—

तदव्यक्तमाह हि ॥ २३ ॥

तद्ब्रह्माव्यक्तं श्रुत्यतिरिक्तमानागोचरं हि यतः श्रुतिराह 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा' [मु० ३ । १८] 'स एष नेति नेत्यात्माऽगृह्यो नहि गृह्यते' [बृ० ३ । १ । २६] इत्यादिना । ब्रह्मणः प्रत्यक्षाद्यगोचरत्वमन्यैर्देवैरिन्द्रियान्तरैरित्यर्थः । नेति नेतीति य आत्मा व्याख्यातः स एषोऽगृह्योऽग्राह्यो यस्मान्नहि गृह्यते ग्रहणायोग्य इत्यर्थः ॥ २३ ॥

तर्हि सर्वदा ब्रह्मग्रहणामावे मोक्षो न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ २४ ॥

अपि चैनमात्मानं संराधने समाध्यवस्थायां कृतार्थाः पश्यन्तीति प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यामवगम्यते तथा हि श्रुतिः— 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्' [क० २ । १ । १] इति । 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यति निष्कलं ध्यायमानः' [मु० ३ । १ । ८] इति । स्वयंभूः परमात्मा खानि श्रोत्रात्मकाकाशोपलक्षितानीन्द्रियाणि पराञ्च्यनात्मविषयाणि व्यतृणद्धिसितवान् । इन्द्रियाणां हिंसाऽनात्मविषयतया सर्जनमेव । तथासर्जने गमकमाह तस्मादिति । ननु यदीन्द्रियैः पराञ्चमेवार्थं पश्यति नान्तरात्मानं कथं तर्ह्यात्मज्ञानं तत्राऽऽह कश्चिदिति । कश्चिद्धीरो विवेक्यावृत्तचक्षुः संयतेन्द्रियो मोक्षमिच्छन्प्रत्यगात्मानं समाधाधीक्षितवानित्यर्थः । ज्ञानस्य करणव्युत्पत्त्याऽन्तःकरणस्य प्रसादेन रागादिराहित्येन विशुद्धसत्त्वः प्रत्यक्प्रवणान्तःकर-

(दी०) एतादृशं ब्रह्म चेत्कस्माच्चक्षुरादिना न गृह्यत इत्यत आह— तद्ब्रह्म तदव्यक्तेति । तद्ब्रह्म न व्यक्तं रूपादिहीनमव्यक्तम् । कुतः । हि यस्मादाह श्रुतिः 'न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा' इत्यादिना । स्मृतिरपि अव्यक्तोऽयमित्यादिना ॥ २३ ॥

ननु श्रुतिवचनात्तादृशस्य सत्त्वे कथं विश्वासः कदाचिदप्यप्रत्यक्षतायामित्यत आह—अपीति । संराधनं भक्तिध्यानप्रणिधानाद्यनुष्ठानं तस्य च संराधनस्य कालः संराधनं तस्मिन्योगिनः पश्यन्ति । तत्कुतः । प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् । प्रत्यक्षं श्रुतिः । 'प्रत्यगात्मानमैक्षत्' 'ततस्तु

(ब्र० व० १) णस्ततस्तु विशुद्धसत्त्वत्वाद्धेतोस्तमात्मानं निरवयवं ध्यायमानः पश्यति साक्षात्करोतीत्यर्थः । स्मृतिरपि—

‘यं विनिद्रा जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः ।

ज्योतिः पश्यन्ति पुञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः ॥

[ महामा० १२ । ४७ । ५४ ] इति । जितश्वासाः प्राणायामपराः ।

योगात्मत्वं ध्यानात्मकयोगगम्यत्वम् ॥ २४ ॥

ननु जीवेश्वरयोर्ध्यातृध्येयभावाङ्गीकारे भेदः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—

प्रकाशादिवचावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ २५ ॥

यथा सौरः प्रकाश आकाशो वाऽङ्गुल्याद्युपाधौ कर्माणि भिन्न इव वक्र इव भाति वस्तुतस्त्वेकरूपस्तद्वत्प्रकाश आत्माऽपि ध्यानज्ञानादौ कर्मणि भिन्न इव वक्र इव भाति वस्तुतस्त्ववैशेष्यरूपमेकरूपत्वमेवाऽऽत्मनः । कुतः । अभ्यासात् । तत्त्वमसीत्याद्यभेदश्रुत्यभ्यासादित्यर्थः ॥ २५ ॥

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ २६ ॥

अतो भेदस्यौपाधिकत्वाद्विद्यया भेदं निरस्य जीवोऽनन्तेन परमात्म-

(दी० १) तं पश्यते निष्कलम् ' इत्यादि । अनुमानं स्मृतिः । ज्योतिः पश्यन्तीत्यादि च । ताभ्यां श्रुतावविश्वसितस्य प्रत्याक्षिप्य विश्वासमाहापिशब्दः ॥ २४ ॥

ननु संराध्यसंराधकभावश्चेत्स एव ब्रह्मभेदो जीवब्रह्मणोर्विशेषात्मत्वं च स्पष्टमित्यत आह—प्रकाशादिवदिति । यथा प्रकाशाकाशसवितृप्रभृतयोऽङ्गुलिकरकोदकप्रभृतिषु कर्मसूपाधिभूतेषु सविशेषा इवावभासन्ते न च स्वाभाविकीमविशेषात्मतां जहति । एवमुपाधिनिमित्त एवायमात्मभेदः स्वतश्चैकात्म्यमेव । तथा हि वेदान्तेषु अभ्यासेनासकृज्जीवप्राज्ञयोरभेदः प्रतिपाद्यते । अक्षराणि त्वेवं योज्यानि । कर्मण्युपाधौ प्रकाशश्च शब्दादप्रकाशश्चोपाधौ स्थितो भिन्नरूपेणावैशेष्यमेवावलम्बते । एवं प्रकाशादिस्वरूपेणावैशेष्यमवलम्बते परः । आद्यश्चकारस्तदनवलम्बने परत्वाभावं परमेश्वरस्याऽऽह । कुतः । अभ्यासाज्जीवब्रह्मणोरभेदस्येति शेषः ॥ २५ ॥

तथाऽपि परिच्छिन्नस्य जीवस्य कथमनन्तेन परमात्मनैक्यमित्यत

(ब्र० १०॥) नैकतां गच्छति । तथा हि लिङ्गमपूर्वार्थज्ञापकं श्रुतिजातं 'ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति' [ बृ० ४ । ४ । ६ ] इत्यादि ॥ २६ ॥

एवं जीवब्रह्मणोः पारमार्थिकमभेदमुक्त्वा स्वमतशुद्ध्यर्थं भेदाभेद-  
पक्षमुपन्यस्यति—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ २७ ॥

ध्यातृध्येयभावादिना भेदस्याभेदस्य च श्रुतौ व्यपदेशाज्जीवेश्वरयो-  
र्भेदाभेदौ भवतः । कुतः । तुशब्दः सिद्धान्तभेदद्योतनार्थः । अहिकुण्ड-  
लवत् । कुण्डलमहेः संस्थानविशेषः । अहिकुण्डलयोरहितत्वेनाभेदः  
कुण्डलत्वेन भेदस्तद्वदित्यर्थः ॥ २७ ॥

धर्मभेदेन भेदाभेदाविति पक्षमुक्तवैकधर्माविच्छेदेनैव भेदाभेदाविति  
पक्षमाह—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ २८ ॥

यथा प्रकाशः सौरस्तदाश्रयश्च सविता तयोर्नात्यन्तभेदस्तेजस्त्वा-  
विशेषात्तथाऽपि भिन्नत्वेन प्रतीयते । तथा चैकस्तेजस्त्वाविच्छेदेनैव  
प्रमाणबलाद्भेदाभेदौ यथा तद्वज्जीवेश्वरयोर्भेदाभेदावित्यर्थः ॥ २८ ॥

(दी०॥) आह—अत इति । यतः परिच्छेदो न वस्तुकृतो जीवस्यातोऽस्मा-  
त्कारणादनन्तेनैक्यमुपपन्नम् । नैतद्युक्तिमात्रं हि परमाद्यथोक्तं तथा  
लिङ्गं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवतीति ॥ २६ ॥

इदानीं स्वमतविशुद्ध्यर्थं भेदाभेदवादमुत्थापयति—उभयेति । तु  
शब्दः संराध्यसंराधकयोरौपाधिकं भेदं व्यावर्तयति—ततस्तु तमित्यादिना ।  
ध्यातृध्येयभावस्य परात्परमित्यादिना गन्तृगन्तव्याभावस्य यः सर्वाणि  
भूतानीत्यादिना नियन्तृनियम्यभावस्य भेदस्य तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मी-  
त्यादिनैक्यस्योभयस्य व्यपदेशाद्भेदाभेदौ जीवब्रह्मणोरहिकुण्डलवत् ।  
यथाऽहेः कुण्डलाकारो नात्यन्तं भिन्नः पृथगनुपलभ्यमानात् । न चात्य-  
न्तमभिन्ने दण्डायमाने तस्मिंस्तस्यानुपलभ्यमात् । एवं जीवोऽपीति ॥ २७ ॥

अपि चैवं जीवस्यानित्यत्वं स्यादित्यत आह—प्रकाशेति । अथ वा  
प्रकाशाश्रयवदेतत्प्रतिपत्तव्यम् । यथा प्रकाशः सावित्रस्तथाऽऽश्रयश्च  
सविता नात्यन्तं भिन्न उभयोरपि तेजस्त्वाविशेषात् । अथ च भेदव्यप-  
देशभाजौ भवत एवमिहापि ॥ २८ ॥

(ब्र० व० १) ननु भेदस्य पारमार्थिकत्वे ज्ञानाभिवृत्तेरसंभवान्मोक्षो न स्यादे-  
कावच्छेदेन तयोरैकत्राङ्गीकारे लोके विरोधकथैव न स्यादित्यादिदोषं  
परमेते मत्वा स्वसिद्धान्तमाह—

पूर्ववद्वा ॥ २९ ॥

‘ प्रकाशवच्चावैशेष्यम् ’ इत्यत्र पूर्वं भेद औपाधिकोऽभेदः पारमा-  
र्थिक इति यथोक्तं स एव सिद्धान्तोऽभ्युपेयः ॥ २९ ॥

प्रतिषेधाच्च ॥ ३० ॥

‘ नान्योतोऽस्ति द्रष्टा ’ [बृ० ३ । ७ । २३] इत्यादिशास्त्रेण परमा-  
त्मातिरिक्तस्य चेतनस्य नेति नेतीत्यादिवाक्यैः प्रपञ्चस्य प्रतिषेधाद्ब्र-  
ह्माद्वितीयमित्ययमेव सिद्धान्त इत्यर्थः । तस्माच्छ्रुतिबलान्निर्विशेष  
एकः परमात्मेति सिद्धम् ॥ ३० ॥

ननु नेतिनेतीति ब्रह्मातिरिक्तं वस्तु निषेध्यमित्युक्तं तद्युक्तं ब्रह्मणः  
सेतुत्वो\*न्मानादिव्यपदेशेन वस्त्वन्तरसत्त्वावगमाद्द्युभवाद्यधिकरणे सेतु-  
त्वस्य गौणत्वेन नीतत्वेऽप्युन्मानादीनां गतेरदर्शनादित्याक्षिपति—  
( ब्रह्मणोऽन्यस्यावस्तुत्वव्यवस्थापनम्, अधि० ७ )

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३१ ॥

तत्र पूर्वपक्षे पूर्वाधिकरणसिद्धान्तासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धि-  
रिति बोध्यम् । अत्र ब्रह्मातिरिक्तं वस्तुस्ति न वेति संशयेऽस्तीत्याह

(दी० १) समाधत्ते—पूर्ववदिति । वाशब्दो न भेदाभेदा इत्याह । किंतु यथा  
पूर्वमुपन्यस्तं प्रकाशवच्चावैशेष्यमिति तथैव तत् ॥ २९ ॥

नन्वेवं भेदश्रुतेरपि निर्वाहे कुतोऽयमेव पक्ष इत्यत आह—प्रतिषेधा-  
दिति । नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टेत्यादिना ब्रह्मणो व्यतिरिक्तस्य प्रतिषेधात् ।  
चकारो भेदश्रुतेरसत्त्वस्य भेदाभेददुर्भणत्वस्य समुच्चयार्थः ॥ ३० ॥

पूर्वाधिकरणे प्रतिषेधादन्यस्य ब्रह्मणः श्रुत्योक्तत्वादस्ति ब्रह्मेत्युक्तं  
तर्हि ब्रह्मव्यतिरिक्तमप्यस्ति श्रुत्युक्तत्वादित्याक्षिपति—परमत इति ।

\* ख. ‘ स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ’ ( ब्र० सू० २ । ३ । २२ ] इत्यास्मिन्सूत्रे—सर्वेभ्यः  
स्थूलपरिमाणेभ्य उद्भूत्य मातृमुन्मानमत्यन्तापक्वष्टपरिमाणमिति यावत् ।

(ब० व० १) परमिति । अतो ब्रह्मणः परं वस्त्वस्ति 'अथ य आत्मा स सेतुः' [ छा० ८।४ । १ ] इति ब्रह्मणः सेतुत्वव्यपदेशात् । तथा च ब्रह्म सद्वितीयं सेतुत्वाज्जलसेतुवदित्यनुमानमुक्तम् । ब्रह्म चतुष्पादिति श्रुतावुन्मानव्यपदेशादेतावद्वितीयं परिच्छिन्नत्वव्यपदेशाद्वैश्यसमीपस्थक्रयसाधनपाषाणादिवत्सद्वितीयं ब्रह्मेत्युन्मानशब्दार्थः । चतस्रो दिश एकः पादः, पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौः समुद्र इति द्वितीयः पादः, अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा विद्युदिति तृतीयपादः, । चक्षुः श्रोत्रं वाङ्मन इति चतुर्थः पाद इति श्रुतावुपासनार्थं 'चतुष्पाद्ब्रह्म' [ छा० ३।१८।२ ] इत्युक्तमिति मन्तव्यम् । सुषुप्तौ 'प्राज्ञेनाऽऽत्मना शारीरः संपरिष्वक्तः' [ बृ० ४।३।२१ ] इत्यादिना ब्रह्मणः संबन्धव्यपदेशात्संबन्धत्वेन हेतुना घटादिवत्सद्वितीयत्वेन घटादिवत्सद्वितीयत्वमिति संबन्धार्थः । आदित्ये हिरण्यपुरुषमीश्वरं व्यपदिश्य ततो भेदेनाक्षिपुरुषस्य व्यपदेशात्परमात्मा सद्वितीय इति प्राप्ते ॥ ३१ ॥

सेतुत्वादिहेतोरसिद्धिमाह—

सामान्यानु ॥ ३२ ॥

मृद्वार्वादिमये हि सेतुशब्दो रूढो लोके न हि तादृशं सेतुत्वं ब्रह्मणोऽस्ति किंतु सेतुर्यथा जलस्य व्यवस्थापक एवं ब्रह्मणोऽपि सकलजगन्मर्यादाव्यवस्थापकत्वेन प्रसिद्धसेतुसामान्यात्सेतुत्वव्यपदेश इत्यर्थः । तुशब्दः पूर्वपक्षनिरासार्थः । एकविज्ञानप्रतिज्ञाविरोधः सर्वेषामनुमानानां बोध्यः ॥ ३२ ॥

(दी० १) परमेश्वरात्परमन्यदास्ति । कुतः । सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः । सेतुव्यपदेशस्तावदथ य आत्मा स सेतुरिति । उन्मानव्यपदेशश्रुतव्यपदेशादिः । संबन्धव्यपदेशः सता सोम्येत्यादिः । भेदव्यपदेशो य एषोऽन्तरादित्ये य एषोऽन्तरक्षिणीति । तेभ्यः । न हि सर्वस्मात्परस्यैते व्यपदेशा उचिताः ॥ ३१ ॥

सामान्येति । तुशब्दो ब्रह्मणः परमन्यद्वावर्तयति । कथं तर्हि सेतुशब्दो ब्रह्मणीत्यत आह—सामान्यात् । लौकिकेन सेतुना विधारकत्वेन ॥ ३२ ॥

(अ० व० १) उन्मानव्यपदेशोऽपि न मुख्य इति द्वितीयं हेतुमप्यसिद्ध्या दूषयति-

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३३ ॥

ब्रह्म चतुष्पादिति श्रुताबुन्मानव्यपदेशो बुद्ध्यर्थः पादवदुपासनार्थः । निर्विशेषस्य बुद्धिस्थत्वायोगादुपासनाद्वारा बुद्धिस्थत्वयोगादुन्मानव्यपदेशो न मुख्य इत्यर्थः । पादवत् । यथा ब्रह्मप्रतीकस्य मनसो वाग्घ्राणचक्षुःश्रोत्राण्युपासनार्थं पादत्वेन व्यपदिश्यन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ३३ ॥

अवशिष्टहेतुद्वयमप्यसिद्ध्या दूषयति—

स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ॥ ३४ ॥

सुषुप्तौ ब्रह्मणो जीवेन न घटस्य पटेनेव संबन्धः किंतु स्थानविशेषाद्बुद्ध्याद्युपाधिविशेषात्प्राप्तस्य विशेषविज्ञानस्योपाध्युपशमादुपशमेऽभिव्यक्तोपाधिप्रयुक्तभेदाभाव एव जीवपरयोः सुषुप्तौ संबन्ध इति व्यपदिश्यते । अक्षयादित्यपुरुषयोर्भेदव्यपदेशोऽप्यक्षयादित्यरूपस्थानविशेषापेक्षया प्रकाशादिवद्यथा सौरः प्रकाश आकाशो वाऽङ्गुलियोगाद्घटसूचीपाशाद्युपाधिविशेषात्संबन्ध इव भिन्न इव भाति, उपाधिविगमे तदानीमसंबन्ध इवाभिन्न इव व्यपदिश्यते तद्वदित्यर्थः । तस्माज्जीवपरयोः संबन्धो भेदश्रोपाधिनिमित्तो न स्वाभाविकः ॥ ३४ ॥

(श्री०) कथं तर्हि उन्मानशब्द इत्याह—बुद्ध्यर्थ इति । बुद्ध्यर्थ उपासनार्थः । तत्र निदर्शनं पादवत् । यथा पादा मनसो वागादय आकाशस्याग्न्यादयः । अथ वा कार्पापणस्य पादा व्यवहारार्थं तद्वत् ॥ ३३ ॥

तर्हि संबन्धभेदयोः कथं व्यपदेश इत्यत आह—स्थानेति । स्थानैर्मवस्थानं तस्य विशेषो बुद्ध्युपाधिराहित्यं सुषुप्तावस्थायां न तु परिमितत्वेन सत्तासंपत्तिरतो न संबन्धकृतदूषणम् । भेदपक्षे स्थानादित्यमण्डलेऽक्षिणी च विशेषस्तस्मात् । न तु स्वरूपभेदाद्व्यपदेशः । प्रकाशादिवदित्युपमोपादानम् । यथैकस्य प्रकाशस्य सौरस्य चान्द्रमसस्य चोपाधियोगादुपजातस्योपाध्युपगमात्संबन्धव्यपदेशो भवति उपाधि[भेदाच्च] । भेदव्यपदेशः । आदिशब्देन यथा सूचीपाशादिषूपाध्यपेक्षयैवैतौ व्यपदेशौ भवतस्तद्वत् ॥ ३४ ॥

(ब्र० व० १) ननु मुख्य एवास्तु तत्राऽऽह—

उपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

न मुख्यः संबन्धो जीवपरयोः सुप्तौ संभवति 'स्वमपीतो भवति'  
[छा० ६।८।१] इति स्वरूपस्यैव संबन्धत्वव्यपदेशात्स्वरूपस्य च  
सदातनत्वात्सुषुप्तौ गौणसंबन्धत्वमेव, एवं भेदोऽपि न मुख्यः श्रुतिसह-  
स्रविरोधादित्युपपत्तिवशान्नैमित्तिक एवेत्यर्थः ॥ ३५ ॥

एवं सेतुत्वादीन्हेतून्निराकृत्य ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वं हेत्वन्तरेणाऽऽह—  
तथाऽन्यप्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

यथा सेतुत्वादिहेतुभ्यो न वस्त्वन्तरप्रमा तथा 'अहमेवाधस्तात्'  
[छा० ७।२५।१] 'आत्मैवाधस्तात् ।' [छा० ७।२५।२]  
इत्यादिवाक्यैरन्यस्य वस्तुनः प्रतिषेधादद्वितीयमेव ब्रह्मेत्यर्थः ॥ ३६ ॥

ननु ब्रह्मणोऽद्वितीयत्वे सर्वगतत्वं कथमत आह—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३७ ॥

अनेन सेतुत्वादिव्यपदेशमुख्यत्वस्य वस्त्वन्तरस्य च प्रतिषेधेन ब्रह्मणः  
सर्वगतत्वं सिद्धमप्रतिषेधे प्रसिद्धसेतुवद्ब्रह्मणोऽसर्वगतत्वं प्रसज्येत ।  
सर्वगतत्वे मानमाहाऽऽयामेति । आपामशब्दो व्यापकत्ववाचकः ।  
'आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः' [शतप० ब्रा० १०।६।३।२]

(वी० १) ननु कस्मान्मुख्यं संबन्धं परित्यज्योपचरितः स्वी क्रियत इत्यत  
आह—उपपत्तेरिति । स्वमपीतो भवतीति स्वरूपसंबन्धमेवाऽऽमनन्तीति  
नचास्योपाधिप्रलयमन्तरेण नरनगरवदस्त्युपपत्तिः । अत उपपत्तेरयं  
संबन्धः । भेदोऽपि नान्यादृश इति चकारार्थः ॥ ३५ ॥

उक्तेभ्यो हेतुभ्यः परपक्षनिवृत्तिर्नैतावता स्वपक्षसिद्धिरित्यत आह—

तथेति । यथा सेत्वादिव्यपदेशोऽनवच्छिन्न उपपन्नस्तथा स एवाधस्ता-  
दित्यादिना ब्रह्मणोऽन्यस्य प्रतिषेधात् ॥ ३६ ॥

तथाऽपि ब्रह्मणस्त्रेधा परिच्छेदशून्यत्वाभावात्परमन्यदनुमेयमित्यत  
आह—

अनेनेति । अनेन सेत्वादिनिराकरणेनान्यप्रतिषेधेन च । सर्वगतत्वं  
त्रेधापरिच्छेदशून्यत्वं किं तर्कमात्रेण तत्रेत्याह—आयामशब्दादिभ्यः ।



(ब्र० व० १) इत्यादिः शब्दः । आदिपदेन 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः । [म० गी० २। २। ४] इत्यादिस्मृतिरुक्ता । तस्माद्वितीयस्य ब्रह्मण आधिद्यकं सर्वमादाय श्रुतिस्मृतिभ्यां सर्वगतत्वं सिद्धम् ॥ ३७ ॥

ननु ब्रह्मातिरिक्तस्य वस्तुनो निषेधे ब्रह्मणो निर्विशेषत्वेन कर्मफलदातृत्वं न स्यादित्याक्षेपे व्यावहारिकफलदातृत्वमविरुद्धमित्याह—

( कर्मफलोत्पत्तिं प्रतीश्वरस्यैव कर्तृत्वं नापूर्वस्येति कथनम् अधि० ८ )

फलमत उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

पूर्वं निर्विशेषं तत्पदलक्ष्यं ब्रह्मोक्तमिदानीं तत्पदवाच्यं विचार्यत इति पादसंगतिः । पूर्वपक्षे कर्मण एव फलदातृत्वाद्ब्रह्मणोऽकिञ्चित्करत्वसिद्धिः फलं सिद्धान्ते त्वीश्वरस्यैव फलदातृत्वसिद्धिरिति भेदः किं सर्वस्य जन्तोः कर्मण एव फलं भवत्युतेश्वरादितिसंदेहेऽग्रे पूर्वं पक्षं निराकरिष्यन्सिद्धान्तमाह—फलमिति । अतः परमात्मनः फलं सर्वस्य लोकस्य भवितुमर्हति क्षणिकात्कर्मणः फलासंभवेनेश्वरस्यैव फलदातृत्वोपपत्तेरित्यर्थः ॥ ३८ ॥

श्रुतत्वाच्च ॥ ३९ ॥

'स धा एष महानज आत्माऽन्नादो वसुदानः' [ बृ० ४। ४। २४ ] इतीश्वरफलहेतुत्वस्य श्रुतत्वाच्चेश्वरः फलदातेत्यर्थः । अन्नमा समन्तात्प्राणिभ्यो ददातीत्यन्नादः । वसुदानो धनदाता ॥ ३९ ॥

(दी० १) आयामशब्दो व्याप्तिवचनः शब्दः । यावान्वा अयमाकाश इत्यादिः । आदिशब्देन नित्यत्वादिशब्दार्थो वा तेभ्यः ॥ ३७ ॥

पूर्वाधिकरणे निर्गुणमेव ब्रह्म तत्पदार्थलक्ष्यं नातोऽधिकं किञ्चिदस्ति तर्हि निर्गुणस्यापि कर्मफले पारतन्त्र्यात्सेतून्मानादिकमित्याक्षिप्याऽऽह फलमत इति । फलं सुखदुःखादि अतः परमेश्वरात् । कुतः । चेतनं हि स्वतन्त्रः कृतं शुभाशुभं विज्ञाय तदनुसारि फलं यच्छतीति उपपत्तेः ॥ ३८ ॥

किं तर्कमात्रमित्याशङ्क्य नेत्याह—श्रुतत्वादिति । अन्नादो वसुदान इत्यादिना । चकार ईश्वरप्रेरितो गच्छेदिति स्मृतिमाह ॥ ३९ ॥

(ब्र० ष० ।) शङ्कते—

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ४० ॥

यतः श्रुत्युपपत्तिभ्यामीश्वरं फलदातारं मन्यते सिद्धान्त्यत एव श्रुत्युपपत्तिभ्यां धर्मं फलदातारं जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथा हि 'स्वर्गकामो यजेत' इति विधिविषयस्य यागस्य स्वर्गसाधनत्वं श्रुतं तन्निर्वाहाय श्रुतिप्रमाणकैरपूर्वाख्यो व्यापारो यागस्योत्तरावस्थारूपः कल्पनीय इति यागादिधर्म एव फलदातेश्वरस्य सर्वसाधारणस्य विचित्रफलदातृत्वानुपपत्तेरिति ॥ ४० ॥

समाधत्ते—

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ४१ ॥

बादरायणस्वाचार्यः पूर्वोक्तमीश्वरं फलदातारं मन्यते । तुरुक्तशङ्कानिरासकः । कर्मापूर्वं वा स्वस्वरूपस्वविनियोगसाक्षात्कारवदधिष्ठितं भवितुमर्हत्यचेतनत्वान्मृदादिवदित्यनुमानेन संभाषितेऽर्थे श्रुतिस्मृती प्रमाणयति हेतुव्यपदेशादिति 'एष ह्येव साधु कर्म कारयति' [कौ० ३ । ८] 'अन्नादो वसुदानः' [बृ० ४ । ४ । २४] इत्यादिश्रुत्या 'लभते च ततः कामाश्मथैव विहितान्हितान्' [म० गी० ७ । २१] इत्यादिस्मृत्या चेश्वरस्य धर्माधर्मयोस्तत्फले च हेतुत्वेन व्यपदिष्टत्वादित्यर्थः । तस्मात्तत्तत्कर्मसापेक्षादीश्वरादेव सर्वेषां फलसिद्धिरिति सिद्धम् ॥ ४१ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

(दी० ।) ईश्वरे फलदातृत्वमाक्षिपति—धर्ममिति । जैमिनिस्त्वाचार्यो धर्मं फलस्य दातारं मन्यते । अत एव श्रुतोपपत्तिभ्यामेव । श्रुतं ज्योतिष्टोमेनेत्यादि । उपपत्तिरीश्वरश्चेद्वाताऽकृतेऽपि कर्मणि दद्यात्सुखदुःखादि कृतेऽपि न दद्यात्स्वतन्त्रत्वादेव ॥ ४० ॥

समाधत्ते—पूर्वमिति । तुशब्द ईश्वरानधिष्ठितस्य कर्मणः फलदातृत्वं व्यावर्तयति । किंतु यः पूर्वमुक्तमेवेश्वरं फलदातारं बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । हेतुव्यपदेशात् । हेतुरीश्वरो धर्माधर्मयोः फलस्य च 'एष ह्येव' इत्यादिश्रुत्या 'यो यो यां याम्' इत्यादिस्मृत्या च व्यपदिश्यते । हेतोः कारणस्य व्यपदेशो हेतुव्यपदेशस्तस्मात् ॥ ४१ ॥ ८ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

(ब्र० व० १) एवं तत्पदलक्ष्यवाच्यात्मकं निर्गुणं सगुणं ब्रह्म ज्ञेयं व्याख्या-  
तमिदानीं तज्ज्ञानं किंप्रकारकमित्यपेक्षायां तद्विचाराय पादान्तरमा-  
रभ्यते—

(छान्दोग्यबृहदारण्यकश्रुत्युक्तयोः पञ्चाग्निविद्योपासनयोर्विध्यनु-  
ष्ठानफलसाम्येनैकत्वम्, अधि० १ )

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ १ ॥

पूर्वपादे वाक्यार्थज्ञाने कारणीभूततत्त्वंपदार्थनिरूपणं कृतमस्मि-  
न्यादे वाक्यार्थो निर्धार्यत इत्यनयोः पादयोर्हेतुहेतुमद्भावः संगतिः ।  
सगुणविद्यायाः सत्त्वशुद्धिद्वारा वाक्यार्थज्ञानोपयोगित्वात्तद्वाक्यार्थ-  
चिन्ता क्रियत इति मन्तव्यम् । तत्र तावत्सगुणब्रह्मप्राणपञ्चाग्न्यादि-  
विषयेषूप्रासनेषु भेदाभेदचिन्ताऽऽरभ्यते किं प्रतिवेदान्तं प्राणोपासनं  
पञ्चाग्न्युपासनमित्येवंजातीयकमुपासनं भिद्यते न वेति पूर्वपक्ष उपा-  
सनानां भेदादेकवेदान्तोक्तोपासनस्थगुणानां वेदान्तान्तरोक्तोपासनेऽनु-  
पसंहारः सिद्धान्त उपासनैक्यादुपोपसंहारे तदुपासनात्सत्त्वशुद्धिद्वारा  
वाक्यार्थज्ञाने मुक्तिरिति फलिष्यति । द्रव्यदेवते यथा यागस्य रूपं  
तथोपासनस्थोपास्यं रूपम् । तथा च यथाऽऽमिक्षावाजिनयागयोर्द्रव्यरू-  
पभेदाद्भेद एवमुपासनानामुपास्यरूपभेदाद्भेदो न्याय्यः । तथा हि  
क्वचित्पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठोऽग्निरुपास्यः श्रूयते क्वचित्तु शाखायां पञ्चै-  
वाग्नय इत्येवंरूपेण तत्र तत्रोपासने रूपभेदावगमादुपासनं भिद्यत  
इति प्राप्ते ब्रूमः—सर्ववेदान्तैः प्रत्ययं प्रतीयमानान्युपासनानि न भिद्यन्ते ।  
कुतः । चोदनाद्यविशेषात् । आदिपदेन कर्माभेदे हेतुत्वेनोपन्यस्ताः

(दी०) द्वितीये पादे तत्त्वंपदार्थो निर्णीतौ तृतीयपादेनापुनरुक्ताकाङ्क्ष-  
क्षितपदार्थोपसंहारेण सगुणनिर्गुणब्रह्मवाक्याणामर्थोऽवधार्यते । सगुणो  
विद्याभेदोऽभेदश्च गुणोपसंहारोऽनुपसंहारश्चोपासनार्थः । ततः शुद्धा-  
न्तःकरणो ज्ञानोत्पादे ब्रह्माऽऽप्नोतीति फलम् । निर्गुणे तु विद्याया  
ऐक्यमेव वाच्यानन्दादिगुणानामुपसंहाराल्लक्ष्याखण्डैकरसवाक्यार्थबोधः  
फलमित्यत आरभ्यते—

सर्वेति । सर्ववेदान्तप्रत्ययानि विज्ञानानि तस्मिंस्तस्मिन्वेदान्ते  
तान्येव तानि भवितुमर्हन्ति । कुतः । चोदनाद्यविशेषात् । आदिश-

(ब्र० व० १) संयोगरूपाख्या गृह्यन्ते चोदनासंयोगरूपसमाख्यानामविशेषादित्यर्थः । यथा सर्वशाखास्वग्निहोत्रं जुहोतीति चोदनाया अविशेषान्नित्याग्निहोत्रमेकं तथा 'यो ह वै ज्येष्ठं श्रेष्ठं च प्राणं वेद' [छा० ५।१।१] [बृ० ६।१।१] इत्यादिचोदनायाश्छन्दोगानां वाजसनेयिनां चाविशिष्टत्वादेकैव प्राणविद्या सर्वेषां शाखिनामिति गम्यते । यः प्राणोपासकः सः 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' [बृ० ६।१।१] इति । फलसंयोगस्य सर्वत्राविशिष्टत्वाच्च न विद्याया भेदो ज्येष्ठत्वादिगुणकप्राणस्योपास्यरूपस्य सर्वत्राविशिष्टत्वाच्च । तथा प्राणविद्येति समाख्यायाः सर्वत्राविशेषाच्च विद्यैक्यमिति ॥ १ ॥

\* भेदादिति चेन्नैकस्यामपि ॥ २ ॥

ननु वाजसनेयिनः पञ्चाग्निविद्यायां षष्ठं प्रसिद्धमग्निमुपास्यत्वेनाऽऽमनन्ति तस्य सृतस्य यजमानस्यैव त्विग्निमरण्यं प्रापितस्य प्रसिद्धोऽग्निरेवाग्निर्भवतीति । छन्दोगास्तु पञ्चाग्नीन्वेदेत्यामनन्ति न तु षष्ठमग्निं तथा च रूपभेदादामिक्षावाजिनयागयोरिव शाखाद्वये पञ्चाग्निविद्याया भेदो न्याय्य इत्युक्तमिति चेन्न यत एकस्यापि विद्यायामयं रूपभेदो उपपद्यते । तथा हि ये द्युलोकादयः पञ्चाग्नयो वाजसनेयिशाखायामुक्तास्त एव च्छान्दोग्ये प्रत्यभिज्ञायन्ते तथा च न विद्याभेदो युक्तः । न च षष्ठाग्निदग्भावाभ्यां भेदः, एकस्मिन्नेवातिरात्रे षोडशीग्रहणतद्भावयोर्दर्शनात् । यद्वाऽनेकगुणप्रत्यभिज्ञानुरोधाच्छान्दोग्ये षष्ठाग्निरूपसंहारः कर्तव्यः । न चाग्निषु पञ्चत्वसंख्याश्रवणविरोधस्तस्य स्वबुद्ध्या संपादिताग्निपरत्वादिति भावः ॥ २ ॥

(दी० १) ऋदेन संयोगरूपाख्यानां ग्रहणम् । 'यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च वेद' इति च्छन्दोगानां वाजसनेयिनां च चोदनाया अविशेषः । 'ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च स्वानां भवति' इति प्रयोजनसंयोगोऽप्यविशिष्टः । रूपमपि ज्येष्ठश्रेष्ठगुणकमेव । समाख्याऽपि प्राणविद्येति समैव ॥ १ ॥

भेदादिति । वाजसनेयिनां छन्दोगानां षडग्निपञ्चाग्निभेदान्नैका विद्येति चेत्तन्न । एकस्यामपि विद्यायामयं भेदो न दोषाय संपादिकानां पञ्चानामप्यग्नीनां प्रत्यभिज्ञायमानत्वात् । एवमन्यत्रापि ज्येष्ठत्वादिगुणानामेकरूपत्वान्न भेदः ॥ २ ॥

(ब० १००१) ननु ब्रह्मविद्याप्रतिपादकमुण्डकाध्ययने शिरस्यङ्गारपात्रधार-  
णरूपं व्रतं कर्तव्यत्वेनोपदिश्यत इतरोपनिषदध्ययनकाले तु शिरोव्रतं  
नापेक्षते तथा च मुण्डकस्थविद्यापेक्षयेतरोपनिषद्भिन्नविद्याया मेदो  
युक्तः । न ह्येकैव विद्या शिरोव्रतरूपधर्ममपेक्षते नापेक्षते चेति युक्तमतो  
धर्ममेदाद्विद्यामेद इत्याशङ्क्याऽऽह—

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधि-

काराच्च सववच्च तन्नियमः ॥ ३ ॥

स्वाध्यायस्यैवैष शिरोव्रताख्यो धर्मोऽङ्गं न विद्यायाः । कुतः । हि  
यतस्तथात्वेन स्वाध्यायाङ्गत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे शिरोव्र-  
तमपि वेदव्रतत्वेनाऽऽथर्वणिकाः समामनन्ति । तथा च यथा गोदानरूपं  
वेदव्रतं वेदाध्ययनाङ्गमेवं शिरोव्रतमपि मुण्डकाध्ययनाङ्गमेव न मुण्डको-  
क्तविद्याङ्गमित्यर्थः । अधिकाराच्च । ‘नैतदचीर्णव्रतोऽधीते’ [मु० ३।२।११]  
इत्यत्रत्यादधिकृतमुण्डकग्रन्थजातपरादेतच्छब्दाच्चकारादधीत इत्यध्यय-  
नशब्दाच्च शिरोव्रतमध्ययनस्यैवाङ्गमित्यर्थः । अचीर्णव्रतोऽननुष्ठितशि-  
रोव्रतः । तस्य शिरोव्रतस्य मुण्डकाध्ययने नियम इत्यत्र दृष्टान्तः सव-  
वच्चेति । यथा सवाः सप्त होमाः सौर्यादयः शतौदनान्ताः शाखान्तरो-  
क्तत्रेताग्न्यसंबन्धादथर्वणोक्तैकाग्निंसंबन्धाच्चैकाग्नीनामाथर्वणिकानामेव  
नियम्यन्ते तद्वदेतच्छब्दादधीत इति शब्दाच्च मुण्डकाध्ययन एव शिरो-  
व्रतस्य नियम इत्यर्थः । तस्मात्सर्वत्र विद्यैक्यम् ॥ ३ ॥

(बी० १) तेषामेवैतामित्यादिना शिरोव्रतादिधर्ममेदाद्विद्यामेद इत्यत आह—  
स्वाध्यायेति । स्वाध्यायस्यैव धर्मो न विद्यायाः । कथम् । हि यस्मात्तथा-  
त्वेन स्वाध्यायधर्मत्वेन समाचारे वेदव्रतोपदेशपरे ग्रन्थे आथर्वणिका इद-  
मपि वेदव्रतत्वेन व्याख्यातमित्यामनन्ति नैतदचीर्णव्रतोऽधीत इति  
चाधिकृतविषयादेतच्छब्दादध्ययनशब्दाच्च । अधिकाराच्च । सववच्च  
तन्नियमः । तस्य शिरोव्रतस्य नियमोऽपि तेषामेव तत्र निदर्शनं सव-  
वत् । यथा सप्त सूर्यादयः शनैश्चरपर्यन्ताः सवा एकाग्निंसंबन्धात्तेषामेव  
तद्वत् ॥ ३ ॥

## दर्शयति च ॥ ४ ॥

(ब्र० १०१) 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' [का० २।१५] इत्यादिवाक्यं निर्गुणस्य ब्रह्मणो वेद्यस्य सर्ववेदान्तेष्वेकत्वेन तद्विद्यायाः सर्वत्रैकत्वं दर्शयति । तथा वाजसनेयके सगुणस्य ब्रह्मणो वैश्वानरस्य प्रादेशमात्रत्वेन संपादितस्य च्छान्दोग्ये सिद्धवदुपादानं 'यस्त्वेतमेवं प्रादेशमात्रमभिविमानमात्मानं वैश्वानरमुपास्ते' [छा० ५।१८।१] इति तदपि सर्वत्र वैश्वानरविद्याया एकत्वं दर्शयति । तथा च यथा निर्गुणस्य सगुणस्य वा ब्रह्मण एकत्वेन सर्वत्र श्रूयमाणत्वात्तत्तद्विद्याया एकत्वं तथा शस्त्रविशेषरूपोक्थादीनां सर्वत्र श्रूयमाणत्वादिदमवगम्यते सर्वत्रोपास्त्यर्थं तेषां श्रवणमिति । ततश्चोपास्योक्थादीनामेकत्वात्तदुपासनानामप्यैक्यमिति । तत्समभिव्याहारादितरेषामप्युपासनानामभेदसिद्धिरित्यर्थः ॥ ४ ॥

उपासनैक्यविचारस्य प्रयोजनमाह—

(गुणोपसंहारस्य कर्तव्यत्वम्, अ० २)

उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ५ ॥

सर्वत्रोपासनानामेकत्वेऽप्येकशाखास्थविद्यायां कतिपयगुणयुक्तायां शाखान्तरस्थाधिकगुणानामुपसंहारोऽस्ति न वेति संदेहे यत्र यावन्तो गुणाः श्रुतास्तैरेवाऽऽकाङ्क्षाशान्तेर्नोपसंहार इति प्राप्ते ब्रूमः—समान उपसंहारो युक्तः । कुतः । अर्थाभेदात् । उपास्यगुणैर्निर्वर्त्योपासनरूपार्थस्य सर्वशाखास्वभिन्नत्वात्, न ह्येकमेवोपासनं गुणान्तरमपेक्षते नापेक्षत इति युक्तम् । विधिशेषवत् । यथाऽग्निहोत्रस्य सर्वत्रैकत्वात्-

(दी०) ननु न्यायमात्रेण कथमवाचनिकं स्वीकर्तुं शक्यमित्यत आह—दर्शयतीति । सर्वे वेदा यत्पदमित्यादिना विद्यैकत्वम् । चकारो न्यायमात्रशङ्काया अनुत्थानं दर्शयति ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्यैक्यं निरूपितं तन्निष्प्रयोजनमित्याशङ्क्याऽऽह—

उपसंहार इति । शाखान्तरोपदिष्टानां गुणानां शाखान्तरविज्ञान उपसंहारः स्वीकार्यः । कुतः । अर्थस्य प्रयोजनस्य विशिष्टज्ञानस्योप-

(ब्र० १०१) छेषाणामुपसंहारस्तद्वदित्यर्थः । अत्र पूर्वपक्षे पूर्वाधिकरणप्रयो-  
जनस्य गुणोपसंहारस्यासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् ।  
तस्माच्चोदनाद्यविशेषेण हेतुना कृतस्योपासनैक्यविचारस्य फलत्वं  
सिद्धम् ॥ ५ ॥

इदानीं चोदनाद्यविशेषस्योपासनैक्यसाधकत्वापवादार्थमाह—

(छान्दोग्यकाण्वशाखयोरुद्गीथविद्याभेदकथनम्, अधि० ३)

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ६ ॥

बृहदारण्यके श्रूयत उद्गीथब्राह्मणम् । क्षेत्रज्ञस्य यास्तामसवृत्तयस्तेऽ-  
सुरा याश्च सात्त्विकवृत्तयस्ते देवास्तेषां देवासुराणामन्योन्यं स्पर्धां  
तामसवृत्त्युद्भवे सात्त्विकवृत्त्यनुद्भवः सात्त्विकवृत्त्युद्भवे च तामसवृत्त्य-  
नुद्भव इत्येवंरूपां श्रावयित्वा तत्र देवाः साममक्तिरूपेणोद्गीथोद्गातृ-  
कर्मणाऽसुरजयं करिष्याम इति बुद्ध्या वाचं घ्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनश्चो-  
पुस्त्वमस्माकमौद्गात्रं कर्मोद्गीथं कुर्विति । ते च वागादयस्तथाऽस्त्वित्यु-  
क्तवन्तः कर्मणि प्रवृत्तांस्तानुद्गातृनसुरा एभिरुद्गातृभिर्देवा अस्मज्जयं  
करिष्यन्तीति बुद्ध्या ताडितवन्तस्ते च वागादयस्ताडिता इति  
वागादीन्निन्दित्वा मुख्यप्राणमुद्गातृत्वेन श्रावयति—अथहेमं मुख्यप्राणं  
देवा ऊचुस्त्वमस्माकमुद्गाता भवेति । स प्राणस्तथाऽस्त्वित्युक्त्वा कर्मणि  
प्रवृत्तस्तं चोद्गातारं प्राणं प्राप्य हन्तुकामा असुराः पाषाणं प्राप्य वेगवा-  
होष्ट इव विशीर्णावयवा अभूवन्निति प्राणस्तुतिं कृत्वोद्गीथकर्तारं प्राण-  
मुपास्यं दर्शयतीति । एवमेव छान्दोग्येऽपि श्रूयते ‘तद्देवा उद्गीथमा-  
जह्नुरनेनैनानभिभविष्यामः’ [छा० १।२।१] तत्तत्र पूर्ववद्देवासुरस्पर्धायां  
देवा उद्गीथोपलक्षितमौद्गात्रं कर्माऽऽहृतवन्तोऽनेन कर्मणैनांस्तामसवृत्ति-  
लक्षणानसुरानभिभविष्याम इत्युपक्रम्य पूर्ववदेव वागादिनिन्दां कृत्वा  
‘अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे’ [छा० १।२।७]  
देवा इति । सर्वत्र वागादिशब्दास्तदभिमानिदेवतापरा बोध्याः । तत्र

(दी०) कारस्याभेदात् । समाने चोभयत्रापि तस्मिन्नेकस्मिञ्ज्ञाने स्थिते ।  
अत्र निदर्शनम् । विधिशेषवत् । विधिशेषाणामग्निहोत्रादिधर्माणां  
शाखान्तरे श्रुतानां यथा शाखान्तर उपसंहारस्तद्वत् ॥ ५ ॥

पूर्वाधिकरणे चोदनाद्यविशेषाद्विधैक्यमुक्तमत्रापि प्राणविद्येति  
समाख्याया ऐक्याद्विधैक्यमिति वदन्तमपवादति सूत्रावयवेन—अन्य-

(ब्र० व० १) संशयः किमनयोर्विद्ययोरभेद उत भेद इति । अत्र पूर्वपक्षे गुणो-  
पसंहारः फलं सिद्धान्ते विद्ययोर्भेदान्नोपसंहार इति भेदः । चोदनाद्यवि-  
शेषादित्यत्र समाख्याया अविशेषाद्विद्यैक्यमित्युक्तं तर्ह्यत्राप्युद्गीथविद्येति  
समाख्याया अविशेषाद्विद्यैक्यमेवेति वृष्टान्तसंगत्या प्राप्ते तदाक्षिपति  
सिद्धान्ती 'अन्यथात्वं शब्दादिति चेत्' इति । छान्दोग्यबृहदारण्यक-  
वाक्याभ्यां प्राणस्यान्यथात्वं भिन्नाकारत्वं बृहदारण्यक उद्गीथकर्तृत्वं  
छान्दोग्य उद्गीथकर्मात्मकत्वमित्येवंरूपं गम्यते तथा च कर्तृकर्मणोर्भेदे-  
नोपास्यभेदान्न विद्यैक्यमिति शङ्कार्थः । पूर्वपक्षी परिहरति नेति । कुतः ।  
अविशेषात् । देवासुरस्पर्धोपक्रमादीनां बहूनामर्थानामुभयत्राविशे-  
षात् ॥ ६ ॥

छान्दोग्ये 'तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' इति प्राणस्योद्गीथकर्मात्मकत्वध-  
वणं लक्षणयोद्गीथकर्तृत्वेनैव व्याख्येयमिति विद्यैक्यमिति प्राप्ते सिद्धान्त-  
न्यति—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ७ ॥

नैवात्र विद्यैक्यं युक्तं प्रकरणभेदापुपक्रमभेदादित्यर्थः । तथा हि 'ओ-  
मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' [ छा० । १ । १ । १ ] इत्योकाराद्यनेक-  
वर्णरूपावयवविशिष्टस्य सामभक्तिविशेषस्योद्गीथस्यावयवभूतमोकार-  
मुपास्यमुपक्रम्य तस्यैवोकारस्य पृथिव्यादिभ्यः सारतमत्त्वादिगुणानुक्त्वा  
पुनरुद्गीथावयवमोकारमनुवर्त्य देवासुराख्यायिकारूपेण 'प्राणमुद्गीथमुपा-

(दी०) थात्वमिति । उद्गानस्य कर्तृत्वमुद्गीथरूपत्वं च बाजसनेयके छान्दोग्ये  
च प्रतीयते त्वं न उद्गायेति बाजसनेयके 'तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे' इति  
शब्दभेदादिति चेन्न । कुतः । अविशेषाद्देवासुरसङ्ग्रामभेदभूयस्त्वम् ॥ ६ ॥

उभयत्रापि सिद्धान्तमाह—न वेति । न वा नैव विद्याया ऐक्यम् ।  
कुतः । छान्दोग्ये ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्युपक्रम्योद्गीथावयवस्योकार-  
स्योद्गीथत्वेनोपास्यत्वमभिधाय प्राणस्याप्युद्गीथत्वमाह तमुद्गीथमिति ।

\* क. पुस्तके त्वयं ग्रन्थः—तथाच कर्तृकर्मणोर्भेदेनोपेतमुद्गीथमुपसांचक्रिरे इति तत्कार्यं  
विद्यैक्यं स्यादिति चेन्न दोषः । न होतावता विशेषेण विद्यैकत्वमपगच्छति । अविशेषस्यापि  
बहुतरस्य प्रतीयमानत्वात् ॥ ७ ॥ तथाहि—



(ब्र० व० १) सांचकिरे' [ छा० १।२।२ ] देवा इत्याह । अत्रत्योद्गीथशब्देनोद्गीथावयव उँकार एव स्वीकर्तव्य उपक्रम उद्गीथपदेन तस्यैवोक्तत्वादन्वयोद्गीथपदेन सकलसामभक्तिग्रहण उद्गीथकर्तृलक्षणायां चोपक्रमो बाध्येत । तस्मादत्रोद्गीथावयव उँकारे प्राण उपास्यः । बृहदारण्यके तूद्गीथकर्ता प्राण उपास्य इत्यनयोर्विद्ययोर्भेद इति परोवरीयस्त्वादिवद्यथोद्गीथोपास्तित्वसाम्येऽप्येकत्रोद्गीथे परमात्माध्यासेन प्राणाद्यपेक्षया परत्ववरीयस्त्वादिगुणकमुपासनं 'स एष परोवरीयानुद्गीथः [ छा० १।९।२ ] इत्यादिवाक्यविहितमक्षयादित्यपुरुषगतहिरण्यश्मश्रुत्वादिगुणविशिष्टोद्गीथोपासनाद्भिद्यते तद्वदित्यर्थः ॥ ७ ॥

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ८ ॥

ननूद्गीथविद्येति संज्ञाया एकत्वाच्छाखाद्वये विद्यैक्यमित्युक्तमिति चेत्तत्रोत्तरमुक्तं न वा प्रकरणभेदादिति । सूत्रे संज्ञाकरणस्य पौरुषेयत्वान्न विद्यैक्यसंवादकत्वमिति भावः । किंच तत्संज्ञैकत्वं परोवरीयस्त्वाद्युपासनयोर्भिन्नयोरप्यस्त्युद्गीथविद्येति । सूत्रस्थापिशब्देनान्योऽपि दृष्टान्तः सूच्यते यथैकस्मिन्काठकग्रन्थे चोदितानां भिन्नानां कर्मणां काठकैकसंज्ञत्वमस्त्यतः पौरुषेयसंज्ञैक्यं विद्यैक्येऽप्रयोजकमिति भावः । तस्माच्छन्दोगवाजसनेयिशाखयोः प्रकृतविद्ययोर्भेद इति सिद्धम् ॥ ८ ॥

ननु ओमित्येतदक्षरमुद्गीथपासीत [ छा० १।१।१।१ ] इत्युपक्रम उद्गीथपदस्योँकारपरत्वनिर्धारणेन सिद्धान्तः कृतस्तदयुक्तमुपक्रमवाक्य-

(दी० १) वाजसनेयके तु समग्राया उद्गीथमक्तेः कर्ता त्वं न उद्गायेति । अतः प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवदेकस्यां शाखायां निदर्शनं स एष परोवरीयानुद्गीथ इत्याकाशे परोवरीयस्त्वादिधर्मिण्युद्गीथे हिरण्यश्मश्रुत्वादिधर्मिणि च न परस्परं गुणोपसंहारस्तद्वत् ॥ ७ ॥

संज्ञाया इति । संज्ञायाः प्राणैर्विधेत्यस्या अभेदाद्विद्याया अप्यभेद इति चेच्चोद्यं तदुक्तं निराकृतं प्रकरणभेदादित्यत्र । तदपि संज्ञाया ऐक्यमपि प्रसिद्धभेदेष्वपि परोवरीयस्त्वादावुद्गीथ इत्यग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादौ काठकमिति । अस्ति तु अस्त्येव ॥ ८ ॥

(ब्र० व० १) स्यान्न्यथाऽपि योजनासंभवेन निर्धारणायोगादित्याक्षेपे समा-  
धत्ते—

( ब्रह्मदृष्टेर्हेतुत्वेनाक्षरोद्गीथयोरेकत्वसंपादनम्, अधि० ४ )

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ९ ॥

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमित्योकारत्वोद्गीथत्वयोः सामानाधिकरण्यप्रति-  
भासोऽस्ति स किं नास्ति ब्रह्मदृष्टिवदध्यास उत यद्वजतं सा शुक्तिरिति-  
वदपवादः । किं वा भूसुरो ब्राह्मण इतिवत्तुल्यधर्मावभास आहोस्विन्नी-  
लमुत्पलमितिबदुद्गीथोकारयोर्विशेषणविशेष्यभावावभास इति संशयः ।  
तत्र पूर्वपक्षे निर्धारणे कारणाभावादनिरधारितार्थकमिदमुपक्रमवाक्यम-  
प्रमाणमिति तन्मूलकस्य पूर्वाधिकरणसिद्धान्तस्यासिद्धिः फलं सिद्धान्ते  
त्वोकारस्य प्रत्यृचं प्रत्यनुवाकं प्रतिसामं चाऽऽद्यन्तेषु व्याप्तेर्व्यापित्वात्को  
वोकार उपास्य इत्याकाङ्क्षायामुद्गीथावयवत्वेनोकारो विशिष्यते 'ओ-  
मित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इति । तथा चोद्गीथमित्योकारस्य विशे-  
षणमित्येव समञ्जसमुत्पलस्य नीलत्वमिव न त्वध्यासादिपक्षग्रहणं युक्त-  
मित्युपक्रमवाक्यस्य निधारितार्थत्वान्मूलकस्य सिद्धान्तस्य सिद्धि-  
रिति बोध्यम् । सूत्रे चशब्दोऽयं तुशब्दस्थाननिवेशी तुशब्देनाध्यासा-  
दिपक्षाणामसंभवः सूचितः । तथा ह्युद्गीथ ओंकारस्योकारे वोद्गीथ-  
स्याध्यासेनोपास्यत्व उत्तरत्र विधीयमानादोकारे प्राणदृष्टिरूपादुपास-  
नाद्धिन्नमिदमुपासनमिति वक्तव्यं तथा च पृथक्फलकल्पनाप्रसङ्गः ।  
सिद्धान्ते तु प्राणाश्रय ओंकारोऽत्र विशिष्य समर्थित इति नायं दोषः ।  
नापि द्वितीयः पक्षः । ओंकारोद्गीथयोरन्यतरज्ञानस्यान्यतरज्ञानबाध-  
कत्वाददर्शनात् । नापि तृतीयः । ओंकारोद्गीथशब्दयोः पर्यायत्वाभावा-  
दिति । तस्मात्पटैकदेशे दग्धे पटो दग्ध इत्यादिवदुद्गीथपदं स्वावयव-  
मोंकारं लक्षयतीति सिद्धम् ॥ ९ ॥

(दी० १) पूर्वाधिकरण ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमिति च्छन्दोगानामुपक्रम-  
माद्विद्यामेद उक्तः । इदानीं तस्योकारस्योद्गीथोऽपि विशेषणं न दृष्टिवि-  
धिर्नापवादो न चैक्यमिति बुद्धिसंनिधिमाह व्याप्तेरिति । चशब्दस्त्वर्थः ।  
स ह्यध्यासापवादैक्यानि निराकरोति । व्याप्तेः सर्ववेदसाधारण्यादो-  
कारस्य स तादृशो मा भूदित्युद्गीथशब्दं विशेषणमित्युक्तम् । समञ्जसं  
चैतद्विशेषणमन्यथा व्याप्तस्यैव ग्रहणं स्यात् ॥ ९ ॥

(ब्र० १००।) ( वसिष्ठत्वादिगुणानामुपसंहर्तव्यत्वम्, अधि० ५ )

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ १० ॥

वाजसनेयके छान्दोग्ये च प्राणसंवादे मुख्यप्राणस्य श्रेष्ठ्यगुणकस्योपास्यत्वमुक्तम् । वाक्चक्षुःश्रोत्रमनोरेतांसि क्रमेण वसिष्ठत्वप्रतिष्ठात्वसंप्रसाद्यतनत्वजनिमत्स्वरूपगुणयुक्तान्युक्तानि संकीर्त्य ते च वागादयः प्राणाधीनस्थितिकत्वं स्वेषु निश्चित्य स्वनिष्ठान्वसिष्ठत्वादिगुणान्प्राणे समर्पितवन्त इत्युक्तम् । वाचो हि वसिष्ठत्वं वाग्मिनो लोके सुखेन वासदर्शनाच्चक्षुषः प्रतिष्ठात्वं चक्षुष्मतः सुखेन पादप्रतिष्ठादर्शनाच्छ्रोत्रस्य संपत्त्वं श्रुतात्मनिर्धारणेन परमसंपत्तिदर्शनान्मनो हि भोग्याकारवृत्तिद्वारा भोग्यानामायतनं पुरुषाद्याकारेण परिणममानं रेतोऽजनिमन्मन्तव्यम् । एवं कौशीतक्यादिशाखास्वपि प्राणसंवादेषु 'अथातो निःश्रेयसादानमेता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः' [कौ० २।१४] इत्यादिना प्राणश्रेष्ठ्यमुक्तं वसिष्ठत्वादिगुणास्तु नोक्ताः । निःश्रेयसं श्रेष्ठ्यं तस्याऽऽधानं निर्धारणं तद्विनोपास्तेरयोगात्तदारभ्यत इत्याह—अथेति । एता वागाद्यभिमानीन्यो देवता अहंश्रेयसे स्वकीयश्रेष्ठत्वायेत्यर्थः । तत्र किं वसिष्ठत्वादिगुणानां क्वचिदुक्तानामन्यत्रोपसंहारोऽस्ति न वेति संदेहे पूर्वमोङ्कारस्य समीपस्थगुणैरेवोपास्यत्ववदत्रापि यत्र ये गुणाः श्रुतास्तैरेवोपास्यत्वं प्राणस्येति नोपसंहार इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । अन्यत्र वसिष्ठत्वादिगुणानामश्रवणस्थल इमे वसिष्ठत्वादयो गुणा उपसंहर्तव्याः । कुतः । सर्वाभेदात् । सर्वासु शाखासु प्राणोपासनस्य प्राणसंवादस्याभिन्नत्वादित्यर्थः । एकस्यामेव विद्यायां वसिष्ठत्वाद्यपेक्षातदभावयोर्विरोधादिति भावः ॥ १० ॥

(दी० १।) पूर्वाधिकरण ओङ्कारस्योद्गीथो विशेषणमित्युक्तं सर्वप्रणवव्यावृत्त्यर्थं तद्वदत्रापि वसिष्ठत्वादिगुणा अन्यत्र व्यावृत्त्यर्था इति दृष्टान्तत्वेनाऽऽक्षिप्याऽऽह—सर्वाभेदादिति । इमे वसिष्ठत्वादयो गुणा यत्र नोक्तास्तत्रास्थेरन् । कुतः । सर्वाभेदात् । सर्वस्य प्राणविज्ञानस्यैकस्याभेदात् ॥ १० ॥

(ब्र० व० १) मनु प्राणस्य सविशेषत्वाद्भवतु शाखान्तरीयतदीयगुणोपसंहारो ब्रह्मणस्तु निर्विशेषत्वेन स्वशाखागतधर्मेरेव ज्ञानसंभवान्नान्यशाखाश्रुतानामानन्दादीनामुपसंहार इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—

( आनन्दसत्यत्वादीनां ब्रह्मगुणानां प्रतिपत्तिफलत्वेन सर्वशाखासु समानत्वाद्यवस्थापकविध्यमावाञ्च तेषामुपसंहर्तव्यत्वम् , अधि० ६ )

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ११ ॥

निर्गुणब्रह्मपरासु श्रुतिष्वानन्दस्वरूपत्वविज्ञानघनत्वापरिच्छिन्नत्वाद्वितीयत्वादयो धर्माः क्वचित्क्वचिच्छ्रूयन्ते तत्र संशयः । किं यत्र ये धर्माः श्रुतास्त एव तत्र ज्ञेया उत सर्वे धर्माः सर्वत्रोपसंहर्तव्या इति । अत्र पूर्वपक्षे केषांचिद्भ्रमाणामनुपसंहाराद्यावत्तत्त्वस्वरूपज्ञानासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् । तत्राऽऽनन्दादीनां नोपसंहार इति प्राप्ते ब्रूमः । प्रधानस्य ब्रह्मण आनन्दस्वरूपत्वादयो धर्माः सर्वत्रोपसंहर्तव्या वेद्यैक्येन विद्यैक्यादिति पूर्वसूत्रोक्तहेतोरित्यर्थः ॥ ११ ॥

ननु तैत्तिरीयक आनन्दमयपरमात्मानं प्रस्तुत्य ' तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा ' [ तै० २ । ५ । १ ] इति प्रियशिरस्त्वादयो धर्माः श्रूयन्ते तेषामप्यानन्दस्वरूपत्वादिधर्माणामिव सर्वत्रोपसंहारः स्याद्ब्रह्मधर्मत्वाविशेषादित्यत आह—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ १२ ॥

प्रियशिरस्त्वादिधर्माणां न सर्वत्र प्राप्तिः, हि यतः प्रियमोदप्रमोदानन्दाः परस्परापेक्षयोपचितापचितस्वरूपाः । उपचयापचयवन्तौ हि धर्मौ धर्मिणि भेदे सत्येव स्वाभाविकौ संभवतः । ब्रह्मणस्त्वद्वितीयत्वान्नोपचितापचितप्रियादिधर्मस्वभावत्वम् । अस्वभावधर्माणां ब्रह्मज्ञानार्थं

(टी० १) पूर्वाधिकरणे प्राणस्य सविशेषत्वेन शाखान्तरगता गुणा वसिष्ठत्वादय उपसंहृता न तु ब्रह्माणि सविशेषत्वमिति न शाखान्तरगता आनन्दादय उपसंहर्तव्या इत्याक्षिप्याऽऽह—आनन्देति । यत्र शाखान्तर आनन्दादयो धर्मा नोक्ताः प्रधानस्य ब्रह्मणस्तत्रोपसंहर्तव्याः । कुतः । सर्वाभेदादेव ॥ ११ ॥

एवं चेत्प्रियशिरस्त्वादीनामुपसंहारप्राप्तिरित्यत आह—प्रियेति । प्रियशिरस्त्वादेरुपसंहाराप्राप्तिः । कुतः । हि यस्माद्भेदे सत्युपचयापचयौ

(ब० ४०।) नोपसंहार इत्यर्थः । चन्दनजं सुखं प्रियं पुत्रप्राप्तिजं मोदः स एव प्रकृतः प्रमोदः सुखसामान्यमानन्द इति तेषां तारतम्यं बोध्यम् । अत्र श्रीमद्भिः सूत्रकारैरानन्दमयस्य ब्रह्मत्वं प्रियादीनां तद्धर्मत्वं चाङ्गीकृत्य कृत्वेयं चिन्ता तस्या अन्यत्र फलं बोध्यं तथा हि—वेद्यैक्ये विद्यैक्यादानन्दादिधर्माणां सर्वत्रोपसंहारे सगुणब्रह्मोपासनेषु भिन्नेष्वपि वेद्यस्य सगुणस्य ब्रह्मण एकत्वेनोपासनैक्यापत्तावन्योन्यं गुणोपसंहारः स्यादिति शङ्कानिरासः फलम् । उपासनानां विधिपारतन्त्र्याद्यत्र यावद्गुणविशिष्टमुपासनं विधीयते तत्र तावद्गुणविशिष्टमेव कर्तव्यं तत्तत्फलस्य तेनैव सिद्धेर्वस्तुपरतन्त्रनिर्गुणविद्याफलस्याविद्यानिवृत्तेर्यावत्स्वरूपज्ञानमन्तरेणासंभवात्सर्वत्राऽऽनन्दादिगुणानामुपसंहार इति शङ्कानिरासप्रकारः ॥ १२ ॥

उपास्यब्रह्मधर्माणां सर्वत्र न प्राप्तिरित्युक्तं तदपेक्षया ज्ञेयधर्माणामानन्दादीनां सर्वत्र प्राप्तिरिति विशेषमाह—

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ १३ ॥

उपास्यधर्मापेक्षयेतरे त्वानन्दादयो धर्मा ज्ञानैकफलकाः सर्वत्रोपसंह्रियन्तेऽर्थस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सामान्यादेकत्वादित्यर्थः । उपसंहारं विना यथावत्स्वरूपविषयकमहावाक्यार्थज्ञानसाध्याविद्यानिवृत्तेरसंभवादिति भावः ॥ १३ ॥

(पुरुषज्ञानस्य संसारकारणाज्ञाननिवर्तकत्वात्पुरुषस्यैव वेद्यत्वम्, अ० ७)

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ १४ ॥

कठवल्लीषु पठ्यते—‘इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्थाः’ [क० ३। १०] इत्या-

(दी०।) भवतो न त्वभेदे । प्रियशिरस्त्वादयोऽपि तारतम्येन वर्तन्ते । भोक्तृभेदाच्च प्रियशिरस्त्वादयः कृत्वा चिन्तयोक्ताः संयद्दामसत्यकामत्वादीनामप्राप्तिं दर्शयितुम् ॥ १२ ॥

यथा प्रियशिरस्त्वादयो नोपसंहार्यास्तद्वदानन्दादयोऽपीत्यत आह—इतर इति । तुशब्दोऽनुपसंहार्यत्वं व्यावर्तयति । इतर आनन्दादय उपसंहर्तव्याः । कुतः । अर्थसामान्यात् । अर्थस्य प्रतिपाद्यस्य ब्रह्मणः सामान्यादेकरूपत्वात् ॥ १३ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मण ऐक्याद्वाच्ये तत्पदार्थ आनन्दादीनामुपसंहार उक्तः

(ब० व० १) रभ्य' 'पुरुषान्न परं किं चित्ता काष्ठा सा परा गतिः' [क० ३।११] इति तत्र संशयः । किमिमानि वाक्यानि भिन्नान्युताऽऽत्मपरमेकमेव वाक्यमिति । पूर्वपक्ष इन्द्रियादिपरत्वविशिष्टस्यार्थादेरुपास्यस्य प्रति-वाक्यं भेदाद्विद्याया भेदः फलं सिद्धान्ते निर्विशेषात्मप्रदर्शनपरमेकवाक्यमिति विद्यैक्यं फलमत एव पूर्वोत्तरपक्षयोर्विद्याभेदाभेदयोः पर्यवसानादस्याधिकरणस्य पादसंगतिः । पूर्वं ब्रह्मस्वरूपाणामानन्दादीनामुपसंहार्याणां ब्रह्मज्ञानोपायत्वं चिन्तितमिदानीमब्रह्मस्वरूपस्यानुपसंहार्यस्यार्थादिपरत्वरूपधर्मस्य ब्रह्मज्ञानोपायत्वमुच्यत इत्येकफलत्वमवान्तरसंगतिस्तत्रेमानि वाक्यानि भिन्नानीति प्राप्ते ब्रूमः । आध्यानाय ध्यानसाध्यसाक्षात्काराय पुरुष एवार्थादिभ्यः सर्वेभ्यः परत्वेन प्रतिपाद्यत इत्येकमेव वाक्यं न त्विन्द्रियादिपरत्वेनार्थादयः प्रतिपाद्याः प्रयोजनाभावात् । न हीन्द्रियपरत्वेनार्थज्ञानं स्वतः किञ्चित्फलं साधयति, अतः प्रतिपाद्यभेदाभावाच्च वाक्यभेदः । पुरुषज्ञानं फलहेतुरिति तत्रैवोक्तं 'निचाप्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते' [ क० ३।१५ ] इति ॥ १४ ॥

एवं वाक्यस्याऽऽत्ममात्रपरत्वे फलवत्त्वं लिङ्गमुक्त्वाऽपूर्वत्वमपि लिङ्गमाह—

आत्मशब्दाच्च ॥ १५ ॥

‘एष सर्वेषु भुतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते ।

दृश्यते त्वय्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः’ [ क० ३।१२ ]

(दी० १) शब्दसामर्थ्यात्तर्हि तद्वदेवेन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादौ वाक्यसमाप्तेरर्थादयः स्वतन्त्राः प्रतिपाद्यन्त इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्याऽऽह—आध्यानायेति । इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिना या परम्परा पुरुषान्तोक्ता न सा प्रतिपाद्या । कुतः । प्रयोजनाभावात् । तर्हि पुरुषोऽपि न प्रतिपाद्य इत्यत आह—आध्यानाय । ध्यानपूर्वकाय सम्यग्दर्शनाय पुरुषः प्रतिपाद्यः ॥ १४ ॥

आध्यानं चेन्द्रियादिप्रतिपादनेऽपि स्यादित्यत आह—आत्मेति । गूढोत्मा न प्रकाशत इति पुरुष आत्मशब्दात्तस्यैव गूढत्वात्प्रतिपाद्यत्वं

(ब० ४०।) इति प्रकृतपुरुष आत्मशब्दश्रवणाच्चाऽऽत्मपरमेवैवं वाक्यं तस्याऽऽत्मज्ञः श्रुत्या मानान्तरावेद्यत्वरूपापूर्वत्वप्रतिपादनादिति भावः ॥ १५ ॥

ईश्वरस्यैवाऽऽत्मशब्दवाच्यत्वं न विराज इति कथनम्, (अधि० ८)

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ १६ ॥

ऐतरेयके श्रूयते—‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचन मिषत्स ईक्षत लोकास्तु सृजा इति [ ऐ० १।१ ] ‘स इमाल्लोकानसृज-  
ताम्मो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठाऽन्तरिक्षं मरी-  
चयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः’ [ ऐ० १।२ ] इति । लोका-  
नेवाऽऽहाम्भ इति तद्व्याचष्टे श्रुतिरदोऽम्भ इति । तदम्भो यत्परेण  
दिवं दिवः परस्ताद्वर्तते तस्य च परस्ताद्वर्तमानस्य द्यौः प्रतिष्ठाऽऽश्रयः  
साऽप्यम्भःशब्दवाच्या दिवमारभ्योपरितनलोकांश्चान्द्रमसैरम्भोभिवर्त्या-  
तत्त्वाद्दम्भ इत्युच्यत इत्यर्थः । अन्तरिक्षलोकः सवितृकिरणव्याप्तत्वान्म-  
रीचयः । स्थानभेदापेक्षया बहुवचनम् । म्रियन्तेऽस्मिन्मूतानीति पृथि-  
वीलोको मरो यानि पृथिव्या अधस्तात्पातालान्यबहुलानि तान्याप  
इत्यर्थः । तत्र संशयः । किमात्मपदेन हिरण्यगर्भ उच्यत उत परमा-  
त्मेति । पूर्वपक्ष आत्मपदस्य परमात्मपरत्वाभावात्तत्प्रमित्यर्थं नाऽऽनन्दा-  
दिधर्माणामत्रोपसंहार इति फलं सिद्धान्ते परमात्मन एवात्रोक्तत्वात्त-  
त्प्रमित्यर्थमस्त्यानन्दादिधर्माणामत्रोपसंहार इति मन्तव्यम् । तत्र पूर्वं  
वाक्यभेदभियाऽर्थादीनां पृथक्प्रतिपाद्यत्वं नास्तीत्युक्तं तर्हि प्रजापते  
रेतः कार्यं देवा इत्यादिपूर्ववाक्ये हिरण्यगर्भस्य प्रकृतत्वात्स एवाऽऽत्म-  
शब्देनोच्यत इति युक्तमन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गादिति दृष्टान्तसंगत्या  
प्राप्ते ह्यमः । अस्मिन्सृष्टिवाक्य आत्मशब्देन परमात्मन एव गृहीतिर्ना-  
न्यस्येतरवत् । यथेतरेषु सृष्टिवाक्येषु आत्मन आकाशः संभूतः [ तै० २

(दी०।) तत्प्रतिपत्त्यर्थमेवेयं परम्परा न स्वतन्त्रा । चकारो नैतेषामन्यतमप्र-  
तिपादने सर्वप्रतिपादने वाऽऽध्यानं सिध्यतीत्याह ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणे संभवत्येकवाक्यत्वे वाक्यभेदो न युक्त इत्युक्तम् ।  
तर्हि आत्मा वा इदमेक एवेत्यादौ हिरण्यगर्भः स्वीकरणीयस्तत्र वाक्य-  
भेदाभावादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते । अथ वा सदेवेति च्छन्दो-  
गानां योऽयं विज्ञानमय इति वाजसनेयकानां चैकवाक्यताभावाच्च  
पूर्ववद्विद्यैक्यमित्याक्षिप्य समाधत्ते—आत्मेति । आत्मा वा इदमेक

(ब० व० १) १।१] इत्यादिष्वात्मशब्देन परमात्मन एव ग्रहणं तद्वदत्रापि । कुतः । उत्तरात् । ‘स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति’ [ ऐ० १।१ ] ‘स इमा-  
ल्लोकानसृजत’ [ ऐ० १।२ ] इतीक्षणपूर्वकस्रष्टृत्वरूपोत्तरविशेषणादि-  
त्यर्थः । तच्च विशेषणं परमात्मन्येव मुख्यत्वेन श्रुत्यन्तरेष्ववगतमिति  
भावः ॥ १६ ॥

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ १७ ॥

पूर्ववाक्यादिपर्यालोचनया प्रजापतावेव वाक्यस्यान्वयदर्शनात् पर-  
मात्मग्रहणं युक्तमिति चेदत्रोच्यते स्यादवधारणादिति । अत्र परमा-  
त्मन एव ग्रहणं युक्तं स्यात् । ‘आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्’ [ ऐ०  
१।१ ] इति सृष्टेः प्रागेकत्वावधारणस्य परमात्मन्येवाऽऽसत्त्वादित्यर्थः ।  
न चास्मिन्वाक्ये लोकस्रष्टृत्वं श्रूयमाणं हिरण्यगर्भमेव गमयत्यन्यथा  
परमात्मग्रहणे महाभूतसृष्टिः श्रूयेतेति वाच्यम् । छान्दोग्ये तेज-  
आदिसृष्टिश्रवणेऽपि यथाऽऽकाशवायुसृष्ट्युपसंहारस्तद्वदत्रापि महाभूत-  
सृष्टेरुपसंहारात् । तस्मादस्मिन्वाक्य आत्मनः परस्यैव ग्रहणमिति  
सिद्धम् ॥ १७ ॥

सूत्रद्वयस्यापरा व्याख्या—‘आत्मगृहीतिरितरबहुचरात्’ बृहदार-  
ण्यके ‘कतम आत्मा’ इति प्रश्ने ‘योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्त-  
र्ज्योतिः पुरुषः’ [ बृ० ४।३।७ ] इत्यात्मशब्देनोपक्रम्य तस्यैवाऽऽ-  
त्मनोऽसङ्गत्वादिकमुक्त्वा ‘स वा एष महानज आत्मा’ [ बृ० ४।४  
२५ ] इति ब्रह्मात्मतामुपसंहरति । छान्दोग्ये तु ‘सदेष सोम्येदमग्र  
आसीदेकमेवाद्वितीयम्’ [ छा० ६।२।१ ] इति विनैवाऽऽत्म-  
शब्दं सन्मात्रमुपक्रम्यान्ते ‘स आत्मा तत्त्वमसि’ [ छा० ६।८।७ ] इति  
ब्रह्मात्मत्वमुपसंहरति । तत्र संशयः किमनयोर्वाक्ययोस्तुल्यार्थत्वमुत  
भिन्नार्थत्वमिति । पूर्वपक्षेऽनयोर्वाक्ययोरुपक्रमवैषम्यादर्थभेदेन विद्ययो-

(टी० १) एवाग्र आसीदित्यत्राऽऽत्मनः परमात्मनो गृहीतिर्ग्रहणम् । किं वत् ।  
इतरवत् । यथा तस्माद्वा एतस्मादात्मन इत्यत्र सृष्टिप्रसङ्गेन तद्वत् ।  
कुत इत्यत आह—उत्तरात् । ‘स ऐक्षत’ इत्यादेः ॥ १६ ॥

अन्वयादिति । अम्मः प्रमृतीनां सृष्टेरन्वयादवगतत्वात् पर आत्म-  
शब्दाभिधेय इति चेत्तन्न स्यात्पर आत्मशब्दाभिधेयो भवेत् । कुतः ।  
आत्मा वा इदमेक एवेत्यवधारणात् । अथ वा सर्वेचेत्यादिना सच्छब्दे-



(ब्र० व० १) भेदाज्ञान्योन्यं गुणोपसंहारः किंतु बृहदारण्यके निर्गुणविद्या छान्दोग्य उपक्रान्तसत्तासामान्ये ब्रह्मत्वोपासनेति फलं सिद्धान्ते छान्दोग्ये सत्पदेनाऽऽत्मन एव गृहीतिरितिवद्बृहदारण्यक आत्मपदेनाऽऽत्मग्रहणवदुत्तरात्तत्त्वमसीत्युपसंहारबलादित्युभयत्र विद्यैक्यादस्त्यन्योन्यं गुणोपसंहार इति । पूर्वाधिकरणे वाक्यैक्यबलादर्थ्यादिपरत्वं परित्यज्य विद्यैक्यमुक्तं तर्हि प्रकृत उपक्रमभेदेन वाक्यभेदाद्विद्यैक्यं न स्यादिति प्रत्युदाहरणसंगतिरस्याधिकरणस्य बोध्या ॥ १ ॥

‘अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात्’ ननूपसंहारबलात्सत्पदेनाऽऽत्मगृहीतिरित्यसंगतमुपहारस्योपक्रमान्वयादुपक्रमपरतन्त्रत्वादित्याक्षेपांशार्थः परिहरति स्यादवधारणादिति । सत्पदेनाऽऽत्मन एव गृहीतिर्युक्ता स्यात्सदेवेत्यद्वितीयत्वावधारणात्सत्तासामान्यस्य च सद्वितीयत्वावधारणानुपपत्तेरित्यर्थः । अयं भावः—आरम्भणाधिकरणे ब्रह्मातिरिक्तवस्तुजातस्य मिथ्यात्वसाधनादात्मात्म्यस्य सत्पदार्थत्वानुपपत्तेः । सत्पदेनाऽऽत्मन एवोपक्रमः सदुपक्रमस्य ब्रह्मसत्तासामान्यपरत्वसंदेहेऽपि तत्त्वमसीति वाक्यशेषाद्ब्रह्मपरत्वनिर्णयः । न च शाखाद्वय आत्मसच्छब्दाभ्यां जीवब्रह्मणोरुपक्रमाद्वैषम्यमुभयोरलक्ष्यैक्येनावैषम्यादिति । तस्मादनयोर्वाक्ययोरेकार्थत्वमिति सिद्धम् ॥ २ ॥

( काण्वच्छान्दोग्यषष्ठयोर्द्वयोर्वस्वेकत्वम्, अधि० ९ ) ।

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ १८ ॥

वाजसनेयके प्राणसंवादे प्राणो वागादीन्पप्रच्छ मम किमन्नं किं वास इति । ते प्रत्युचुः—‘यदिदं किंचाऽऽश्वभ्य आ कृमिभ्य आ कीटपतङ्गेभ्यस्तत्तेऽन्नमापो वास इति’ तदनन्तरं श्रूयते ‘तद्विद्वांसः श्रोत्रिया अशिष्यन्त आचामन्त्यशित्वाऽऽचामन्त्येतमेव तदनमनश्च कुर्वन्तो मन्यन्ते’

(दी०) नाऽऽत्मनो गृहीतिरितरवत् । वाजसनेयके कतम आत्मेति यथाऽऽत्मशब्देनाऽऽत्मगृहीतिस्तद्वत् । कुतः । उत्तरात् । ऐतदात्म्यमिदं सर्वमित्युपसंहारगतादात्मशब्दात्सदेवेत्युपक्रमान्वयान्नाऽऽत्मनो ग्रहणमिति चेत्तन्न । येनाश्रुतमित्यादिनैकविज्ञानेन सर्वविज्ञानस्य सदेवेत्यनेनोत्पत्तेः प्रागन्यासत्त्वस्य चावधारणात् । तस्य चाऽऽत्मग्रहण उपपन्नत्वं नान्यथा ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरणे संदिग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषान्निर्णय उक्तः । एवमिहापि अशिष्यन्त आचामन्तीत्यादेर्वर्तमानापदेशत्वेन विधित्वसंदेहेऽ-

(ब्र०व०।)[बृ०६।१।१४] 'तस्मादेवंविदशिष्यन्नाचामेदशित्वा चाऽऽचामेदे-  
तमेव तदनमनग्रं कुरुत इति' [बृ०मा०६।२।१५] यस्मात्प्राणस्याऽऽपोवा-  
सस्तस्मादित्यस्मिन्नर्थे तच्छब्दः । विद्वांसः प्राणविदः श्रोत्रिया यथेष्टचे-  
ष्टाश्चन्या भोजनात्पूर्वोत्तरकालयोराचमनं कुर्वन्ति तेनाऽऽचमनसंबन्धि-  
नाऽब्रूपवाससैतमेवैनं प्राणमनग्रमाच्छादितं कुर्वन्तो मन्यन्ते चिन्तयन्ति  
पूर्वं जनास्तस्मादिदानींतनोऽपि प्राणविदेवं कुर्यादित्यर्थः । छान्दोग्येऽप्ये-  
वमेव श्रूयते । किम् । 'तस्माद्वा एतदशिष्यन्तः पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः  
परिदधति' [छा०५।२।२] तस्मात्प्राणं प्रत्यपां वासस्त्वादित्यर्थः । अन्नम-  
शिष्यन्तः प्राणविद आचमनं कुर्वन्त एतत्कुर्वन्ति । किमेतत् । भोजनात्पू-  
र्वमूर्ध्वं चाद्भिः प्राणं परिदधत्याच्छादयन्तीत्यर्थः । तत्राऽऽचमनीया-  
स्वप्सु प्राणवासस्त्वध्यानमाचमनं च प्रतीयते । तत्रोभयविधाने वाक्य-  
भेदमयादेकमेष विधेयं तदेकं किमाचमनं विधेयमुत वासस्त्वध्यानमिति  
संशयः । पूर्वपक्षे प्राणविद्याङ्गत्वेनापूर्वस्याऽऽचमनस्य विधेयत्वात्तस्याऽऽ-  
चमनस्यात्र प्राणविद्यायामुपसंहारः फलं सिद्धान्ते त्वनुपसंहार इति  
मन्तव्यम् । तत्र संदिग्धसदुपक्रमस्य वाक्यशेषान्निर्णयवदाचामन्तीति  
वर्तमानापदेशस्य विधित्वसंदेह आचामेदिति वाक्यशेषाद्विधित्वनिर्णय  
इति दृष्टान्तसंगत्या प्राप्ते ब्रूमः । वासस्त्वध्यानमेवापूर्वं प्राणविद्याङ्गत्वेन  
विधेयं यथा प्राणविद्याङ्गत्वेन श्वादिमर्यादस्यान्नस्य प्राणं प्रत्यन्नत्वेन  
ध्येयं विधीयते तद्वत् । न त्वाचमनमत्र विधेयम् । कुतः । कार्याख्यानात् ।  
द्विजो नित्यमुपस्पृशेदित्यादिना स्मार्तविधिना सकलानुष्ठानाङ्गत्वेन  
शुद्ध्यर्थं कार्यस्याऽऽचमनस्य प्राणविद्यायामपि प्राप्तस्याऽऽख्यानात्तद्दी-  
यास्वप्सु वासस्त्वविधानार्थमनुवादादित्यर्थः ॥ १८ ॥

(दी०।) शिष्यन्नाचामेदिति वाक्यशेषादाचमनस्य विधित्वनिश्चय इत्या-  
क्षिप्य समाधत्ते—कार्येति । 'पुरस्ताच्चोपरिष्टाच्चाद्भिः परिदधति' इति  
छान्दोगानाम् । 'अशिष्यन्नाचामेत्' इति वाजसनेयिनां यदाचमनं  
न तद्विधेयम् । कुतः । कार्याख्यानात्प्रायत्यार्थं कार्यत्वेन प्राप्तस्य  
स्मार्तस्याऽऽख्यानादनुवादात् । किं तर्हि विधेयमित्यत आह—अपूर्वम् ।  
'एतमेव तदनमनग्रं कुर्वन्तो मन्यन्ते' इत्यनग्रताचिन्तनमप्राप्ते विधे-  
यम् ॥ १८ ॥

(ब्र० ४०।)(प्राणोपासनं प्रति प्राणविद्याप्राप्तयोरनग्नताबुद्ध्याचमनयोरनग्न-  
ताबुद्धेरेव विधेयत्वम्, अधि० १० )

समान एवं चाभेदात् ॥ १९ ॥

वाजसनेयिशाखायामग्निरहस्ये शाण्डिल्यविद्या श्रुता तत्र गुणाः  
श्रूयन्ते—‘स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं मारुपम्’ [ शतप०  
१०। ६। ३। २। ] इत्यादिना । तस्यामेव शाखायां बृहदारण्यके पुनः  
श्रूयते शाण्डिल्येन दृष्टा विद्या ‘मनोमयोऽयं पुरुषो माः सत्यस्तस्मि-  
न्नन्तर्हृदये यथा ब्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः  
सर्वमिदं प्रशस्ति यदिदं किंच’ [ बृ० ५। ६। १ ] इति । माः प्रका-  
शात्मकः सत्यः परमार्थतः । तस्मिन्मनोमयपदप्रकृतिभूतमनःशब्देन  
प्रस्तुते हृदयेऽन्तर्यथा ब्रीह्यादि तथा तावत्परिमाणः पुरुषोऽस्ति स एष  
सर्वस्येशान इत्यादिगुणक इत्यर्थः । तत्र संशयः किमग्निरहस्यबृहदा-  
रण्यकस्थयोरनयोर्विद्ययोर्भेद उतैक्यमिति । पूर्वपक्षे विद्ययोर्भेदाद्वुणा-  
नुपसंहारः फलं सिद्धान्ते विद्यैक्याद्वुणोपसंहार इति बोध्यम् । पूर्वं  
प्राप्ताचमनानुवादेन वासस्त्वध्याने विधेयमित्युक्तमिह तूक्तवाक्ययोरेक-  
स्यानुवादकत्वमेकस्य विद्याविधायकत्वमित्यत्र नियामकाभावाद्बुभयो-  
रपि स्वनिकटस्थगुणविशिष्टविद्याविधायकत्वमित्यनयोर्विद्ययोर्भेद इति  
प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूमः । यथा भिन्नासु शाखासु विद्यैक्यं गुणोपसंहा-  
रश्च भवत्येवं समाने चैकस्यामपि शाखायां भवितुं युक्तम् । कुतः ।  
अभेदात् । उपास्यस्य मनोमयत्वादिगुणकस्योभयत्राप्यभेदेन प्रत्यभि-  
ज्ञानादित्यर्थः । यत्त्वेकस्यानुवादकत्वमेकस्य विधायकत्वमित्यत्र निया-  
मकाभाव इति तत्राग्निरहस्ये बहूनां गुणानां श्रवणेन तत्रैव विद्योत्प-  
त्तिविधिकल्पनात्, बृहदारण्यके तु विद्यैक्यप्रत्यभिज्ञानार्थं तत्रोक्तमनो-  
मयत्वाद्यल्पगुणानुवादेन सर्वेशानत्वादयो गुणा विधीयन्त इति न  
किंचिद्वाधकम् । तस्माद्बुभयत्र शाण्डिल्यविद्यैक्यमिति सिद्धम् ॥ १९ ॥

(दी० १।)पूर्वाधिकरणे प्राप्ताचमनानुवादेनानग्नताचिन्तनं विधेयमित्युक्तमिह  
तु वाक्ययोः कस्य विधेयत्वं कस्यानुवादत्वमित्यनिश्चयाद्द्वयोरपि विद्या-  
द्वयविधित्वेनान्योन्यं गुणोपसंहार इत्याक्षिप्य समाधत्ते—समान इति ।  
समानेऽपि शाखाभेदे वाजसनेयक एवं गुणोपसंहारो यथा भिन्नशा-  
खायां कृतः । शाण्डिल्यशाखायां मनोमयत्वादीनां गुणानां बृहदार-  
ण्यके च मनोमय इत्यादीनां प्रत्यभिज्ञायमानत्वाद्विद्याया अभेदस्त-  
स्मात् ॥ १९ ॥

( ब्र० ४० । ) ( काण्वानामग्निरहस्यब्राह्मणबृहदारण्यकयोः पठितायाः  
शाण्डिल्यविद्याया एकविद्यात्वम्, अधि० ११ )

संबन्धादेवमन्यत्रापि ॥ २० ॥

बृहदारण्यके सत्यं ब्रह्म हिरण्यगर्भाख्यं सत्यं महदित्युपक्रम्य  
'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं  
दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' [ बृ० ५ । ५ । २ ] इति । तत्रैवं सति यत्तत्सत्यं  
हिरण्यगर्भाख्यं सोऽसावादित्यः । किं मण्डलमेवाऽऽदित्यो नेत्याहैष  
इति । अक्षन्नक्षिणि तस्य सत्यस्य स्थानभेदेनाऽऽदित्यचाक्षुषपुरुषात्म-  
नाऽवस्थानमुक्त्वाऽऽदित्यपुरुषस्य सत्यस्य भूरिति शिरः, भुव इति बाहू,  
स्वरिति प्रतिष्ठा पादाविति व्याहृतिदेहत्वं संपाद्य तस्योपनिषदहरित्यह-  
र्नामत्वमुक्तम् । तदनन्तरं चाक्षुषपुरुषस्य सत्यस्य पूर्ववद्याहृतिदेहत्वं  
संपाद्य तस्योपनिषदहमित्यहर्नामत्वमुक्तम् । उपनिषच्छब्देन देवताप्र-  
काशकं रहस्यनामोच्यते । अहःशब्दः प्रकाशवाची, अहंशब्दः प्रत्यगा-  
त्मवाची । तावहरहंशब्दौ क्रमेणाऽऽदित्यचाक्षुषपुरुषयोर्नामनी इति  
स्थितिः । तत्र संशयः । किमस्यां सत्यविद्यायां नाम्नोर्व्यवस्थया ध्यानं  
कर्तव्यमुत नामद्वयस्य पुरुषद्वयेऽप्युपसंहार इति । पूर्वपक्ष उपसंहारः  
फलं सिद्धान्ते त्वनुपसंहार इति । तत्र दृष्टान्तसंगत्या पूर्वपक्षयति  
संबन्धादिति । यथा शाण्डिल्यविद्यायामेकशाखायां विभागेनाधी-  
तायामेकविद्यात्वसंबन्धादन्योन्यं गुणोपसंहारः पूर्वमुक्त एवमन्यत्रापि  
सत्यविद्यायां भवितुं युक्तमेकविद्यात्वसंबन्धादित्यर्थः ॥ २० ॥

समाधत्ते—

न वा विशेषात् ॥ २१ ॥

नैव नामद्वयस्य पुरुषद्वय उपसंहारो विद्यैक्येऽप्यक्षयादित्यरूपस्थान-  
विशेषादित्यर्थः । तथा य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषस्तस्याहरिति  
(क्षी०) पूर्वाधिकरण एकशाखायामभ्यासाच्छाण्डिल्यविद्याभेदप्रसक्तावपि  
प्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यगुणोपसंहार उक्तस्तर्हीहापि सत्यस्य ब्रह्मणो मण्ड-  
लद्वयवर्तिन ऐक्यादुपनिषदोरप्युभयत्र चिन्तनमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिपति—  
संबन्धेति । तस्योपनिषदहरिति तस्योपनिषदहमिति यथा शाण्डिल्य-  
विद्यायां बृहदारण्यके च गुणोपसंहार एवमन्यत्रापि आदित्ये चक्षुषि  
चोपनिषदोरविभागेन चिन्तनम् । कुतः । एकविद्यासंबन्धात् ॥ २० ॥

सिद्धान्तमाह—न वेति । तदुक्तं नैव । कुतः । आदित्येऽहरिति

(ब० व० १) नामेत्युक्त्वा तस्येति तच्छब्देनाऽऽदित्यमण्डलावच्छिन्नस्यैव परामर्शात्तस्यैवाहर्नामत्वं युक्तम् । एवमहर्नामत्वं चाक्षुषपुरुषस्यैव चक्षुरुपस्थानविशेषावच्छिन्नस्यैव तच्छब्देन परामर्शादिति । तस्मादनयोर्नाम्नोर्व्यवस्थेति ॥ २१ ॥

दर्शयति च ॥ २२ ॥

किंच विद्यान्तरे हिरण्यश्मश्रुरित्यादिनाऽऽदित्यपुरुषस्य रूपमुक्त्वा तद्रूपमाक्षिपुरुषेऽतिदिशति 'तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपम्' [छा० १।७।५] इति । अयमतिदेश इतरत्र सत्यविद्यास्थले स्थानभेदान्नोपसंहार इति दर्शयति । अन्यथा स्थानभेदेऽपि गुणोपसंहाराङ्गीकारेऽयमतिदेशो निरर्थक एव स्यादिति । तस्मान्नाम्नोर्व्यवस्थेति सिद्धम् ॥ २२ ॥

(अहरित्यादित्यगतस्याहमित्यक्षिगतस्य च वेद्यपुरुषस्यैकत्वेऽपि स्थानविशेषे तन्नामविशेषस्य युक्तत्वकथनम्, अधि० १२)

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ २३ ॥

परिशिष्टोपदेशात्मकखिलग्रन्थेषु श्रूयते—'ब्रह्मज्येष्ठा वीर्यां संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इति । वीर्यां वीर्याणि पराक्रमविशेषरूपाणि वियदादीनि । ब्रह्मैव ज्येष्ठमनन्यापेक्षं कारणं येषां तानि ब्रह्मज्येष्ठानि । लौकिकेश्वरवीर्याणां बलवद्भिर्मध्ये मङ्गः संभवति ब्रह्मवीर्याणां तु नैवमित्याह संभृतानीति । सर्वाधिकेन ब्रह्मण निर्विघ्नसमृद्धानीत्यर्थः । तच्च ज्येष्ठं ब्रह्माग्र इन्द्रादिजन्मनः प्रागेव दिवं स्वर्गमाततान व्याप्तवत् । नित्यमेव सर्वव्यापकमित्यर्थः । एवं संभृतिद्युव्याप्त्यादयो गुणा ब्रह्मणः श्रूयन्ते तत्र संशयः । किं तेषां गुणान

(दी० १) चक्षुषि चाहमिति स्थलयोर्विशेषादुपनिषदोरपि विभागः ॥ २१ ॥

ननु स्थानभेदान्धर्मभेदो नात्यन्तनियत इत्यत आह—दर्शयतीति तस्यैतस्य तदेव रूपमित्यादिस्थानभेदान्धर्मभेदः । चकारो राजादीनां स्थानभेदान्धर्मभेदप्रसिद्धिमाह ॥ २२ ॥

पूर्वाधिकरणेऽक्ष्यादित्यस्थानभेदान्धर्मानुपसंहार उक्तः । अत्र तु ब्रह्मणः प्रत्यभिज्ञायमानत्वान्न तदनुपसंहार इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्यातिदेशेन समाधत्ते—संभृतीति । ब्रह्मज्येष्ठा वीर्यां संभृतानि ब्रह्माग्रे ज्येष्ठं दिवमाततान' इति राणायनीयानां खिलेषु अधिदैवं संभृतिद्यु

(ब० व० १) तदीयोपनिषद्विहितशाण्डिल्यादिब्रह्मविद्यासूपसंहार उत तद्वृण-  
विशिष्टोपासनं पृथगेवात्र विधीयत इति । तत्रोपसंहार इति प्राप्ते पूर्वो-  
क्तन्यायमतिदिशति—संभृतीति । संभृतिश्च द्युव्याप्तिश्च संभृतिद्युव्याप्ती ।  
यथा स्थानभेदान्नाम्नोर्व्यवस्थैवं संभृत्यादयोऽपि शाण्डिल्यादिविद्यासु  
नोपसंह्रियन्तेऽत एव स्थानभेदादेवेत्यर्थः । शाण्डिल्यादिविद्यासु  
हृदयायतनत्वं ब्रह्मणः श्रुतं नैवमत्र । तस्मात्संभृत्यादिगुणविशिष्टमुपास-  
नान्तरमिति सिद्धम् । अस्यातिदेशान्न पृथक्संगत्याद्यपेक्षा ॥ २३ ॥

( विद्यैकत्वाभावात्संभृत्यादीनां गुणानां शाण्डिल्यविद्यादिष्वनुपसं-  
हार्यत्वम् , अधि० १३ )

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ २४ ॥

अस्ति ताण्डिनां पैङ्गिनां रहस्यब्राह्मणे पुरुषविद्या । तत्र पुरुषो  
यज्ञत्वेन कल्पितः । तदीयमायुस्त्रेधा विभज्य सवनत्रयं कल्पितं तस्य  
यानि चतुर्विंशतिवर्षाणि तत्प्रातःसवनं ततः पराणि चतुश्चत्वारिंशद्व-  
र्षाणि माध्यंदिनं सवनं ततः पराण्यष्टाचत्वारिंशद्वर्षाणि तृतीयं सवनं  
पुरुषविद्याविदः षोडशोत्तरशतवर्षजीवित्वादिति । पिपासादिकं दीक्षा-  
त्वेन कल्पितम् । तैत्तिरीयकेऽपि—‘ तस्यैवं विदुषो यज्ञस्याऽऽत्मा यज-  
मानः श्रद्धा पत्नी शरीरमिधमम् ’ [ तै० आर० १० । ६४ ] इत्यादिना  
पुरुषयज्ञः श्रूयते । तत्र संशयः । किमनयोर्विद्ययोरन्योन्यं गुणोपसंहा-  
रोऽस्ति न वेति । तत्र पूर्वं यदुक्तं संभृत्यादिगुणाः शाण्डिल्यादिविद्यासु  
नोपसंह्रियन्त इति युक्तं हि तदसाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाभावादिह तु  
मरणस्यावभृथत्वेन कल्पितस्य गुणस्योभयत्र सत्त्वेन प्रत्यभिज्ञानाद्वृणोप-  
संहारो युक्त इति प्रत्युदाहरणसंगत्या प्राप्ते ब्रूमः । नान्योन्यं गुणोपसं-  
हार उपास्यरूपभेदात् । तदाहाऽऽचार्यः—पुरुषविद्यायामिति । ताण्ड्या-  
दिशाखास्थपुरुषविद्यायां यथा गुणान्मानं तथेतरेषां तैत्तिरीयकाणां

(दी० १) व्याप्त्यादयोऽपि धर्मास्ते नाध्यात्मदहरोपकोसलादिविद्यास्वपि  
उपसंहर्तव्याः । कुतः । अत एव स्थानभेदादेव ॥ २३ ॥

पूर्वाधिकरणेऽसाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाभावात्संभृत्यादौ विद्याभेद  
उक्त इह तु असाधारणगुणप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽ-  
क्षिप्य समाधत्ते—पुरुषेति । ताण्डिनां पैङ्गिनां च रहस्ये पुरुषस्याऽऽ-  
युस्त्रेधा विभज्य तत्सवनत्रयं परिकल्प्याशिशिषत्वादीनि दीक्षादित्वेनो-

( ब्र० व० । ) पुरुषविद्यायां गुणान्नानामावादित्यर्थः । अन्यत्र पुरुष एष यज्ञत्वेनोपास्यः । तैत्तिरीयके तु विदुषः पुरुषस्य प्रसिद्धो यो यज्ञस्तस्य पुरुषात्मादिषु यजमानत्वादिकल्पनयोपास्यत्वादेवं बहुतर उपास्यभेदो दृश्यते तद्भेदाच्च विद्याभेदान्नान्योन्यं गुणोपसंहार इति । यत्त्ववभृथगुण-स्योभयत्र सत्त्वात्प्रत्यभिज्ञानमिति तन्न । बहुगुणभेद एकस्य प्रत्यभिज्ञापक-त्वात्मावादिति । किञ्च तैत्तिरीयके श्रूयते पूर्वमात्मविद्यामुपदिश्य तच्छे-षत्वेन पुरुषस्य यज्ञ उपदिश्यते ' तस्यैव विदुषः ' इति तत्संनिधौ श्रव-णादन्यत्र त्वायुर्वृद्धिफलकः पुरुषयज्ञः स्वतन्त्र इत्यनयोर्भेद एव न्याय्य इति ॥ २४ ॥

( तैत्तिरीयकताण्डिनोः पुरुषविद्यायाः पृथक्त्वम् , अधि० १४ )

वेधायर्थभेदात् ॥ २५ ॥

अस्त्याथर्वणिकानामुपनिषदारम्भे मन्त्रपठनं ' सर्वं प्रविध्य हृदयं प्रविध्य धमनीः प्रवृज्य शिरोऽग्निप्रवृज्य त्रिधा विभक्तः ' इत्यादि । ताण्डिनां ' देव सवितः प्रसुव ' [ छा० ब्रा० १ । १ ] इत्यादि । शाठ्यायनिकानां ' श्वेताश्वो हरितनीलोऽसि ' इत्यादि । तैत्तिरीयकाणां ' शं नो मित्रः ' [ तै० १ । १ । १ ] इत्यादि । वाजसनेयिनां तूपनिषदारम्भे प्रवर्यब्राह्मणं पठ्यते—' देवा ह वै सत्रं निषेदुः ' [ शत० १४ । १ । १ । १ ] इत्यादि । कौषीतकिनामग्निष्टोमब्राह्मणं ' ब्रह्म वा अग्निष्टोमो ब्रह्मैव तद्दहर्ब्रह्मणैव ते ब्रह्मोपयन्ति तेऽमृतत्वमाप्नुवन्ति य एतदहरुपयन्ति ' इत्यादि । अयमर्थः—अभिचारकर्मदेवतामभिचारकर्ता प्रार्थयते हे देवते मन्त्रिणोः सर्वमङ्गं प्रविध्य विदारय हृदयं च विदारय धमनीः शिराः

( दी० । ) च्यन्ते सेयं पुरुषविद्या तस्यां ये धर्मास्तस्यैवं विदुषो यज्ञस्येत्यादिना यज्ञपुरुषे य इतरैस्तैत्तिरीयकैः परिकल्पितास्तस्मिन्स्ते नोपसंह-र्तव्याः । कुतः । तेषां ताण्डिपैङ्गिवदनाम्नानात् । यतस्ते तस्येत्यादिना ' आत्मा यजमानः श्रद्धा पत्नी ' इत्यादि पठन्ति ॥ २४ ॥

पूर्वाधिकरणे पुरुषयज्ञस्य विद्यासंनिधेर्विद्याङ्गत्ववत्सर्वं प्रविध्येत्या-देरुपनिषत्संनिधेर्विद्याङ्गत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—वेधा-

(ब्र० व० १) प्रवृज्य भिन्धि तस्य शिरश्चामितो भिन्धि, एवं मद्रिपुच्छिधा विमक्तो विश्लिष्टो भवत्वित्यर्थः । हे देव सवितर्यज्ञं नः सर्गं च प्रसुव निवर्तयेत्यर्थः । उच्चैः श्रवाः श्वेतोऽश्वो यस्येन्द्रस्य स त्वं हरित इन्द्रनीलस्तद्वन्नीलोऽसीतीन्द्रः संबोध्यते । मित्रः सूर्यः शं सुखकरो भूयादिति विद्याध्याशास्ते । अग्निष्टोमो ब्रह्म स यस्मिन्नहनि क्रियते तदहरपि ब्रह्म ततो य एतदहरूपयन्त्यहर्निर्वर्त्य कर्मानुतिष्ठन्ति ते ब्रह्मणैव साधनेन ब्रह्म परमुपयन्ति ते क्रमेणासृतत्वं मुक्तिमाप्नुवन्तीत्यर्थः । तत्र संशयः । किमिमे सर्वे प्रविध्येत्यादयो मन्त्राः प्रवर्ग्यादीनि च कर्माणि तत्तदुपनिषदुक्तविद्यासूपसंहियेरन्न वेति । तत्र पूर्वं यथा पुरुषयज्ञस्याऽऽत्मविद्यासंनिधानात्तच्छेषत्वं तथा मन्त्राणां कर्मणां च तत्तद्विद्यासंनिधानात्तच्छेषत्वेनोपसंहारोऽस्तीति हृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । नैषामुपसंहारो विद्यासु । कुतः । वेधाद्यर्थभेदात् । सर्वं प्रविध्येत्यादिमन्त्रप्रकाशितानां वेधादीनामर्थानामभिचारकर्मादिसमवेतानां भेदाद्विद्यास्वसमवेतत्वादित्यर्थः । तथा चाभिचारकर्मादिसमवेतार्थप्रकाशनसामर्थ्यालक्षणं लिङ्गं संनिधिं दुर्बलं \*तिरस्कृत्य मन्त्राणामभिचारादिकर्माङ्गत्वं संपादयतीति न विद्याशेषत्वम् । प्रवर्ग्यादिकर्मणां संनिधेर्बलीयसा श्रुत्यादिना ज्योतिष्टोमादौ विनियुक्तानां न विद्याशेषत्वमिति भावः ॥ २५ ॥

( वेदमन्त्रप्रवर्ग्यादीनां विद्यानङ्गत्वम् , अधि० १५ )

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाछ-  
न्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ २६ ॥

ताण्डिनां रहस्ये श्रूयते—‘अश्व इव रोमाणि विधूय पापं चन्द्र इव राहोर्मुखात्प्रमुच्य धूत्वा शरीरमकृतं कृतात्मा ब्रह्मलोकमभिसंभ-

(दी० १) दीति । सर्वं प्रविध्येत्यादिमन्त्रजातं प्रवर्ग्यादिकं कर्म च तत्तच्छाखोपनिषदारम्भे पठ्यमानानि न विद्यासूपसंहर्तव्यानि । कुतः । तेषां ये हृदयवेधादयोऽर्थास्तेषां भेदात् ॥ २५ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्यासंनिधौ श्रुतस्यापि मन्त्रादेर्विद्यायामसामर्थ्याद्-



(ब० व०।) वामि '[छा० ८। १३। १] इति । तथैवाऽऽथर्वणश्रुतिः—'तथा विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इति । यथाऽश्वो जीर्णानि रोमाणि रजोभिः सह त्यक्त्वा स्वच्छो भवतीत्येवमहमपि पापं सर्वं विधूय निर्मलः सन्, यथा वा चन्द्रो राहोर्मुखात्प्रमुच्य भास्वरो भवत्येवमकृतं प्रवाहरूपेणानादिसिद्धं शरीरं धूत्वा त्यक्त्वाऽति-स्वच्छः सन्कृतात्मा कृतकृत्यो ब्रह्मात्मकं लोकमभिसंभवाभ्यामि-मुख्येन प्रत्यक्त्वेन प्राप्नोमीत्यर्थः । तथा शांख्यायनिनः पठन्ति 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विपन्तः पापकृत्याम्' इति । तस्य मृतस्य विदुष इत्यर्थः । तथैव कौषीतकिनः पठन्ति—'तत्सुकृत-दुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपयन्त्यप्रिया दुष्कृतम्' [कौ० १। ४] इति । तत्तेन विद्याबलेन विद्वान्सुकृतदुष्कृते विधुनुते त्यजति । त्यक्तयोस्तयोर्विनियोगमाह—तस्येति । तस्मादुपासको न द्वेष्य इति श्रुतितात्पर्यम् । तत्र शाख्यायनिश्रुतावुपादानमात्रं पुण्यपापयोः श्रुतं तच्च विदुषस्त्यागं विना न संभवतीति पुण्यपापत्याग आक्षिप्यते । यत्र तु ताण्ड्याथर्वणवाक्ययोः पुण्यपापत्यागमात्रं श्रुतं तत्र किं त्यक्त-योरुपादानमन्यत्र श्रुतमत्रोपसंह्रियते न वेति संदिह्यते । पूर्वपक्षे विद्यायाः स्तुतिप्रकर्षासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तूपादानस्यात्रोपसंहारा-द्विद्यास्तुतिप्रकर्षासिद्धिः । उपासककृतविद्यास्तुत्यर्थं हि श्रुतावुपासकः पुण्यपापे त्यजति ते चान्यैरुपादीयेते इत्युच्यते । सा च स्तुतिः सत्ता-गुणेन । तथा चोपास्यगुणोपसंहारप्रसङ्गेन स्तुत्यर्थं गुणोपसंहारो विचार्यत इति प्रासङ्गिकी पादसंगतिः । तत्र यथा पूर्वं विद्यासंनिधौ श्रुत-स्यापि मन्त्रादेर्विद्यायामसामर्थ्यादनुपसंहार उक्त एवं क्वचित्कौषीतकि-

(दी०।) नुपसंहार उक्तस्तद्वद्भानसंनिधौ श्रुतस्याप्युपायनस्य तदन्तरेणापि हानसंभवादनुपसंहार इत्याक्षिप्य समाधत्ते—हानाविति । 'तदा विद्वान्पुण्यपापे विधूय' इत्यादौ यद्भानं तस्मिन्नुपायनं नास्तीति न वक्तव्य-मिति तुशब्द आह । हानौ केवलायां श्रूयमाणायामथर्वणादावुपायनं संनिपतेत् । कुतः । उपायनशब्दशेषत्वात् तस्याः । तथा हि कौषीत-किरहस्ये—'तत्सुकृतदुष्कृते विधुनुते तस्य प्रिया ज्ञातयः सुकृतमुपय-न्त्यप्रिया दुष्कृतम्' इति । अथ वा धूञ् कम्पन इति धातोश्चलनार्थोऽयं

(ब० व० १) रहस्ये हानसंनिधौ श्रुतस्याप्युपादानस्योपादानमन्तरेणापि तूष्णीं हानसंभवेन हानस्योपादानोपपादनसामर्थ्याभावाच्चोपसंहार इति वृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । तुः केवलवाची । तथा च केवलहानौ श्रुतायां सत्यां तत्रोपादानमुपसंहर्तव्यम् । कुतः । उपायनशब्दशेषत्वात् । अश्वरोमविधूननवृष्टान्तेनोक्तस्य पुण्यपापहानस्य नाशत्वाभावेन विधूतयोः पुण्यपापयोरन्यत्रावस्थानरूपोपायनसापेक्षत्वात् । उपायनं क्वचिदपि हानसंनिधौ श्रूयमाणं केवलहानश्रवण आयाति पुण्यपापहानेनापेक्षितस्योपादानात्मकस्योपायनस्य तद्धानशेषत्वादित्यर्थः । ज्ञानात्पूर्वयोः पुण्यपापयोरनाश उत्तरयोरश्लेष इति फलाध्याये वक्ष्यते । अतो हानं विद्वद्भोग्यत्वाभावस्तत्तुल्यकर्मप्राप्तिरूपादानमिति फलतो द्रष्टव्यम् । अमूर्तयोः पुण्यपापयोरन्यत्र संचारात्मकोपादानस्य मुख्यस्यायोगात् । सूत्रे शब्दपदेन हानावुपायनोपसंहारस्य स्तुत्यर्थत्वं सूचितमिति बोध्यम् । शाखान्तरस्थो विशेषः शाखान्तरेऽप्यपेक्षित उपसंहरणीय इत्यत्र वृष्टान्तमाह—कुशाच्छन्द इत्यादिना । तत्र कुशवृष्टान्तो यथा—‘कुशा वानस्पत्याः स्थ’ इत्यादौ भालुविनां श्रुतौ हे कुशाः समिद्रूपा यूयं वानस्पत्याः स्थ मां यजमानं रक्षतेति यजमानप्रार्थने वनस्पतियोगित्वेन सामान्यसमिच्छ्रवणे ‘औदुम्बराः’ इति शाखान्तरीयो विशेष आश्रित औदुम्बराः कुशा इति । छन्दोवृष्टान्तो यथा—‘छन्दोभिः स्तुवीत’ इत्यत्र देवासुरच्छन्दसामविशेषेण पौर्वापर्यप्रसङ्गे ‘देवच्छन्दांसि पूर्वाणि’ इति पैङ्ग्यश्रुत्या निर्णयः । स्तुतिवृष्टान्तो यथा—षोडशिनः पात्रविशेषस्य ग्रहणेऽङ्गभूतं स्तोत्रं

(दी० १) विधूननशब्द इत्यत आह—हानाविति । ‘अश्व इव रोमाणि विधूय’ इत्यादौ न सुकृतदुष्कृतयोश्चलनमिति तुशब्द आह । किंतु तयोर्हानिः परित्यागः । कुतः । उपायनशब्दशेषत्वात् । तच्च हानौ सत्याम् । कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्’ इत्युपमानं भालुविनाम् । ‘कुशां वानस्पत्याः स्थ ता मा पात’ इत्यविशेषेण श्रवणात् । शाट्यायनिनामौदुम्बरा इति विशेषः कुशानाम् । क्वचिद्देवासुरच्छन्दसामविशेषे ‘देवच्छन्दांसि पूर्वाणि’ इति पैङ्ग्याम्लानात्तेषां पूर्वत्वम् । यथा च षोडशिस्तोत्रे कालानिश्चये ‘समयाभ्युषिते’ इति विशेषः । यथा वा क्वचिद्विज इति अविशेषादुपगाने प्राप्ते भालुविनो नाध्वर्युरुपगायेदिति विशेषमाहुस्तद्वत्कौषीतकि-

( ब० ४० । ) कदा कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां छन्दोगानां कालाविशेषप्राप्तौ 'समयाध्युषिते सूर्ये षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति' इति तैत्तिरीयकवाक्यात्कालविशेषधीर्भवति । एवंभूताया आर्च्यार्नां श्रुतेर्वा कालविशेषधीरिति । उपगानहृष्टान्तो यथा—'ऋत्विज उपगायन्ति' इति सामान्यवाक्यं शाखान्तरीयं 'नाध्वर्युरुपगायति' इति विशेषमपेक्ष्याध्वर्युवर्जिता ऋत्विज उपगायन्तीत्येतदर्थपरतया निश्चीयत इति । तथा च यथा कुशादिषु श्रुत्यन्तरगतविशेषान्वयस्तथा हानावुपायनान्वय इत्यर्थः । कुशादिसामान्यश्रवणं शाखान्तरीयविशेषसापेक्षमित्यङ्गीकर्तव्यं निरपेक्षत्वेऽष्टदोषदुष्टविकल्पः स्यात् । इदं च सामान्यवाक्यस्य विशेषसापेक्षत्वं जैमिनेरपि संमतमित्याह—तदुक्तमिति । पूर्वमीमांसायां जैमिनिना तदुक्तमित्यर्थः । तथा हि—'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याप्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्' [ जै० १० । ८ । १ । ४ ] इति जैमिनिसूत्रम् । अस्यार्थः—आश्रावयेति चतुरक्षरमस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरं यजेति द्वाक्षरं ये यजामह इति पञ्चाक्षरं द्वाक्षरो वषट्कार एष वै सप्तदशः प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः' इत्यनारभ्याधीतवाक्यं श्रुतं 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोति' इति विशेषवाक्यं तस्य वाक्यस्य शेषः स्यात् । तथा च नञः पर्युदासार्थतयाऽनुयाजव्यतिरिक्तेषु यज्ञेषु सप्तदशाक्षरगणः प्रयोक्तव्य इत्येको विधिर्भवति । यदि नञो निषेधकत्वेन सामान्यवाक्यं विशेषानपेक्षं तदा सामान्यवाक्येन विहितस्य गणस्य निषेधादनुयाजेषु तस्य विकल्पः स्यात्स चान्याप्यो विधीनामित्येकदेश एव स्यादिति । प्रजापतिरिति स्तुतिसहितलिङ्गात्मा सप्तदश इति । अथ वोदाहृतश्रुतिष्वेव किं पुण्यपापयोर्विधूननं हानमभिप्रेतमुत तयोः

(दी०।) रहस्यादावुपायनपरित्यागस्य वा विशेषः । तदुक्तं द्वादशलक्षण्याम्—'अपि तु वाक्यशेषः स्यादन्याप्यत्वाद्विकल्पस्य विधीनामेकदेशः स्यात्' इति । 'एष वै सप्तदश प्रजापतिर्यज्ञमन्वायत्तः' इति 'नानुयाजेषु ये यजामहं करोति' इति च विधिप्रतिषेधयोः समावेशे विकल्पे प्राप्ते जैमिनिराह—अपि त्वित्यादि । तुशब्दो विकल्पं वारयति । कुतः । अन्याप्यत्वाद्विकल्पस्याष्टदोषग्रस्तत्वेन ततो विधीनामेकदेशः स्यात् । अनु-

( ब्र० व० । ) फलतश्चालनमिति विशये फलतश्चालनमेवेति न पुरुषान्तरे तयोः फलहेतुत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः । हानावेवायं विधूननशब्दो वर्तितुमर्ह-  
त्युपायनशब्दशेषत्वादुपायनशब्दसंनिधौ विधूननशब्दस्य श्रुतत्वादित्यर्थः । उपादानात्मकोपायनस्य हानं विनाऽसंभवाद्विधूननशब्देन धूञ् कम्पन इति धातुजत्वेन चलनवाचकत्वेनापि हानमेव लक्ष्यमिति भावः । ननूपायनशब्दसंनिधौ श्रूयमाणविधूननशब्दस्य हानिलक्षकत्वेऽपि केवल-  
विधूननशब्दस्य न हानलक्षकत्वमिति शङ्कां कुशाच्छन्द इत्यादिना निरा-  
करोति । यथा कुशादिस्थले शास्त्रान्तरीयविशेषश्रवणं निर्णायकं तथे-  
हापि क्वचिद्विधूननसंनिधौ श्रूयमाणमुपायनं सर्वत्र विधूननस्य निर्णा-  
यकमित्यर्थः । तदुक्तमिति पूर्ववद्वाख्येयम् ॥ २६ ॥

( मरणात्प्रागुपास्ये साक्षात्कृते सुकृतदुष्कृतक्षयः अधि० १६ )

सांपराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ २७ ॥

पूर्वं विद्यायाः कर्महानिहेतुत्वं सिद्धं कृत्वा केवलहानश्रवण उपाय-  
नस्योपसंहार उक्त इदानीं विद्यायाः कर्महानिहेतुत्वं नास्तीत्याक्षेपा-  
त्संगतिः । पर्यङ्कस्थब्रह्मोपासकस्य देहत्यागानन्तरं देवमार्गेण ब्रह्मलोकं  
प्रति पर्यङ्कस्थब्रह्मप्राप्त्यर्थं गच्छतो मार्गमध्ये विरजानदीतरणानन्तरं  
कर्महानिः श्रूयते—‘ विरजां नदीं मनसैवात्येति तत्सुकृतदुष्कृते विधू-  
नुते ’ [ कौ० १ । ४ ] इति । तत्र संशयः । किं विरजानदीतरणानन्तरं  
कर्महानिरुत देहत्यागात्प्राक्काल इति पूर्वपक्षे मरणप्राक्कालीनविद्यां  
विना नदीतरणस्यैव कर्महानिहेतुत्वमिति विद्याया हानिहेतुत्वासिद्धिः  
फलं सिद्धान्ते विद्यासामर्थ्याज्जीवत एव कर्महानिरिति तत्सिद्धि-

(दी०।)याजवर्जितेषु येयजामहः कर्तव्य इति पर्युदासः स्यात् । अस्मिन्नर्थे  
नानुयाजेषु येयजामहं करोतीति वाक्यशेषोऽप्यनुकूलः स्यात् । यथाऽत्र  
न विकल्पस्तद्वदुपायनेऽपि न विकल्पः । यद्यप्यन्यसुकृतदुष्कृतयोरन्येन  
नोपादानं तथाऽपि विद्यास्तुतिरिति द्रष्टव्यम् ॥ २६ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्यासामर्थ्यात्कर्मणां परित्याग उक्तः । नैतद्विद्यासा-  
मर्थ्यमर्थमार्गे परित्यागादितीदानीमाक्षिप्य समाधत्ते—सांपराय इति ।  
संपराय एव सांपरायस्तस्मिन्देहपरित्यागावसरे सुकृतदुष्कृतयोर्हानिर्निर्ना-  
र्थमार्गे विरजां तीर्त्वा । कुतः । तर्तव्याभावात् । उत्पन्नज्ञानस्य सुकृत-  
दुष्कृताभ्यां प्राप्तव्यस्याभावात् । तथा ह्यन्ये । हि यस्माद्यथाऽस्माभि-

(ब्र० व० १) रिति भेदः । तत्र तत्सुकृत इत्यत्रत्येन तदिति सर्वनाम्ना तस्मादर्थ-  
कत्वेन हेतुत्ववाचिना नदीतरणस्यैवाव्यवहितस्य कर्महानिहेतुत्वमिति  
गम्यते । तथा च नदीतरणानन्तरमेव कर्महानिरिति प्राप्ते ब्रूमः । सांपराये  
परलोकसाधनीभूतविद्याकाल एव कर्महानिर्युक्ता । कुतः । तर्तव्याभावात् ।  
नदीतरणानन्तरं पुण्यपापकर्मणा तर्तव्यस्य निर्वर्त्यस्य फलस्याभावा-  
दित्यर्थः । अत्रायं विकल्पः—किं नदीतरणानन्तरं कर्मणा निर्वर्त्यफलस-  
त्त्वात्तावत्पर्यन्तमक्षीणत्वं कर्मण उच्यत उत नदीतरणं विना कर्मक्षयहे-  
तोरभावाद्वा । आद्ये सूत्रोक्तो हेतुर्बोध्यः । द्वितीयस्त्वसिद्धः कर्मक्षयहे-  
तोर्विद्यायाः सत्त्वात्कर्मक्षयं विना नदीतरणानुपपत्तेश्च । न च सर्वनाम्ना  
नदीतरणस्य हेतुत्वप्रतीतिर्युक्ता सर्वनाम्नः प्राधान्येन प्रकृतविद्यापराम-  
र्शित्वादिति । तस्मात्पूर्वं जात एष कर्मक्षयो नदीतरणानन्तरं पठ्यत इति  
मन्तव्यम् । । तथा ह्येके शाखिनस्ताण्ड्यादयो जीवदशायामेव कर्म-  
क्षयम् 'अश्व इव रोमाणि' [ छा० ८ । १३ । १ । ] इत्यादावधीयते ।  
अतश्च जीवत एव विद्यासामर्थ्यात्कर्मक्षय इति ॥ २७ ॥

ननु कर्मक्षयस्य विद्याफलत्वे ब्रह्मप्राप्तेरिव देहत्यागोत्तरकालीनत्वं  
स्यादत आह—

छन्दत उभयाविरोधात् ॥ २८ ॥

छन्दतः स्वेच्छया विद्यानुष्ठानं जीवत एवेति तद्धेतुकः कर्मक्षयो  
जीवत एव युक्तः सति हेतौ कार्यविलम्बायोगात् । एवं सति विद्याक-  
र्मक्षययोर्निमित्तनैमित्तिकभावे ताण्ड्यादिश्रुत्योरुभयोरविरोधो भवती-  
त्यर्थः । ब्रह्मप्राप्तेर्देहत्यागं विनाऽनुपपत्तेः । प्रकृते चानुपपत्त्यभावाज्जीवत  
एव कर्मक्षय इति भावः । तस्माद्विद्याफलत्वं कर्मक्षयस्येति सिद्धम् ॥ २८ ॥

(दी० १) व्याख्यातं तथा ताण्डिनः 'अश्व इव रोमाणि विधूय' इत्यादिना  
शाट्ट्यायनिनश्च 'तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति' इत्यादिनाऽऽदावेव परित्या-  
गमामनन्ति ॥ २७ ॥

ननु विरजां नदीं तीर्वेत्यत्र क्त्वाप्रत्ययश्रवणात्तत्रैव कुतो न परि-  
त्याग इत्यत आह—छन्दत इति । छन्दत इच्छातः शरीरे सति ब्रह्मचर्या-  
दिसार्धनानां सत्त्वात्तत्परित्यागावसर एव सुकृतदुष्कृतयोः परित्यागः ।  
एवं च निमित्तस्य नैमित्तिकस्य च ताण्डिशाट्ट्यायनिनोश्चाविरोधः ॥ २८ ॥

(ब्र०४०१) एवं प्रसङ्गागतं विद्योदयानन्तरमेव कर्महानमिति निरूप्य यथा हानसंनिधौ क्वचिच्छूयमाणमुपायनं सर्वत्रोपसंह्रियते तथा हानसंनिधौ क्वचिच्छूयमाणो देवयानः पन्थाः सर्वत्रोपसंहर्तव्य इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—

(उपासकस्यैवाचिरादिमार्गो न ज्ञानिन इत्यस्य व्यवस्था । अधि०१७)  
गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः ॥ २९ ॥

कर्महानसंनिधौ क्वचिद्देवयानः पन्थाः श्रुतः क्वचिन्न श्रुतो निर्गुणविद्यास्थले । तत्र किं देवयानोपसंहारोऽस्ति न वेति संदेहेऽस्तीति प्राप्ते वृमः । गतेर्देवयानस्या\*र्थवत्त्वमु+भयथा विभागेन भवितुमर्हति क्वचित्सगुणविद्यायां देवमार्गोऽस्तीति क्वचिन्निर्गुणविद्यायां नेति । अन्यथा सर्वत्र देवमार्गोपसंहाराङ्गीकारे विद्वान्पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यं प्रत्यगभिन्नब्रह्मलक्षणं नित्यसिद्धमुपैतीति श्रुतिविरोधः स्यादित्यर्थः ॥ २९ ॥

किमिदानीं श्रुतिविरोधादनुपपन्नमप्याहर्तव्यमित्यत आह—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३० ॥

क्वचिद्विद्यायां गतिरस्ति क्वचिन्नास्तीति गतेरुभयथाभाव उपपन्नः । कुतः । तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । × सा गतिर्लक्षणं कारणं यस्य सगुणवि-

(दी०१)पूर्वाधिकरणे शरीरपरित्यागावसर एव सुकृतदुष्कृतयोः परित्यागे निमित्तनैमित्तिकाविरोधेनेत्युक्तम् । अत्रापि सगुणनिर्गुणब्रह्मप्रतिपादकवाक्यानां ब्रह्मप्रतिपादकत्वाविरोधेन निर्गुणेष्वपि गतेरुपसंहार इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—गतेरिति । गतेर्देवयानस्य पथोऽर्थवत्त्वं प्रयोजनवत्त्वमुभयथा सगुणे निर्गुणे च व्यवस्थया । कुतः । हि यस्मादन्यथा निर्गुणेऽपि चेद्वतिः 'पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति' इत्यादिना विरोधः स्यात् ॥ २९ ॥

किमिदानीं श्रुतिविरोधादनुपपन्नमप्याहर्तव्यमित्यत आह—उपपन्न

\* ख. प्रयोजनत्वम् । + ख. सगुणे निर्गुणे च । × ख. ग. तस्या गतेर्लक्षणभूतः कारणभूतो योऽर्थः प्रयोजनं पर्यङ्कारोहणादि पर्यङ्कविद्यादौ सगुण उपलभ्यते न तु निर्गुणे तत्र दर्शनम् ।

(ब० व० १) व्याफलस्य पर्यङ्कस्थब्रह्मप्राप्तिरूपस्य लोकान्तरवर्तिनोऽर्थस्य तस्य श्रुतिषूपलब्धेरित्यर्थः । निर्गुणविद्यायां मार्गसाध्यफलाभावान्न तस्योपसंहारो लोकवत् । यथा लोके रामसेतुवासिनां गङ्गाप्राप्त्यर्थं पन्था अपेक्षितो न गङ्गास्थानां तद्वदित्यर्थः । तस्मान्न निर्गुणविद्यायां मार्गोपसंहार इति सिद्धम् ॥ ३० ॥

( सर्वासूपासनासूत्रमार्गविधानम्, अधि० १८ )

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाभ्याम् ॥ ३१ ॥

सगुणविद्यासु क्वचित्पञ्चाग्निविद्यादिषु मार्गः श्रूयते क्वचित्तु वैश्वानरविद्यादिषु न श्रूयते तत्र क्वचिच्छ्रुतमार्गस्यान्यत्रोपसंहारोऽस्ति न वेति संदेहे यद्विद्याप्रकरणे मार्गः श्रुतः स तत्रैवेति प्रकरणबलान्नियम एव नोपसंहार इति पूर्वाधिकरणदृष्टान्तेन प्राप्तावुच्यते—सर्वेषां सगुणोपासनानां मार्गस्यानियमः । क्वचिच्छ्रुतस्य सर्वत्रोपसंहार इति यावत् । ननु प्रकरणबलान्नियमो युक्तोऽन्यथा प्रकरणविरोध इति चेदुच्यते । प्रकरणेनाविरोध एवानियमस्य । कुतः । शब्दानुमानाभ्याम् । श्रुतिस्मृतिभ्यामित्यर्थः । ‘ ते य एवमेतद्विदुर्ये चामी अरण्ये श्रद्धाः सत्यमुपासते तेऽचिरभिसंभवन्ति ’ इत्याद्या श्रुतिः । ये तेऽधिकृता एके द्युलोकादिपञ्चकमेवाग्निर्वेन ये विदुस्तेऽचिरभिसंभवन्तीति संबन्धस्तद्वदप्यमी अरण्ये सत्यं ब्रह्म श्रद्धातपःपूर्वमुपासते तेऽप्यचिरभिसंभवन्तीत्यर्थः । तथा च पञ्चाग्निविद्यायामिव विद्यान्तरशीलानां वाक्येनैव प्रकरणाद्वलीयसा देवमार्गावगतेः प्रकरणं बाध्यमिति भावः ।

(दी० १) इति । उपपन्नोऽयं गतेरुभयथाभावः । कुतः । तल्लक्षणार्थोपलब्धेः । तस्या गतेर्लक्षणभूतः कारणभूतोऽर्थः प्रयोजनं पर्यङ्कारोहणादि पर्यङ्कविद्यादौ सगुण उपलभ्यते न तु निर्गुणे । तत्र निदर्शनं लोकवत् । यथा ग्रामादिप्राप्तौ मार्गस्यार्थवत्त्वं तद्वत् ॥ ३० ॥

पूर्वाधिकरणे सगुणनिर्गुणविद्यासु व्यवस्था गतेरुक्ता । एवं सगुणास्वपि गतेर्व्यवस्था स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्यापवदति—अनियम इति । सर्वासां सगुणानामुपासनानामश्रुतगतीनां च गतेरनियमोऽविशेषः । प्रक-

(अ० व० १) शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्तते पुनः ॥ [गी० ८।२६]

इत्याद्या स्मृतिरप्युपाकस्याविशेषेण मार्गं दर्शयति जगतो विद्यायां कर्मणि वाऽधिकृतस्य जनस्येत्यर्थः ॥ ३१ ॥

( ब्रह्मतत्त्वज्ञानिनां मुक्तिर्नियता न तु पाक्षिकीत्यस्य प्रतिपादनम्, अधि० १९ )

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३२ ॥

पूर्वं निर्गुणविद्यायां न मार्गः सगुणविद्यायां तु सर्वत्र मार्ग इति व्यवस्था कृता, इदानीं निर्गुणविद्याया मोक्षहेतुत्वानुपपत्तैरैश्वर्यादि-फलकत्वं वक्तव्यं तच्चाऽऽमुष्मिकं फलं मार्गमन्तरेण न संभवतीति कृतव्य-वस्थाया आक्षेपात्संगतिः । अपान्तरतमो वसिष्ठसनत्कुमारादीनां निर्गु-णब्रह्मविदां पुनः पुनरुत्पत्तिः स्मर्यते ‘ अपान्तरतमाः कलिद्व्यापरयोः संधौ विष्णुनियोगात्कृष्णद्वैपायनः संबभूव ’ [ महाभा० १२ । ३५१ ] इत्यादिना । तत्र संशयः । विदुषो वर्त्तमानदेहपातानन्तरं देहान्तरप्राप्ति-रस्ति न वेति । अत्र पूर्वपक्षे वसिष्ठादिनिष्ठब्रह्मविद्याया इवेतरवि-द्वन्निष्ठब्रह्मविद्याया अपि मोक्षहेतुत्वाभावेनैश्वर्यादिफलप्राप्त्यर्थं देहान्ते-रप्राप्तिरस्त्येवेति निर्गुणविद्यायामपि मार्गोपसंहार इति फलं सिद्धान्ते त्वपान्तरतमः प्रभृतीनामाधिकारिकाणां वेदप्रवर्तनादिषु लोकव्यवस्था-हेतुष्वधिकारेषु परमात्मना नियुक्तानां यावदधिकारमवस्थितिर्यावत्प्रा-रब्धकर्मावस्थितिस्तस्य प्रारब्धकर्मणः प्रतिबन्धकस्यानेकशरीरभोग्यफ-लहेतोस्तस्य फलस्य भोगेन नाशे प्रतिबन्धकान्तराभावात् । अनादौ

(दी० १) रणस्य नियामकस्य विरोधे कुतोऽनियम इत्यत आह-अविरोधः । न विरोधः प्रकरणेन । कुतः । शब्दानुमानाभ्याम् । शब्दः श्रुतिः ‘ ये चेमेऽ-रण्ये श्रद्धा तप इत्युपासते ’ इत्यविशेषेण गतिमाह । अनुमानं स्मृतिः-‘ शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः ’ इत्यादिका ॥ ३१ ॥

पूर्वाधिकरणे सगुणविद्यासु गतिः सर्वत्रोक्ता ततः पूर्वं निर्गुणासु नेत्युक्तं सोऽयं नियमोऽनुपपन्न उत्पन्नज्ञानानामपि व्यासादीनां शरीरै-श्वर्यादिदर्शनात्ततो न निर्गुणज्ञानेन विदेहकैवल्यं न सगुणेन क्रममुक्ति-



(ब्र० व० १) संसारे संचितकर्मणां च ज्ञाननाशयत्वेनाप्रतिबन्धकत्वादप्रतिबद्धः साक्षात्कारो वर्तमानदेहपातानन्तरं कैवल्यं संपादयतीति न देहान्तरप्राप्तिरप्रतिबद्धसाक्षात्कारवतः । तथैव श्रुतिः ‘तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये’ [ छा० ६ । १४ । २ ] इत्यप्रतिबद्धसाक्षात्कारवतो वर्तमानदेहपातावधिं कैवल्यस्य श्रावयति । तथा च न विदुषो मार्गापेक्षेति न मार्गस्य निर्गुणविद्यायामुपसंहार इति सिद्धम् ॥ ३२ ॥

(आत्मस्वरूपलक्षणां निषेधानां परस्परपसंहर्तव्यत्वम्, अधि० २०)

अक्षरधियां त्वरोधः सामान्यतद्भा-

वाभ्यामौपसदवत्तदुक्तम् ॥ ३३ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते याज्ञवल्क्यस्य गार्गीं स्त्रियं प्रत्युत्तरम्—‘एतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घम्’ [ बृ० ३ । ८ । ८ ] इत्यादि । एवमार्थवर्णेऽपि ‘अक्षरमधिगम्यते’ इत्यक्षरब्रह्मोपक्रम्य श्रावयति—‘यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुः’ [ मु० १ । १ । ६ ] इत्यादि । एवं तत्र तत्र निर्गुणब्रह्मप्रमित्यर्था निषेधाः श्रूयन्ते । तत्र संशयः—कचिन्निषेधश्रुतावश्रुतनिषेधानां श्रुत्यन्तरादुपसंहारोऽस्ति न वेति । तत्र यथा पूर्वमाधिकारिकाणां वसिष्ठादीनां प्रारब्धकर्मण एव देहान्तरसंबन्धसिद्धेर्न संचितकर्मणो देहान्तरसंबन्धहेतुत्वमित्युक्तं तथेहापि तत्तद्वाक्योक्तैरेव निषेधैरुपलक्षणतया सर्वद्वैतनिषेधसिद्धेर्न शास्त्रान्तरीयनिषेधानां तत्र ब्रह्मप्रमितिहेतुत्वमित्यनुपसंहार इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । अक्षरे धर्मिणि द्वैतनिषेधधियोऽक्षरधिय-

(दी० १) रित्याक्षिप्य समाधत्ते—यावदिति । आधिकारिकाणां परमेश्वरनियोगे वर्तमानानां व्यासादीनामारब्धफलेन कर्मणा कल्पभोग्येनावस्थितिः शरीरादेरवस्थानम् । न तु ब्रह्मज्ञानस्य पाक्षिकफलत्वेनाफलत्वेन वा । तर्हि कियन्ते कालमित्यत आह—यावदधिकारम् । अधिकारकर्म यावत्तावदेव न तूपरिष्ठात् ॥ ३२ ॥

पूर्वाधिकरण आधिकारिकाणां प्रारब्धकर्मण एव शरीरान्तरसंभवाच्च कर्मान्तरस्य निमित्ततेत्युक्तम् । एवमिहापि तत्तत्प्रकरणपठितनिषे-

(ब० व० ।) स्तासां सर्वत्र निषेधप्रकरणेष्ववरोध उपसंहारो न्याय्यः । कुतः । सामान्यतद्भावाभ्याम् । द्वैतप्रपञ्चनिरासेन ब्रह्मप्रतिपादनस्य सर्वत्र समानत्वात्तस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यस्य सर्वत्र भावादेकत्वेन प्रत्यभिज्ञायमानत्वाच्च तच्छेषाणां निषेधशब्दप्रत्ययानां सर्वत्रोपसंहार इत्यर्थः । औपसदवत् । तथा हि यजुर्वेदे जमदग्निः पुष्टिकामश्चतूरात्रेणायजतेत्युत्पन्ने जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिन्य उपसदो भवन्तीति पुरोडाशयुक्तासूपसत्स्विष्टिषूपदिष्टासु पुरोडाशप्रदानकमन्त्राणामुद्गातृवेदोत्पन्नानाम् ‘अग्नेर्वर्होत्रं वेरध्वरम्’ [ताण्ड्य० २१ । १० । ११] इत्यादीनामुद्गात्रा प्रयोगे प्राप्तेऽध्वर्युकर्तृके पुरोडाशप्रदाने तेषां मन्त्राणां विनियोगाद्विनियोगविधेश्च सार्थक्यसंपादकस्य स्वरूपमात्रबोधकोत्पत्तिविध्यपेक्षया मुख्यत्वान्मुख्यानुरोधेनाध्वर्युणैव प्रयोगो न गौणोत्पत्तिविध्यनुरोधेनोद्गात्रा प्रयोग इति । यथाऽध्वर्युकर्तृकपुरोडाशशेषाणां मन्त्राणां यत्र क्वचिच्छ्रुतानामप्यध्वर्युणा संबन्ध एवमक्षरप्रमितिशेषाणां निषेधानां यत्र क्वचिच्छ्रुतानामप्यक्षरेण सर्वत्र संबन्ध इत्यर्थः । अस्मिन्नेवार्थ उदाहरणान्तरविवक्षया जैमिनिसूत्रमुदाहरति—तदुक्तमिति । ‘गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः’ [जै० ३ । ३ । २।९] इति ‘य एवं विद्वान्वारवन्तीयं गायति’ ‘य एवं विद्वान्यज्ञायज्ञीयं गायति’ ‘य एवं विद्वान्वामदेव्यं गायति’ इति यजुर्वेद एव सामानि विहितानि विषयः । वारवन्तपदयुक्तं साम वारवन्तीयम् । एवमग्रेऽपि । उच्चैः साम्नोपांशु यजुषेति सामयजुषोः स्वरभेदोऽस्ति तत्र

(दी० ।) धत एवोपलक्षणतया सर्वत्र प्रपञ्चनिषेधसिद्धेर्न शाखान्तरीयनिषेधानां शाखान्तरे ब्रह्मप्रमिति रिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अक्षरधियामिति । अक्षरधियामस्थूलत्वादिबुद्धीनां चान्यत्रानुक्तानामन्यत्रावरोधः स्वीकारः स्यात् । कुतः । विशेषधर्मनिराकरणस्य सामान्यं तस्य ब्रह्मणः प्रतिपाद्यस्यैकस्य भावः सत्त्वं च सर्वत्र ताभ्याम् । ‘औपसदवत्’ इति निदर्शनम् । यथा जामदग्न्येऽहीने पुरोडाशिनीषूपसत्सु चोदितासु पुरोडाशप्रदानमन्त्राणाम् । ‘अग्नेर्वर्होत्रं वेरध्वरम्’ इत्येवमादीनामुद्गातृवेदोत्पन्नानामध्वर्युभिः संबन्धो भवत्यध्वर्युकर्तृकत्वात्पुरोडाशप्रदानस्य प्रधानतन्त्रत्वाच्चाङ्गानामेवमिहाप्यक्षरतन्त्रत्वात्तत्तद्विशेषणानां यत्र क्वचि-

(ब० व० १) संशयः । किमेतानि सामानि सामवेदीत्पन्नत्वात्तदीयेनोच्चैः स्वरेणाऽऽधाने प्रयोक्तव्यान्युत येन यजुर्वेदेन विनियुज्यन्ते तदीयेनोपांशुस्वरेणेति । तत्रोत्पत्तिविधिबलादुच्चैः स्वरेण प्रयोगे प्राप्ते सिद्धान्तो गुणमुख्येति । गुणमुख्ययोरुत्पत्तिविनियोगविध्योर्व्यतिक्रमे स्वरविषये विरोधे मुख्येन विनियोगविधिना वारवन्तीयादेर्वेदस्य संयोगो ग्राह्यः । साम्नां विनियोजकवेदस्वरसंयोग इति यावत् । कुतः । तदर्थत्वात् । उत्पत्तिविधेर्विनियोगार्थत्वादित्यर्थः । एतत्समानन्यायत्वेनौपसदमन्त्राः पूर्वमुदाहृता इति मन्तव्यम् ॥ ३३ ॥

( ऋतं पिबन्ताविति द्वा सुपर्णाविति च मन्त्रयोर्वेद्यैकत्वम्, अधि० २१ )

इयदामननात् ॥ ३४ ॥

‘ द्वा सुपर्णा सयुजा ’ [ मु० ३ । १ । १ ] [ श्वे० ४ । ६ ] इत्यादि-मन्त्र आथर्वणादौ श्रूयते । काठकेऽपि ‘ ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ’ [ क० १ । ३ । १ ] इत्यादि श्रूयते । तत्र संशयः । किमनयोर्मन्त्रयोर्विद्याभेद उत विद्यैक्यमिति । पूर्वपक्षे विद्याभेदादन्योन्यं गुणानुपसंहारः फलं सिद्धान्ते विद्यैक्यादुपसंहार इति । तत्र पूर्वं वेद्यस्याक्षरस्याभिन्नत्वेन विद्यैक्यादक्षरधियामुपसंहार उक्त-

(दी०) दुत्पन्नानामक्षरेण सर्वत्राभिसंबन्ध इत्यर्थः । तदुक्तं प्रथमकाण्डे— ‘ गुणमुख्यव्यतिक्रमे तदर्थत्वान्मुख्येन वेदसंयोगः ’ इत्यत्र । अत्र शाबरमुदाहरणम्— वारवन्तीयादिसाम्नां यजुर्वेदविनियोगस्य श्रवणात् । ‘ उच्चैः साम्नाः ’ इत्युत्पत्तिविधेर्गुणत्वात् ‘ उपांशु यजुषा ’ इति विनियोगविधेर्मुख्यत्वात्तयोर्व्यतिक्रमे विरोधे तदर्थत्वाद्विनियोगविधेयत्वादुत्पत्तिविरोधे मुख्येन यजुष उपांशुस्वरेण वेदस्य वारवन्तीयादिसाम्नः संयोगसंबन्ध इति योज्यम् । पूर्वं तु शांकरमुदाहरणमतिरोहितं तु ॥ ३३ ॥

पूर्वाधिकरणे प्रतिपाद्यब्रह्मैक्यप्रत्यभिज्ञानाद्विद्यैक्यमक्षरधियामुपसंहार उक्तः । इह तु प्रतिपाद्यभेदाद्विद्याभेद इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य

(ब० व० १) स्तर्हि प्रकृते 'द्वा सुपर्णा' इति मन्त्र एकस्यैव भोक्तृत्वम् 'ऋतं पिबन्तौ' इत्यत्रोभयोरपि भोक्तृत्वं श्रूयत इत्युभयत्र वेद्यभेदाद्विद्याया भेद इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूमः । मन्त्रद्वये विद्यैक्यमेव । कुतः । इय-  
त्तावच्छिन्नस्य द्वित्वावच्छिन्नस्य वेद्यस्योभयत्राप्यभिन्नत्वेनाऽऽमनना-  
दित्यर्थः । अत्र हि मन्त्रद्वये भोक्तृजीवानुवादेन परमात्माभेदः प्रति-  
पाद्यः पिबन्ताविति प्रयोगस्तु भोक्तृजीवसाहचर्यादभोक्तरीश्वरे छत्रिणो  
गच्छन्तीतिवदुपपद्यत इत्युक्तं गुहाधिकरणे । तथा च प्रतिपाद्यैक्यान्नि-  
गुणविद्यैक्यमित्यविरोधः ॥ ३४ ॥

( एकशाखास्थयोरुपस्तकहोलयोर्ब्राह्मणयोर्विद्यैक्यप्रतिपादनम् ,  
अधि० २२ )

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३५ ॥

बृहदारण्यक उपस्तो याज्ञवल्क्यं पप्रच्छ 'यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म'  
'य आत्मा सर्वान्तरस्तं मे व्याचक्ष्व' [बृ० ३।४।१] इति ।  
स्वतोऽपरोक्षं ब्रह्मैव प्रत्यगात्मेत्याह—य आत्मेति । एतत्प्रश्नोत्तरे 'यः  
प्राणेन प्राणिति स त आत्मा सर्वान्तरः' [बृ० ३।४।१] इत्या-  
दिना कार्यकारणरहित आत्मा प्रतिपादितः । एवमेव तदनन्तरब्राह्मणे  
पूर्ववत्कहोलप्रश्ने 'योऽशनायापिपासे शोकं मोहं जरां मृत्युमत्येति'  
[बृ० ३।५।१] इत्यशनायाद्यतीत आत्मा प्रतिपादितः । तत्र संशयः ।  
किमनयोर्ब्राह्मणयोर्विद्याभेद उत विद्यैक्यमिति । फलं पूर्ववत् । पूर्वं  
पिबन्तावित्यस्य पदस्य लाक्षणिकत्वेन वेद्याभेदाद्विद्यैक्यमुक्तमिह तु

(दी०) समाधत्ते—इयदिति । द्वा सुपर्णेत्यत्र ऋतं पिबन्तावित्यत्र च विद्याया  
ऐक्यम् । कुतः । इयत्तापरिच्छिन्नस्य द्वित्वसंख्योपदेशस्योभयत्राऽऽ-  
मननात् ॥ ३४ ॥

पूर्वाधिकरणे पिबन्तावित्यस्य लाक्षणिकत्वमुपादाय मन्त्रद्वयेऽपि  
भोक्तृपरत्वेनार्थैक्याद्विद्यैक्यमुक्तमिहार्थैक्येऽपि न विद्यैक्यमिति रूपा-  
भेदमभ्यासेन प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अन्तरेति । उपस्तक-  
होलब्राह्मणयोर्विद्यैकत्वम् । कुतः । स्वात्मनोऽन्तरा सर्वान्तरत्वेनोभयत्र

(ब्र० व० १) वेद्यैक्येऽपि न विद्यैक्यं समिधो यजतीत्यादौ यजत्यभ्यासवत्पकृत आत्माभ्यासाद्विद्याया भेदासिद्धेरिति मुख्यः पूर्वपक्षः । एकत्र कार्यादिरहितात्मन उपास्यत्वादन्यत्राशनायाद्यतीतात्मन उपास्यत्वादुभयत्र वेद्यभेदाद्विद्याभेद इति गौणः पूर्वपक्षः । तत्र गौणं पक्षं दूषयति—अन्तरेति । पूर्वसूत्रस्थस्याऽऽत्मननादिति पदस्यानुषङ्गः । ब्राह्मणद्वयेऽपि स्वात्मनः सर्वान्तरत्वामननाद्वेद्यस्याऽऽत्मन एकत्वमेवोभयोरेकस्मिन्देहे सर्वान्तरत्वायोगात् । भूतग्रामवत् । यथा भूतसमूहात्मकस्थूलदेहे पृथिव्यपेक्षया जलमान्तरं जलापेक्षया तेज इत्यादिक्रमेणापेक्षितं भूतानामान्तरत्वं न मुख्यं सर्वान्तरत्वं तद्वद्ब्राह्मणद्वये वेद्यभेदाङ्गीकारे वेद्यात्मद्वयस्यापि \*स्यादित्यर्थः । यद्वा भूतग्रामवदिति श्रुत्यन्तरदृष्टान्तार्थम् । यथा—‘एको देवः सर्वभूतेषु गूढः’ [ श्वे० ६।११ ] इत्यादिश्रुत्यन्तरे सर्वेषु भूतग्रामेषु सर्वान्तर एक एवाऽऽत्माऽऽम्नायते तद्वदनयोर्ब्राह्मणयोरित्यर्थः । तथा च वेद्यैक्याद्विद्यैक्यं सिद्धम् ॥ ३५ ॥

मुख्यपक्षमनूद्य दूषयति—

अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३६ ॥

अन्यथा विद्याभेदानङ्गीकार आम्नानभेदस्याभ्यासस्यानुपपत्तिः प्रयोजनाभावादिति चेन्न । उपदेशान्तरवदभ्यासस्योपपत्तेरित्यर्थः । तथा हि च्छान्दोग्ये ‘तत्त्वमसि’ [ छा० ६।८।७ ] इत्युपदेशे नवकृत्वोऽभ्यस्यमानेऽपि न विद्या भिद्यत उपक्रमोपसंहारयोरविशेषात् । तद्वद्ब्राह्मणद्वयेऽपि प्रश्नरूपेणोपक्रमस्य ‘अतोऽन्यदार्तम्’ [ बृ० ३।४।२ ] इत्युपसंहारस्य चाविशेषाद्द्वितीयप्रश्ने ‘यदेव साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म’

( दी० । ) पाठादिति शेषः । भूतग्रामवदिति निदर्शनं व्यतिरेके । यथा भूतग्रामस्य पृथिव्यादेर्न सर्वान्तरत्वं तद्वदात्मनो वाऽऽम्नाने सर्वान्तरत्वं न स्यादेकस्यान्वये तु यथा ‘एको देवः’ इत्यादौ सर्वान्तरत्वमेकस्य तद्वत् ॥ ३५ ॥

अन्यथेति । अन्यथा विद्यैकत्व आम्नानभेदानुपपत्तिरिति चेत्तन्न ।

\* ख. आन्तरवमत्वम् ।

(ब्र० व० १) [ बृ० ३ । ५ । १ ] इत्येवकारेण विद्याभेदनिरासाच्च न विद्याभेदः । अभ्यासस्याऽऽदरार्थत्वेनाशनायाद्यतीतत्वादिविशेषप्रतिपादनार्थत्वेन वोपपत्तेरिति ॥ ३६ ॥

( उपासनार्थं पृथक्त्वेनोपास्यस्य द्वैधज्ञानम्, अधि० २३ )

व्यतिहारो विशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३७ ॥

ऐतरेयिण आदित्यपुरुषमधिकृत्य समामनन्ति— ‘तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्’ [ ऐ० आ० २ । २ । ४ । ६ ] इति । तथैव जाबाला अपि ‘ त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि ’ इति । तत्र संशयः । किमात्मन ईश्वरेणैकत्वविषयमेकरूपमेव चिन्तनं विधीयत उत जीवेश्वरयोरन्योन्यानुवादेनान्योन्यात्मकरूपव्यतिहारेणोभयविषयं चिन्तनमिति । अत्र पूर्वपक्षे मतेरेकरूपत्वाद्वाधवं सिद्धान्ते मतेरुभयरूपत्वाद्वाङ्गीकारेण व्यतिहारसार्थक्यमिति भेदः । तत्राभ्यासस्याऽऽदरार्थत्वव्यतिहारोपदेशस्याप्यादरार्थत्वात्तदनुरोधेन न चिन्तनस्योभयरूपत्वं किं त्वेकरूपत्वमेवेति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । व्यतिहार एवात्रोपास्यत्वेनोपदिश्यते न त्वात्मन ईश्वरेणैकत्वमात्रमितरवत् । यथेतरे सर्वात्मत्वादयो गुणा उपास्यत्वेनोपदिश्यन्ते तद्वत् । प्रतिज्ञातेऽर्थे हेतुः—विशिषन्ति हीति । समाम्नातारो जीवपरमात्मानौ व्यतिहारेण विशिषन्ति तद्योऽहमित्यादिना । तच्च व्यतिहारेण विशेषणं व्यतिहारस्योपास्यत्वे सार्थकं स्यात् । अन्यथा जीवस्येश्वरेणैकत्वमात्रस्योपास्यत्वे तत्प्रतिपादकश्रुत्यंशस्यैवार्थवत्त्वं न त्वीश्वरस्य जीवेनैकत्वप्रतिपादकांशस्येति । तस्मादुभयांशसार्थक्यायोभयरूपं चिन्तनं विधेयमिति सिद्धम् । पूर्वसूत्र उपदेशान्तरवदिति दृष्टान्तत्वेन तत्त्वमसीत्येकवाक्यकथनप्रसङ्गेनैकत्ववाक्यस्य तद्योऽहमित्यादेर्विचारात्प्रासङ्गिकी पादसंगतिर्बोद्ध्या । यद्वाऽस्यामहंग्रहोपास्तौ व्यतिहारस्यानुपास्यत्वान्न सर्व-

(टी० १) यथा ताण्डिनाम् ‘तत्त्वमसि’ इति नष्टकृत्व उपदेशभेदो विद्यैक्ये तद्वदत्रापि स्यात् ॥ ३६ ॥

पूर्वाधिकरणेऽभ्यास आदरार्थ उक्त उत्तरत्रापि तथेत्याक्षिप्य समाधत्ते—व्यतिहार इति । ‘तद्योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम्’ इत्यादावीश्वरबुद्धिरिति व्यतिहारेण बुद्धिद्वयं करणीयम् । अनेकबुद्धिकरणे निद-

( ब० व० १ ) ब्राह्मग्रहोपास्तौ तस्य व्यतिहारस्योपसंहार इति पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते तस्योपास्यत्वात्सर्वत्रोपसंहार इति साक्षादेव पादसंगतिः ॥ ३७ ॥

( सत्यविद्याया एकत्वप्रतिपादनम्, अधि० २४ )

सैव हि सत्यादयः ॥ ३८ ॥

वाजसनयके हृदयाख्यं हिरण्यगर्भं प्रस्तुत्य 'स यो हैतन्महद्यक्षं प्रथमजं वेद सत्यं ब्रह्मेति जयतीमाँलोकान्' [ बृ० ५ । ४ । १ ] इति सत्यविद्यां विधाय तदङ्गत्वेन 'तदेतद्व्यक्षरं सत्यमिति स इत्येकमक्षरं तीत्येकमक्षरं यमित्येकमक्षरं प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं मध्यतोऽनृतं तदेतदनृतमुभयतः सत्येन परिगृहीतं सत्यभूयमेव भवति' [ बृ० ५ । ५ । १ ] इति सत्यनामाक्षराणामुपासनमुक्त्वाऽनन्तरं श्रावयति—'तद्यत्तत्सत्यमसौ स आदित्यो य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषो यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' [ बृ० ५ । ५ । २ ] इत्यादि । अयमर्थः—हृदशब्द उपास्यप्रसिद्ध्यर्थः । एतदिति हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्मोपास्यं परामृशति । महद्वापकं यक्षं पूज्यं प्रथमजं भौतिकापेक्षयेति शेषः । वेदनप्रकारमाह—सत्यं ब्रह्मेति । सच्च त्यच्चेति सत्यं पञ्चभूतात्मकं हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म यो वेदोपास्ते स इमाँल्लोकाञ्जयतीत्यर्थः । तीत्येकमक्षरमित्यत्र तकारोपरितन ईकार उच्चारणार्थः । निरुक्तस्तकारो बोध्यः । अत्र हि प्रथमोत्तमे अक्षरे सत्यं सृत्युसाम्यामावात् । मध्यतो मध्यस्थमक्षरमनृतं सृत्युर्मुत्पन्नृतयोस्तकारसाम्यात् । तदेतदनृतं सृत्युरुपमुभयतः सत्येन परिगृहीतमन्तर्भावितमतोऽकिञ्चित्करं तत्सत्यभूयं सत्यबाहुल्यमेव भवतीत्यर्थः । तत्तत्र हृदयात्मकत्वे सत्यात्मकत्वे च ब्रह्मणः सिद्ध इत्यर्थः । यत्तत्सत्यमित्यादिकं 'संबन्धादेवमन्यत्रापि' [ ब० सू० ३ । ३ । २० ] इत्यधिकरणे व्याख्यातम् । तत्र संशयः । किं

(दी० १) ईशानमितरवत् । यथा सर्वात्मादिबुद्धिः क्रियते तद्वत् । कुतः । हि यस्मात् 'त्वं वा अहमस्मि अहं वै त्वमसि' इति विशिषन्ति समानातारः ॥ ३७ ॥

पूर्वाधिकरणे जीवब्रह्मणोरितरेतरात्मत्वं निर्देशभेदाद्विरूपा मतिः कर्तव्येत्युक्तमेवमिहापि जयतीमाँल्लोकानिति हस्ति पाप्मानमिति च फलमेव निर्देशाद्विद्याभेद इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सैव हीति ।

(ब० व० १) 'तद्यत्तसत्यमसौ स आदित्यः' [बृ० ५।५।५] इत्यादिना श्रुता विद्या पूर्वं सत्यविद्यातो भिद्यते न वेति । पूर्वपक्षे विद्याभेदाद्गुणानुपसंहारः सिद्धान्ते तदुपसंहार इति बोध्यम् । तत्र पूर्वं जीवब्रह्मणोर्व्यतिहारोक्तिभेदाद्विद्याया द्विरूपत्वमुक्तं तद्वदिहापि सत्यविद्यायां लोकजयस्य फलत्वादनन्तरविद्यायां च 'हन्ति पाप्मानम्' [बृ० ५।५।३] इत्यादिना पापनिवृत्तेः फलत्वात्फलोक्तिभेदाद्विद्याभेद इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । इयमनन्तरविद्या सैव सत्यविद्यैव न ततो भिद्यते । कुतः । तद्यत्तसत्यमिति प्रकृत्यास्यैवोपास्यस्य हिरण्यगर्भस्याऽऽकर्षणादिति हिशब्दसूचितो हेतुर्बोध्यः । न हि वेद्याभेदे विद्याभेदो युक्तः । न च फलभेदाद्विद्याभेदः । सत्यविद्याप्रकरणे पठितस्य फलस्य सर्वस्यापि सत्यविद्याफलत्वादिति । तस्माद्विद्यैक्यात्पूर्वापरवाक्यस्थाः सर्वे सत्यादयो गुणा उपसंहर्तव्या इति सिद्धम् ॥ ३८ ॥

(दहराकाशहार्दाकाशयोरुपसंहर्तव्यत्वम्, अधि० २५)

कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः ॥ ३९ ॥

दहरविद्यायां दहराकाशमात्मानं प्रकृत्य च्छन्दोगा आमनन्ति— 'एष आत्माऽणहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः' [छा० ८।१।५] इत्यादि । तथा वाजसनेयिनोऽपि 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः' [बृ० ४।४।२२] इत्यादि । तत्र संशयः । किमन्योन्यं गुणोपसंहारोऽस्ति न वेति । तत्र पूर्वं वेद्याभेदेन विद्यैक्याद्गुणोपसंहार इत्युक्तं तर्हि प्रकृते छान्दोग्ये दहराकाशस्यैवोपास्यत्वाद्वाजसनेयक आकाशनिष्ठस्याऽऽत्मनो ज्ञेयत्वाद्देद्यभेदेन सगुणनिर्गुणविद्ययोर्भेदान्नो-

(टी० १) 'स यो हैतं महद्यक्षम्' इत्यादिना 'तद्यत्तसत्यमसौ स आदित्यः' इत्यादिना 'यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' इत्यादिना च योक्ता सैकैव । हि यस्मात्तत्सत्यमिति प्रकृताकर्षणात् । अतः सत्यादयः सर्वगुणा उभयत्रोपसंहर्तव्याः ॥ ३८ ॥

पूर्वाधिकरणे तद्यत्तसत्यमिति प्रकृताकर्षणेन रूपाभेदाद्गुणोपसंहार उक्तः । इह तु रूपभेदाद्गुणानुपसंहार इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समा-



(ब० व० १) पसंहार इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूमः । कामादि सत्यकामत्वादि गुणजातमितरत्र वाजसनेयक उपसंहर्तव्यम् । यच्च सर्ववशित्वादिकं तदपि तत्र च्छान्दोग्य उपसंहर्तव्यम् । कुतः । आयतनादिभ्यः । हृदयस्याऽऽयतनस्य ब्रह्मणश्चोपास्यस्य ब्रह्मणः सेतुत्वव्यपदेशस्य चोभयत्राविशेषादित्यर्थः । अयं भावः । दहराधिकरणे दहराकाशस्य ब्रह्मत्वसमर्थनाच्च वेद्यभेदः । ननु तथाऽपि सगुणनिर्गुणविद्ययोरनयोर्भेदो दुर्वार इति चेत्सत्यम् । अस्ति भेदः । कथं तर्हि गुणोपसंहार इति चेन्न ह्यत्रोपासनाय गुणोपसंहारं ब्रूमः किंतु विद्यास्तुत्यर्थं, स्तुत्यर्थगुणोपसंहारश्च विद्याभेदेऽपि संभवति स्तुतेरुभयत्राविशेषादिति ॥ ३९ ॥

( उपासकस्य भोजने प्राणाहुतिलोपापत्तिः, अधि० २६ )

आदरादलोपः ॥ ४० ॥

छान्दोग्ये वैश्वानरविद्यायां प्राणाग्निहोत्रं श्रूयते—‘ तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत्तद्धोमीयं स यां प्रथमामाहुतिं जुहुयात्तां जुहुयात्प्राणाय स्वाहा ’ [ छा० ५ । १९ । १ ] इत्यादिना । भक्तमन्नम् । जाबालश्रुतौ ‘ पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्रीयात् ’ इति वैश्वानरोपासकस्यातिथिभ्यः पूर्वं भोजनं विधायातिथिभोजनप्राथम्यनिन्दया पूर्वभोजनं स्तौति—‘ यथा ह वै स्वयमहुत्वाऽग्निहोत्रं परस्य जुहुयादेवं तत् ’ इति । यथा स्वाग्निहोत्राकरणेन पराग्निहोत्रकरणमयुक्तमेवं तदतिथिभ्यः पूर्वं भोजनदानमित्यर्थः । तत्र संशयः । किं भोजनलोपे प्राणाग्निहोत्रस्य लोप उतालोप इति । अलोपसिद्धिः पूर्वपक्षे फलं सिद्धान्ते तु लोपसिद्धिरिति । उपास्तिविचारप्रसङ्गेन तदङ्गपूर्वभोजनाश्रितप्राणाग्निहोत्रविचारादस्ति पादसंगतिः । उपास्तिलोपेऽपि स्तुत्यर्थत्वेन गुणोपसंहारवद्भोजनलोपेऽपि पूर्वभोजनस्तुत्युपपत्त्यर्थं प्राणाग्निहोत्रालोप इत्यवान्तरसंगतिः ।

(दी०) धत्ते-कामादीति । कामादि सत्यकामादि दहरविद्यायां श्रूयमाणमितरत्र ‘ योऽयं विज्ञानमयः ’ इत्यादि बृहदारण्यकोक्त उपसंहर्तव्यं तत्र च यद्वशित्वादिकं तदपि च्छान्दोग्योक्ते दहर उपसंहर्तव्यम् । कुतः । आयतनादिभ्यः । समानं ह्युभयत्र हृदयाद्यायतनत्वं तेभ्यः (तस्मात्) ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरण उपासनालोपेऽपि स्तुत्युपपत्त्यर्थवद्भोजनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रालोप इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिपति-आदरादिति । ‘ तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेत् ’ इत्यत्र भोजने सति भक्तेन प्राणाहुतीनां विधानाद्भो-

(ब० व० १) तत्र पूर्वपक्षसूत्रम् 'आदरादलोपः' इति । भोजनलोपेऽप्यग्निहोत्रस्यालोपः ॥ ४० ॥

पूर्वभोजनस्य प्राथम्यरूपधर्मलोपमसहमानया जाबालश्रुत्या प्राणाग्निहोत्र आदरकरणान्न हि धर्मलोपमसहमाना श्रुतिः प्राणाग्निहोत्रस्य धर्मिणो लोपं सहते तस्मान्भोजनलोपेऽप्यन्येन भक्ष्यद्रव्येण प्राणाग्निहोत्रं कर्तव्यमित्येवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ४१ ॥

भोजन उपस्थितेऽतोऽस्मादेव भोजनद्रव्यात्प्राणाग्निहोत्रं कर्तव्यम् । अनुपस्थिते भोजने प्राणाग्निहोत्रं न कर्तव्यमेव । कुतः । तद्वचनात् । 'तद्भोमीयम्' [ छा० ५।१९।१ ] इति वचनात् । संनिहितसाकाङ्क्षात् । तद्यद्भक्तं प्रथममागच्छेदित्यनेन संनिहितस्य भोजनार्थं प्राप्तद्रव्यस्य होमसाधनत्वप्रतीतेरित्यर्थः । तथा च भक्तागमनस्य भोजनप्रयुक्तस्य भोजनलोपे लोपाद्रव्यलोपेऽग्निहोत्रस्य लोप एव । आदरवचनं तु भोजनप्रसक्तिदशायां द्रष्टव्यम् ॥ ४१ ॥

( उद्गीथकर्माङ्गीभूतदेवतोपासनाया अनियतत्वम्, अधि० २७ )

तन्निर्धारणानियमस्तदुष्टेः पृथ-

गध्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ४२ ॥

सन्ति कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु प्राणाद्युपासनानि तानि किं पर्णतावत्कर्माङ्गाणि नित्यवदनुष्ठेयान्युत \*गोदोहनवत्स्वतन्त्रफलसाधनान्यनित्या-

(दी० १) जनलोपेऽपि प्राणाग्निहोत्रस्यालोपः । कुतः । पूर्वोऽतिथिभ्योऽश्रीयत् 'इत्यादेर्जाबालानामादरादिति पूर्वपक्षः ॥ ४० ॥

सिद्धान्तमाह—उपस्थित इति । पात्रं प्रत्यागतमुपस्थितं तद्भक्तं द्रव्यमतोऽस्मान्द्रक्तद्रव्यात्प्राणाग्निहोत्रस्य निष्पत्तिर्न त्वन्यस्मात्कस्माच्चित् । तद्यद्भक्तमित्यनेन तस्य भक्तस्याग्निहोत्रद्रव्यत्ववचनात् । अतो भोजनलोपे लोपोऽग्निहोत्रस्य ॥ ४१ ॥

पूर्वाधिकरणे नित्यभोजनाश्रितप्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्वमुक्तम् । एवं वेन्नित्याङ्गाश्रितोपासनानां नित्यत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—

(अ० ३०१) नीति संशयः । पूर्वोत्तरकोटिसिद्धिरेव पूर्वोत्तरपक्षयोः फलम् । उपासनाविचारात्मकत्वादस्य पादसंगतिः । अनित्यभोजनाङ्गाभित-  
प्राणाग्निहोत्रस्यानित्यत्ववन्नित्यकर्माङ्गाभितोपासनानां नित्यत्वमित्यवा-  
न्तरसंगतिः । तत्र 'यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति' [ तै० सं० ३।५।७२ ] ।  
कंचित्कृतुमनारभ्याधीतस्य पर्णमयीत्वस्याव्यभिचरितक्रतुसंबन्धिजुहूद्वारा  
क्रत्वङ्गत्ववदनारभ्याधीतानामुद्गीथाद्युपासनानामप्युद्गीथादिव्यापक-  
क्रत्वङ्गत्वमिति प्राप्ते ब्रूमः—तन्निर्धारणानियम इति । तेषां कर्माङ्गा-  
भितानां निर्धारणानामुपासनानामनियमो नित्यवदनुष्ठानाभावः ।  
कुतः । तद्दृष्टेः । तस्यानियमस्य श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । तथा  
हि—'तेनोमौ कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद' [ छा० १ ।  
१ । १० ] इत्यनुपासकस्यापि कर्मणि कर्तृत्वं वदन्ती श्रुतिरुपासनस्या-  
नियतत्वं दर्शयति । उपासनस्य पृथक्फलश्रवणादपि पशुप्राप्तिफलक-  
गोदोहनवन्न कर्माङ्गत्वमित्याह—पृथग्धीति । हि यतः पृथगप्रतिबन्धः  
कर्मणो वीर्यवत्तरत्वात्मकसमृद्धिरूपः फलमुपलभ्यतेऽतोऽपि न कर्मा-  
ङ्गत्वमुपासनस्येत्यर्थः । तथा ह्युपासनस्य पृथक्फलत्वे श्रुतिः—'तेनोमौ  
कुरुतो यश्चैतदेवं वेद यश्च न वेद । नाना तु विद्या चाविद्या च  
यदेव विद्याया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [ छा०  
१ । १ । १० ] इति । तेनोकारेणोभावपि कर्म कुरुतः । यश्चैतदोकारा-  
ख्यमक्षरमेवं रसतमत्वादिगुणकं वेद यश्च न वेद तावुभाविति संबन्धः ।  
एवमनभिप्रेतपक्षमुक्त्वा स्वाभिप्रेतमाह श्रुतिः—नाना त्विति । तुः पूर्व-  
पक्षनिरासार्थः । ओंकारमात्रज्ञानापेक्षया रसतमत्वादिगुणकोंकारज्ञानं  
नानैव पृथक्फलकं दृष्टो हि मणिविक्रये शबरवणिजोः सामान्यविशेष-  
ज्ञानाभ्यां फलभेदस्तस्माद्यदेव कर्म विद्ययोद्गीथादिविषयया श्रद्धयाऽऽ-  
स्तिक्यबुद्धयोपनिषदा तत्तद्देवताध्यानेन युक्तं करोति तदेव कर्म वीर्यव-  
त्तरं भवतीत्यर्थः । अनेन विद्याहीनं कर्म वीर्यवन्मात्रं विद्यासहितं तु  
वीर्यवत्तरमिति गम्यते । न हीदं विद्यायाः कर्माङ्गत्वे संभवत्यङ्गहीनस्य  
कर्मणो वीर्यवन्मात्रत्वस्य फलजनकत्वलक्षणस्यानुपपत्तेः । तस्मात्पर्ण-

(दी०) तन्निर्धारणेति । तेषां कर्मगुणयाथात्म्यनिर्धारणानामनियमः । कुतः ।  
तद्दृष्टेः । 'तेनोमौ कुरुतः' इत्यादिना दृष्टेरवगमात् । ननुमयोः करणे

(ब्र० ४०।) ताया अक्रियात्मकत्वेन क्रतुसंबन्धं विना स्वातन्त्र्येण फलसाधनत्वाभावेन विषमत्वाद्विद्यायाः क्रियात्मकत्वेन स्वातन्त्र्येण फलसाधनत्वसंभवाद्गोदोहनवत्स्वातन्त्र्यमेवेति सिद्धम् ॥ ४२ ॥

(संवर्गविद्योक्ताधिदैववाय्वध्यात्मप्राणयोरनुचिन्तनस्य पृथक्त्वम्, अधि० २८)

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ४३ ॥

बृहदारण्यके छान्दोग्ये च संवर्गविद्यायां वागादिभ्यः प्राणः श्रेष्ठोऽग्न्यादित्यादिदेवताभ्यः श्रेष्ठो वायुरित्यवधारितम् । तत्र संशयः किमस्यां विद्यायां वायुप्राणयोः प्रयोगैक्यमुत प्रयोगभेद इति । फलपादसंगती पूर्ववत् । पूर्वं फलभेदात्कर्माङ्गाणां तदाश्रितोपासनानां च नित्यत्वानित्यत्वलक्षणः प्रयोगभेद उक्तस्तर्हि प्रकृते वायुप्राप्तिलक्षणफलैक्याद्वायुप्राणयोः स्वरूपत एकत्वेन वेद्याभेदेन विद्यैक्याच्च प्रयोगैक्यमिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूमः । यथैकस्मिन्नग्निहोत्रे दधितण्डुलादिभिर्गुणैः प्रयोगभेद एवमेकस्यामपि विद्यायां वायुप्राणयोः स्वरूपाभेदेऽप्याधिदैविकत्वाध्यात्मिकत्वस्वरूपावस्थाभेदेन गुणभेदात्प्रयोगभेद इति प्रदानवदेवेदं द्रष्टव्यम् । तथा हि 'इन्द्राय राज्ञे पुरोडाशमेकादशकपालमिन्द्रायाधिराजायेन्द्राय स्वराज्ञे' [तै० सं० २।३।६।१] इति पुरोडाशत्रयवत्यामिष्टौ श्रुतायां किं त्रयाणां पुरोडाशानां सहप्र-

(दी०।) किमयमेव हेतुरित्यत आह—हि यस्मात्पृथक्फलमप्रतिबन्धोऽतिशयः 'यदेव विद्यया करोति' इत्यादिना श्रूयतेऽतः फलभूमार्थान्युपासनानि गोदोहनादिवत् ॥ ४२ ॥

पूर्वाधिकरणे फलभेदात्कर्माङ्गाणां नित्यरूपप्रयोजनभेद उक्तः । इह तु वायुप्राणयोश्चाभेदात्तत्प्राप्तिलक्षणफलैक्याच्चापासनप्रयोगैक्यमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—प्रदानवदिति । वाजसनेयके 'वदित्याभ्येवाहम्' इत्यादिना वागादिभ्यः प्राणोऽधिकोऽवधारितः । 'अध्यात्ममधिदैवं च ज्वलित्याभ्येवाहम्' इत्यादिनाऽग्न्यादिभ्यो वायुः । एवं छान्दोग्येऽपि संवर्गविद्यायां वायुप्राणावधारितौ विद्याया ऐक्यमपि ।

(ब० व० १) दानमुत प्रदानमेव इति विशये देवतैक्यात्सह प्रदाने प्राप्ते राजाधि-  
राजस्वराजगुणभेदेन तद्विशिष्टदेवताभेदात्पुरोडाशानां प्रदानस्य प्रक्षेपस्य  
भेद इति यथा तद्वत्प्रकृते वेद्यभेदात्प्रयोगभेद इत्यर्थः । तदुक्तं देवता-  
काण्डे ' नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात् ' इति । वाशब्दो देवतैक्यनिरा-  
सार्थः । नाना देवतेत्यत्र हेतुमाह—पृथगिति । उत्पत्तिवाक्य एव राजा-  
धिराजस्वराजगुणानां पृथग्ज्ञानात्तद्विशिष्टदेवतानां नानात्वं युक्त-  
मित्यर्थः ॥ ४३ ॥

( मनश्चिदादीनां स्वतन्त्रविद्यात्वस्वीकारः, अधि० २९ ]

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ४४ ॥

वाजसनेयिनोऽग्निहस्येनैव वा इदमुत्पत्तेः पूर्वं सदासीन्नाप्यसदित्युप-  
क्रम्य मनसः प्रादुर्भावमुक्त्वा तन्मन आत्मनोऽग्नीनपश्यदिति मनोऽधि-  
कृत्य पठन्ति—षट्त्रिंशत् सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोमयान्मन-  
श्चितः ' [ शत० ब्रा० १० । ५ । ३ । ३ ] इत्यादि । तथैव वाक्चितः  
प्राणचितश्चक्षुश्चितः श्रोत्रचितः कर्मचितोऽग्निचित इत्यन्यानग्नीनाम-  
नन्ति । अयमर्थः—पुरुषस्याऽऽयुष्टेन क्लृप्तशतवर्षाणामहोरात्राणि षट्त्रिं-  
शत्सहस्राणि, तैरवच्छिन्ना मनोवृत्तयोऽपि षट्त्रिंशत्सहस्राणि भवन्ति ।  
एकस्मिन्नहोरात्र उत्पन्नसर्वमनोवृत्तिष्वहोरात्रगतैकत्वारोपात् । ता एव  
तावत्संख्याका मनोवृत्तय इष्टिकात्वेनाग्नित्वेन च संपाद्यन्ते । षट्त्रिंश-  
त्सहस्राणीत्यादिना मन एव स्ववृत्तिरूपानग्नीनर्कानिर्णयन्त एव

(दी० १) तत्रैतौ वायुप्राणौ भिन्नस्वरूपौ न तु विद्याभेदे (दः) यथैकस्मिन्न-  
ग्निहोत्रे सायंप्रातः प्रवृत्तिभेद इत्येतस्मिन्नर्थे निदर्शनं प्रदानवत् । यथा  
त्रिपुरोडाशिन्यामिष्टौ 'इन्द्राय राज इन्द्रायाधिराजायेन्द्राय सुराज्ञे'  
इत्यत्र राजादिरूपभेदात्पृथक्प्रदानं तद्वद्वायुप्राणयोरपि भेदः । तदुक्तं  
पूर्वस्यां मीमांसायां संकर्षे—नाना वा देवता पृथग्ज्ञानात् । संकर्षः सर्व-  
षामधिगमयन्नवद्यतीत्यस्मादेकहेलया परित्यागः प्राप्तस्तं परित्यागं  
वाशब्दो वारयति । कुतः । पृथग्ज्ञानाद्वाग्वादिगुणानाम् ॥ ४३ ॥

पूर्वाधिकरण एकप्रयोगासंभवाद्वायुप्राणौ भेदेन नेयावित्युक्त-  
मिह तु मनश्चिदादीनां कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगाङ्गत्वमिति प्रत्युदाह-

(ब्र०व०।)मनोविकारान्मनश्चितो मनसा चीयन्ते संपाद्यन्त इति मनश्चित-  
स्तानपश्यदित्यर्थः । एवमेव वागादयोऽपि स्वस्ववृत्तीरग्नित्वेनापश्यन्निति  
प्रतीन्द्रियवृत्त्येकैकमग्निचयनं संपाद्यं प्राणो घ्राणम् । कर्मपदमनुक्तकर्म-  
न्द्रियपरम् । एतेऽग्नयः कर्मप्रकरणे पठिताः । तत्र संशयः । किमेते मनश्चि-  
दादयोऽग्नयः कर्माङ्गभूता उत स्वतन्त्रा इति । पादसंगतिफले पूर्ववत् ।  
पूर्वमेकप्रयोगायोगाद्यायुप्राणयोः प्रयोगभेद इत्युक्तं तर्हि मनश्चिदादीनां  
प्रकरणात्कर्माङ्गत्वेनैकप्रयोगसंभवात्प्रयोगैक्यमिति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते  
ब्रूमः । सिद्धान्तमुपक्रमते—लिङ्गेति । मनश्चिदादयोऽग्नयः स्वतन्त्रा एव ।  
कुतः । लिङ्गभूयस्त्वात् । स्वातन्त्र्यज्ञापकलिङ्गानां भूयसां सत्त्वादित्यर्थः ।  
तथा हि 'यत्किंचेमानि भूतानि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेव सा  
कृतिः' [श० ब्रा० १० । ५ । ३ । ३] इति 'तान्हैतानेवंविदे सर्वदा  
सर्वाणि भूतानि चिन्वन्त्यपि स्वपते' [श० ब्रा० १० । ५ । ३ । १२]  
इत्यादीनि लिङ्गानि सन्ति । अयमर्थः—सर्वाण्यपि भूतानि जन्तवो  
यत्किमपि मनसा संकल्पयन्ति तेषामेवाग्नीनां सा कृतिः संपादन्  
सर्वजन्तुमनआदिवृत्तीनामग्नित्वेन ध्येयत्वादित्येकं लिङ्गं न हि यत्किं  
चित्कर्माङ्गं संभवतीत्येवंविदे स्वपते जाग्रतेऽपि सर्वदा सर्वाणि भूतानि  
तानेतानग्नींश्चिन्वन्तीति लिङ्गान्तरं न हि कर्माङ्गं सर्वदाऽनुष्ठीयमान-  
दृष्टं कालविशेष एव तद्विधानादिति । तद्धि लिङ्गं प्रकरणाद्वलीयस्तदा  
बलीयस्त्वमप्युक्तं पूर्वकाण्डे 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यान  
समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' [जै० ३ । ३ । ७ । १४] इति  
एतत्सूत्रार्थो विस्तरेण वाचस्पतिमिश्रैरेतत्पादादौ वेधाधिकरणे वर्णित-  
इतीह विस्तरभयान्नोच्यत इति ॥ ४४ ॥

(दी०।) रणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—लिङ्गभूयस्त्वादिति । वाजसनेयकेऽग्निर-  
हस्ये मनोऽधिकृत्य 'षट्त्रिंशतं सहस्राण्यपश्यदात्मनोऽग्नीनर्कान्मनोम-  
यान्मनश्चितः' इत्यादिनाऽऽम्नाता अग्नयः स्वतन्त्रा न क्रियानुप्रवेशिनः  
कुतः । तद्यत्किंचेत्यादेर्लिङ्गस्य भूयस्त्वादधिकत्वात् । सन्ति लिङ्गानि त-  
थाऽप्यग्नेः प्रकरणात्कर्मानुप्रवेशिन इत्यत आह—तद्धि बलीयः । हि यस्मा-  
त्तलिङ्गं प्रकरणाद्वलीयः । तदप्युक्तं पूर्वस्मिन्काण्डे—'श्रुतिलिङ्गवाक्य  
प्रकरणस्थानसमाख्यानं समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्' इति ॥४४॥

(ब० व० १) सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रिया मानसवत् ॥ ४५ ॥

संकल्पात्मका मनश्चिदादयोऽग्नयो न स्वतन्त्राः किंत्विष्टिकाभिरग्निं चिनुत इति प्रकृतस्य पूर्वस्य क्रियामयस्याग्नेरयं विकल्पः । संकल्पात्मकोऽग्निः । प्रकरणात्स्यात् । न लिङ्गादग्नीनां स्वातन्त्र्यं प्रकृते तूक्तलिङ्गस्याऽऽर्थवादिकार्थदर्शनलक्षणस्यार्थवादस्थत्वेन विहितमानसिकाग्निस्तुतिपरत्वेन विध्येकवाक्यतया स्वार्थपरत्वाभावात् । सिद्धे हि स्वार्थे तद्दर्शनं लिङ्गमग्नीनां स्वातन्त्र्यं गमयेत् । नह्यस्ति स्वार्थसिद्धिस्तस्मात्क्रियानुप्रवेशिन एवैते मानसिकाग्रय एतेन सौत्रं क्रियापदं व्याख्यातम् । मानसवत् । तथा हि द्वादशाहे श्रूयते—‘अनया त्वा पात्रेण समुद्ररसया प्राजापत्यं मनोग्रहं गृह्णामि’ इति । त्वा त्वां समुद्रमनया रसया पृथिव्या पात्रेण प्रजापतिदेवताकं मनोग्रहं ध्यानमयग्रहमापाद्यं गृह्णामीत्यर्थः । तत्र किमिदं मानसं द्वादशाहादहरन्तरमुत तन्मध्यपातिनो दशमस्याहोऽङ्गमिति संदेहे वाग्वै द्वादशाहो मनो मानसमिति भेदव्यपदेशादहरन्तरमिति प्राप्ते मानसस्याहरन्तरत्वे मानाभावाद्भेदव्यपदेशस्याङ्गाङ्गिभावेनाप्युपपत्तेरहरन्तरत्वे द्वादशाहसंज्ञाया गौणत्वप्रसङ्गान्मुख्ये संभवति गौणत्वायोगाद्द्वादशाहमध्यपातिनो दशमस्याहोऽङ्गं मानसमिति यथा तथेमे मानसिकाग्रयः प्रकृतकर्मशेषा इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

(दी० १) एकद्वित्रिचतुःपञ्चक्षणविलम्बात्परस्य परस्य दौर्बल्यं पूर्वस्य पूर्वस्य प्राबल्यमित्यभक्षपति पूर्ववादी—पूर्वविकल्प इति । मनश्चिदादयः क्रियैव स्यात् । कथम् । पूर्वास्मिन्क्रियामयेऽग्नौ विकल्पो विशेषोऽभिधीयते यतः । तदपि कुतः । क्रियामयस्याग्नेः प्रकरणात् । विरूपस्य तत्प्रकरणात्क्रियारूपत्वं क्व दृष्टमित्यत आह—मानसवत् । यथा दशरात्रस्य दशमेऽह्न्यपि वाक्ये पृथिव्याः पात्रेण समुद्रस्य सोमस्य प्रजापतये देवतायै गृह्यमाणस्य ग्रहणासादनहवनाहरणोपह्वानमक्षणानि मानसान्येवाऽऽग्नयन्ते । स च मानसोऽपि ग्रहकल्पः क्रियाप्रकरणात्क्रियाशेष एवमयमप्यग्निकल्प इत्यर्थः ॥ ४५ ॥

अतिदेशाच्च ॥ ४६ ॥

(ब० व० १) मानसिकाग्नीनां मध्य एकैकोऽग्निस्तावान्यावानसौ पूर्वं इति पूर्वेणैष्टिकाचितेनाग्निना मानसिकाग्नीनां सादृश्यापदेशाच्च । तच्छेषत्वमेकक्रियानुप्रवेशातिरिक्तसादृश्याभावादित्यर्थः ॥ ४६ ॥

सिद्धान्तयति—

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

तुरुक्तपक्षनिरासार्थः । विद्यात्मका एते मनश्चिदादयः स्वतन्त्रा एव न कर्मानुप्रवेशिनः । कुतः । ' ते हैते विद्याचित एव ' इत्यवधारणादित्यर्थः । एवकारश्रुत्या कर्मप्रकरणं बाध्यमिति भावः ॥ ४७ ॥

लिङ्गादपि तद्बाध्यमित्याह—

दर्शनाच्च ॥ ४८ ॥

मानसिकाग्नीनां स्वातन्त्र्यज्ञापकलिङ्गस्य दर्शनाच्च प्रकरणं बाध्यमिति भावः । लिङ्गं पूर्वदर्शितम् ॥ ४८ ॥

नन्विदं लिङ्गं न साधकमित्युक्तमित्यत आह—

श्रुत्यादिवलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ४९ ॥

श्रुतिरेवकारः । आदिपदेन लिङ्गवाक्ययोर्ग्रहणम् । लिङ्गमुक्तमेव ' विद्यया हैवैत एवंविदश्चिता भवन्ति ' [ श० ब्रा० १० । ५।३ । १२ ] इति । एतेषां मानसिकाग्नीनां पुरुषसंबन्धमात्राक्षणां वाक्यं स्वातन्त्र्यबोधकम् । तथा चैतेषां श्रुतिलिङ्गवाक्यानां बलीयस्त्वान्न दुर्बलेन कर्मप्रकरणेनाग्नीनां न स्वातन्त्र्यबाध इत्यर्थः । न च लिङ्गस्यार्थवाद-

(दी० १) केवलप्रकरणं कथं लिङ्गं बाध्ये(धे)तेत्यत आह—अतीति । ' तेषामेकैक एतावान्यावानसौ पूर्वः ' इत्यतिदेशस्तस्मादपि ॥ ४६ ॥

परिहरति सिद्धान्ती—विद्यैवेति । तुशब्दोऽग्नीनां क्रियारूपत्वं व्यावर्तयति । किं तर्हि विद्यैव । कुतः । विद्याचित एवेति निर्धारणात् ॥ ४७ ॥

नन्वसहकृतं निर्धारणं न बाधकं प्रकरणस्येत्यत आह—दर्शनादिति । लिङ्गानामिति शेषः । चकारः सहकारिणोऽनपेक्षामप्याह । लिङ्गानि चोक्तानि लिङ्गसूत्रे ॥ ४८ ॥

लिङ्गमपि न कचिद्बाधकं प्रकरणस्येत्यत आह—श्रुत्यादीति । न प्रकरणेन लिङ्गबाधात्स्वातन्त्र्यस्य मनश्चिदादीनां बाधः । कुतः । श्रुत्यादीनां बलीयस्त्वात् । सन्ति चात्र तानि । श्रुतिस्तावद्विद्याचित एवेति ।



(ब्र० व० १) स्थत्वेनासाधकत्वम् । लिङ्गप्रदर्शनार्थमुदाहृतवाक्यानां विधि-  
प्रत्ययसामीप्याभावादपूर्वार्थबोधकत्वाच्च विधायकत्वेनार्थवादत्वाभावा-  
दिति भावः ॥ ४९ ॥

इतोऽपि मनश्चिदाद्यग्नीनां स्वातन्त्र्यमित्याह—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्दृष्टश्च तदुक्तम् ॥ ५० ॥

‘ते मनसैवाऽऽधीयन्त मनसाऽचीयन्त मनसैव ग्रहा अगृह्यन्त  
मनसाऽस्तुवन्मनसाऽशंसन्यत्किंच यज्ञे कर्म क्रियते यत्किंच यज्ञियं कर्म  
मनसैव तन्मनोमयेषु मनश्चित्सु मनोमयमक्रियत’ [श० ब्रा० १० ।  
५ । ३ । ३] इत्यादिना मनआदिवृत्तिषु कर्माङ्गाणामनुबन्धात्संपादना-  
दग्नीनां स्वातन्त्र्यं कर्माङ्गत्वेऽङ्गानां प्रत्यक्षसिद्ध्यत्वेन संपादनवैयर्थ्यात् ।  
आदिशब्देनातिदेशो गृह्यते । अतिदेशो हि क्रियामयस्याग्नेर्माहात्म्यमे-  
कैकस्य मानसिकाग्नेर्दर्शयन्स्वातन्त्र्यमेषां दर्शयति । यच्चयमतिदेशः  
पूर्वपक्षानुकूल इति तत्राग्निवसाहस्येनास्यातिदेशस्य सिद्धान्तेऽप्यु-  
पपत्तेः । सूत्रे बहुवचनसिद्ध्यर्थं पूर्वोक्तश्रुतिलिङ्गादिकं बोध्यम् । उक्त-  
श्रुत्यर्थस्तु तेऽग्नयो मनसैवाऽऽधीयन्ताऽऽधानकर्मणा संपादिताः ।  
अचीयन्तेति चिताः । एष्वग्निषु ग्रहाः पात्राण्यगृह्यन्त गृहीताः ।  
अस्तुवन्स्तोत्रं कृतवन्त उद्गातारः, अशंसञ्शंसनं कृतवन्तो होतारः । किं  
बहुना यत्किंच कर्माऽऽरादुपकारकं यत्किंच यज्ञियं यज्ञनिष्पत्त्यर्थं संनिप-  
त्योपकारकं च क्रियते तद्विदुषो मनसैवाक्रियत कृतमिति । अनुबन्धा-

(दी० १) लिङ्गं सर्वदा सर्वाणि भूतानि । वाक्यं तु विद्यया हैवैत एवंविद-  
श्चिता भवन्ति ॥ ४९ ॥

नैव तथापि प्रसिद्धेनाग्निना निर्देशात्क्रियानुप्रवेशिनस्त इत्यत आह—  
अनुबन्धेति । अनुबध्यन्ते ‘मनसैवाऽऽधीयन्ते’ इत्यादिनोक्ता येन सोऽय-  
मनुबन्धः । आधानादिसंपादनमिति यावत् । आदिशब्देनातिदेशादयः ।  
न हि क्रियानुप्रवेशिष्वग्निषु ईदमाञ्जसम् । तेभ्य एते स्वतन्त्राः प्रज्ञा-  
न्तरपृथक्त्ववदिति निदर्शनम् । यथा प्रज्ञान्तराणां शाण्डिल्यादिविद्यानां  
परस्परं कर्मभ्यश्च पृथक्त्वं तद्वत् । ननु प्रकरणादुत्कर्षोऽर्हद्विचरः कथ-  
मिव स्वीकरणीय इत्यत आह—दृष्टश्च । अवेष्टे राजसूयस्य प्रकरणपठि-

(ब्र०व०१) दिभ्यो हेतुभ्यः स्वातन्त्र्यं मनश्चिदादीनां प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद्यथा प्रज्ञान्तराणां शाण्डिल्यादिविद्यानां स्वातन्त्र्यं तद्वत् । नन्वग्नीनां स्वातन्त्र्ये कर्मप्रकरणादुत्कर्षः काप्यवृष्टः कल्पितः स्यादत आह—वृष्ट-  
श्चेति । ‘ राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत ’ इति राजसूयं प्रकृत्य  
‘ आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा ’ इत्यादिना श्रुताया अवेषेर्ब्रा-  
ह्मणादिकर्तृकाया राजमात्रकर्तृकराजसूयप्रकरणादुत्कर्षो वृष्टस्तद्वद्वा-  
प्यग्नीनां कर्मप्रकरणादुत्कर्ष इत्यर्थः । इदं सर्वं प्रथमतश्च उक्तमित्याह  
तदुक्तमिति ॥ ५० ॥

यदुक्तं मानसवदग्नीनां क्रियाशेषत्वमिति तद्वृषयति—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ५१ ॥

मनश्चिदादीनां मानसेन मानसिकत्वसामान्यादपि क्रियाशेषत्वं न  
कल्प्यमुक्तश्रुत्यादिभ्यः स्वातन्त्र्योपलब्धेर्मृत्युवत् । यथा ‘ स एव  
मृत्युर्य एष एतस्मिन्मण्डले पुरुषः ’ [ श० ब्रा० १० । ५ । २ । ३ ]  
इति ‘ अग्निर्वै मृत्युः ’ [ बृ० ३ । २ । १० ] इति चाऽऽदित्यपुरुषस्या-

(टी०१) तायाः प्रकरणादुत्कर्षः । वर्णत्रयानुबन्धात्तस्या राजरूप(यज्ञ)त्वाच्च  
राजसूयस्य । तदुक्तं प्रथमे काण्डे क्रत्वर्थयमिति चेन्न वर्णत्रयसंयो-  
गादिति । ‘ आग्नेयोऽष्टाकपालो हिरण्यं दक्षिणा ’ इत्याद्यवेष्टिः क्रतो राज-  
सूयस्य प्रकरणे पठिताऽतस्तदर्थयमिति चेन्न । कुतः । यदि ब्राह्मणो यजेत  
बार्हस्पत्यं मध्ये निधायाऽऽहुतीनामाहुतिं हुत्वा तमभिघारयेत् । यदि  
दैश्यो वैश्वदेवं यदि राजन्य ऐन्द्रियमिति वर्णैः सह संयोगः संबन्धः ।  
न च \*राजसूयस्य ‘ राजा स्वाराज्यकामो राजसूयेन यजेत ’ इति श्रुतेः ।  
तस्मात् स च(तस्य) राजसूयप्रकरणादुत्कर्षः ॥ ५० ॥

ननु मानसवत्क्रियाङ्गं भविष्यतीत्युक्तमित्यत आह—न सामान्यादिति ।  
न सामान्यादपि क्रियाङ्गत्वं मनश्चिदादीनाम् । कुतः । केनाप्यंशेन  
कस्यचित्सामान्यस्योपलब्धेः । किंवदित्यत आह—मृत्युवत् । ‘ स वा एष

(ब्र० व० १) ग्लेश्च मृत्युशब्दत्वसाम्येऽपि परस्परवैषम्यं यथा वा द्युलोकोऽग्नि-  
स्तस्याऽऽदित्यः समिदित्यादौ समिदादिसाम्यान्न हि द्युलोकस्याग्नि-  
त्वापत्तिः किंतु परस्परवैषम्यं तद्वन्मानसमानसिकाग्न्योर्मानसिकत्वसा-  
म्येऽपि परस्परवैषम्यमित्यर्थः ॥ ५१ ॥

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः ॥ ५२ ॥

मानसिकाग्निब्राह्मणात्परस्मिन्ब्राह्मणे 'अयं वाव लोक एषोऽग्नि-  
श्चितः [ श० ब्रा० १०।५।४।१ ] इति शब्दस्य ताद्विध्यम् ।  
चितेऽग्नौ पृथिवीदृष्टिरूपस्वतन्त्रविधित्वमेव लक्ष्यते न कर्माङ्गविद्या-  
विधित्वम् । तथा 'यदेतन्मण्डलं तपति' [ श० ब्रा० १०।५।२।  
१ ] इति पूर्वस्मिन्नपि ब्राह्मणे विद्याप्राधान्यं वृश्यत इति चकारार्थः ।  
तथा च तत्समभिव्याहारादस्मिन्नपि ब्राह्मणे विद्यायाः प्राधान्यमिति  
भावः । नन्वस्मिन्ब्राह्मणे मानसिकाग्निविद्यायाः प्रधानत्वे किमर्थं  
कर्मापक्रमस्तत्राऽऽह—भूयस्वादिति । कर्माङ्गाणां मानसिकाग्निवि-  
द्यायां संपाद्यानां बहुत्वाद्विद्यायास्तदुपक्रमेणानुबन्धः प्रतिपादनमि-  
त्यर्थः । तस्मादियं मानसिकाग्निविद्या स्वतन्त्रपुरुषार्थहेतुरिति  
सिद्धम् ॥ ५२ ॥

(दी० १) मृत्युः' इत्यादित्यपुरुषस्याग्निर्वै मृत्युरित्यग्लेश्च मृत्युत्वं नैव तयोरैक्यं  
तद्वत् । हि यस्मादसौ वै लोकोऽग्निरिति न लोकस्याग्निभावापत्तिस्तद्वत्  
अत्यन्तवैलक्षण्ये लोकदृष्टान्तः ॥ ५१ ॥

ननु 'श्रद्धां जुह्वति' इति परेण लोकस्याग्नित्वं प्रतीयते न चान्यत्र  
तादृग्वाक्यमित्यत आह—परेणेति । परस्तादपि 'अयं वाव लोक एषोऽ-  
ग्निश्चितः' इत्यस्मिन्ननन्तरे ब्राह्मणे ताद्विध्यं केवलविद्यात्वं शब्दस्य  
प्रयोजनं लक्ष्यते न शुद्धकर्माङ्गविधित्वम् । यत आह—विद्याया तदा  
रोहन्ति' इत्यादि तथा पुरस्तादपि 'यदेतन्मण्डलम्' इत्युपक्रम्याऽऽह  
'सोऽमृतो भवति' इत्यादि । तत्सामान्यादिहापि तैथात्वम् । नन्व-  
ग्निसंबन्धः कथं तर्हीत्यत आह—भूयस्त्वात्त्वनुबन्धः । तुकारः कर्माङ्गतां  
व्यावर्तयति । आधानादीनामप्यग्न्यवयवानां संपाद्यानां भूयस्त्वाद्वहुल-  
त्वादनुबन्धोऽग्निना संबन्धः ॥ ५२ ॥

(ब्र० व० १) ननु विद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वमयुक्तं देहातिरिक्तस्य पुरुषस्या-  
भावादित्याक्षिपति—

( भौतिकस्याऽऽत्मत्वनिराकरणपूर्वकतदन्यस्याऽऽत्मत्वप्रतिपादनम्,  
अधि० ३० )

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ५३ ॥

प्रसङ्गादस्य पादसंगतिर्बोद्ध्या । अत्र किमात्मा देह एवोत तदति-  
रिक्त इति संशयः । पूर्वपक्षे देहातिरिक्तात्माभावात्स्वर्गादिशास्त्रवैयर्थ्यं  
सिद्धान्ते तत्सार्थक्यमिति विभागः । तत्रैके देहात्मवादिनो लोकाय-  
तिका देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसत्त्वं मन्यमाना देह एवाऽऽत्मेति वदन्ति ।  
कुतः । शरीरे सति चैतन्यसुखादीनां भावात्तदभावे चाभावादित्यन्व-  
यव्यतिरेकाभ्यां तेषां देहधर्मत्वेनातिरिक्तात्मसिद्ध्यभावात् ॥ ५३ ॥

इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ५४ ॥

न त्वात्मनो देहादव्यतिरेकः किंतु व्यतिरेक एव न्याय्यः । कुतः ।  
चैतन्यादीनामात्मधर्माणां तस्य शरीरस्य मरणावस्थायां भावेऽप्यभा-  
वित्वाद्देहधर्मत्वासंभवाद्यथा देहभावे भावाद्देहधर्मत्वं तथा देहभावेऽ-  
प्यभावाददेहधर्मत्वमेव कुतो न स्यादित्यर्थः । किंच निश्चितान्वयव्य-  
तिरेकाभ्यां देहधर्मत्वं वक्तव्यम् । न चात्र देहाभावेऽभाव इति व्यति-  
रेकनिश्चयः संभवति, एतद्देहाभावेऽपि देहान्तरावच्छेदेन तद्धर्मसत्त्व-  
संभवादिति । उपलब्धिवत् । तथा ह्यस्ति तावद्वदष्टाद्युपलब्धिः सा च  
न देहधर्म इत्युक्तम् । किंच देहधर्मत्वे तस्याः प्रकाशकत्वानुपपत्तिर्देह-  
रूपादिवदिति । यथा देहादिविषयाया उपलब्धेः सत्त्वमङ्गी क्रियते

(टी० १) पूर्वाधिकरणे मनश्चिदादीनां पुरुषार्थत्वमुक्तं संप्रति पुरुषस्यैवामा-  
वादित्याक्षिपति—एक इति । एके लोकायतिका देहव्यतिरिक्तात्मनोऽ-  
सत्त्वमाहुः । कुतः । ज्ञानादीनामात्मधर्मत्वेनाभिमतानां शरीरेणाऽऽहु-  
तिभावाच्छरीरस्यैव ज्ञानादयो धर्माः ॥ ५३ ॥

सिद्धान्तमाह—व्यतिरेक इति । देहात्मनोर्व्यतिरेकः । कुतः । तद्भा-  
वाभावित्वात् । तस्य देहस्य भावेऽपि ज्ञानचेष्टादीनामभावित्वादस-  
त्त्वात् । अतस्ते न देहधर्माः । तत्र निदर्शनमुपलब्धिवत् । यथा भूत-

(ब्र० १०१) तथा तस्या देहादिव्यतिरेकोऽप्यङ्गीकार्यः सैव चोपलब्धिर्न आत्मेति । तस्माद्देहातिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽस्तित्वमिति सिद्धम् ॥ ५४ ॥

( ऐतरेयगतोक्तथोपासनायां पृथिव्यादिदृष्टेः कौपीतक्यामपि समा-  
नत्वम्, अधि० ३१ )

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ५५ ॥

सन्ति कर्माङ्गाभिता उपासना उद्गीथावयवोकारे प्राणदृष्टिरुक्थे पृथिवीदृष्टिर्लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीतेति । लोकशब्दः पृथिव्यग्न्यन्तरिक्षादित्यद्युलोकपरः । पृथिव्यादिविषयकदृष्ट्या पञ्चविधं सामोपासीतेत्यर्थः । ‘ पृथिवी हिंकारः । अग्निः प्रस्तावोऽन्तरिक्षमुद्गीथ आदित्यः प्रतिहारो द्यौर्निधनम् ’ [ छा० २ । २ । १ ] इति । हिंकारादिपञ्चविधे साम्नि पृथिव्यादिदृष्टिरिति विभागः । तत्र संशयः—किमेता उपासना यत्र शाखायां विहितास्तच्छाखागतोद्गीथाद्यालम्बना उत सर्व-शाखागतोद्गीथाद्यालम्बना इति । पूर्वोत्तरपक्षयोः पूर्वोत्तरकोटिसिद्धिः फलम् । उपासनाविचारात्मकत्वात्साक्षादस्य पादसंगतिः । तत्र यथा शरीरात्मनोर्भेदादात्मधर्माणां शरीरे न संभवस्तद्वदेकशाखागतोद्गीथाद्यपेक्षया शाखान्तरोद्गीथादेः स्वरभेदेन भेदादेकशाखागतोद्गीथादिधर्माणामुपासनानां शाखान्तरगतोद्गीथादौ न संभव इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः—अङ्गावबद्धास्त्विति । तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः । एता अङ्गाभिता-उपासनाः प्रतिवेदं स्वशाखासु विद्यमानोद्गीथाद्यालम्बना एव न भवन्ति किंतु शाखान्तरीयोद्गीथाद्यालम्बना अपि । कुतः । ‘उद्गीथमुपासीत’

(दी०) भौतिकानामनुभवनमुपलब्धिं(?)पूर्वाधियत्वेन विषयधर्मो बलादापतति तद्वत्प्राणचेष्टादयोऽपि न देहधर्माः ॥ ५४ ॥

पूर्वाधिकरणे शरीरात्मनोर्भेदादात्मधर्माणामसंभवः शरीर इत्युक्तम् । एवमेकशाखागतोद्गीथधर्माणां प्राणादिदृष्टीनां न तर्हि शाखान्तरीयोद्गीथादिषु प्राप्तिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अङ्गेति । ‘ओमित्येतदक्षरम्, १ लोकेषु पञ्चविधम्, इत्येवमाद्याः प्रतिवेदमुपासना न शाखा-

(ब्र० व० १) [ छा० १।१।१ ] इत्यादावुद्गीथादिश्रुतेरविशेषादिति हिशब्दसूचितो हेतुर्बोध्यः ॥ ५५ ॥

इममर्थं दृष्टान्तमुखेनापि साधयति—

मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ॥ ५६ ॥

एकशाखाविहितोपासनानां शाखान्तरोद्गीथादिषु प्राप्तेरविरोधो मन्त्रादिवत् । तथा हि यथा तण्डुलपेषणार्थमश्मादानमन्त्रः कुटुररसीत्येकत्राऽऽम्नातः शाखान्तरेऽपि प्राप्नोति यथा वा प्रयाजा एकत्राऽऽम्नाताः शाखान्तरेऽपि प्राप्नुवन्ति तद्वदत्राप्यविरोधः । वाशब्दो दृष्टान्तप्रदर्शनरूपहेत्वन्तरसूचनार्थः । तस्मादेकत्र विहितानामप्युपासनानां शाखान्तरीयोद्गीथादिषु प्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ५६ ॥

( विराड्रूपवैश्वानरस्य कृत्स्नस्यैव ध्यातव्यत्वं न तदंशस्य, अधि० ३२ )

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ५७ ॥

वैश्वानराख्यायिकायां प्राचीनशालादिषट्कृषीणां राज्ञा सह प्रश्नप्रतिवचनाभ्यां द्युलोकसूर्यवाय्वादिषु व्यस्तेषु वैश्वानरोपास्तिः श्रुता तथा समस्तेष्वपि वैश्वानराधिकरणलिखिताख्यायिकाऽत्राप्यनुसंधेया । तत्र संशयः । किमिहोभयथाऽप्युपास्तिर्विवक्षितोत समस्तोपास्तिरेवेति । अत्र पूर्वपक्षे वाक्यभेदः सिद्धान्ते तदैक्यमिति बोध्यम् । तत्रोद्गीथादिश्रुत्या संनिधिप्राप्तव्यवस्थां बाधित्वोद्गीथाद्युपास्तीनां सर्वशाखास्वव्यवस्थावदत्रापि व्यस्तोपास्तीनां विधिश्रुत्या समस्तोपास्तिसंनिधिप्राप्त-

(दी० १)स्वेव व्यवतिष्ठेरन् । उद्गीथादिश्रुत्यविशेषात् । तुशब्दो व्यवस्थानियमैर्भङ्गार्थः ॥ ५५ ॥

नन्वन्यवेदपठितानां कथमन्यत्र परिग्रह इत्यत आह—मन्त्रादीति । वाशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । यथा ‘कुटुररसि’ इति येषां मन्त्रो न पठितस्तेषामपि तेन मन्त्रेणाश्मादानमेवमेवाग्नेरित्येवमादिमन्त्राणां यज्ञस्य दानम् । आदिशब्देन प्रयाजादीनां ग्रहणं तद्वच्छाखान्तरीयाणामप्युद्गीथादिधर्माणां ग्रहणे न विरोधः ॥ ५६ ॥

पूर्वाधिकरण उद्गीथादिश्रुत्या संनिधिं बाधित्वोद्गीथाद्युपासनानां सर्वशाखासूपयोग उक्त एवमत्र व्यस्तोपासनस्य विधिश्रुतेः फलश्रुतेश्च समस्तोपासनस्य विधिश्रुतेः फलश्रुतेश्च समस्तोपासनं संनिधिप्राप्तं

(ध० व० १) स्तुत्यर्थत्वं बाधित्वा विधेयत्वं युक्तमिति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । भूम्नः समस्तोपासनस्यैवास्मिन्वाक्ये ज्यायस्त्वं प्राधान्येन प्रतिपाद्यत्वं न व्यस्तोपास्तीनामपि क्रतुवत् । यथा दर्शपूर्णमासादेः क्रतोः साङ्गप्रधान-स्यैव प्रयोगो विवक्ष्यते न व्यस्तानामपि प्रयाजादीनां तद्वत् । ननु भूम्न एव ज्यायस्त्वं कुत इत्यत आह—तथा हीति । प्राचीनशालादिभिरुक्तानि व्यस्तोपासनानि निन्दित्वा कैकेयेन राज्ञाऽव्यस्तोपासनस्योक्तत्वादेकवाक्यता श्रुतेरवगम्यते तथा चैकवाक्यतामापन्नेयं श्रुतिर्भूम्न एव ज्यायस्त्वं दर्शयतीत्यर्थः । ननु तर्हि राज्ञः प्राचीनशालादीन्प्राप्ति हे 'औपमन्यव कं त्वमात्मानं वैश्वानरमुपास्से' [ छा० ५ । १२ । १ ] इति प्रश्ने हे राजन् सुतेजा द्युलोको वैश्वानरोऽयं त्वं वैश्वानरमुपास्स्वेत्यादौ व्यस्तोपास्तिषु विधिश्रुतीनां का गतिरिति चेत्प्राचीनशालादिभिरवगतव्यस्तोपास्त्यनुवादेन समस्तोपासनस्य विधेयत्वादनुवादकत्वमेव श्रुतीनां गतिरिति । तस्मात्समस्तोपासनमेव ज्याय इति सिद्धम् ॥ ५७ ॥

( अनुष्ठातव्यशाण्डिल्यदहरादिविद्यानां वेद्यब्रह्मभिन्नत्वेन भिन्नत्वम्, अधि० ३३ ) ।

नानाशब्दादिभेदात् ॥ ५८ ॥

एकसगुणब्रह्मोपास्यकाः शाण्डिल्यदहरादिविद्याः सन्त्येवमेकमुख्य-प्राणविद्या अपि सन्ति तत्र संशयः । किमेकोपास्यकविद्यानां भेदोऽस्ति न वेति । पादसंगतिफले पूर्ववत् । तत्र व्यस्तोपास्तिषु विधिश्रुतीनां सत्त्वेऽपि समस्तोपास्तेरेव ज्यायस्त्ववदेकोपास्यकोपास्तिषु प्रत्येकं विधीनां सत्त्वेऽपि समस्तोपास्तेरेव ज्यायस्त्वमिति नास्ति विद्यानां भेद

(दी० १) तुल्यार्थं बाधित्वा तद्विधेयमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—भूम्न इति । भूम्नः प्राचीनशालादिभिरुपासनस्य समस्तस्य वैश्वानरस्य ज्यायस्त्वं विवक्षितम् । क्रतुवदिति निदर्शनम् । यथा क्रतोर्दर्शपूर्णमासादेः साङ्गस्यानुष्ठेयत्वम् । तथा हि दर्शयति । हि यस्माद्यथोक्तमस्माभिस्तथा श्रुतिर्दर्शयति मूर्धा त्वेष इत्यादिना ॥ ५७ ॥

पूर्वाधिकरणे सत्यामपि सुतेजस्त्वादिगुणविशिष्टद्युलोकादिवैश्वानरोपासनानां गुणफलभेदश्रुतौ चोपास्यैक्यमुक्तं तद्वदन्यासामपि ब्रह्मोपासनानामैक्यं स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—नानेति ।

(ब्र०व०।) इति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । एकोपास्यकविद्या नानैव । कुतः । शब्दादिभेदात् । 'वेद' 'उपासीत' 'स क्रतुं संकल्पं कुर्वीत' इत्यादिशब्द-भेदात् । आदिशब्देनोपास्यगुणभेदाच्चेत्यर्थः । यथा यागदानहोमानां कर्मणां यजेत दद्याज्जुहुयादिति शब्दभेदाद्भेदस्तद्वदिति द्रष्टव्यम् ॥५८॥

(आत्मनः सगुणोपासनायामेकस्य द्वयोर्ब्रह्मणां चोपासनानां वैकल्पिकनियमकथनम्, अधि० ३४) ।

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ५९ ॥

याः सगुणब्रह्मादिविद्या उपास्यसाक्षात्करणेन फलहेतवस्तासां किं स्वेच्छया विकल्पसमुच्चयाभ्यामनुष्ठानमुत विकल्प एवेति संशयः । पूर्वपक्षे स्वेच्छया विद्यासु प्रवृत्तेर्या काचिदेकैव विद्या यावज्जीवमनुष्ठेयेति विकल्पोऽपि नास्ति त्रिव्यादयो विद्याः समुच्चये नानुष्ठेया इत्यपि नास्तीत्यनियमः फलं सिद्धान्ते विकल्प एवेति नियम इति भेदः । पूर्वाधिकरणेन विद्यानानात्वे सिद्धेऽयं विचारः प्रवर्तते नो चेन्नास्तीति हेतुहेतुमद्भावः संगतिः । तत्रानुष्ठाननियमे हेत्वभावाद्यथेच्छमनुष्ठानमिति प्राप्ते ब्रूमः । विकल्प एवाऽऽसां विद्यानां युक्तः । कुतः । अविशिष्टफलत्वात् । अविशिष्टं ह्यासां विद्यानामुपास्यसाक्षात्काराख्यं फलम् । तत्रैकया विद्ययोपास्ये साक्षात्कृते विद्यान्तरमफलम् । विरुद्धोपास्यसाक्षात्कारस्य युगपदयोगाच्च विद्यान्तरं व्यर्थम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावमावितः [ गी० ८।६ ] इति भगवद्गीता स्पष्टमेकविद्याया एवानुष्ठेयत्वं दर्शयति । तस्मादुपास्यसाक्षात्कारद्वारा फलहेतुभूतविद्यैकैवानुष्ठेयेति सिद्धम् ॥ ५९ ॥

(दी०।)शाण्डिल्यदहरोपकोशलादिविद्या नाना भिन्ना एव । कुतः । शब्दादिभेदात् । 'वेदोपासीत' इत्यादिशब्दः । आदिशब्देन रूपाख्यादिभेदस्तस्मात् ॥ ५८ ॥

पूर्वाधिकरणे शब्दान्तरादिप्रमाणादुपास्तीनां भेद उक्तस्तद्वदिहापि विकल्पसमुच्चयनियमयोः प्रमाणाभावाद्याथाकाम्यमिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—विकल्प इति । साक्षात्कारफलहेतुभूतानां विद्यानां विकल्पः । कुतः । अविशिष्टफलत्वात् । एकस्य साक्षात्कारफलस्य प्रत्येकं तासां फलत्वात् । एकदा तस्मिन्कृतेऽन्यस्य वैयर्थ्यमिति भावः ॥ ५९ ॥



( ब्र० व० । ) ( विकल्पेन समुच्चयेन वा प्रतीकोपासनाया ऐच्छिकत्वम्, अधि० ३५ )

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्

वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ६० ॥

याश्च प्रतीकोपास्तयो 'नाम ब्रह्मेत्युपासीत तस्य यथाकामचारे भवति' इत्याद्याः काम्या उपास्यसाक्षात्कारानपेक्षा एवादृष्टद्वारा फले हेतवस्तासु पूर्ववत्संदेह उपास्तित्वाविशेषात्पूर्ववद्विकल्पनियम इति प्राप्ते ब्रवीति—काम्यास्त्विति । काम्यास्त्वदृष्टद्वारा फलहेतवो विद्या यथा-कामं समुच्चीयेरन् वा न वा समुच्चीयेरन् । पूर्वहेतोरविशिष्टफलत्वस्य विकल्पनियमप्रयोजकस्यात्राभावादित्यर्थः । तथा च प्रतीकोपास्तयो विकल्पेनैवानुष्ठेया उपास्तित्वात्पूर्वोक्तविद्यावदित्यनुमान उपास्यसाक्षात्कारहेतुत्वमुपाधिरिति भावः ॥ ६० ॥

( विकल्पसमुच्चययोर्याथाकाम्यम्, अधि० ३६ )

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ६१ ॥

कर्माङ्गेषूपद्वीथादिषु या आश्रिता विद्यास्तासां किं समुच्चयेनैवाङ्गवदनुष्ठानमुत यथाकाममिति संशयः । पूर्वपक्षे समुच्चयेनानुष्ठानात्फलबाहुल्यं सिद्धान्ते यथाकाममनुष्ठानात्प्रयोगसौकर्यमिति बोध्यम् । तत्र प्रतीकोपास्तीनां स्वतन्त्रत्वाद्यथाकाममनुष्ठानं युक्तमङ्गाश्रितोपास्तीनामङ्गतन्त्रत्वाद्यथाश्रयभावः । आश्रयाः स्तोत्रादयः । संभूय भवन्ति ।

(दी०) पूर्वाधिकरणेऽहंग्रहोपासनानामुपास्यसाक्षात्कारपर्यन्तत्वाद्विकल्पनियम इत्युक्तं तद्वत्प्रतीकोपासनानामपि तत्पर्यन्तत्वाद्विकल्प इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—काम्यास्त्विति । तुशब्दः काम्यानां विकल्पं व्यावर्तयति । काम्या विद्या यथाकामं काममनतिक्रम्य तासु वर्तनम् । तमेव कामानतिक्रममाह—समुच्चीयेरन्न वेति । तासां न समुच्चयो विकल्पो वेच्छातः । कुतः । पूर्वहेत्वभावात् । पूर्वस्य हेतोः फलैक्यस्य काम्यस्व(स्या)भावात् । अतः फलभूमार्थिनः समुच्चयोऽन्योन्यस्य । ताश्च 'स य एतमेव वायुम्' इत्याद्याः ॥ ६० ॥

पूर्वाधिकरणे प्रतीकोपासनानां भिन्नफलत्वाद्याथाकाम्यमुक्तं तदयुक्तं सफलेष्वप्यङ्गाश्रितोपासनेषु समुच्चयनियमो न फलभेदस्यानैकान्ति-

(ब० व० १) यथाऽऽश्रयाणामङ्गानामनुष्ठानस्य भावस्तद्वदनुष्ठानस्य भाव इति प्रत्युदाहरणेन पूर्वपक्षः ॥ ६१ ॥

शिष्टेश्च ॥ ६२ ॥

शिष्टिः शासनं विधानमित्यर्थः । यथा प्रतिवेदं विधानं तथा तदाश्रितोपास्तीनां विधानाविशेषाच्चाङ्गवत्समुच्चयनियम इत्यर्थः ॥ ६२ ॥  
इतश्चैवमेवेत्याह—

समाहारात् ॥ ६३ ॥

ऋग्वेदोक्तप्रणवस्य सामवेदोक्तोद्गीथस्य चैक्योपासन उद्गात्रा कृते फलमाह श्रुतिः—‘ होतृपदनाञ्दैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति ’ [ छा० १ । ५ । ५ ] इति । होतृपदनशब्देन होतृशंसनस्थानवाचिना होतृकृतं शंसनारूपं कर्म लक्ष्यते । उद्गाता प्रणवोद्गीथयोरैक्यज्ञानमाहात्म्यात्स्वेन कृतं दुरुद्गीथमपि स्वरादिप्रमादाद्दुष्टमप्युद्गानं होत्रा सम्यक्कृतशस्त्रसहायादनुसमाहरत्येव ह प्रतिसमादधात्येव खलु । होतृकर्मसंबन्धोत्कारस्यर्ग्वेदोक्तस्य स्ववेदोक्तोद्गीथस्य चैक्येन चिन्तितत्वादित्यर्थः । तथा च वेदद्वयोक्तप्रणवोद्गीथयोरैक्यज्ञानस्येदृशं फलं ब्रुवद्वाक्यं सर्ववेदोक्तानामप्यङ्गाश्रितोपासनानां समुच्चयं सूचयति । सर्वोपासनेषु वेदान्तरोक्तोपासनस्य वेदान्तरोक्तोद्गीथादिना संबन्धस्य समानत्वादिति सूत्रकृत्तात्पर्यम् ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ६४ ॥

उद्गीथोपासनायां गुणभूतस्योपास्यस्योत्कारस्य ‘ तेनेयं त्रयी विद्या वर्तते [ छा० १ । १ । ९ ] तेनोत्कारेण वेदत्रयोक्तं कर्म भवतीति सर्व-

(दी० १) कत्वादित्याक्षिपति—अङ्गेष्विति । कर्माङ्गेषूद्गीथादिषु यथाश्रयभावः । यथैषामाश्रयाः स्तोत्रादयः संभूय भवन्ति एवं प्रत्यया अपि ॥ ६४ ॥

शिष्टेश्चेति । यथाचाऽऽश्रयाः स्तोत्रार्दयो वेदेषु शिष्यन्त एवमाश्रिता अपि प्रत्ययाः ॥ ६२ ॥

समाहारादिति । होतृपदनाञ्दैवापि दुरुद्गीथमनुसमाहरति ’ इति होत्रात्कर्मण उद्गातुः स्वकर्मणः क्षतस्य समाहारः संधानं तस्माद्विज्ञात्समुच्चयः ॥ ६३ ॥

गुणसाधारण्येति । विद्यागुणं च विधाश्रयं सन्तमोत्कारं वेदत्रयसा-

(ब्र० ४०।) कर्मणि साधारण्यस्य श्रवणात्तदाश्रितोपासनानामपि साधारण्यं समुच्चित्यानुष्ठानमित्यर्थः । यद्वा कर्मगुणानामुद्गीथादीनां सर्वेषां समुच्चित्यानुष्ठानात्मकसाधारण्याभावे हि तदाश्रितोपासनानां समुच्चयो न भवेन्नैतदस्ति प्रयोगवचनेन सर्वाङ्गग्राहिणा तेषां साधारण्यश्रुतेः । तथा च तदाश्रितानामुपासनानामपि समुच्चय इत्यर्थः ॥ ६४ ॥

एवं प्राप्ते सिद्धान्तयति—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ६५ ॥

वाशब्दस्त्वर्थः पक्षव्यावर्तनार्थः । नाङ्गाश्रितोपासनानामङ्गवत्समुच्चयनियमः ‘तत्सहभावाश्रुतेः’ । यथाऽङ्गानां सहभावः श्रूयते ‘ग्रहं वा गृहीत्वा चमसं बोद्धीय स्तोत्रमुपाकुर्यात् [ तै० सं० ३।१।२।४ ] इत्यादिना तथा तेषामुपासनानां सहभावस्याश्रुतेरित्यर्थः । न चाङ्गतन्त्रत्वमुपासनानां समुच्चयनियमः । अङ्गतन्त्रस्यापि गोदोहनस्यानुष्ठानानियमात् । यदुक्तं शिष्टेश्चेति सूत्रेऽङ्गवद्विधानाविशेषात्समुच्चय इति तन्न । तेन हीदमनुमानं लभ्यत उपासनानि समुच्चित्यानुष्ठेयानि विहितत्वादङ्गवदिति । तत्र च क्रत्वर्थत्वमुपाधिः । परं च सूत्रद्वयोक्तं लिङ्गद्वयमप्रयोजकत्वेन कूपणीयम् ॥ ६५ ॥

दर्शनाच्च ॥ ६६ ॥

दर्शयति च श्रुतिरङ्गाश्रितोपासनानामसमुच्चयम्—‘एवंविद्ध वै ब्रह्मा यज्ञं यजमानं सर्वांश्चित्त्वजोऽधिरक्षति’ [ छा० ४।१७।१० ] इति । ऋग्वेदादिविहिताङ्गलोपे व्याहृतिहोमप्रायश्चित्ताभिज्ञत्वं ब्रह्मण एवंवित्त्वं, सर्वोपासनानां समुच्चये हि विज्ञानवता ब्रह्मणा परिपाल्यत्व-

(क्षि०।) धारणं श्रावयति—तेनेयं त्रयीत्यादिना । अथ वा कर्मगुणानामुद्गीथादीनां सर्वप्रयोगसाधारण्यश्रुतेरपि तदाश्रितानां समुच्चयः ॥ ६४ ॥

समाधत्ते—न वेति । नवेति समुच्चयनियमव्यावर्तनम् । कुतः० तत्सहभावाश्रुतेः । तासामुपासनानां सहभावस्य समुच्चयस्याश्रुतेरश्रवणात् ॥ ६५ ॥

ननु समुच्चयोऽपि श्रूयत इत्यत आह—दर्शनादिति दर्शयत्यपि श्रु-

(ब्र० ४०१) मितरेषामृत्विजां न स्यात्सर्वेषां सर्ववित्त्वादस्ति च परिपाल्यत्व-  
कीर्तनं तस्मान्न सर्वोपासनासमुच्चय इति सिद्धम् ॥ ६६ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

( आत्मज्ञानस्य स्वतन्त्रत्वं न क्रत्वर्थत्वम् , अधि० १ )

पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्पादे परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारोक्त्या परिमाणमवधारितमिह तासां कर्मानपेक्षाणामेव पुरुषार्थसाधनत्वं निरूप्यते । तत्र कर्मानपेक्षाणामासां विद्यानां कान्यङ्गानीत्याकाङ्क्षायां यज्ञादीनि बहिरङ्गाणि शमादीन्यन्तरङ्गाणि च निरूप्यन्त इत्येकविद्याविषयकत्वमनयोः पादयोः संगतिः । तत्र परब्रह्मविद्यामाश्रित्य विचार्यते किमौपनिषदात्मविद्या कर्मकर्तृद्वारा क्रत्वनुप्रवेशिन्युत स्वतन्त्रैव पुरुषार्थसाधनमिति । अत्र पूर्वोत्तरपक्षयोः पूर्वोत्तरकोटिसिद्धिः फलम् । पूर्वपादान्त्याधिकरणे कर्माङ्गविद्योक्तिप्रसङ्गाद्ब्रह्मज्ञानस्य कर्माङ्गत्वमाशङ्क्य सिद्धान्तमुपक्रमते—पुरुषार्थ इति । अतोऽस्मादौपनिषदात्मज्ञानात्स्वतन्त्रात्पुरुषार्थो मोक्षः सिध्यतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । ‘ तरति शोकमात्मवित् ’ [ छा० ७ । १ । ३ ] ‘ ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ’ [ मु० ३ । २ । ९ ] इत्यादिभ्यः केवलविद्याया मोक्षहेतुत्वबोधकशब्दादिभ्यः । इदमुपलक्षणम् । सगुणविद्यानामपि स्वातन्त्र्येण फलहेतुत्वं तत्तत्फलश्रुतेरिति बोध्यम् ॥ १ ॥

(दी०१) तिरसहभावम् । ‘ एवंविद्ध वै ब्रह्मा ’ इत्यादिना ॥ ६६ ॥

इति ब्रह्मसूत्रटीपिकायां तृतीयाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं तावत्पूर्वपादे परापरब्रह्मविद्यानां गुणोपसंहारनिरूपणेन परिमाणमवधारितम् । इदानीमासां कर्मनिरपेक्षाणामेव पुरुषार्थसाधनत्वं निरूप्यते । तत्र विद्यायाः केवलायाः पुरुषार्थत्वमाह—पुरुषार्थ इति । अतो वेदान्तविहिताज्ज्ञानात्पुरुषार्थो भवतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । कुतः । शब्दात् । ‘ तरति शोकमात्मवित् ’ इति श्रुतेः ॥ १ ॥

(ब० ४०।) एवं सिद्धान्तमुपक्रम्य पूर्वपक्षयति—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः ॥ २ ॥

कर्तृत्वेनाऽऽत्मनः कर्मशेषत्वात्तज्ज्ञानमपि पर्णतावत्कर्मशेषात्मद्वारा कृत्वङ्गम् । अत्रायं प्रयोगः—तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गं फलशून्यत्वे सति कर्माङ्गाश्रयत्वात्पर्णतावदिति । ननु विशेषणासिद्धौ हेतुः 'तरति शोकमात्मवित्' इत्यादिफलश्रुतेः सत्त्वादित्यत आह—पुरुषेति । यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु पर्णमयीद्रव्ययजमानस्थाञ्जनादिसंस्कारप्रयाजादिरूपो ष्वपापश्लोकश्रवणादिफलश्रुतिरर्थवादस्तथाऽत्रापि पुरुषार्थश्रुतिरर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । तथा च न हेतोर्विशेषणासिद्धिरिति भावः ॥ २ ॥

आचारदर्शनात् ॥ ३ ॥

'जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यजेनेजे' [ बृ० ३ । १ । १ ] इत्यादौ ब्रह्मविद्यावतां जनकादीनां विद्यया सह कर्माचारदर्शनाल्लिङ्गाद्विद्यायाः स्वातन्त्र्याभावेन कर्माङ्गत्वमित्यर्थः । विदेहानामधिपतिर्जनको नाम राजा बहुदक्षिणसंज्ञेनाश्वमेधेन वा बहुदक्षिणायुक्तेनेजे यागं कृतवानित्यर्थः ॥ ३ ॥

तच्छ्रुतेः ॥ ४ ॥

किंच 'यदेव कर्म विद्यया करोति 'तदेव वीर्यवत्तरं भवति' [ छा० १ । १ । १० ] इति तृतीयाश्रुत्या विद्यायास्तस्याः कर्मशेषत्वस्य श्रवणान्न स्वातन्त्र्येण मुक्तिफलत्वमित्यर्थः ॥ ४ ॥

(दी०।) शेषत्वादिति । कर्तृत्वेनाऽऽत्मनि कर्मशेषत्वात्तद्विज्ञानमपि ब्रीहिप्रोक्षणादिवद्विषयद्वारेण कर्मसंबन्धो वेति एतस्मिन्नवगतप्रयोजन आत्मज्ञाने या फलश्रुतिः साऽर्थवाद इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ २ ॥

यथाऽन्येषु द्रव्यसंस्कारकर्मसु यस्य पर्णमयीत्यादिषु फलश्रुतिरर्थवादस्तद्वदात्मविज्ञानदर्शनात्कर्माङ्गत्वे न लिङ्गमित्यत आह—आचारेति । आचारो जनकादीनां ब्रह्मविदाम् । 'जनको ह' इत्यादिना ॥ ३ ॥

नन्वयमाचारः श्रुतेरभावेऽप्रयोजक इत्यत आह—तदिति । तस्या विद्यायाः कर्माङ्गत्वस्य 'यदेव विद्यया' इत्यादिश्रुतेः ॥ ४ ॥

### समन्वारम्भणात् ॥ ५ ॥

ब्र० व० । ) 'तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते' [ बृ० ४।४।२ ] इति फलारम्भे विद्यान्वितकर्मणोः साहित्यदर्शनादपि न मुक्तिफलत्वं विद्यायाः किंतु कर्माङ्गत्वमेवेत्यर्थः । तं परं लोकं व्रजन्तं विद्याकर्मणी समनुगच्छत इति श्रुत्यर्थः ॥ ५ ॥

### तद्वतो विधानात् ॥ ६ ॥

'आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य यथाविधानं गुरोः कर्मातिशेषेणाभिसमावृत्य कुटुम्बे शुचौ देशे स्वाध्यायमधीयानः' [ छा० ८।१५।१ ] इति श्रुत्या सकलवेदार्थज्ञानवतः कर्मविधानादपि लिङ्गात्कर्माङ्गत्वं वेदार्थ-ब्रह्मविद्याया इत्यर्थः । यद्यपि वेदमधीत्येत्यध्ययनमात्रं श्रुतं नार्थबोध-स्तथाऽपि फलवदर्थवबोधपर्यन्तमध्ययनमिति बोध्यम् । आचार्यस्य कुलं गृहमुपनयनं कृत्वा तदनन्तरं गुरोः शुश्रूषणरूपं कर्म विधायातिशेषेण शिष्टेन कालेन यथाविधानं पवित्रपाणित्वप्राङ्मुखत्वादिविधानमन-तिक्रम्य वेदमधीत्यानन्तरमभिसमावृत्य व्रतविसर्गं कृत्वा कुटुम्बे गार्हस्थे स्थितः शुचौ देशे स्वाध्यायाध्ययनं कुर्वन्कर्मान्तराणि च विहितानि यथाशक्ति कुर्वाणो ब्रह्मलोकमभिसंपद्यत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

### नियमाच्च ॥ ७ ॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।

एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे [ ई० २ ] ।

इत्यादिकाद्यावज्जीवं कर्माचारनियमाच्च विद्यायाः कर्मशेषत्वमेवे-त्यर्थः । इह देहे शतं समाः शतं संवत्सराश्चीवितुमिच्छेदिति यत्तत्क-र्माणि कुर्वन्नेवेति नियमविधिः । एवं त्वयि नरे वर्तमाने सत्यशुभं कर्म

(दी०) तस्य कर्मफले विद्याजन्यातिशयाभावे न फलोपकार्यङ्गमित्यत आह—समन्वेति । ' तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च ' इत्यस्मात् ॥ ५ ॥

तथाऽपि कर्षसु प्रवृत्तस्य नाऽऽत्मज्ञानावसर इत्यत आह—तद्वत इति । तद्वतो ज्ञानवत एव कुटुम्ब इत्यादिविधानात् ॥ ६ ॥

तथा कर्मणां पाक्षिकत्वान्न नित्यवैज्ज्ञानाङ्गमित्यत आह—नियमा-

(ब्र० व० १) न लिप्यते त्वं न लिप्यस इत्यर्थः । इतः प्रकारादन्यथा प्रकारान्तरनास्ति यतः कर्मलेपो न स्यादित्यर्थः ॥ ७ ॥

तस्माद्ब्रह्मविद्या कर्माङ्गमेवेति प्राप्ते समाधत्ते—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ८ ॥

तुः पूर्वपक्षनिरासार्थः । यदुक्तं तत्त्वज्ञानं कर्माङ्गं फलशून्यत्वे सति कर्माश्रयत्वादिति तन्न हेतोर्विशेष्यासिद्धेः । कुतो विशेष्यासिद्धिः । अधिकोपदेशात् । कर्मकर्तुः संसारिणः कर्माङ्गादधिकस्याकर्तुरसंसारिणश्चिन्मात्रस्य वेदान्तेषूपदेशात् । तथा च तत्त्वज्ञानं चिन्मात्राश्रयमेवेति भवति विशेष्यासिद्धिः । एवं च तत्त्वज्ञानफलश्रुतेरपि नार्थवादत्वम् । तस्मात्पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति यन्मतं बादरायणस्य तदेवमेव तथैवेत्यर्थः । अधिकोपदेशासिद्धिमाशङ्क्याऽऽह—तद्दर्शनादिति । तस्याधिकस्याऽऽत्मनो 'यः सर्वज्ञः सर्ववित्' [ मु० १ । १ । ९ ] इत्यादिश्रुतिसहस्रेषु दर्शनादित्यर्थः ॥ ८ ॥

यदुक्तमाचारदर्शनादिति तत्राऽऽह—

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ९ ॥

विद्यायाः कर्मशेषत्वाभावेऽप्याचारदर्शनं तुल्यमेव । तथा हि 'एतद्ध स्म वै तत्पूर्वं विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवांचक्रिरे' [ कौ० २ । ५ ] इत्यादिका श्रुतिर्विदुषः कर्माचाराभावं दर्शयति । तुशब्देनाकर्माङ्गत्वलिङ्गदर्शनस्य प्राबल्यं सूचितम् । न हि ब्रह्मविद्यावतां जनकादीनां कर्माचारदर्शनं विद्यायाः कर्मशेषत्वे लिङ्गं तेषामहमभिमानाभावेन चोदनाप्रवृत्त्यसंभवात् । तत्कृतकर्मणश्चोदनालक्षणत्वाभावेनाकर्मतया तदाचारदर्शनस्य विद्यायाः कर्मशेषत्वबोधने दुर्बलत्वादिति ॥ ९ ॥

(दी० १) दिति । कुर्वन्नेवेत्यादि । चकारो नियमाभावेऽपि ज्ञानस्य पुरुषार्थतामाह ॥ ७ ॥

आद्यसूत्रोक्तं सिद्धान्तमाह—अधिकेति । तुशब्दो जैमिनीयं मतं व्यावर्तयति । कुतः । अधिकोपदेशात् । असंसारिणो निरुपाधिकस्य परमात्मनः सर्वेषु वेदान्तेषूपदेशात् । यन्मतं बादरायणस्य तत्तथैव स्थितं तद्दर्शनात् । 'यः सर्वज्ञः' इत्यादिभ्यः ॥ ८ ॥

ननूक्तमाचारादित्यत आह—तुल्यमिति । तुशब्दः पूर्वस्याऽऽचारस्य विधान्तरविषयत्वमाह । तुल्यं समानमाचारस्य दर्शनम् । 'एतद्ध स्म' इत्यादिना ॥ ९ ॥

(ब्र० व० १) तच्छ्रुतेरिति यदुक्तं तत्राऽऽह—

असार्वत्रिकी ॥ १० ॥

‘यदेव विद्यया करोति [ छा० १ । १ । १० ] इति श्रुतिरसार्वत्रिकी सर्वविद्याविषया न भवति प्रकृतोद्गीथविद्यामात्रपरत्वात् । तथा च न श्रुतिबलाद्ब्रह्मविद्यायाः कर्माङ्गत्वमित्यर्थः ॥ १० ॥

यदप्युक्तं समन्वारम्भणादिति तत्राऽऽह—

विभागः शतवत् ॥ ११ ॥

‘तं विद्याकर्मणी समन्वारमेते’ [ बृ० ४ । ४ । २ ] इत्यत्र विभागो बोध्यः । विद्याऽन्यं पुरुषमन्वारमते कर्मान्यमिति शतवत् । यथा शतमाभ्यां दीयतामित्युक्ते विभज्य दीयते पञ्चाशदेकस्मै पञ्चाशदन्यस्मै तद्वदित्यर्थः । वस्तुतोऽस्य समन्वारम्भवाक्यस्य मुमुक्षुविषयत्वाभावाद्द्विद्याशब्देन विहितोद्गीथादिविद्या प्रतिषिद्धा च नग्नस्त्रीदर्शनादिरूपा गृह्यते । तादृशविद्यायाः फलारम्भे कर्मसाहित्येऽपि न क्षतिरिति मन्तव्यम् ॥ ११ ॥

यत्पुनरुक्तं तद्वतो विधानादिति तत्राऽऽह—

अध्ययनमात्रवतः ॥ १२ ॥

‘आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य’ [ छा० ८ । १५ । १ ] इति वाक्ये वेदाध्ययनमात्रवतः कर्म विधीयते नाऽऽत्मज्ञानवत् इत्यर्थः । मात्रपदेनौपनिषदात्मज्ञानमेव व्यावर्त्यते न कर्मकाण्डार्थावबोधः कर्मज्ञानं विनाऽनुष्ठानासंभवादिति ॥ १२ ॥

(दी०) यदेवेत्यादिश्रुतेरुक्तमित्यत आह—नेति । न सर्वविषयेयं श्रुतिः किं तु प्रकृतोद्गीथविद्याविषयैव ॥ १० ॥

तं विद्या’ इत्यादिना फले समुच्चय उक्त इत्यत आह—विभागोऽयं न समुच्चयः । विद्ययाऽन्यस्याऽऽरम्भणं कर्मणाऽऽन्यस्य शतवत् । यथा शतमाभ्यां दीयतामित्यत्र विभागस्तद्वत् ॥ ११ ॥

ननुक्तं तद्वतो विधानादित्यत आह—अध्ययनेति । अध्ययनमात्रवतो न ज्ञानवतः ॥ १२ ॥



(ब्र० व० १) यच्चोक्तं नियमाच्चेति तत्राऽऽह-

नाविशेषात् ॥ १३ ॥

‘कुर्वन्नेवेह कर्माणि’ [ ई० २ ] इति नियमवाक्यं न ज्ञानविषयं विद्वानिति विशेषाभावादित्यर्थः ॥ १३ ॥

अस्य नियमवाक्यस्य ज्ञानविषयत्वेऽप्यविरोधो ज्ञानस्तुत्यर्थत्वादित्याह-

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ १४ ॥

इयं विदुषः कर्मानुमतिः कर्मानुज्ञा ब्रह्मविद्यास्तुतये ज्ञातव्या । स्तुतिश्चैवं यावज्जीवं कर्म कुर्वत्यपि त्वयि विदुषि न कर्म लेपाय भवति विद्यासामर्थ्यादिति । अस्मिन्पक्षे नान्यथेतोऽस्तीत्यस्यायमर्थः—एवं कर्म कुर्वत्यपि त्वयीतो ब्रह्मभावाद्विद्यालभ्यादन्यथा संसारापत्तिर्नास्ति यतो न कर्म लिप्यत इति ॥ १४ ॥

अपि च ब्रह्मविद्यायाः प्रत्यक्षं फलं दृश्यन्ती श्रुतिः कालान्तरमाविफलकर्माङ्गत्वं वारयतीत्याह-

कामकारेण चैके ॥ १५ ॥

एके विद्वांसः प्रत्यक्षीकृतविद्याफलाः परोक्षकर्मफलसाधनं प्रजादिकं कामकारेण स्वेच्छया त्यक्तवन्त इति श्रूयते—‘एतद्भ्रमं वै तत्पूर्वं विद्वांसो मनसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोकः’ [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इति । विद्यायाः कर्माङ्गत्वाभावेऽपि विदुषः स्वेच्छया कर्मसाधनप्रजादित्यागो लिङ्गमनेन सूत्रेण सूच्यत इति वा

(दी० १) यदप्युक्तं नियमाच्चेत्यत आह—नाविशेषेति । त्वदुक्तं न कुर्वन्नेवेत्यत्र विदुषः कर्माणि वारयति ॥ १३ ॥

\* प्रकरणसामर्थ्याद्विद्वानेव संबध्यत इत्यत आह—स्तुतय इति ।

विद्यास्तुतये कर्मानुज्ञानमेतत् ॥ १४ ॥

ननु कर्मश्रुतेर्विद्यास्तावकत्वमित्यत्रापि किं नियामकमित्यत आह—

\* प्रकरणाद्याहेत्यन्तं खपुस्तकस्थम् ।

(ब्र० व० १) बोध्यम् । विद्यायाः कर्माङ्गत्वे हि कर्मसाधनत्यागो न स्यादिति श्रुत्यर्थस्तु येषां नोऽस्माकमयनपरोक्ष आत्माऽयं लोकः प्रत्यक्षं फलं ते वयं किं प्रजया करिष्याम इति निश्चित्याग्निहोत्रादिकर्म न कृतवन्त इति ॥ १५ ॥

उपमर्दं च ॥ १६ ॥

किंच कर्मानुष्ठानहेतोः क्रियाकारकफलविभागस्य समस्तस्याविद्या-कृतस्य विद्यासामर्थ्यादुपमर्दमभावमामनन्ति—‘यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवा-भूतत्वेन कं पश्येत्’ [ बृ० २ । ४ । १४ ] इत्यादिना । तथा च ब्रह्म-विद्यायाः कर्मविरोधित्वान्न कर्माङ्गत्वमिति भावः ॥ १६ ॥

विद्यायाः कर्मानङ्गत्वे हेत्वन्तरमाह—

ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि ॥ १७ ॥

ऊर्ध्वरेतःसु यतिषु ब्रह्मविद्याऽवगता न हि तस्याः कर्माङ्गत्वं संभ-वति । यतीनामग्निहोत्रादिकर्माभावात् । तथा चायं प्रयोगः विद्याक-र्मणी नाङ्गाङ्गिभूते मिथो व्यभिचारित्वाद्दुर्गमननैष्ठिकव्रतवदिति । ननु यत्याश्रमसद्भावे किं मानमित्यत आह—शब्दे हीति । वेदे ह्यूर्ध्वरेतसा-माश्रमाः श्रूयन्ते ‘त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽ-वसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति’ [ छा० २ । २३ । १ ] इति ‘ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्’ इत्यादौ । श्रुत्यर्थस्तु स्कन्धशब्द आश्रमपरः । यज्ञादिधर्मप्रधानो गार्हस्थाश्रम एकस्तपः-

(दी० १) कामेति । अवगतपरमार्थाः प्रजां न कामयन्ते कामकारणेति श्रुत्य-र्थनिर्देशः । चकारो विद्वदनुभवं दर्शयति ॥ १५ ॥

ननु ब्राह्मणादिशरीरे कथं कर्माभाव इत्यत आह—उपेति । ‘यत्र त्वस्य’ इत्यादिना क्रियाकारकादेरुपमर्दमामनन्ति । चकारस्तादृक्प्र-त्यक्षं समुच्चिनोति ॥ १६ ॥

तथाऽपि कथं गृहस्थस्य कर्माभाव इत्यत आह—ऊर्ध्वेति । ऊर्ध्व-रेतःस्वाश्रमेषु विद्या श्रूयते न तत्र कर्माणि । चकारः कर्मिणां विद्या-

(ब्र० ४०।) प्रधानोऽप्यवानप्रस्थाश्रमो द्वितीयस्तृतीयः स्पष्टः। एतेषामाश्रमिणामनित्यफलभाक्त्वं ब्रह्मसंस्थस्य संन्यासिनो नित्यफलत्वमाह—ब्रह्मसंस्थ इति। ब्रह्मणि प्रत्यग्रूपे सम्यङ्निष्ठा यस्य स ब्रह्मसंस्थः परिवाडित्यर्थः। तस्माद्ब्रह्मविद्या न कर्माङ्गं किंतु स्वतन्त्रा मुक्तिकलेति सिद्धम् ॥ १७ ॥

‘त्रयो धर्मस्कन्धाः’ इत्यादिश्रुतिराश्रमसद्भावे प्रमाणमित्युक्तं तदाक्षिपति—

(ऊर्ध्वरेतोरूपाश्रमाणामस्तित्वव्यवस्थापनं लोककामिनामाश्रमिणां ब्रह्मनिष्ठानर्हत्वम्, अधि० २ )

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ॥ १८ ॥

तत्त्वज्ञानस्यान्तरङ्गसाधनं पारिव्राज्यमत्र निरूप्यत इति स्फुटे साधनाध्यायपादसंगती। अत्र संशयः किं पारिव्राज्यमनुष्ठेयं न वेति। पूर्वपक्षे पारिव्राज्यस्याभावाद्विद्यायाः कर्माव्यभिचारेण कर्माङ्गत्वमिति फलं सिद्धान्ते तत्सत्त्वाद्विद्यास्वातन्त्र्यमिति बोध्यम्। तत्र पारिव्राज्यं प्रमाणाभावान्नानुष्ठेयमित्याह—परामर्शमिति। ‘त्रयः’ इति श्रुतौ चतुर्णामाश्रमाणां परामर्शमनुवादमात्रं जैमिनिराचार्यो मन्यते न विधीयते। इयं श्रुतिरचोदना लिङ्गादिशून्या। अस्याः श्रुतेर्ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरत्वं चेति चकारार्थः। तथा चान्यपराद्वाक्यादनुवादमात्रेण नाऽऽश्रमसिद्धिरिति भावः। तपःशब्देनैव वानप्रस्थयत्याश्रमयोरनुवाद इति द्रष्टव्यम्। निन्द्यमानत्वाच्च पारिव्राज्यं नानुष्ठेयमित्याह—अपवदति हीति। ‘वीरहा वा एष देवानां योऽग्निमुद्रासयते’ [ तै० सं० १।५

(दी०।) नधिकारमाह। त एव न सन्तीत्यत आह—शब्दे हि। ‘त्रयो धर्मस्कन्धाः’ इत्येतस्मिञ्छब्देऽवगम्यन्ते ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरण ऊर्ध्वरेतःस्वाश्रमेषु विद्यायाः सत्त्वात्कर्मनिरपेक्षतावस्थोक्ता। इदानीं त एवाऽऽश्रमा न सन्तीत्याक्षिपति। अथ वा पुरुषार्थकरणे ज्ञानस्यासहायस्य मोक्षफलत्वमुक्तं तन्न संभवति गृहस्थादीनामपि ब्रह्मनिर्दिष्टत्वस्य संस्थानाभिधानात्। तदनुष्ठितकर्मणां

\* ख. विधायकशब्दाभावादित्यर्थः।

(ब० व० १) २।१] इत्याद्या श्रुतिरग्न्युद्वासनप्रधानं पारिव्राज्यमपवदतीत्यर्थः । यत्याश्रमातिरिक्ताश्रमान्तरमग्निहोत्रादिविधानसामर्थ्यात्प्रामाणिकमेव 'त्रयः' इत्यादिश्रुतावनूद्यते यत्याश्रमस्तु न श्रुतिसिद्धः किंतु स्मृतिसिद्ध एवानूद्यते स्मृतिश्च यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयादित्यादिप्रत्यक्षश्रुतिविरोधादप्रमाणमिति पूर्वपक्ष्यभिमानः । यद्यपि ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेदिति प्रत्यक्षा श्रुतिरस्ति तथाऽपीयं श्रुतिर्नास्तीति कृत्वा चिन्तेयमिति मन्तव्यम् ॥ १८ ॥

समाधत्ते—

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ १९ ॥

पारिव्राज्यमनुष्ठेयं भगवान्बादरायणो मन्यते । कुतः । 'त्रयः' इत्यादिश्रुतौ प्रामाणिकगार्हस्थ्येन साम्यश्रवणादित्यर्थः । अयं भावः— तपःशब्देन वानप्रस्थाश्रमस्यैवानुवादः संन्यासिनां तपःशून्यत्वात् । ब्रह्मसंस्थ इत्यनेनैव यत्याश्रमानुवादः । आश्रमचतुष्टयानुवादेन ब्रह्मसंस्थतास्तुतिपरत्वमेव वाक्यस्य । तथा चान्यपरादपि वाक्यात्प्रतीयमाना आश्रमाः सिध्यन्ति देवताधिकरणन्यायात् । न च वीरहेत्यादिश्रुतिविरोधस्तस्याः श्रुतेरज्ञानादग्न्युद्वासनाद्यनाहिताग्निविषयत्वादिति ॥ १९ ॥

एवमस्य वाक्य\*स्यानुवादत्वमङ्गीकृत्यानुवादस्य प्रमाणान्तरसापेक्षत्वादाश्रमाणां प्रामाणिकत्वमुक्तमिदानीमस्मिन्नेव वाक्य आश्र-

(दी० १) च ज्ञानसहकारिप्रतीतेरित्याक्षिप्यते—परामर्शमिति । जैमिनिराचार्य-स्त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिशब्दे निर्दिष्टमूलानामाश्रमाणां परामर्शमात्रं मन्यते । कुतः । अचोदना । यतो विधायकशब्दाभाव इत्यर्थः । ननु विधिः कल्पनीय इत्यत आह—अपवदति हि । हि यस्मात् 'वीरहा वा' इत्यादिनाऽपवदति । अतो न कल्प्यो विधिः । चकारो गृहस्थस्य प्रसिद्धविरोधमाह ॥ १८ ॥

परिहरति—अनुष्ठेयमिति । अनुष्ठेयमाश्रमान्तरं बादरायण आचार्यो मन्यते वेदे श्रवणात् । न चान्धपङ्गवादिविषयं तत् । कुतः । साम्यश्रुतेः । गार्हस्थ्येन त्रयो धर्मस्कन्धा इत्यादिना ॥ १९ ॥

(ब्र० व० १) माणां विधिकल्पनमन्यथाऽस्यानुवादकत्व आश्रमविधायकत्वा-  
क्यान्तरकल्पनायां गौरवप्रसङ्गात्सिद्धे वाक्ये विधिमात्रकल्पनायाश्च  
लघुत्वादित्याह—

विधिर्वा धारणवत् ॥ २० ॥

अस्मिन्वाक्य आश्रमाणां विधिरेव नानुवादः । न चानेकाश्रमवि-  
धाने वाक्यभेदः स्यादिति वाच्यमपूर्वत्वेनाऽऽश्रमाणां विधेरावश्यक-  
त्वेन वाक्यभेदस्येष्टत्वात् । एकवाक्यप्रतीतावपि तत्प्रागेनापूर्वार्थविधौ  
दृष्टान्तमाह—धारणवदिति । महापितृयज्ञे सुचि प्रक्षिप्तं हविराहवनीयं  
प्रति यदानीयते तत्र श्रूयते—‘अधस्तात्समिधं धारयन्ननुद्वेदुपरि हि देवे-  
भ्यो धारयति’ इति । तत्र सुगदण्डादधस्तात्समिद्धारणविध्यैकवाक्य-  
त्वस्योपरि हीत्यादेरनुवादतया प्रतीतावपि सुक्स्थहविरुपरि समिद्धा-  
रणस्यापूर्वत्वादेकवाक्यताभङ्गेन विधिर्यथा कल्पितस्तथेहापीत्यर्थः ।  
वस्तुतस्तु ब्रह्मसंस्थत्वमेव पारिव्राज्यलक्षणमत्र वाक्ये \*विधीयत आश्र-  
मत्रयानुवादेनानित्यफलत्वेनाऽऽश्रमत्रयनिन्दया ब्रह्मसंस्थत्वस्यैव नित्य-  
फलत्वेन स्तूयमानत्वाद्यत्स्तूयते तद्विधेयमिति न्यायात् । न च ब्रह्मसं-  
स्थत्वस्य यौगिकार्थस्य गृहस्थादेरपि संभवात्कथं ब्रह्मसंस्थत्वं परिव्राज  
एवेति वाच्यं गृहस्थादीनां स्वस्वकर्मासक्ततया ब्रह्मसंस्थत्वायोगात्परि-  
शिष्यमाणः परिव्राड्वेव ब्रह्मसंस्थ इति । तथा च नान्यस्मिन्पक्षे वाक्य-  
भेद इति तस्मात्पारिव्राज्यस्य प्रामाणिकत्वात्तेषां च कर्माभावात्सिद्धं  
ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यम् ॥ २० ॥

( उद्गीथावयवस्योकारस्य ध्येयत्वम्, अधि० ३ ) ।

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ २१ ॥

उद्गीथादिविद्यासु श्रूयते—‘स एष उद्गीथो रसानां रसतमः परमः’

(दी० १) ननु तावताऽपि विधिर्न सिध्येदित्यत आह—विधिरिति । वाशब्दो  
विध्यभावं निराकरोति । विधिरेवायमपूर्वार्थत्वात् । धारणवत् । यथा  
‘उपरि हि देवेभ्यो धारयति’ इत्यत्र तद्वत् । सति वाऽऽश्रमान्तरे  
ब्रह्मसंस्थत्वं न कर्मिणामित्यभिप्रायः ॥ २० ॥

एवं तावदनुष्ठेयमाश्रमान्तरं गार्हस्थ्येन साम्यश्रुतेरित्युक्तम् । तर्हि

\* ख. ग. सति चाऽऽश्रमान्तरे ब्रह्मसंस्थत्वं न कर्मिणामित्यभिप्रायः ।

१ ग. ‘न्यथा स्यादनु’ । २ वाच्यं मानान्तरप्राप्तत्वे । ३ ग. ‘ति । मृतामिहोत्रप्रकरणद-  
तीयपि’ । ४ ख. ति चाऽऽश्रं ।

(ब०५०।)[छा०१।१।३] इत्यादि । तत्र संशयः । किमिदं कर्माङ्गोद्गीथस्तु-  
तिमात्रमुद्गीथोपासनायां गुणविधायकमिति । पूर्वपक्ष उद्गीथमुपासी-  
तेत्यादेः सर्वस्यापि स्तुतिमात्रत्वात्कर्माङ्गाभितोपासनानुष्ठानासिद्धिः  
सिद्धान्ते कर्माङ्गाभितोपासनानां विधेयत्वादनुष्ठानसिद्धिरिति । एवं  
चाङ्गपरतन्त्राणामपि विद्यानागनुष्ठानसमर्थनेन पुरुषार्थत्वेन पुरुषार्थहे-  
तूत्वोक्तावङ्गानाभितब्रह्मविद्यायाः पुरुषार्थहेतुत्वं किमु वक्तव्यमिति  
सिद्धेः पादसंगतिः । तत्रानुष्ठेयाश्रमसाम्यश्रुतेः पारिव्राज्यस्यानुष्ठेयत्ववत् ।  
'इयमेव जुहूरादित्यः' इत्यादिकर्माङ्गस्तुत्या रसतमत्वादिवाक्यस्य साम्या-  
स्तुतिमात्रत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षयति-स्तुतिमात्रमिति । रसतमत्वा-  
दिवाक्यं सर्वमपि कर्माङ्गविधिस्तुतिमात्रं कर्माङ्गोद्गीथाद्युपादानादिति  
चेन्न । कुतः । अपूर्वत्वात् । कर्माङ्गोद्गीथाद्युपासनानां रसतमत्वादिगु-  
णानां चापूर्वत्वान्मानान्तराप्राप्तत्वाद्यागादिविधेयत्वमेवेत्यर्थः । प्रकृत  
एव विधिसंभवे प्रकरणान्तरगतोद्गीथादिविधिस्तुतिलक्षणकल्पनमन्या-  
व्यतरमिति भावः ॥ २१ ॥

भावशब्दाच्च ॥ २२ ॥

'उद्गीथमुपासीत' [ छा० १ । १ । १ ] 'सामोपासीत' [ छा० २।२।  
१ ] इत्यादिविधिशब्दाच्च विधेयत्वमेवेत्यर्थः ॥ २२ ॥

( औपनिषदाख्यानानां विद्यास्तावकत्वम्, अधि० ४ ) ।

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ २३ ॥

वेदान्तेषु तत्र तत्र 'अथ ह याज्ञवल्क्यस्य द्वे भार्ये बभूवतुर्मैत्रेयी च

(दी०।)रसतमत्वादीनामङ्गाभितत्वेन 'स्वर्गो लोक आहवनीयः' इत्या-  
दिस्तुतिसाम्यात्स्तुत्यर्थत्वमिति प्रत्युदाहरणेन सूत्रावयवेनाऽऽक्षिप्याव-  
यवान्तरेण समाधत्ते--स्तुतिमात्रमिति । 'स एष रसानां रसतमः'  
इत्यादि स्तुतिमात्रं न विधिः । कुतः । उद्गीथादिकर्माङ्गाणां स्ताव-  
कत्वेनोपादानादिति चेन्न । कुतः । अपूर्वत्वात्, रसतमाद्यर्थस्य ॥ २१ ॥

ननु विधिकल्पनमेव दोष इत्यत आह--भावेति । भावशब्दो विधि-  
शब्द उपासीतेत्यादिः । चकारोऽपूर्वाधिगमने विधिकल्पनं न दोष  
इत्याह ॥ २२ ॥

एवं तावदुद्गीथादिस्तुत्यर्थत्वात्सकाशादुपास्यविषयसमर्पकत्वं रसत-

(बृ० व० १) कात्यायनी च' [बृ० ४।५।१] इत्याद्या आख्यायिकाः श्रूयन्ते तत्र संशयः । किमेताः पारिप्लवार्था उत संनिहितविद्यास्तुत्यर्था इति । पूर्व-  
पक्षे कथानामासां पारिप्लवप्रयोगशेषत्वात्तदेकवाक्यतापन्नशब्दबोध्यवि-  
द्यायाः प्राधान्याभावेन पुरुषार्थहेतुत्वासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति  
मन्तव्यम् । एवं फलपर्यवसानादेवास्य पादसंगतिर्बोद्ध्या । तत्र रसतम-  
त्वादेरुद्गीथादिस्तुत्यर्थत्वापेक्षयोपास्यविषयसमर्पकत्वस्य ज्यायस्त्ववत्क-  
थानामपि विद्यास्तुत्यर्थत्वापेक्षया पारिप्लवशेषत्वं ज्याय इति वृष्टान्तेन  
पूर्वपक्षयति—पारिप्लवार्था इति चेदिति । अश्वमेधे पुत्रादिपरिवृताय  
राज्ञे यन्नानाविधकथाकथनं तत्पारिप्लवशब्देनोच्यते तदार्था एवोपनिष-  
त्कथा अपीत्यर्थः । समाधत्ते—नेति । कुतः । विशेषितत्वात् । 'पारि-  
प्लवमाचक्षीत' इत्युपक्रम्य 'मनुर्वैश्वततो राजा' [श० ब्रा० १३।४।३।३]   
इत्यादिवाक्यशेषे कासांचिदेव कथानां पारिप्लवशेषत्वेन विशेषितत्वा-  
दित्यर्थः । तस्मादौपनिषदकथानां न पारिप्लवशेषत्वम् ॥ २३ ॥

ननु तर्हि किमर्था इमाः कथा इत्याशङ्क्य संनिधिबलाद्विद्यार्था  
इत्याह—

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ २४ ॥

तथा चोक्तयुक्त्या पारिप्लवार्थत्वाभावे सति संनिधिबलाद्विद्याशेषत्वं  
कथानां युक्तमेकवाक्यतोपबन्धात् । संनिहिततत्तद्विद्यैकवाक्यतादर्शना-

(दी० १) मत्वादेर्ज्याय इत्युक्तम् । तर्ह्यख्यानानामपि विद्यास्तुत्यर्थत्वात्सका-  
शात्पारिप्लवशेषत्वे (त्वं) ज्यायोऽनुष्ठानपर्यवसानत्वसंभवादिति वृष्टान्तेन  
सूत्रावयवेनाऽऽक्षिप्य तदवयवेन समाधत्ते—पारिप्लवार्था इति । 'अथ  
ह याज्ञवल्क्यस्य' इत्याद्युपाख्यानश्रुतयः पारिप्लवार्था इति चेन्न ।  
कुतः । पारिप्लवमाचक्षीतेत्युपक्रम्य 'मनुर्वैश्वतः' इत्यादिना विशे-  
षितत्वात् ॥ २३ ॥

ननूपलक्षणार्थं तद्विशेषणं स्यादित्यत आह—तथेति । चकार उप-  
लक्षणार्थत्वं वारयति । तथाऽऽख्यानानां पारिप्लवार्थत्वेऽसति संनिहित-

(ब० व० १) दित्यर्थः । कथानां विद्यास्तुतिलक्षकत्वेन विद्याज्ञानसौकर्यार्थत्वेन च विद्यैकवाक्यत्वं बोध्यम् । तस्मात्संनिहितविद्याशेषत्वमेव कथानामिति सिद्धम् ॥ २४ ॥

एवं पुरुषार्थाधिकरणे ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्यं प्रतिपाद्य तत्प्रसक्त्या प्राप्तं विचारं परिसमाप्य पुरुषार्थाधिकरणस्य फलमाह—

( आत्मबोधस्य कर्मानपेक्षत्वम्, अधि० ५ )

अत एव चाग्नीन्धनायनपेक्षा ॥ २५ ॥

किं ब्रह्मविद्या स्वफले मोक्षे शेषत्वेन यज्ञादिकर्माण्यपेक्षते न वेति संदेहे कथानां विद्याशेषत्वेनापेक्षावत्कर्मणामपि फले विद्या-शेषत्वेनापेक्षा न्याय्या, यज्ञादिश्रुत्या विविदिषायां विनियुक्तयज्ञा-दीनां विषयसौन्दर्यलभ्यायां तस्यामनन्वयादिच्छाविषयज्ञानसाध्यमो-क्षेऽन्वयस्य संभवादपेक्षत इति प्राप्ते ब्रूमः । आद्याधिकरणे ब्रह्म-विद्यायाः कर्मशेषत्वनिरासेन यत्पुरुषार्थहेतुत्वमुक्तं तदतःशब्देन \*परा-मुच्यते । अत एव ब्रह्मविद्यायाः स्वातन्त्र्येण पुरुषार्थहेतुत्वादेव । अग्नीन्धनशब्देन स्वस्वाश्रमविहितानि कर्माणि लक्ष्यन्ते । विद्या-फले मोक्षे कर्मापेक्षा नास्ति शुक्तिज्ञानस्येव रजतभ्रमनिवृत्तावित्यर्थः । अयं भावः—यज्ञादिश्रुत्या विविदिषायामेव कर्मणां विनियोगश्रवणाच्च मोक्षे कर्मापेक्षा । न च विषयसौन्दर्यलभ्यायां तस्यामनन्वयः कर्मणामिति वाच्यं ब्रह्मज्ञाने चोत्पत्तिप्रतिबन्धककल्मषनिवृत्तिजननद्वारेच्छायामन्व-यसंभवादिति । अस्याऽऽद्याधिकरणफलपरत्वाच्च पृथक्पादसंगत्याद्य-पेक्षा ॥ २५ ॥

(दी० १) विद्योपयोगो न्याय्यस्तद्गतोपाख्यानानाम् । कुतः । एकवाक्यतोपब-न्धात् । तत्र तत्राऽऽख्यानानां विद्याभिः संबन्धस्योपलम्भात् ॥ २४ ॥

पूर्वाधिकरण आख्यानानां विद्यानां संनिधेर्विद्याशेषत्वमुक्तम् । तर्हि विद्याप्रकरणे वा यज्ञेनेत्यादिवाक्येन यज्ञादीनां विद्यायां विनि-योगात्तेषां विद्याशेषत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अत एवेति । चकारः कारणान्तरं व्यावर्तयति । यतो ज्ञानं पुरुषार्थोऽत एव विद्यायाः स्वफलेऽग्नीन्धनादिकर्मणामनपेक्षा ॥ २५ ॥

\* ख. अनुवादः क्रियते ।



(ब्र० व० १) (विद्यायाः स्वोत्पत्तौ कर्मसापेक्षत्वम्, अधि० ६)

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्वत् ॥ २६ ॥

ब्रह्मविद्या किं स्वोत्पत्तौ कर्माण्यपेक्षते न वेति संदेहः । पूर्वपक्षे ज्ञानार्थं यज्ञाद्यनुष्ठानाभावः फलं सिद्धान्ते तदनुष्ठानावश्यंभावः । अत्र यज्ञादीनां शमादीनां च ज्ञानसाधनानां निरूपणादस्ति पाद-संगतिः । तत्र यथा ब्रह्मविद्यायाः प्रमात्वाच्छ्रुतिज्ञानस्येव स्वफले कर्मानपेक्षा तथा स्वोत्पत्तावपि न कर्मापेक्षा प्रमात्वादेवेति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । विद्यायाः स्वोत्पत्तौ सर्वेषामाश्रमकर्मणामपेक्षाऽस्ति । कुतः । यज्ञादिश्रुतेः । ‘तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन’ [बृ० ४।४।२२] इत्येवंरूपायाः कर्मणां सर्वेषां ज्ञानसाधनत्वबोधिकायाः श्रुतेः । यद्यप्यत्र विविदिषन्तीति वर्तमानापदेशः प्रतिभाति न विधिस्तथाऽपि यज्ञादीनां ज्ञानसंयोगस्यापूर्वत्वाद्विधिः कल्प्यो ब्रह्मानुभवकामो यज्ञादि कुर्यात् । न चानुभवस्य प्रमाणाधीनत्वान्न यज्ञाद्यपेक्षेति वाच्यम् । मलिनान्तःकरणस्य सत्यपि प्रमाणेऽनुभवानुत्पत्तेरनुभवोत्पत्तिप्रतिबन्धकान्तःकरणमालिन्यनिवृत्त्यादिपरम्परया ज्ञानस्य यज्ञादिजन्यत्वेन तदपेक्षाया आवश्यकत्वादिति । ननु परम्परया ज्ञानोत्पत्तौ कर्मापेक्षावन्मोक्षेऽप्यपेक्षाऽस्तु तत्राऽऽहाश्ववदिति । यथाऽश्वो योग्यताबलाद्रथचर्यायां विनियुज्यते न लाङ्गलाकर्षणे तद्वत्कर्मणां मोक्षे योग्यत्वाभावान्नापेक्षेत्यर्थः ॥ २६ ॥

(दी० १) पूर्वाधिकरणे विद्याफले कर्मानपेक्षोक्ता यथा फले तद्वदुत्पत्तावपीति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सर्वेति । चकाराद्विद्याया उत्पत्तावनपेक्षत्वं वारयति । सर्वापेक्षा सर्वस्याऽऽश्रमादिकर्मजातस्य विद्याया उत्पत्तावपेक्षा । कुतः । यज्ञादिश्रुतेः । ‘विविदिषन्ति यज्ञेन’ इत्यादिना विद्यायाः । अश्ववदिति । योग्यतानिर्दर्शनम् । सदश्वो रथस्य वहनेऽपेक्षितो न लाङ्गलस्यैवं विद्याया उत्पत्तौ कर्मापेक्षा न ज्ञानफले ॥ २६ ॥

(ब्र० व० १) ज्ञानोत्पत्तौ बहिरङ्गमुक्त्वाऽन्तरङ्गमाह—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधे-  
स्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ २७ ॥

यदि कश्चिज्ज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वे विध्यभावाद्ब्रह्मविद्यार्थं नानु-  
ष्ठेयत्वं मन्येत तथाऽपि शमदमाद्युपेतस्तु ब्रह्मविद्यार्थी स्यादेव । कुतः ।  
तद्विधेः । ‘तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्ति तिक्षुः समाहितो  
भूत्वाऽऽत्मन्येवाऽऽत्मानं पश्यति’ [बृ० ४।४।२३] इति तदङ्गतया विद्या-  
हेतुत्वेन तेषां शमादीनां विधानाद्विहितानां च तेषामवश्यानुष्ठेयत्वादि-  
त्यर्थः । यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वे विधिर्नास्तीति परभ्रान्तिमभ्युपेत्यैवमुक्तं  
भगवता सूत्रकृता—तथाऽपि त्विति । वस्तुतो विधिरस्तीत्युक्तमेवेति  
बोध्यम् । यस्मादेवमात्मानं विदित्वा पापेन कर्मणा न लिप्यते तस्मादेवं-  
विच्छमाद्युपेतो भूत्वा विचारयेदिति श्रुत्यर्थः । अत एव विदिति विद्यासं-  
निधानाच्छमादीनामन्तरङ्गत्वं विविदिषासंनिधानाद्यज्ञादीनां बहिर-  
ङ्गत्वं बोध्यम् ॥ २७ ॥

( आपदि सर्वान्नाभ्यनुज्ञानम्, अधि० ७ )

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तदर्शनात् ॥ २८ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते प्राणसंवादे ‘न ह वा अस्यानन्नं जग्धं भवति’  
[ बृ० ६।१।१४ ] इति । अस्य प्राणोपासकस्य यज्जन्तुमात्रस्य  
जग्धं भक्षं तत्सर्वमनन्नं न भवति हादनीयमेव भवतीत्यर्थः । तत्र संशयः

(दी० १) तर्हि कर्माण्येव सन्तु न ज्ञानोत्पत्तावन्यदनुष्ठेयमित्यत आह—शमद-  
मेति । यद्यपि कर्माणि विद्योत्पत्ता(त्त्य)र्थानि तथाऽपि नैतान्यन्तरङ्गाणि  
अतः शमदमाद्युपेतः । तुशब्दः शङ्कानिराकरणार्थः । कुतः । तद्विधेः ।  
तेषां शमादीनां शान्त इत्याद्युपक्रम्य पश्येदिति विधेः । स विधिः  
स्वतन्त्र इत्यत आह—तदङ्गतया । तस्या विद्याया अङ्गत्वेन विधिर्यत-  
स्ततो विद्यार्थिना तेषामवश्यानुष्ठेयत्वादन्तरङ्गसाधनत्वं तेषाम् ॥ २७ ॥

पूर्वाधिकरणे विविदिषन्तीति पञ्चमलकाराश्रयणेन विधिरुक्तः ।  
एवं नानन्नं भवतीति विधिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते सर्वान्नेति ।

( ब्र० व० । ) किमियं प्राणोपासकस्य सर्वान्नानुमतिः शमादिवद्विद्याङ्गं विधीयत उत स्तुत्यर्थं कथ्यत इति । पूर्वपक्षे प्राणविदो मक्ष्यामक्ष्यविभागा सिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति । अत्र ब्रह्मविद्यासाधनस्य प्राणविद्यायाः स्वतन्त्रपुरुषार्थहेतोः स्तुत्यर्थं सर्वान्नानुज्ञानमिति निरूपणात्पादसंगतिः । तत्र विद्यासंनिधानाच्छमादिवद्विद्याङ्गमेव सर्वान्नानुमतिरिति प्राप्ते ब्रूमः- न सर्वान्नानुज्ञानं विद्याङ्गं विधीयते विध्यभावाच्छ्वादिमर्यादस्यान्नस्य प्राणोपासकेनात्तुमशक्यत्वाच्च न ह्यशक्ये विधिः संभवतीति तस्मात्प्राणविद्यायां प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति यच्चिन्तनं विहितं तत्प्रशंसार्थोऽयमर्थवादः । इदमभिप्रेत्याऽऽहसूत्रकारः ‘सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये’ इति । सावधारणमिदं सूत्रं प्राणात्यय एव हि परस्यामापदि सर्वमन्नं सुरावर्ज्यं विद्वांसमविद्वांसं प्रति वाऽदनीयत्वेनानुमतं न स्वस्थं प्रति । तद्दर्शनात् । अभक्ष्यमक्षणस्याऽऽपत्काल एव श्रुतौ दर्शनादित्यर्थः । तथा हि ‘मटचीहतेषु कुरुषु’ [ छा० १ । १० । १ ] इत्येतस्मिन्ब्राह्मणे चाक्रायणः किलर्षिः कुरुदेशे दुर्भिक्षे जाते क्षुत्पीडितो देशान्तरमागतः कदाचिद्धस्तिपालकदेशसंनिविष्टस्तेन हस्तिपालकेनार्धभक्षितान्क्रुत्सितान्माषान्याचित्वा भक्षितवान्तेनोदपानं गृहाणेत्युक्ते सत्युच्छिष्टं न पीतं स्यादिति प्रतिषिध्य किमेते माषा उच्छिष्टा नेति हस्तिपालकेनोक्ते नेत्यत्र हेतुमाह चाक्रायणः । कुल्माषभक्षणं यद्यहं न कुर्यां तर्हि मे जीवनमेव न स्यादुदपानं तु तडाकादिषु स्वेच्छातो भविष्यतीति एवंमिभ्योच्छिष्टान्माषान्खादित्वा शिष्टाञ्ज्जायायै ददौ । तथा च भर्तुः स्वभावज्ञया निहितानुत्तरदिनेऽपि भक्षितवानिति श्रुतम् । एवं स्वपरोच्छिष्टपर्युषितान्नभक्षणं दर्शयन्त्याः श्रुतेरयं भावः—परस्यामापदि प्राणनिर्वाहार्थमभक्ष्यमपि भक्षणीयं स्वस्थावस्थायां विदुषाऽपि तन्न कर्तव्यमिति । मटचीशब्देन पाषाणवृष्टयो रक्तवर्णाः क्षुद्रपक्षिविशेषा वा ग्राह्याः । तस्मात्सर्वान्नानुज्ञानमर्थवादमात्रम् ॥ २८ ॥

( दी० । ) ‘न ह वा एवंविदि’ इत्यादिना सर्वान्नानुमतिरनुज्ञाता साऽपि प्राणात्यये घोरायामापदि । कुतः । तद्दर्शनात् । तस्य प्राणात्यये सर्वान्नभक्षणस्य ‘मटचीहतेषु’ इत्यादिना दर्शनात् ॥ २८ ॥

अवाधाच्च ॥ २९ ॥

( ब्र० व० । ) भक्ष्याभक्ष्यविभागशास्त्रस्यावाधाच्चार्थवादमात्रमित्यर्थः ।  
अन्यथा सामान्यशास्त्रं विशेषपरतया नियम्यमानं बाधितं स्यादिति  
भावः ॥ २९ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३० ॥

अपि च परस्यामापदि विदुषोऽविदुषश्च सर्वान्नमक्षणं स्मर्यते—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।

लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा [मनु० १०।१०४] इति ।

तथा ' मद्यं नित्यं ब्राह्मणो वर्जयेत् ' [ गौ० सू० २ । २० ] इति ।

तस्मात्स्वस्थेन विदुषाऽपि नाभक्ष्यं भक्षयितव्यम् ॥ ३० ॥

स्मृतिमूलभूतां श्रुतिमप्याह—

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३१ ॥

अस्याभक्ष्यभक्षणस्य प्रतिषेधकः ' तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत् ' इत्येवंरूपः शब्दश्चाकामकारे स्वेच्छाकृतप्रवृत्तिनिरासे वर्तत इत्यर्थः । तस्मात्प्राणविदः सर्वान्नानुज्ञानमर्थवादमात्रमिति सिद्धम् । श्रुतौ तस्मादिति सुरापब्राह्मणस्यात्युष्णसुरासेकस्य मरणान्तप्रायश्चित्तस्य सत्त्वादित्यर्थः ॥ ३१ ॥

(विद्यार्थानामाश्रमधर्माणां च यज्ञादीनां सकृदनुष्ठानम्, अधि० ८)

(दी०) ननु श्रुतस्य कस्मात्संकोचः क्रियत इत्यत आह—अवाधेति । ' आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः ' इत्यादेः शास्त्रस्य । चशब्दाच्छिष्टाचारस्य ॥ २९ ॥

ननु शास्त्रद्वयं विद्वदविद्वद्विषयं भवत्वित्यत आह—अपीति । ' जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ' इत्यादिना साधारण्यमपिशब्दो दृश्यतेऽपीत्याह ॥ ३० ॥

ननु निषेधाभावे नेदं बुद्धिसामर्थ्यात्कल्पयितुं शक्यमित्यत आह—शब्देति । अकामकारः कामकारनिवृत्तिप्रयोजनः कठानाम् । ' तस्माद्ब्राह्मणः सुरां न पिबेत् ' इति सर्वत्र प्रतिषेधकः शब्दः । अतोऽस्माद्विधेरभावात्सोऽप्युपपन्नः । चकारो लौकिकं प्रतिषेधमाह ॥ ३१ ॥

विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्माणि ॥ ३२ ॥

(ब्र० व० १) सर्वापेक्षा [ ब्र० सू० ३ । ४ । २६ ] इत्यत्र स्वस्वाश्रमनित्यकर्मणां तत्त्वज्ञानसाधनत्वमुक्तं तानि नित्यकर्माण्यमुमुक्षुणा कर्तव्यानि न वेति संदेहः । तत्र ' तमेतं वेदानुवचनेन ' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इत्यादिना विद्यासाधनत्वनिरणयाच्च कर्तव्यानीति प्राप्तम् । यद्वा सर्वान्नानुमतेः शास्त्रान्तरविरोधात्स्तुतित्ववद्यावज्जीवमित्यादिकर्मनित्यत्वशास्त्रविरोधाद्यज्ञादीनां ज्ञानसाधनत्वश्रुतिः स्तुतिमात्रम् । अन्यथा नित्यत्वेनावश्यानुष्ठेयत्वं ज्ञानार्थत्वेन काम्यतयाऽवश्यानुष्ठेयत्वाभावश्चेत्येकस्मिन्कर्माणि विरुद्धधर्मद्वयं स्यादिति प्राप्ते ब्रूमः । अमुमुक्षुणाऽप्याश्रमकर्मानुष्ठेयमेव ' यावज्जीवमग्निहोत्रम् ' इत्यादिना विहितत्वादित्यर्थः ॥ ३२ ॥

नन्वेवं सति विद्यासाधनत्वं कर्मणां न युक्तं विरुद्धधर्मद्वयापत्तेरिति ह्युक्तमित्यत आह—

सहकारित्वेन च ॥ ३३ ॥

विद्यासहकारित्वेनापि सत्त्वशुद्ध्यादिद्वारा विद्यासाधनत्वेनापि नित्यकर्माण्यनुष्ठेयानि यज्ञादिश्रुत्या विद्यार्थत्वेन विहितत्वादेवेत्यर्थः । यथैकस्य खादिरत्वस्य ' खादिरो यूपो भवति ' 'खादिरं वीर्यकामस्य ' इति शास्त्रद्वयात्कत्वर्थत्वेन नित्यत्वं पुरुषार्थत्वेनानित्यत्वं चाविरुद्धं तद्वदिहापि शास्त्रद्वयबलात्कर्मणां नित्यत्वं काम्यत्वं चाविरुद्धम् । सिद्धे हि वस्तुनि विरुद्धधर्मद्वययोगो बाधको न तु साध्ये कर्मण्युभयथाऽप्यनुष्ठानसंभवात् । न च काम्यत्वे यावज्जीवमिति नित्यत्वश्रुतिविरोधः काम्यानुष्ठानेनैव नित्यसिद्धिरिति तात्पर्यम् । अत्र पूर्वपक्षे यज्ञादिश्रुतेः स्तुतिपरत्वं फलं सिद्धान्ते विधायकत्वमिति बोध्यम् ॥ ३३ ॥

(दी० १) पूर्वाधिकरणे यथा शास्त्रान्तरविरोधात्सर्वान्नानुवचनं विद्यायाः स्तावकमुक्तं तद्वद्विविदिषावचनमपि विद्यायाः स्तावकमिति । अन्यथा कर्मणामनेकत्वाभावान्मुमुक्षोरेवानुष्ठेयत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—विहितेति । चकारस्त्वर्थः । स हि मुमुक्षोश्चानुष्ठेयत्वं कर्मणां वारयति किंत्वनुष्ठेयममुमुक्षुणाऽप्याश्रमकर्माग्निहोत्रादिकम् । कुतः । विहितत्वात् । ' यावज्जीवमग्निहोत्रम् ' इत्यादिना ॥ ३२ ॥

एवं चेद्विद्यासाधनानि न स्युरित्यत आह—सहेति । सहकारित्वं साधनत्वं यज्ञेनेत्यादिना विद्यासाधनत्वेनापि विहितत्वादित्यर्थः ॥ ३३ ॥

[भ० १ पा० ४ सू० १९-२१] ब्रह्मासृतवर्षिणीदीपिकाभ्यां समेतानि । २५१

( ब० १० । ) ननु ज्ञानकाण्डस्थयज्ञादिश्रुत्या कर्मकाण्डस्थयज्ञाद्यनुवादेन ज्ञानसाधनत्वविधानं युक्तं किंत्वपूर्वयज्ञादीनामेव प्रकरणभेदेन कर्मभेद-  
स्याऽऽवश्यकत्वादित्यत आह—

सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३४ ॥

सर्वथाऽपि नित्यत्वेन ज्ञानार्थत्वेन चानुष्ठेया यज्ञादयो धर्मास्त एव न कर्मभेदोऽस्ति । कुतः । उभयलिङ्गात् । श्रुतिलिङ्गात्स्मृतिलिङ्गाच्चेत्यर्थः । तथा हि श्रुतिलिङ्गं ' यज्ञेन विविदिषन्ति ' इति । यज्ञादिशब्देन प्रसि-  
द्धयज्ञाद्यनुवादेन विद्यासाधनत्वं विधीयते न तु ' मासमग्निहोत्रं जुह्वति ' [ कात्या० श्रौ० २४ । ४ । २४ ] इत्यत्रेव प्रसिद्धाग्निहोत्रा-  
त्कर्मन्तरम् । तत्र हि जुह्वतीतिविधायकाख्यातप्रकृतिभूतस्य जुहोते-  
रर्थोऽग्निहोत्रमिति युक्तः । तस्य प्रसिद्धाग्निहोत्राज्ज्ञेदो जुहोतेः साध्य-  
होतृव्यक्तिवचनत्वेन सिद्धाग्निहोत्रपरामर्शानुपपत्तेः । \* अत एव +तदे-  
कार्थकाग्निहोत्रशब्दस्य न नित्याग्निहोत्रानुवादकत्वं व्यक्तिवचनत्वादेव ।  
× प्रकृते तु न यज्ञादिर्विधायकाख्यातप्रकृत्यर्थो विविदिषाया एव तदर्थ-  
त्वात् । तस्मादाख्यातप्रकृत्यर्थान्निन्नार्थकैर्यज्ञादिशब्दैः प्रसिद्धयज्ञाद्य-  
नुवादेन विद्यासंयोगमात्रमपूर्वं विधीयत इति न कर्मभेदः । स्मृतिलि-  
ङ्गमपि—

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः [भ० गी० ६ । १ ]

इति प्रसिद्धमेव कर्म ज्ञानार्थं दर्शयति । तस्मान्न कर्मभेदः ॥ ३४ ॥

(दी० १) ननु तर्हि दर्शपौर्णमासादीनां विद्याङ्गत्वेन विहिता[ना]मन्यत्वं प्रसिद्धेभ्य इत्यत आह—सर्वथेति । सर्वथाऽप्याश्रमकर्मपक्षे विद्यासह-  
कारित्वपक्षेऽपि च त एवाग्निहोत्रादयो धर्मा अनुष्ठेयाः । कुतः । उभय-  
लिङ्गात् । श्रुतिस्मृतिलिङ्गात् । ' विविदिषन्ति ' इत्यादिका श्रुतिः ।  
कर्मफलमित्यादिका स्मृतिः । ते एव हि प्रसिद्धवदुत्पन्नानां कर्मणां  
विनियोगं कुर्वत्यावेकत्वे लिङ्गं तस्मात् ॥ ३४ ॥

\* ख. जुहोत्येकार्थका । + ख. प्रकृतार्थत्वात् । × ख. विविदिषन्तीत्यत्र

१ ख. 'होमव्य' । २ ग. 'त्रस्य' । ३ ख. नां विद्यासहकारित्वपक्षे कर्मभेदोऽतः ।

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३५ ॥

(ब्र० ४०१) रागादिभिः क्लेशैः 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येणानुबिन्दते'  
[ छा० ८।५।३ ] इत्याद्या श्रुतिर्ब्रह्मचर्यादेराश्रमकर्मणो मनःशुद्धि-  
द्वारा ज्ञानसाधनत्व आत्मानभिभवं लिङ्गं दर्शयतीत्यर्थः । तस्मात्सर्व-  
आश्रमनित्यकर्मणां ज्ञानार्थत्वमिति सिद्धम् ॥ ३५ ॥

(अनाश्रमिणो ज्ञानसंभावनम्, अधि० ९)

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३६ ॥

अस्त्यन्तराले वर्तमानो विधुरस्तस्य किं ब्रह्मविद्यायामधिकारोऽस्ति  
न चेति संदेहे यज्ञादिश्रुत्याऽऽश्रमकर्मणामेव ज्ञानसाधनत्वविधानादा-  
श्रमिणामधिकारेऽपि विधुरकृतकर्मणां ज्ञानहेतुत्वाभावात्तास्त्यधिकार  
इति प्रत्युदाहरणेन प्राप्ते ब्रूमः । अन्तरा चापि । आश्रममन्तरा वर्त-  
मानस्याप्यस्त्यधिकारः । तस्य ब्रह्मविद्याधिकारस्यानाश्रमिणो रैकादेः  
श्रुतौ स्मृतौ च दर्शयित्वात्यर्थः । पूर्वपक्षेऽनाश्रमिणां जपादीनां विद्याहे-  
तुत्वासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् ॥ ३६ ॥

अपि च स्मर्यते ॥ ३७ ॥

संवर्तप्रभृतीनां च नग्नचर्यादियोगादनपेक्षिताश्रमकर्मणामपि महा-

(दी० १) ननु साधनसंपन्नस्य यदि विद्यायां कश्चनातिशयः श्रुतो वा दृष्टो वा  
स्यात्तदा यज्ञादीनां सहकारित्वं कल्प्यमानमुचितं स्यादित्यत आह—  
अनभिभवमिति । 'एष ह्यात्मा न नश्यति यं ब्रह्मचर्येण' इत्यादिना ।  
अकारोऽत्र प्रत्यक्षमप्याह ॥ ३५ ॥

पूर्वाधिकरणे नित्यादीनां यज्ञादीनां विद्यायां पृथङ्नियोगान्न नित्या-  
नित्यसंयोगवियोगविरोध इत्युक्तम् । मा भूद्गृहस्थाश्रमकर्मणि विरोधो  
विधुरादिकर्मणि स स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—अन्तरेति । अन्तरा  
विधुरादीनामन्तरालवर्तिनां विद्यायामधिकारः । कुतः । तद्दृष्टेः । तस्या-  
धिकारस्य रैकादिषु दृष्टेः । तुकारस्त्वन्तरालवर्तिनामनधिकारं व्याव-  
र्तयति । अकारोऽन्येषामप्यधिकारं समुच्चिनोति ॥ ३६ ॥

नन्विदं दर्शनमस्मार्तमित्यत आह—अपीति । संवर्तप्रभृतीनामन्त-

(ब्र० व० १) योगित्वं स्मर्यत इतिहासे ॥ ३७ ॥

ननु रैकादीनां जन्मान्तरकृतादपि कर्मणो विद्यासंभवाच्च तेषां विद्यादर्शनमाधुनिकानाश्रमिणो विद्याधिकारे लिङ्गं विद्याहेतुभूतकर्माभावादित्यत आह—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३८ ॥

अनाश्रमिणोऽपि जपोपासनादेवताराधनादिभिः कर्मविशेषैर्ज्ञानहेतुभिरास्ति विद्यायामनुग्रह इत्यर्थः । तथा हि—

जप्येनैव तु संसिध्येद्ब्राह्मणो नात्र संशयः ।

इति स्मृतिर्ब्राह्मणमात्रसंबन्धित्वं जपस्य दर्शयन्ती विधुरस्यापि विद्यायामधिकारं दर्शयति । तस्मादस्त्यनाश्रमिणोऽधिकारः ॥ ३८ ॥

ननु यदि विधुरस्यापि ब्राह्मणवर्णमात्रसंबन्धिजपादिनैव विद्यासिद्धिस्तर्ह्याश्रमित्वं व्यर्थमित्यत आह—

अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३९ ॥

अतस्त्वनाश्रमित्वादितरदाश्रमित्वं बहुज्ञानसाधनसमानाधिकरणं ज्यायः शीघ्रमेव विद्याहेतुः श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात् । ‘तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृतैजसश्च’ ( बृ० ४ । ४ । ९ ) इति श्रुतौ पुण्यकृत्वविशेषणरूपश्रुतिलिङ्गाच्चेत्यर्थः । तेन ज्ञानेनैति ब्रह्म प्राप्नोति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्स्वाश्रमोक्तकर्मकृत्तेजसि परमात्मन्यात्मत्वेन वर्तत इति तैजसः । तत्र

(दी० १) रालवर्तिनां महायोगित्वं पुराणे ॥ ३७ ॥

ननु कर्महीनानामनुष्ठानांतराकरणानां कथं विद्यायामधिकार इत्यत आह—विशेषेति । तेषामपि जपोपवासादिकर्मविशेषैरनुग्रहः । अकाराज्जन्मान्तरकृतैरपि ॥ ३८ ॥

एवं चेदाश्रमकर्मणामनुष्ठानं व्यर्थमित्यत आह—अत इति । तुशब्द आश्रमकर्मणामनुष्ठानस्यावैयर्थ्यमाह । अतोऽन्तरालवर्तित्वादितरदाश्रमवर्तित्वं ज्यायः श्रेष्ठं विद्यासाधनम् । कुतः । श्रुतिस्मृतिलिङ्गाच्च । श्रुतिस्थालिङ्गम् ‘तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत’ इत्यादि । स्मृतिलिङ्गम्

‘अनाश्रमी न तिष्ठेत् दिनमेकमपि द्विजः ।

संवत्सरमनाश्रमी स्थित्वा कृच्छ्रं चरेत्’ ॥



(ब्र० व० ॥) पुण्यकृत्त्वविशेषणादाश्रमित्वं ब्रह्मप्राप्तिहेतुतया ज्याय इति गम्यते ॥ ३९ ॥

नन्वा(न्वना)श्रमिणामपि कर्म विद्याहेतुश्चेदुत्तमाश्रमात्पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य कर्म विद्याहेतुरिति किमु वाच्यमिति कैमुतिकन्यायसंगत्याऽऽक्षेपे समाधत्ते—

(आश्रमिणामवरोहामावनिरूपणम्, अधि० १०)

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि  
नियमातद्रूपाभावेभ्यः ॥ ४० ॥

किमुत्तमाश्रमात्पूर्वाश्रमं प्राप्तस्य कर्म विद्याहेतुर्वा न वेति संदेहः । पूर्वपक्ष आश्रमप्रच्युतस्याऽऽश्रमिणः कर्मणो विद्याहेतुत्वाभाव आश्रमज्यायस्त्वं न स्यादिति फलं सिद्धान्ते प्रच्युतेरप्रामाणिकत्वादाश्रमज्यायस्त्वमिति मन्तव्यम् । तत्राऽऽश्रमात्प्रच्युतस्यापि कर्म ज्ञानहेतुरिति प्राप्ते ब्रूमः । तद्भूतस्य प्राप्तोत्तमाश्रमस्यातद्भाव उत्तमाश्रमात्प्रच्युतिर्न कथमपि संभवतीति जैमिनेरप्याचार्यस्य संमतम् । अपिशब्देन स्वस्य बादरायणस्य संमतमेवेति दर्शितम् । कुतः । अरण्यमियादित्यादिनियमात् । अरण्यशब्देनैकान्तिकोपलक्षित उत्तमाश्रम उच्यते तमियाद्रुद्धेदित्ययं शास्त्रमार्गः । तस्मादुत्तमाश्रमान्न प्रत्यवरोहेदित्युपनिषद्ग्रहस्यमित्यर्थः । अतद्रूपशब्देन प्रत्यवरोहबोधकश्रुत्यभाव उच्यतेऽभावशब्देन शिष्टाचाराभावः । ततोऽप्याश्रमप्रत्यवरोहो न युक्त इत्यर्थः । तस्मात्प्रच्यु-

(दी० ॥) इत्यादि तस्मात् । चकारस्ताभ्यां विहितत्वमप्याह ॥ ३९ ॥

पूर्वाधिकरणेऽनाश्रमिकर्मणामपि विद्यासाधनत्वमुक्तम् । एवं चेदाश्रमभ्रष्टानामपि तद्देवानाश्रमिकर्मत्वेन विद्यासाधनत्वमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तद्भूतस्येति । तुशब्द उत्तमाश्रमाधिरूढस्याऽऽमरणं तस्मिन्नेवावस्थानमाह । तद्भूतस्य संन्यासाश्रमिणोऽतद्भावोऽतदाश्रमावस्थितिस्तत्परित्यागमात्रं वा नेति जैमिनेराचार्यस्य मतं किमु बादरायणस्य । कुतः । नियमातद्रूपाभावेभ्यः । नियमनं नियमस्ततो न पुनरेयादित्यादिः । अतद्रूपं यथा ब्रह्मचर्यादाश्रमत्रयगमनं तद्रूप्यते शब्ध्यते

(ब्र० व० १) तेरप्रामाणिकत्वान्न प्रच्युतस्य कर्म विद्याहेतुरिति सिद्धम् ॥ ४० ॥

एवं प्रत्यवरोहोऽशास्त्रीय इत्युक्तम् । यदि प्रमादात्प्रत्यवरोहो नैष्ठिक-  
ब्रह्मचारिणा कृतस्तस्य किं प्रायश्चित्तमस्ति न वेति संदेहे नास्तीति  
पूर्वपक्षमाह—

( भ्रष्टोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तसद्भावः, अधि० ११ )

न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ४१ ॥

पूर्वं प्रच्युतस्य कर्म न विद्याहेतुरित्युक्तमिदानीं प्रच्युतस्यापि  
कृतप्रायश्चित्तस्य कर्म विद्याहेतुरिति पूर्वसिद्धस्यो\*त्सर्गस्यापवादात्सं-  
गतिः । पूर्वपक्षे प्रच्युतस्योर्ध्वरेतसः पातित्यमेवेति फलं सिद्धान्ते  
कृतप्रायश्चित्तस्य तस्य फलसिद्धिरिति मन्तव्यम् । ‘ ब्रह्मचार्यवकीर्णी  
नैर्ऋतं गर्दभमालभेत, इति प्रायश्चित्तं श्रुतं तदधिकारलक्षणे ‘अवकीर्णि-  
पशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकालत्वात् ’ [ जै० सू० ६ । ८ । ४ । २२ ]  
इत्यत्र निर्णीतम् । अवकीर्णशब्देन योनौ निषिक्तं रेत उच्यते तदस्या-  
स्तीत्यवकीर्णी तस्य यः पशुः स लौकिकाग्नौ होतव्यो यथोपनयकाले  
लौकिकाग्नौ होमस्तद्वदाधानस्य पत्नीपरिग्रहोत्तरकालतया पूर्वमप्राप्तका-  
लत्वादिति । तदिदमधिकारलक्षणे सिद्धं प्रायश्चित्तमाधिकारिकम् ।  
तदपि नैष्ठिकस्यावकीर्णिनो नैवास्ति । कुतः ।

आरूढो नैष्ठिकं धर्मं यस्तु प्रच्यवते पुनः ।

प्रायश्चित्तं न पश्यामि येन शुध्येत्स आत्महा ॥

(दी० १) नैवं संन्यासादिभ्य आश्रमान्तरम् । अभावश्च शिष्टाचारस्य संन्या-  
सादीनां गार्हस्थ्य(?)स्य स्वीकारस्तेभ्यः ॥ ४० ॥

पूर्वाधिकरणे शास्त्राभावाच्च तत्प्रत्यवरोह इत्युक्तम् । तद्वदेव शास्त्रा-  
भावान्न तेषां प्रायश्चित्तमित्याक्षिपति—न चेति । अधिकारलक्षणे षष्ठा-  
ध्याय उक्तमाधिकारिकम् । ‘अवकीर्णिपशुश्च तद्वदाधानस्याप्राप्तकाल-  
त्वात्’ [ पू० मी० सू० ६ । ८ । २२ ] इति । अवकीर्णिपशुः ‘यो ब्रह्म-  
चारी स्त्रियमुपेयात्स गर्दभं पशुमालभेत’ इति ब्रह्मचारिणः स्त्रीगमने  
गर्दभः पशुः सोऽपि तद्वदुपनयनहोमवत् । यथोपनयनहोमो लौकिकाग्नौ  
तद्वदयमपि पशुर्लौकिक एव । कुतः । आधानस्य वारसंग्रहपुरःसरस्य

(ब्र० व० १) इति । पतनानुमानात् । अनिवर्त्यपातित्यश्रुत्यनुमापकस्मरणात् ।  
तस्य प्रायश्चित्तस्यायोगादित्यर्थः ॥ ४१ ॥

समाधत्ते—

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ४२ ॥

नेदं महापातकं येनोक्तप्रायश्चित्ताभावः स्यात् । ‘अपि त्वेके’  
आचार्या उपपदपूर्वकमेवेदं पातकं मन्यन्ते यद्गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र गमनं  
तस्मादेतस्योपपातकत्वादुपकुर्वाणस्येव नैष्ठिकस्याप्युक्तप्रायश्चित्तभाव-  
मिच्छन्त्युभयोर्ब्रह्मचारित्वे सत्यवकीर्णित्वाविशेषात् । अशनवत् । यथा  
ब्रह्मचारिणो मधुमांसाशिनो व्रतलोपः पुनः संस्कारश्च तद्वत्प्रायश्चित्ता-  
भावस्य शास्त्रप्रसिद्ध्यभावात्प्रायश्चित्तस्य च तत्सत्त्वात्प्रायश्चित्तं पुनर्युक्त-  
मभ्युपगन्तुम् । अस्मिन्नर्थे यववराहाधिकरणसंमतिमाह—तदुक्तमिति ।  
‘यवमयश्चरुर्मवति’ ‘वाराही उपानहावुपमुञ्चते’ इत्यत्र यववराहश-  
ब्दाभ्यां किं प्रियङ्गुकृष्णशकुनयोर्ग्रह उत दीर्घशूकमूकरयोरिति संदेहे

(दी०) ब्रह्मचारिणोऽप्राप्तकालत्वादिति यदुक्तं तदपि न नैष्ठिकब्रह्मचारिण  
एवं प्रायश्चित्तं कृतम् । ‘आरूढो नैष्ठिकं धर्मम्’ इत्यादिनाऽप्रतिबन्धे  
(समाधे) यस्य पतनस्यानुमानात्स्मरणात् । अतश्छिन्नशिरस इव प्रति-  
क्रियामावान्नैष्ठिकस्य प्रायश्चित्तायोगादिति पूर्वपक्षः ॥ ४१ ॥

सिद्धान्तमाह—उपपूर्वेति । तुशब्दः प्रायश्चित्ताभावं व्यावर्तयति ।  
एक आचार्या गुरुदारादिभ्योऽन्यत्र ब्रह्मचर्यच्यवनमुपपूर्वमपि उपपातकम-  
प्याहुः किमुत प्रायश्चित्तम् । अशनवत् । यथा मधुमांसादिभक्षण उप-  
कुर्वाणस्य पुनः संस्कारः प्रायश्चित्तं तद्वत् । तदुक्तं प्रमाणलक्षणे—‘समा  
विप्रतिपत्तिः स्यात्’ ‘शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वात्’ यववराहाधिकर-  
णपूर्वपक्ष आर्यम्लेच्छयोर्यववराहादिषु समा विप्रतिपत्तिः स्यादिति सूत्रं  
सिद्धान्ते तु यववराहादिशब्दानामार्यप्रसिद्धानामेव स्वीकार इत्ये-  
तदर्थं सूत्रं शास्त्रस्था वा तन्निमित्तत्वादिति । वाशब्दो म्लेच्छप्रसिद्धिं  
व्यावर्तयति । शास्त्रस्थैर्यवप्रसिद्धिः स्वीकरणीया । कुतः । तस्य शास्त्रस्य

(ब० व० १) उभयत्र प्रयोगसाम्याद्विकल्प इति प्राप्ते प्रियङ्गुकृष्णशकुन्योः शास्त्रप्रसिध्यभावाद्दीर्घशूकसूकरयोश्च 'यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते, अथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति' 'वराहं गावोऽनुधावन्ति' इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धिसत्त्वात्तयोरेव ग्रहणमिति प्रमाणलक्षणे सिद्धान्तितं तथेहापीत्यर्थः । तस्मात्प्रायश्चित्तं न पश्यामीति स्मृतिः कृतप्रायश्चित्तेनाप्यवकीर्णिना सह व्यवहाराभावे यत्नगौरवं सद्भिः कर्तव्यमित्येतत्परेत्यदोषः ॥ ४२ ॥

( भ्रष्टोर्ध्वरेतसः प्रायश्चित्तस्याऽऽमुष्मिकशुद्धिजनकत्वं तादृशशुद्धिमतो व्यवहारानर्हत्वं च, अधि० १२ )

बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ॥ ४३ ॥

कृतप्रायश्चित्तेन सह शिष्टाचाररूपं कर्म किं विद्यासाधनं न वेति संदेहे प्रागुक्तप्रायश्चित्तेनैव तस्य शुद्धत्वाद्विद्यासाधनत्वमिति पूर्वसिद्धं हेतुमुपजीव्य पूर्वपक्षे सिद्धान्तः । ऊर्ध्वरेतसां स्वाश्रमात्प्रच्युतिर्महापातकमुपपातकं वाऽस्तु, उभयथाऽपि ते कृतप्रायश्चित्ता अपि शिष्टैर्बहिष्कर्तव्याः 'प्रायश्चित्तं न पश्यामि' 'आरूढपतितं विप्रं दृष्ट्वा चान्द्रायणं चरेत् ।

इत्यादिनिन्दास्मृतेः । शिष्टाचाराच्च । न ह्यवकीर्णिना सह शिष्टानामध्ययनाद्याचारोऽस्ति । तस्मात्प्रायश्चित्तेन परलोकसिद्धेनापि तेन सह कृतश्रवणादिकं न विद्यासाधनमिति फलितम् ॥ ४३ ॥

(दी० १) 'यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ते' इत्यादेर्निमित्तत्वान्नियामकत्वात् । अथ वा तस्यार्थस्य प्रसिद्धेः शब्दार्थसंगतिग्रहणे निमित्तत्वात् ॥ ४२ ॥

पूर्वाधिकरण आरूढपतितानामपि प्रायश्चित्तमस्तीत्युक्तं प्रायश्चित्तवच्च व्यवहारोऽपि तेषां स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-बहिरिति । तुशब्दः कृतप्रायश्चित्तैर्व्यवहाराभावमाह । यद्यवकीर्णित्वमप्युपपातकं यदि वा महापातकमुभयथाऽपि शिष्टैस्ते कृतप्रायश्चित्ता बहिष्कार्याः ॥ ४३ ॥

(ब्र० ४०१) ( उपासनस्य ऋत्विक्कर्मत्वम्, अधि० १३ )

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ४४ ॥

किमङ्गाश्रितोपासनानि यजमानकर्तृकाण्याहोस्विद्वत्किर्तृकाणीति संदेहे यः कृतप्रायश्चित्तः स संव्यवहार्य इत्युत्सर्गस्य निन्दास्मृत्या बाध-  
वविहाप्यङ्गानुष्ठानान्तरेवाङ्गाश्रितोपास्तिकर्तृकत्वमित्युत्सर्गस्य 'वर्षती-  
हास्मै य उपास्ते' [ छा० २ । ३ । २ ] इत्यादिफलश्रुत्या यो यत्फल-  
भोक्ता स एव तस्मिन्कर्मणि कर्तेतिन्यायोपबृंहितया बाधेन फलभाजो  
यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति दृष्टान्तेन पूर्वपक्षमाह—स्वामिन इति ।  
स्वामिनो यजमानस्यैवाङ्गाश्रितोपास्तियु कर्तृत्वमित्यात्रेय आचार्यो  
मन्यते । कर्माङ्गे च पञ्चविधसाम्नि वृष्ट्युपासकस्य 'वर्षतीहास्मै'  
इत्यादिफलश्रवणादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

तस्मात्फलभाजो यजमानस्यैव कर्तृत्वमिति प्राप्ते समाधत्ते—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिकीयते ॥ ४५ ॥

अङ्गोपासनमार्त्विज्यमृत्विक्कर्तृकमेवेत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते । तस्मै  
हि साङ्गाय कर्मण ऋत्विक्परिकीयते यजमानेन । तथा च यजमानगा-  
मिफलकमप्यङ्गोपासनं यजमानेन स्वगामिफलककर्माथं परिकीर्तित्विक्-  
र्तृकमेव कर्माङ्गाप्रणयनाश्रितगोदोहनवदिति न फलश्रुतिविरोधः । किंच  
तं ह प्रणवमुद्गीताख्यं प्राणदृष्ट्या विदित्वा बक्रनामर्षिः सत्रिणामुद्गाता  
बभूवेति श्रुतिवाक्यशेषादुपासनस्यर्त्विक्कर्तृकत्वमेवेति । अत्र स्वतन्त्रफला-  
नामुपासनानामृत्विक्कर्तृकत्वेऽपि यजमानगामिफलकत्वोक्तेरस्ति पादसं-  
गतिः । पूर्वपक्षे कर्तृत्वभोक्तृत्वयोरैकाधिकरण्यं सिद्धान्त ऋत्विजः  
कर्तृत्वं स्वाम्यधीनमिति परम्परयैकाधिकरण्यमिति मन्तव्यम् ॥ ४५ ॥

(दी०१) पूर्वाधिकरणे वचनादव्यवहार्यत्वमुक्तं तद्वद्वर्षतिवचनादङ्गावबद्धा-  
न्युपासनानि स्वामिन इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—स्वामिन इति ।  
अङ्गावबद्धान्युपासनानि स्वामिनो यजमानस्य कर्माणीत्यात्रेय आचार्यो  
मन्यते । हेतुमाह—फलश्रुतेरिति । वर्षति हास्मा इत्यादेरिति पूर्व-  
पक्षः ॥ ४४ ॥

सिद्धान्तस्तु—आर्त्विज्यमिति । आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिराचार्यो  
मन्यते । हि यस्मात्तस्मै साङ्गकर्मसिद्धयर्थं यजमानेनर्त्विक्परिकी-  
यते ॥ ४५ ॥

## श्रुतिश्च ॥ ४६ ॥

(ब० ४०।)यां वै कांचन यज्ञ ऋत्विज आशिषमाशासत इति यजमानायेव तामाशासति इति होवाचेति ' [ श० ब्रा० १ । ३ । १ । २६ ] 'तस्माद्ब्रह्मैवंविदुद्गाता ब्रूयात्कं ते काममागायानि ' [ छा० १ । ७ । ८ ] इति चर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामिफलं दर्शयति । तस्माद्ब्रह्मोपासनानामृत्विक्कर्मत्वसिद्धिः ॥ ४६ ॥

(मौनस्य विधेयत्वम्, अधि० १४)

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत् ॥ ४७ ॥

बृहदारण्यके श्रूयते—'तस्माद्ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेद्बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिरमौनं च मौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः, [ बृ० ३ । ५ । १ ] इति । यस्मात्पूर्वे ब्राह्मणा आत्मानं विदित्वा पुत्राद्येषणाभ्यो व्युत्थाय भिक्षाचर्यं चरन्ति तस्माद्ब्रह्मनातनो ब्राह्मणः पण्डाऽध्ययनजाऽऽपातब्रह्मधीस्तद्वान्पाण्डित्तस्तस्य कृत्यं पाण्डित्यं श्रवणं तन्निर्विद्य निश्चयेन लब्ध्वा बाल्येन ज्ञानबलभावेन मननेन शुद्धान्तःकरणत्वेन वा स्थातुमिच्छेत्तद्वयं लब्ध्वाऽथ श्रवणमननानन्तरं मुनिर्मननशीलो निदिध्यासनपरः स्यात्, अमौनं श्रवणमनने मौनं च निदिध्यासनं लब्ध्वाऽक्तत्रयस्य ब्रह्मसाक्षात्कारहेतुत्वात्तद्वयानन्तरं ब्रह्मावगच्छतीति ब्राह्मणः साक्षात्कर्तृब्रह्म भवतीत्यर्थः । तत्र संशयः । किमत्र निदिध्यासनाख्यं मौनं विधीयते न वेति । पूर्वपक्षे मौनस्यानुष्ठेयत्वासिद्धिः सिद्धान्ते ज्ञानं प्रत्यन्तरङ्गस्य तस्यानुष्ठेयत्वासिद्धिरिति बोध्यम् । तत्र 'तै ह बको दाल्भ्यो विदांचकार । स ह नैमिषीयाणामु-

(दी०।)श्रुतिरिति । यां वै कांचनेत्यादिनर्त्विक्कर्तृकस्य विज्ञानस्य यजमानगामिफलं दर्शयति श्रुतिः ॥ ४६ ॥

पूर्वाधिकरणे ' बको दाल्भ्यः ' इति वाक्यशेषाद्ब्रह्मोपासनमृत्विक्कार्यमुक्तमेवमिहापि विधिरहितवाक्यशेषादथ मुनिरिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सहेति । सहकार्यन्तरस्य मौनस्य बाल्यपाण्डित्यवद्विधिरे-

(ब्र० व० १) द्वाता बभूव' [छा० १।२।१३] इति वाक्यशेषादुद्गीथोपासकस्य वकनान्न ऋत्विक्त्वबोधकावङ्गोपासनस्यैविकर्मत्ववद्विहापि 'अथ ब्राह्मणः' इति वाक्यशेषाद्विधिविधुरावृत्त मुनिरित्यत्र न मौनविधिरिति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः—सहकार्यन्तरविधिरिति । फलभूतसाक्षात्कारे श्रवणाद्यपेक्षया सहकार्यन्तरस्य मौनस्य निर्विध्यासनारूपस्य विधिरित्यर्थः । ननु 'गार्हस्थ्यमाचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थम्' [ आपस्त० धर्म० २।९।२१।१ ] इत्यत्र मौनशब्दस्य पारिव्राज्ये प्रयोगात्कथमत्र मौनं निर्विध्यासनं स्यादत आह—तृतीयमिति । श्रवणमननद्वयापेक्षया तृतीयं निर्विध्यासनमेवात्र मौनं विधेयमित्यर्थः । तत्रेतराश्रमसमभिव्याहारबलान्निर्विध्यासनप्रधानं पारिव्राज्यं मौनशब्देन लक्ष्यत इति भावः । कस्यायं मौनविधिस्तत्राऽऽह—तद्वत् इति । परोक्षज्ञानवतः पूर्ववाक्ये प्रकृतस्य संन्यासिन इत्यर्थः । ननु सूक्ष्मवस्तुसाक्षात्कारे निर्विध्यासनस्य \*प्राप्तत्वान्न विधेयत्वमत आह—पक्षेणेति । यस्मिन्पक्षे +भेददर्शनप्राप्तिस्तस्मिन्पक्षे प्राप्त्यभावाद्विधिरर्थवानित्यर्थः । ननु ब्रह्मपरवाक्ये× कथं मौनविधिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह—विध्यादिवदिति । यथा दर्शपूर्णमासप्रधानपरे वाक्येऽन्वाधानादेरङ्गजातस्य विधिस्तद्वदित्यर्थः । प्रधानमारभ्याङ्गपर्यन्तो विधिस्तदादिर्विध्यादिः प्रधानमिति यावत् । अत एव प्रयाजादिर्विध्यन्तर इत्युच्यते । ब्राह्मणस्य फलत्वान्न विधिकल्पना विफलेति भावः ॥ ४७ ॥

(दी० १) वाऽऽश्रयणीयः । कुत उक्तं तन्मौनमित्यत आह—तृतीयं बाल्यं पाण्डित्यं चोक्तोक्तम् । कस्यैतदित्यत आह—तद्वतः । 'आत्मानं विदित्वा' इत्यादिनोक्तो यः संन्यासी तद्वान् विद्यावांस्तस्य वेदा(चेद्व्य) र्थं विधानमित्यत आह—पक्षेणेति । भेददर्शनस्य प्राबल्यं चेत्तस्मिन्पक्ष इत्यर्थः । सहकारिविधानं निदर्शनं विध्यादिवत् । यथा दर्शपूर्णमासादावाधानादिकं तद्वत् ॥ ४७ ॥

\* ख. नित्यत्वात्प्राप्तम् । + ख. लौकिकभेददर्शनम् । × ख. उपनिषद्वाक्ये ।

(ब्र० व० १) ननु भ्रवणादिप्रधानो यद्यस्ति संन्यासः कथं तर्हि च्छान्दोग्ये गृहिणोपसंहारः 'अभिसमावृत्य कुटुम्बे' [छा० २ । २३ । १] इत्यत्र । तेन हि तदतिरिक्तः संन्यासो नास्तीति द्योत्यत इत्यत आह—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ४८ ॥

गृहिणः कर्मबाहुल्यात्तेनोपसंहारो न तु संन्यासाभावादित्यर्थः । कृत्स्नाश्रमकर्मणां संन्यासादीनां यथासंभवं गृहिणि भावादित्य-  
क्षरार्थः ॥ ४८ ॥

एवं संन्यासगार्हस्थ्यश्रमद्वयोक्त्या मन्दबुद्धेरितराश्रमाभावशङ्का  
स्यात्तन्निरासार्थमाह—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ४९ ॥

मौनशब्देन संन्यासगार्हस्थ्ययोर्ग्रहस्तद्वदितरयोरपि ब्रह्मचर्यवानप्र-  
स्थयोः । 'तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयः' [ छा० २  
२३ । १ ] इत्यादावुपदेशादनुष्ठेयत्वमित्यर्थः । बहुवचनं त्ववान्तरमेवा-  
पेक्षया । गायत्रो ब्राह्मः प्राजापत्यो बृहन्निति ब्रह्मचारिभेदाः । फेनेप  
औदुम्बरो वैखानसो वालखिल्यश्चेति वानप्रस्थमेवा इति ॥ ४९ ॥

(दी० १) विद्यावांश्चेत्संन्यस्यति तर्हि कस्माच्छान्दोग्ये कुटुम्ब इत्यादिना  
गृहस्थेनोपसंहार इत्यत आह—कृत्स्नेति । तुशब्दो विशेषणार्थः ।  
कृत्स्नभावोऽस्य विशेष्यते बहुलायासानि हि बहून्याश्रमकर्माणि यज्ञा-  
दीनि तं प्रति कर्तव्यतयोपदिष्टानि आश्रमान्तरकर्माणि च यथासंभव-  
महिंसेन्द्रियसंयमनादीनि तस्यापि विद्यन्ते तस्माद्गृहमेधिनोपसंहारो न  
विरुध्यते ॥ ४८ ॥

ननु यथा ब्रह्मचारिवानप्रस्थयोरश्रौतत्वं तद्वृष्टान्तेनेतरस्यापि अश्रौ-  
तत्वमित्यत आह—मौनवदिति । \* इतरेषां ब्रह्मचारिवानप्रस्थाश्रमवृत्ती-  
नामप्युपदेशात् । 'त्रयो धर्मस्कन्धाः' इत्यादिना । किं वत् । मौनवत् ।  
मौनं संन्यासः । उपलक्षणमेतद्गृहस्थस्यापि संन्यासिवद्गृहस्थवद्ब्रह्म-  
चारिवानप्रस्थयोरपि श्रौतत्वमेव स्यादित्यर्थः ॥ ४९ ॥



(ब्र० व० १) ( बास्यस्य भावशुद्धित्वं न वयःकामचारोमयत्वम्, अधि० १५ )

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ५० ॥

पूर्वोदाहृतवाक्ये मौनं विधेयमित्युक्त्वा तत्रत्यं बाल्यं किमित्यपेक्षार्थां तत्स्वरूपमत्र निरूप्यत इति संगतिः । तत्र किं बाल्यशब्देन बालस्य कर्म तिष्ठन्मूत्रादिकमुच्यत उत गर्वप्ररूढेन्द्रियत्वाद्यभावरूपभावशुद्धिरिति संशयः । पूर्वपक्षे ज्ञानाङ्गत्वेनानुष्ठानं फलं सिद्धान्त उत्तरस्येति बोध्यम् । तत्र प्रसिद्धिषलात्तिष्ठन्मूत्रत्वादिकं बाल्यमिति प्राप्ते ब्रूमः । उक्तभावशुद्धिरेवात्र बाल्यं विद्याङ्गत्वात्सर्वस्य बालकर्मणो विद्याविरोधित्वादिति । तद्विदमाह—अनाविष्कुर्वन्निति । ध्यानादिमिरात्मानं परार्थमविज्ञापयन्गर्वादिरहितः स्थातुमिच्छेदिति बाल्येन तिष्ठासेदित्यस्यार्थः । कुतः । अन्वयात् । अस्य वाक्यस्य विद्याङ्गान्वयस्यैवमेव संभवादित्यर्थः ॥ ५० ॥

एवं यज्ञादिकमारभ्य बाल्यान्तं विद्याहेतुमुक्त्वा तत्फलं विद्यायाः कालमाह—

( इह वा जन्मान्तरे वा ज्ञानोत्पत्तिरिति ज्ञानोत्पत्तेः पाक्षिकत्वम्, अधि० १६ )

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ५१ ॥

किमिहैव जन्मनि विद्योत्पत्तिरुत कदाचिदमुत्रापीति संशयः । पूर्वपक्षे श्रवणादेर्विद्याहेतुत्वानियमो विद्याया ऐहिकत्वेन क्वचिद्दर्शनादिति सिद्धान्ते त्वप्रतिबन्धश्रवणादेस्तन्नियम इति मन्तव्यम् । तत्रैहैव

(दी० १) पूर्वाधिकरणे मौनशब्दस्य ज्ञानातिशये प्रसिद्धत्वान्मौनविदाभित एवं बालशब्दस्यापि कामचारादिकारिणि प्रसिद्धत्वाद्वापि स एवार्थ इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—अनेति । ‘ बाल्येन तिष्ठासेत् ’ इत्यत्र बाल्येनावस्थानं नाभैतद्यद्वागद्वेषादि अनाविष्कुर्वन्नस्पष्टयन्न तु कामरागादि । कुतः । रागादिराहित्ये विद्योपकारस्यान्वयात् ॥ ५० ॥

पूर्वाधिकरणे विद्योपयोगान्न रागादिकं बालशब्दार्थः संभवादित्युक्तमत्रापि युक्ता विज्ञानफलस्येह लोक एव संभवादौहिकफला

(ब्र० ४०।) जन्मनि विद्याजन्मास्त्विति कामनया श्रवणादिषु प्रवृत्तेरैहिकमेव विद्याजन्मेति प्राप्ते ब्रूमः । \* विद्याविरुद्धफलकं देशकालविशेषापेक्षं फलोन्मुखं कर्म प्रस्तुतं तेन प्रतिबन्धाभावे सत्यैहिकं विद्याजन्म सति श्रवणादिपौष्कल्ये भवत्येव चित्राफलपशुवत् । सति तु प्रतिबन्धेऽमुत्रापि-  
त्यनियम एव न त्विहैवेति नियमः । कुतः । तद्दर्शनात् । प्रतिबन्धाप्रतिब-  
न्धाभ्यामनियमस्य श्रुतौ दर्शनात् । तथा हि श्रुतिर्जन्मान्तरानुष्ठितश्रव-  
णादेः फलं जन्मान्तरे दर्शयति—‘ गर्भस्थ एव च वामदेवः प्रतिबुबुधे  
ब्रह्मभावम् ’ इति । सति तु प्रतिबन्धे विद्या दुर्लभेत्यप्याहश्रुतिः—  
‘ श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः ।  
आश्रयो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्रयो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ’  
[ क० २ । ७ ] इति । आत्मश्रवणमपि बहूनां दुर्लभं कुतश्चिद्भाष्या-  
च्छ्रवणलाभेऽपि तत्फलं ज्ञानं दुर्लभं तत्र हेतुराश्रय इति । यथा  
परस्याऽऽत्मनो वक्ताऽऽश्रयोऽद्भुतवदेव संभवति । सम्यगाचार्यलाभेऽपि  
तस्माच्छ्रुत्वाऽस्याऽऽत्मनो लब्धा साक्षात्कर्ताऽऽश्रयः । तिष्ठतु साक्षात्कारः  
कुशलेनाऽऽचार्येणानुशिष्टोऽपि शास्त्रेणास्याऽऽत्मनः परोक्षत्वेन ज्ञाताऽ-  
प्याश्रय एवेत्यर्थः । तस्मादनियमो विद्याजन्मन इति सिद्धम् ॥ ५१ ॥

( सालोक्त्यादिमुक्तीनां जन्यत्वेन सातिशयत्वं निर्वाणमुक्तेश्च निरति-  
शयत्वम्, अधि० १७ )

एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधूतेस्तदवस्थावधूतेः ॥ ५२ ॥

यथा विद्यायाः श्रवणादिसाधनोत्कर्षापकर्षाभ्यामैहिकामुष्कित्व-

(दी०।) विद्येति वृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—ऐहिकमिति । कर्मान्तरेणासति  
प्रतिबन्ध ऐहिकमस्मिन्नेव जन्मनि विद्याफलं कर्मान्तरेण सति प्रति-  
बन्धे जन्मान्तरेऽपि विद्या जायते । कुतः । गर्भस्थ एव च वामदेवः  
प्रतिबुबुधे ब्रह्माहमभवामिति वदन्ती जन्मान्तरसंक्षितात्साधनाजन्मा-  
न्तरे विद्योत्पत्तिं दर्शयति ॥ ५१ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्याया ऐकरूप्येऽपि यज्ञादीनां साधनानामनेकरूप-  
त्वादिह वाऽमुत्र वा स्यादित्युक्तं तर्हि अनियतसाधनत्वान्मोक्षोऽप्यनि-

\* स. विद्याया अविरुद्धं विद्याविरुद्धं, विद्याविरुद्धं फलं यस्य तत् ।

(ब० व० १) रूपोपचयापचयवस्वनियम एवं तत्फले मुक्ताद्युपचयापचयवनि-  
यमोऽस्ति न वेति संदेहः । पूर्वपक्षे स्वर्गादिवत्कर्मसाध्यत्वं मोक्षस्यैतत्पादा-  
द्याधिकरणासिद्धिः फलं सिद्धान्ते तस्य निर्विशेषस्य ज्ञानैक्यलभ्यत्व-  
मिति तत्सिद्धिरिति मन्तव्यम् । तत्र पूर्वोक्तविद्यादृष्टान्तेन फलत्वेन हेतुना  
मोक्षस्य सातिशयत्वनियमे प्राप्ते ब्रूमः । एवं विद्यावन्मुक्तिरूपफलस्या-  
नियमो निर्विशेषत्वमेव । कुतः । तदवस्थावधृतेः । मुक्त्यवस्थाया  
निर्विशेषब्रह्मरूपत्वेन ' ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति ' [ मु० ३ । २ । ९ ]  
इत्यादिष्ववधारणादित्यर्थः । तथा च फलत्वहेतुकानुमानस्याऽऽगमबाधः ।  
न हि साक्षात्काररूपविद्यायामुपचयापचयवस्त्वमस्ति । न हि पूर्वोत्तरमा-  
विघटसाक्षात्कारयोश्चिरत्वाचिरत्वमतिशय इति कश्चिदभ्युपैति । तस्मा-  
न्निर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारस्यैकरूपत्वात्तल्लभ्यो मोक्षो निरतिशयानन्दा-  
त्मक एकरूप एवेति सिद्धम् । अभ्यासोऽध्यायसमाप्तिद्योतनार्थः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्दश्रीचरण-  
शिक्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मासृतवर्षिण्यां  
तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(दी० १) यत एव स्यात्कर्मफलवदिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-एवमिति ।  
यथा विद्यासाधनानां विद्याफलेऽनियम इह परत्र चेति नैवं मुक्तिल-  
क्षणे फले । कुतः । तदवस्थावधृतेः । मोक्षावस्थाया ब्रह्मरूपाया एक-  
रूपत्वेनास्थूलमनण्वित्यादिनाऽवधृतेरवधारणात् । पदाभ्यासोऽध्याय-  
परिसमाप्त्यर्थः ॥ ५२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्यस्य श्रीशं-  
करानन्दमगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रदीपिकायां तृतीयाध्यायस्य चतुर्थः  
पादः ॥ ४ ॥

इति तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

(ब० व० १) पूर्वाध्यायान्त्याधिकरणे मोक्षे विशेषनियमामाव उक्तः संप्रति मोक्षहेतुज्ञानसाधनेषु श्रवणादिष्ववृत्त्याऽनुष्ठाननियममाह—

(श्रवणादीनामावर्तनीयत्वम्, अधि०)

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

पूर्वस्मिन्नध्याये परापरविद्यासु साधनविषयो विचारः कृतोऽत्र तत्फलविचारः क्रियतेऽत उभयोरध्याययोर्हेतुहेतुमज्जावः संगतिः । अत्र प्रथमपादे श्रवणाद्यावृत्त्या निर्गुणमुपासनया सगुणं वा ब्रह्म साक्षात्कुर्वतः प्रारब्धकर्मातिरिक्तपुण्यपापनिवृत्तिरूपा जीवतो मुक्तिः प्रतिपाद्यते । द्वितीयपादे म्रियमाणस्योत्क्रान्तिः । तृतीयपादे सगुणब्रह्मविदो मृतस्योत्तरो मार्गश्च प्रसङ्गान्निरूप्यते । चतुर्थपादे पूर्वार्धेन निर्गुणब्रह्मविदो विदेहकैवल्यमुत्तरार्धेन सगुणब्रह्मविदो ब्रह्मलोकप्राप्तिश्च निरूप्यत इति तत्तद्विचारात्मकाधिकरणानां तत्तत्पादसंगतिर्बोध्या । तदुक्तम्—

चतुर्थे जीवतो मुक्तिरुत्क्रान्तिर्गतिरुत्तरा ।

ब्रह्मप्राप्तिर्ब्रह्मलोकाविति पादार्थसंग्रहः । इति ।

पूर्वाध्याये साक्षाच्छ्रुत्युक्तसाधनविचारः कृत इदानीं फलार्थापत्त्या लभ्यस्याऽऽवृत्त्यादेर्विचारस्तृतीयशेष एवाद्याश्लेषाधिकरणपर्यन्तं क्रियते । तत्र साक्षात्कारसाधनत्वेन श्रुतश्रवणादिषु संशयः किं सकृदेव श्रवणादि कर्तव्यमुत श्रवणाद्यावृत्तिरिति । पूर्वपक्षे श्रवणादीनामवृष्टार्थत्वं फलं सिद्धान्ते यावत्फलमावर्तनीयत्वादवघातादिवदवृष्टार्थत्वमिति बोध्यम् । तत्रैकवारमेव श्रवणादिकं प्रयाजादिवत्कर्तव्यमिति प्राप्ते ब्रूमः । श्रवणाद्यावृत्तिरेव कर्तव्या । कुतः । 'श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' [बृ० ४।५।६] इत्यसकृदुपदेशात् । नन्वत्र श्रवणाद्यावृत्तिर्न श्रूयत इति चेदुच्यते । साक्षात्कारस्येवाविद्यानिवर्तनक्षमत्वेनाहिविभ्रमादौ वृष्टत्वात्सूक्ष्मवस्तुसाक्षात्कारस्य चाऽऽवृत्तिविशिष्टश्रवणादिसाध्यत्वस्य षड्जादिस्वरे वृष्टत्वाद्दुर्विज्ञेयात्मश्रवणादावपि संसारानर्थमूलाविद्यानिवर्तनक्षमसाक्षात्कारायाऽऽवृत्तिः कर्तव्या दृष्टे संभवत्यवृष्टकल्पनानुपपत्तेरिति तात्पर्यम् ।

(दी० १) तृतीयेऽध्याये साधनचिन्ता कृता । चतुर्थे फलचिन्ता प्रवर्तते । तत्रापि प्रथमेन पादेन जीवन्मुक्तिः प्रतिपाद्यते । तत्राप्यात्मेत्याद्यधि-

(ब्र० व० १) एवमुपास्यसाक्षात्कारद्वारा फलहेतुपासनेष्वावृत्तिर्बोध्या वृष्टार्थत्वाद्देव उपासीतेत्यावृत्तिश्रवणाच्च । प्रत्ययप्रवाहस्यैवोपासनत्वाद्देवस्यप्युपासनार्थकत्वात् । तथा हि संवर्गविध्यायां विविनोपक्रम्योपास्तिनोपसंहारो वृश्यते । 'यस्तद्वेद यत्स वेद स मयैतदुक्तः' [छा० ४।१।१४] इत्युपक्रम्य 'अनु म एतां भगवो देवतां शाधि यां देवतामुपास्से' [छा० ४।२।२] इत्युपसंहारात् । यत्स रैको वेद प्राणतत्त्वं स सर्वं कर्मफलं प्राप्नोति । एवं रैकादन्योऽपि यस्तद्वैकवेद्यं वेद सोऽपि तथैव फलं प्राप्नोति । स एवभूतो रैको मयैतदुक्त इत्यमुक्त इति हंसं प्रति हंसान्तरवचनम् । हे भगवो रैक यां देवतां त्वमुपास्से तामेतां मेऽनुशाधि शिक्षय ज्ञापयेति जानश्रुतिवचनम् । तस्मात्साक्षात्कारसाधनेष्वावृत्तिसिद्धिः ॥ १ ॥

लिङ्गाच्च ॥ २ ॥

तथा ह्युद्गीथोपासनं प्रकृत्य आदित्य उद्गीथः' [ छा० १।५।१ ] इत्युपासनमेकपुत्रतादोषेणापोद्य 'रश्मीस्त्वं पर्यावर्तयात् । [छा० १।५२] इति रश्मिबहुत्वोपासनं बहुपुत्रतायै विदधद्वाक्यं प्रत्ययावृत्तिं सूचयति । तस्मात्साक्षात्कारसाधनेष्वावृत्तिसिद्धिः । हे पुत्र त्वं रश्मीनादित्यं च प्रत्येकं पर्यावर्तयात् । तत्कारमन्तर्भाव्य पर्यावर्तयतादिति मध्यमपुरुषैकवचनमुपास्स्वेत्यर्थः ॥ २ ॥

( ज्ञात्रा जीवेन स्वात्मतया ब्रह्मणो ग्राह्यत्वम्, अधि० २ )

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राह्यन्ति च ॥ ३ ॥

पूर्वं श्रवणमनननिदिध्यासनानामावृत्तिरुक्ता तामुपजीव्य संदिह्यते किं

(दी० १) करणचतुष्टयं प्रासङ्गिकम् । अन्यत्साधनाध्यायशेषमपि प्रमाणफलत्वेनात्र फलाध्याये संगतं तत्राहंग्रहोपासनानां श्रवणादीनां चार्थसिद्धाऽऽवृत्तिरित्याह—आवृत्तीति । प्रत्ययानामावृत्तिः करणीया । कुतः । ' श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः ' इत्यादिनाऽसकृदुपदेशात् ॥ १ ॥

ननु श्रवणादीनां प्रत्येकं सकृच्छ्रवणे प्रत्ययावृत्तिः कथं सिध्यतीत्यत आह—लिङ्गादिति । ' रश्मीस्त्वं पर्यावर्तयतात् ' इत्यादेः । चकाराद्दर्शनसामर्थ्यादापि ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरण आत्मज्ञानायाऽऽवृत्तिः करणीयेत्युक्तं तत्र जीवो नित्य-

(ब० व० १) निदिध्यासनावृत्तिकाले प्रत्यक्त्वेनेश्वरध्यानं कर्तव्यमुत मिश्रत्वेने-  
ति पूर्वपक्षे श्रुतीनामभेदपराणां गौणार्थत्वं सिद्धान्ते मुख्यार्थत्वम् । यद्य-  
प्यभेदश्रुतीनां प्रत्यक्षादिविरोधपरिहारात्मकमिदमधिकरणमविरोधाध्या-  
यसंगतं तथाऽपि महावाक्यार्थविरोधपरिहारस्य समाधावन्तरङ्गत्वादेत-  
त्पादसंगतिः । तत्राभेदस्य प्रत्यक्षेण सर्वज्ञत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वादिविरुद्धधर्मत्व-  
लिङ्गकानुमानेन च बाधाद्विभक्तत्वेन ध्यानमिति प्राप्ते ब्रूमः । आत्मेत्ये-  
वेश्वरो ध्येयः । तथा हि जाबाला आत्मत्वेनेश्वरमभ्युपगच्छन्ति 'त्वं वा  
अहमस्मि भगवो देवतेऽहं वै त्वमसि' इति । तथा ग्राहयन्ति चेश्वरमा-  
त्मत्वेन तत्त्वमस्यादिवाक्यानि । न च तेषां नाम ब्रह्मेत्यादिवद्वैक्यार्थ-  
त्वम् । सति मुख्यार्थत्वसंभवे गौणत्वायोगात् । न च प्रत्यक्षादिविरोधा-  
दसंभवः, तेषां मिथ्याभेदगोचरत्वेन पारमार्थिकाभेदविरोधित्वामावा-  
दिति भावः ॥ ३ ॥

( प्रतीकेऽहं वृष्ट्यभावः, अधि० ३ )

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ ॥

'मनो ब्रह्मेत्युपासीत' [ छा० ३ । १८ । १ ] नाम ब्रह्मेत्यादिषु प्रती-  
कोपासनेषु संशयः किं प्रतीके मनआदौ स्वात्मत्वबुद्धिः कर्तव्या न वेति ।  
पूर्वपक्षे प्रतीकोपास्तीनामहंग्रहोपास्तिभ्यो विशेषासिद्धिः सिद्धान्ते तु  
विशेषासिद्धिरिति बोध्यम् । एतदारभ्याधिकरणत्रयस्य प्रासङ्गिकी पाद-  
संगतिः । तत्र ब्रह्मणः स्वाभिन्नत्वाद्यथा स्वात्मत्वेन बुद्धिरेवं प्रती-  
कस्य ब्रह्मविकारत्वेन जीवाभिन्नब्रह्माभिन्नत्वादुपासकजीवात्मत्वबुद्धिः

(टी० १) प्रत्यक्षो नित्यपरोक्ष एव चायं परमात्मा कस्य ज्ञानस्यार्थमियमा-  
वृत्तिरित्याक्षिप्य समाधत्ते—आत्मेतीति । तुल्यबुद्धौऽन्यत्वं व्यावर्तयति ।  
योऽयं परमात्मा तमात्मेति त्वं वा अहमस्मीत्यादिना चोपगच्छन्ति  
ग्राहयन्ति च ग्राहयन्त्यपि । 'एष त आत्मा' इत्यादिना ॥ ३ ॥

पूर्वाधिकरणे जीवपरमात्मनोरभेदग्रह उक्तस्तद्वन्मनो ब्रह्मेत्यादावपि  
प्रतीकेष्वभेदग्रह इति एष त आत्मेत्यादिश्रुत्या दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य  
समाधत्ते—नेति । प्रतीकोपासने मनो ब्रह्मेत्यादौ नाऽऽत्मेति ग्रहीतव्यः ।

(ब्र० व०) कार्येति दृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । न प्रतीके स्वात्मत्वबुद्धिः कार्या न हि स उपासक आत्मत्वेन प्रतीकमनुभवति । अत्रायं विकल्पः । किमनुभवबलात्प्रतीकस्याऽऽत्मत्वेन बुद्धिः कार्योत श्रुतत्वात्, आहोस्वित्स्वाभिन्नब्रह्माभिन्नत्वाद्वा । नाऽऽद्य इत्युक्तं 'न हि सः' इति । न द्वितीयोऽश्रवणात् । न तृतीयः प्रतीकस्य स्वरूपेण ब्रह्माभिन्नत्वायोगात्पृथक्सत्त्वबाधे चोपासनाविध्यभावप्रसङ्गादिति भावः ॥ ४ ॥

( अब्रह्माणि प्रतीके ब्रह्माधियः कर्तव्यत्वम्, अधि० ४ )

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ५ ॥

पूर्वोक्तप्रतीकोपासनेषु ब्रह्माणि मनआदिदृष्टिः कर्तव्योत मनआदौ ब्रह्मदृष्टिरिति संशयः । पूर्वपक्षे निकृष्ट उत्कृष्टबुद्धिः कर्तव्येति न्यायानपेक्षा सिद्धान्ते तदपेक्षेति मन्तव्यम् । एकविषयत्वमवान्तरसंगतिः । तत्र ब्रह्मण्येव मनआदिदृष्टिर्ब्रह्मणः प्राधान्येनोपास्यत्वोपपत्तये कर्तव्येति प्राप्ते ब्रूमः । मनआदावेव ब्रह्मदृष्टिः कार्या ब्रह्मण उत्कर्षात् । उत्कृष्टदृष्टौ निकृष्टे कृतायां निकृष्टस्योत्कृष्टता भवति । यथाऽमात्ये राजबुद्धिः फलाय न तु राज्यमात्यबुद्धिः । न चैवं ब्रह्मणः प्राधान्याभावः । दृष्टत्वादिति भावः ॥ ५ ॥

( कर्माङ्गेष्वदित्यादिदृष्टीनां कर्तव्यत्वम्, अधि० ५ )

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ६ ॥

'य एवासौ तपति तमुद्गीथमुपासीत' [ छा० १ । ३ । १ ] इत्यादीन्यङ्गाश्रितोपासनानि सन्ति तत्र संशयः । किमादित्यादिषूद्गीथाविदृष्टिः

(दी०) ( व्यम् ) । हि यस्मात्स उपासको नाऽऽत्मत्वेन प्रतीकानि ग्रहीतुं शक्तः ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणे मनो ब्रह्मेत्यादौ नैका दृष्टिरित्युक्तम् । एवं चेन्नियामकाभावाद्ब्रह्माणि मनआदिदृष्टिः करणीयेति बुद्धिसंनिधानादाक्षिप्य समाधत्ते—ब्रह्मेति । तेष्वेव मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिः करणीया । कुतः । उत्कर्षाद्ब्रह्मणः ॥ ५ ॥

पूर्वाधिकरणे मनआदिषु ब्रह्मदृष्टिः करणीयोत्कर्षादित्युक्तम् । अत्राप्युद्गीथादिदृष्टिरादित्यादौ करणीया तस्य कर्माङ्गत्वेनोत्कर्षादिति

(ब० व० १) कर्तव्यो तो द्वीथादिष्वादित्यादिवृष्टिरिति । तत्रो द्वीथादीनां कर्म-  
रूपाणां फलहेतुत्वेनोत्कृष्टत्वादादित्यादीनां सिद्धरूपाणां \* तदभावेन  
निकृष्टत्वात्पूर्वन्यायेनाऽऽदित्यादिषू द्वीथादिवृष्टिरिति दृष्टान्तेन प्राप्ते  
ब्रूमः । उद्वीथादौ कर्माङ्ग आदित्यादिमतय एव कर्तव्याः । कुतः । उप-  
पत्तेः । यथा प्रोक्षणादिना ब्रीह्यादिषु संस्कृतेषु प्रकृतकर्मापूर्वमुत्पद्यते  
तथा कर्माङ्गेषू द्वीथादिष्वादित्यादिदृष्टिभिः संस्कृतेषु प्रकृतस्य कर्मणः  
फलाधिक्यलक्षणा समृद्धिर्भवति, अन्यथा न भवेदादित्यादीनामनङ्ग-  
त्वात् । तथा च कर्मसमृद्धिरूपफलोपपत्तेरङ्गेष्वनङ्गमतिरित्यर्थः । आदि-  
त्यादावुद्वीथादिमतिपक्षे फलासिद्धेर्नोद्वीथादीनामुत्कर्ष इति भावः ॥ ६ ॥

(उपासनायामासनस्य नियतत्वम्, अधि० ६)

आसीनः संभवात् ॥ ७ ॥

किं कर्माङ्गाभितान्युपासनानि तिष्ठन्नासीनः शयानो वा कुर्यादित्य-  
नियम उताऽऽसीन एवेति नियम इति संशयः । पूर्वोत्तरपक्षयोः पूर्वा-  
त्तरकोटिसिद्धिरेव फलम् । निदिध्यासनादौ विद्यासाधन आसननिय-  
मोक्तेः पादसंगतिः । तत्र पूर्वोक्तकर्माङ्गोपासनेष्विवानियम इति प्राप्ते  
ब्रूमः । आसीन एव कर्मानङ्गोपासनानि कुर्वीत । कुतः । समानप्रत्यय-  
प्रवाहात्मकोपासनस्याऽऽसीन एवोपासके संभवात् । न हि तिष्ठतः पुंस  
उपासनं संभवति शरीरधारणे यत्नापेक्षया चित्तविक्षेपात् । नापि  
शयानस्य निद्राप्रसङ्गात् । अङ्गोपासनानां त्वङ्गपारतन्त्र्याद्युक्तस्तत्रा-  
नियम इति ॥ ७ ॥

(दी० १) दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—आदित्येति । उद्वीथाद्यङ्गेषु आदित्या-  
दिमतयः कर्तव्याः । कुतः । उपपत्तेः । एवं ह्युद्वीथादीनामादित्यादिम-  
तिसंस्कारे कर्मण्यतिशयः स्यात् । चकारो नाऽऽदित्यादिषू द्वीथादिमतय  
इत्याह । एतच्चतुष्टयं प्रासङ्गिकम् ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरण आदित्यादिमतय उद्वीथादिसंस्कारत्वेन करणीया  
इत्युक्तं तासु यथौ कर्मपरतन्त्रत्वान्नाऽऽसननियम एवमन्यास्वपि विद्या-  
ल्पविशेषादिति बुद्धित्वेन दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य + समाधत्ते—आसीन  
इति । प्रतीकाद्युपासनेष्वासीन एवोपासनां कुर्यात् । कुतः । संभवात् ।  
प्रत्ययावृत्तेरुपविष्टस्य ॥ ७ ॥

\* ख. फलाभावेव । + समाधत्त इत्याद्युपविष्टस्येत्यन्तो ग्रन्थः ख. पुस्तकस्थो द्रष्टव्यः ।



ध्यानाच्च ॥ ८ ॥

(ब्र० व० १) उपासनस्य ध्यायत्यर्थं ध्यानरूपत्वाद्ब्रूयायतेश्चाऽऽसीनेषु बकादि-  
ष्वेकविषयदृष्टिषु प्रयोगादासीन एवोपासीतित्यर्थः ॥ ८ ॥

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ९ ॥

किंच ' ध्यायतीव पृथिवी ' [ छा० ७ । ६ । १ ] इत्यत्र श्रुतौ  
पृथिव्या अचलत्वमपेक्ष्य ध्यानोपचारो दृष्टस्तस्मादपि लिङ्गादासीन  
एवोपासीत ॥ ९ ॥

स्मरन्ति च ॥ १० ॥

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः [ भ० गी० ६ । ११ ]

इत्यादिना बाह्यासनविधानस्मरणाच्चाऽऽसीन एवोपासीत । यद्वा  
योगशास्त्रे पद्मकादीनां शारीरासनानां स्मरणादासीन एवोपासीते-  
त्यर्थः ॥ १० ॥

( ध्यानसाधनस्यैकाग्र्यस्य प्रधानत्वेन दिग्देशकालानामनियमः,  
अधि० ७ )

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ११ ॥

दिग्देशकालेषु संशयः । किमङ्गाश्रितोपासनेषु दिगादिनियमोऽस्ति

(दी० १) वृत्तेरुपविष्टस्यानुपासनस्य निर्गुणब्रह्मज्ञानवदनियतिरासनस्य कुतो  
न स्यादित्यत आह—ध्यानादिति । अपि च ध्यायत्यर्थ एष यत्समानप्रत्य-  
यप्रवाहकरणम् । ध्यायतिश्च प्रशिथिलाङ्गचेष्टेषु प्रतिष्ठितदृष्टिष्वेकविष-  
याक्षितचित्तेषु दृष्टः । चकार आसीनस्य नियममाह ॥ ८ ॥

ननु गच्छतामपि ध्यायत्यर्थः संभावित इत्यत आह—अचलेति ।  
ध्यायतीव पृथिवीत्याद्युक्तम् । चकारो गमनध्यानयोरितरेतरव्याह-  
तिरित्याह ॥ ९ ॥

ननु किमिदं यौक्तिकमेवेत्याशङ्क्य नेत्याह—स्मरन्तीति । ' शुचौ  
देशे ' इत्यादिना । चकारात्पठन्त्यपि त्रिरुन्नतमित्यादिना ॥ १० ॥

पूर्वाधिकरण आसीनेन समानप्रत्ययप्रवाहः करणीयः संभवादित्यु-

(ब्र० व० १) न वेति तेष्वामृतनियमवदस्ति नियम इति प्राप्ते ब्रूमः । प्राच्यादिदिक्नियमः प्रदोषादिकालनियमो नदीतीरादिदेशनियमो वा नास्ति । कुतः । यत्र दिशि देशे काले वा चित्तस्यैकाग्रता प्रत्ययप्रवाहौ मुख्यं तत्रोपासीत दिगादिविशेषाश्रवणादित्यर्थः । यद्वोपासन इष्टाया एकाग्रतायाः सर्वत्राविशेषादित्यर्थः ।

‘समे शुचौ शर्करावह्निवालुकाविवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।

मनोनुकूल न तु चक्षुषीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत्’ [श्वेता० २ । १०] इति श्रुतिरपि चित्तस्यैकाग्र्यसंपादके देश उपासीतेति दर्शयति । शर्कराः सूक्ष्मपाषाणाः । जलाशयवर्जनं शीतनिवृत्त्यर्थम् । चक्षुःपीडनं मशकादिकम् । तस्मादुपासने दिगादिनियमो नास्तीति सिद्धम् ॥ ११ ॥

(उपास्तीनामामरणमावृत्तिः, अधि० ८)

आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ १२ ॥

उपास्यसाक्षात्कारद्वारा फलहेतुषूपासनेष्वहंग्रहनामकेषु संशयः किं कदाचिदुपासनं कृत्वोपरमेतोत यावज्जीवमुपासीतेति । पूर्वपक्षे कदाचित्कृतप्रत्ययावृत्तेरदृष्टद्वारा मृतिकाले ध्येयबुद्धिहेतुत्वं सिद्धान्ते धारावाहिकोपासनस्य साक्षादेव \*तद्धेतुत्वमिति विभागः । तत्र देशादिनियमाश्रवणात्तदभाववद्यावज्जीवमुपासनाश्रवणात्तदभाव इति प्राप्ते ब्रूमः । आप्रायणाद्देहपातपर्यन्तमुपासीत । हि यतस्तत्रापि मरणकालेऽपि ‘स यावत्कतुरयमस्मालोकात्प्रैति’ [शत० १० । ६ । ३ । १] इति श्रुत्या

(दी० १) क्तम् । अत्रापि वैदिकत्वेन दिग्देशादिनियमः स्यादित्यत आह—यत्रेति । यत्र यस्यां दिशि यस्मिन्काले वा मनःस्वास्थ्यं तत्रैवोपासनम् । कुतः । अविशेषात् । विशेषानुपलम्भात् ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे दिग्देशाद्यनियम उक्तश्चित्तप्रसादाविशेषेण हेतुना तथा काम्यानामपि यावदिष्टं चिन्तनमिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—आ प्रायणेति । अभ्युदयफलानां प्रत्ययानामा प्रायणादा मरणादावृत्तिः

\* स. ध्येयबुद्धिः ।

(ब० ४०१) ध्येयप्रत्ययानुवर्तनं दृष्टम् । न च तददृष्टसाध्यं दृष्टे संभवत्यदृष्ट-  
कल्पनानुपपत्तेः । श्रुतौ सर्वनामार्थ उपासकः । क्रतुरुपासनम् । ' सदा  
तद्भावभावितः ' [भ० गी० ८।६] इति स्मृतिश्च यावज्जीवमुपासनं दर्श-  
यति । तस्मादहंग्रहोपास्तयो यावज्जीवमनुष्ठेया इति सिद्धम् ॥ १२ ॥

एवं ज्ञानसौधनानुष्ठाने यत्नाधिक्यार्थं फलाध्यायेऽपि साधनानुष्ठा-  
नक्रमं विचार्य फलाध्यायस्थां फलचिन्तामुपक्रमते—

( ज्ञानिनः पापलेपाभावः, अधि० ९ )

तदधिगम उत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात् ॥ १३ ॥

तथा चास्य फलविचारप्रतिबन्धकसाधनजिज्ञासाभावरूपावसरसंग-  
तिर्लब्धा । किं ब्रह्मविद्यायामुत्पन्नायां विदुषो भविष्यत्पापासंबन्धपूर्व-  
पापविनाशौ भवतो न वेति संदेहः । पूर्वपक्षे सत्यामपि विद्यायां पापफल-  
भोगानन्तरं विद्यातो मुक्तिः सिद्धान्ते विद्योत्पत्त्यनन्तरमेव मुक्तिरिति  
बोध्यम् । तत्र फलभोगं विना नास्ति विद्यया पापनाश इति प्राप्ते  
ब्रूमः । तदधिगमे ब्रह्मसाक्षात्कारे सत्युत्तरपूर्वाधयोरश्लेषविनाशौ भवत  
एव । कुतः । तयोर्विदुषा श्रुत्या व्यपदेशात् । ' यथा पुष्करपलाश आपो न  
श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यते ' [छा० ४।१४।३] इति श्रुति-  
विद्योत्तरस्य पापस्याश्लेषं दर्शयति । ' तद्यथेपीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदू-  
येतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते ' [ छा० ५ । २४ । ३ ] इति श्रुति-  
विद्यातः पूर्वस्य पापस्य विनाशं व्यपदिशति । एवं निर्गुणविदोऽपि  
पापलयं व्यपदिशति ' क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे '   
[ मु० २ । २ । ८ ] इत्यादिका श्रुतिः । तस्माद्ब्रह्मविद्यावतः पूर्वोत्तरपा-  
पासंबन्ध इति सिद्धम् ॥ १३ ॥

(दी०) हि यस्मात्तत्रापि मरणेऽपि ' यच्चित्तः ' इत्यादिश्रुतिभ्यो यं यं  
वाऽपीत्यादिस्मृतिभ्यः प्रत्ययावर्तनं दृष्टम् । अपिशब्दात्पूर्वमपि  
सातत्येन तस्मात् ॥ १२ ॥

पूर्वाधिकरणे सदा तद्भावभावित इत्यादिस्मृत्याऽऽ प्रायणादभ्युदय-  
प्रत्ययानामावृत्तिरुक्ता तद्वदत्रापि ' प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ' ' नाभुक्तं  
क्षीयते कर्म ' इत्यादिस्मृतिभ्यो ब्रह्मज्ञानान्नोत्तराद्यस्याश्लेषो न च पूर्व-  
विनाश इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तदधीति । तस्य ब्रह्मणाऽ-  
धिगम उत्तराद्यस्याश्लेषः पूर्वाधस्य विनाशः । कुतः । तद्व्यपदेशात् ।  
तयोरश्लेषविनाशयोर्व्यपदेशः । अश्लेषस्य ' यथा पुष्करपलाशः '   
इत्यादि विनाशस्य यथेपीकातूलमित्यादि तस्मात् ॥ १३ ॥

(ब्र० व० १) ( ज्ञानिनः पुण्यलेपामावः, अधि० १० )

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ १४ ॥

पूर्वं ब्रह्मविद्यातः पापनाशासंबन्धावुक्तौ तद्वत्पुण्यस्यापि नाशासंबन्धौ भवतो न वेति संदेहे पुण्यतत्त्वज्ञानयोः शास्त्रीयत्वेनाग्निहोत्रदर्शयोरिव विरोधाभावान्न भवत इत्यधिकाशङ्कायां पूर्वन्यायमतिदिशति । इतरस्यापि । पापादितरस्य पुण्यस्याप्येवमेवमघवदश्लेषो विनाशश्च ज्ञानान्भवतः । ' उभे उ हैवैष एते तरति ' [ बृ० ४ । ४ । २२ ] इत्यादिश्रुतिषु पापासंबन्धवत्पुण्यासंबन्धस्यापि व्यपदेशात् । श्रुतावुशब्दोऽप्यर्थः । एष ब्रह्मसाक्षात्कारवान् । सूत्रे तुशब्दोऽवधारणार्थः । एवं ब्रह्मसाक्षात्कारवतः पुरुषधौरेयस्य पुण्यपापयोर्बन्धहेत्वोरभावाद्देहपाते मुक्तिरवश्यं भवत्येवेत्यधिकरणद्वयस्य फलमुक्तम् । अग्निहोत्रदर्शयोरिविरुद्धफलवत्त्वमुपाधिः । अस्यातिदेशत्वान्न पृथक्संगत्याद्यपेक्षा ॥ १४ ॥

( संचितयोरिवाऽऽरब्धयोः पुण्यपापयोर्ज्ञानोदयसमये विनाशाभावः, अधि० ११ )

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ १५ ॥

पूर्वं ज्ञानात्कर्मक्षय उक्तस्तस्य प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तविषयत्वेनात्रापवादात्संगतिः । ज्ञानजन्यकर्मक्षयः किमविशेषेण कर्ममात्रस्य भवत्युत प्रारब्धकर्मव्यतिरिक्तस्येति संशयः । पूर्वपक्षे जीवन्मुक्त्यसिद्धिः फलं सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् । तत्र ' क्षीयन्ते चास्य कर्माणि इत्यविशेषेण श्रवणात्कर्ममात्रस्य क्षय इति प्राप्ते ब्रूमः । ये पुण्यपापे एतद्दे-

(दी० १) अघस्याश्लेषविनाशावुक्तौ भवेतां माऽस्तु सुकृतस्यामुक्तस्येत्याक्षिप्य समाधत्ते—इतरेति । इतरस्य सुकृतस्यापि यथा दुष्कृतस्यैवमसंश्लेषः । एतदुपलक्षणं विनाशस्यापि ' उभे उ हैवैष एते तरति ' इत्यादिश्रुतेः । तुशब्दोऽवधारणार्थः । पाते शरीरस्य पतने । अत इदं सिद्धं शरीरस्य पाते विदुषां मुक्तिर्भवत्येव ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणे सुकृतस्यापि क्षय उक्तस्तथा च सद्यः शरीरपातः स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—अनारब्धेति । तुशब्द आरब्धकार्ययोः

(ब० ४०१) हावच्छेदेन सुखदुःखानुभवार्थं प्रवृत्ते ते आरब्धकार्ये तद्व्यतिरिक्ते अनारब्धकार्ये पूर्वं अनादिभवपरम्परायां ज्ञानोत्पत्तिपर्यन्तं संचिते ते एव क्षीयेते । कुतः । तदवधेः । 'तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये' [ छा० ६ । १४ । २ ] इति देहपातावधिभवणादित्यर्थः । तथा च विशेषश्रुत्यनुसाराद्विशेषश्रुतिर्नैतदव्येति भावः । ब्रह्मात्मत्वसाक्षात्कारवान्यावन्न विमोक्ष्ये न विमोक्ष्यते तस्य तावदेव चिरं तावानेव देहपातरूपो विलम्बः । अथ प्रारब्धकर्मभोगाद्देहपातानन्तरं संपत्स्ये ब्रह्म संपत्स्यत इत्यर्थः ॥ १५ ॥

( अग्निहोत्रादिनित्यकर्मणो विद्योपयोग्यंशस्याविनाशः, अधि० १२ )

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ १६ ॥

पूर्वमनारब्धकार्याणां कर्मणां ज्ञानात्क्षय उक्तस्तस्य नित्यनैमित्तिकान्तिरिक्तानारब्धकार्यकर्मविषयत्वेनात्रापवादात्संगतिः । किं नित्यनैमित्तिककर्मजातमनारब्धकार्यकर्मवज्ज्ञानात्क्षीयते न वेति संदेहः । पूर्वपक्षे काम्यकर्मण इव मुमुक्षूणां नित्यनैमित्तिकयोरप्यननुष्ठानं पङ्कप्रक्षालनन्यायात्सिद्धान्ते तदनुष्ठानमिति बोध्यम् । तत्रानारब्धकर्मत्वाविशेषान्नित्यनैमित्तिककर्मजातं ज्ञानात्क्षीयत इति प्राप्ते ब्रूमः । अग्निहोत्रादि नित्यनैमित्तिकं कर्म तत्कार्यायैव तस्य ज्ञानस्य यत्कार्यं मुक्तिरूपं तस्मा एव सत्त्वशुद्ध्यादिपरम्परया । कुतः । तद्दर्शनात् । यज्ञादिश्रुतौ ज्ञानहे-

(दी० १) क्षयं व्यावर्तयति । ये पूर्वं सुकृतदुष्कृते क्षीयेते ते अनारब्धकार्ये । तयोरपीतरथा क्षयं व्यावर्तयति एवकारः । कुतोऽयं नियम इत्यत आह—तदवधेः । तस्य शरीरपातस्यावधेः कारणात् । 'तस्य तावदेव चिरम्' इत्यादिवाक्येन ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणत्रयेण सगुणविद्यायां निर्गुणविद्यायां चानारब्धकार्ययोः सुकृतदुष्कृतयोः क्षय उक्तः । तत्र यथा निर्गुणविद्यायामुपपन्नयामग्निहोत्राद्यनुपयोग एव सगुणास्वपीति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते । \*अथ वा पूर्वाधिकरणे काम्यस्य सुकृतस्य क्षय उक्तः काम्यवन्नित्यस्यापि विद्यया क्षयसंभवान्न विद्याया हेतुत्वमित्याक्षिप्य—समाधत्ते । अग्निहोत्रादीति । तुशब्दो नित्यस्याग्निहोत्रादेः क्षारणं क्षयं व्यावर्त-

(ब्र० व० १) तुत्त्वदर्शनादित्यर्थः । \* तथा च न ज्ञानरूपफलैकनाश्वत्वं नित्य-  
नैमित्तिककर्मजातस्य । न चात्र पङ्कप्रक्षालनन्यायो ज्ञानार्थत्वेनानुष्ठान-  
स्यार्थवत्त्वादिति ॥ १६ ॥

ननु नित्यादेर्ज्ञानार्थत्वे ' तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्या  
द्विषन्तः पापकृत्याम् । ' इति विनियोगवाक्यं किंविषयकमित्यत  
आह—

अतोऽन्याऽपि हेकेषामुभयोः ॥ १७ ॥

अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यादिरूपादन्याऽप्यस्ति काम्यरूपा साधुकृत्या  
तद्विषयमिदमेकेषां शाखिनां विनियोगवाक्यं तस्या ज्ञानानुपकारकत्वा-  
त्तच्चानुपकारकत्वमुभयोर्यैर्मिनिबादरायणयोराचार्ययोः संमतमित्यर्थः ।  
नन्वस्याः काम्यसाधुकृत्यायाः ' इतरस्याप्येवमसंश्लेषः, [ ब्र० सू० ४ ।  
१ । १४ ] इत्यत्र नाश उक्तः कथं तस्या विनियोग इति चेदत्र वक्त-  
व्यम् । सुहृदः साधुकृत्यामुपयन्तीत्यस्य कोऽर्थः । न तावत्तामेष प्राप्नु-  
वन्तीत्यर्थः, द्वय्यादिवत्तस्याः प्राप्त्ययोगात् । नापि तत्फलं प्राप्नुवन्ती-  
त्यर्थः, शास्त्रफलं प्रयोक्तरीति न्यायविरोधात् । न च +वैश्वानरेष्टि-  
न्यायः, अश्रवणात्सुहृदोऽनुद्देश्यत्वाच्च । तस्माद्विद्वत्सेवाकर्तारि सुहृदि

(दी० १) यति । नित्यमग्निहोत्रादि तत्तस्या विद्यायाः कार्यायैव मोक्षायैव  
परम्परया । कुतः । तद्दर्शनात् । तस्याग्निहोत्रादेर्विद्याकार्यार्थत्वस्य  
तमेतमित्यादिदर्शनात् ॥ १६ ॥

किंविषयं पुनरिदमश्लेषविनाशवचनं किंविषयं वाऽऽदौ विनियोग-  
वचनमेकेषां शाखिनाम् । ' तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति ' इत्यादि । अत  
उत्तरं पठति—अत इति । अतोऽग्निहोत्रादेर्नित्यात्कर्मणोऽन्याऽपि ह्यस्ति  
साधुकृत्या या फलमभिसंधाय क्रियते तस्या एवं विनियोग उक्तः ।  
एकेषां शाखिनां सुहृदः साधुकृत्यामिति । तस्या एवेदमघवदसंश्लेषवि-  
नाशनिरूपणमितरस्याप्येवमित्यादिना । तथैवंजातीयकस्य काम्यस्य

\* ख. सत्त्वशुद्ध्या नष्टस्य भोगोपभुक्तग्रीह्यादिवन्न नाशबद्धिशब्दविषयतेति भावः । ज्ञानाद् धर्म-  
क्रियमाणनिवृत्तिमितिकस्य काम्यवत्संश्लेष इति ध्येयम् । + ख. ग. पितृकर्तृका पुत्रफला ।

(ब्र० व० १) विद्वन्निष्ठा साधुकृत्या स्वतुल्यां साधुकृत्यां जनयति स्वयं च ज्ञानान्नश्यतीत्यविरोधः । समानः पापकृत्यायामु(मू)हः । अर्थवाद-  
त्वान्नातीवाभिनिवेष्टव्यम् ॥ १७ ॥

( सोपासनस्य निरुपासनस्य च नित्यकर्मणस्तारतम्येन विद्यासाध-  
नत्वम्, अधि० १३ ) ।

यदेव विद्ययेति हि ॥ १८ ॥

पूर्वं मुमुक्षुणा ज्ञानार्थं नित्यादिकमनुष्ठेयमित्युक्तं तत्किमङ्गाश्रितो-  
पासनसहितमेव ज्ञानार्थमनुष्ठेयमिति नियम उतोपास्तिसहितं केवलं  
वाऽनुष्ठेयमित्यनियम इति संशयः । एकविषयत्वसंगतिः । पादसंगतिस्तु  
प्रासङ्गिकी बोध्या । पूर्वपक्षे केवलस्य नित्यादेर्ज्ञानहेतुत्वासिद्धिः  
सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् । तत्र नियमे प्राप्ते ब्रूमो नियमो न युक्त  
इति । तथा हि—‘यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति [ छा०  
१ । १ । १० ] इति श्रुतिर्विद्यासहितस्य कर्मणो वीर्यवत्तरत्वं ब्रुवती  
विद्याहीनस्य कर्मणो वीर्यवत्त्वं फलहेतुत्वरूपं दर्शयति । तच्च केवल-  
कर्मणो ज्ञानरूपफलहेतुत्वाभावे न युक्तं स्यात् । तस्मात्केवलमपि  
कर्म ज्ञानहेतुरित्यनियम इति सिद्धम् ॥ १८ ॥

एवमनियमेनाग्निहोत्रादिकर्मणो ज्ञानार्थवत्त्वाच्च ज्ञानेन क्षय इत्युक्त-  
मिदानीं प्रारब्धकर्मणाम् ‘अनारब्धकार्ये एव तु’ इत्यत्र ज्ञानानिवर्त्य-  
त्वेनोक्तानां निवृत्तिप्रकारमाह—

( अधिकारिणां मुक्तिसद्भावः, अधि० १४ ) ।

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ १९ ॥

किं ब्रह्मसाक्षात्कारवान्देहपातानन्तरमपि संसरति न वेति संदेहः ।

(दी०) कर्मणो विद्यां प्रत्यनुपकारकत्वे संप्रतिपत्तिरुभयोरपि जैमिनिबाद-  
रायणयोराचार्ययोः ॥ १७ ॥

पूर्वाधिकरणे विद्याङ्गत्वं ( त्वेन ) तु कर्मानुष्ठेयमित्युक्तं तदस्तु  
तथाऽङ्गावबद्धेषु अप्युश ( पा ) सनेषु नित्यकर्मानुष्ठानं तत्सहितमेवेति  
दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—यदेवेति । विद्यया सहितं तद्रहितं च कर्म  
विद्याङ्गम् । हि यस्माद्यदेव विद्ययेति वाक्यान्तरात्कर्मणो विद्यायोगेऽ-  
तिशयमाह न तु कर्मणोऽफलत्वे वचनमिदं सार्थकम् ॥ १८ ॥

पूर्वाधिकरणेऽङ्गावबद्धोपासनासहितस्य कर्मणः फलाधिक्यमस्य

(ब० व० १) पूर्वपक्षे साक्षात्कारस्य मुक्तिहेतुत्वासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति विवेकः । तत्र देहपातात्पूर्वं यथा साक्षात्कारेऽपि संसारानुवृत्तिरेवं देहपातानन्तरमपीत्यनारब्धाधिकरणदृष्टान्तेन प्राप्ते ब्रूमः । संचितकर्मणां ज्ञानान्नाश उक्तः । इतरे त्वारब्धकार्ये पुण्यपापे भोगेन क्षपयित्वा विद्वान्ब्रह्म संपद्यते । ‘अथ संपत्स्ये’ [ छा० ६ । १४ । २ ] ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति’ [ बृ० । ४ । ४ । ६ ] इत्यादिश्रुतिभ्यो देहपातात्पूर्वं प्रारब्धकर्मणां सत्त्वात्कुलालचक्रभ्रमिन्यायेन मिथ्याज्ञानरूपनिमित्तनाशेऽप्यविद्यालेशानुवृत्तिर्युक्ता । तद्भोगानन्तरं कस्यचिदपि कर्मणो जन्ममरणलक्षणसंसारहेतोरभावान्न संसारः । तस्मान्भोगेन प्रारब्धकर्मनाशानन्तरं विद्वान्स्वरूपानन्दात्मनावस्थानलक्षणं स्वास्थ्यं मोक्षाख्यं लभत इति सिद्धम् ॥ १९ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तो ब्रह्मासुतवर्षिण्यां चतुर्थाध्यायस्य  
प्रथमपादः ॥ १ ॥

पूर्वपादान्त्याधिकरण उत्क्रान्त्यनपेक्षा निर्गुणब्रह्मप्राप्तिरुक्तेर्दानीं सगुणविद्याफलभूतब्रह्मलोकस्योत्क्रान्तिं विना प्राप्त्ययोगात्तत्फलं निरूपयिष्यन्नेव तद्धेतुभूतामुत्क्रान्तिं निर्गुणब्रह्मविद्यातिरिक्तसर्वजनसमानां निरूपयितुं पादमारभते—

( वागादीनां मनसि वृत्तिप्रविलयो न स्वरूपेण, अधि० १ )

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ १ ॥

अस्त्युत्क्रान्तिक्रमबोधिका श्रुतिः ‘अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्म-

(दी० १) केवलस्य ब्रह्मविद्यासाधनत्वं सामर्थ्यादित्युक्तमेवमत्रापि सामर्थ्यादारब्धकार्ययोरपि प्रकारान्तरेण क्षयाभावाद्ब्रह्मज्ञानादेवोभयोरपि क्षय इति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—भोगेनेति । भोगेन भोगेनैवेतरे सुकृतदुष्कृते आरब्धकार्ये क्षपयित्वाऽनन्तरं संपद्यते ब्रह्म तस्य तावदेव चिरमित्यादिश्रुतेः ॥ १९ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां चतुर्थाध्यायस्य प्रथमः पादः ॥ १ ॥

प्रथमपादे सगुणनिर्गुणविद्याविदोऽनारब्धकार्ययोः पुण्यपापयोः क्षय



(ब० ४०।) नसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ' [छा० ६।८।६] इति । प्रयतो भ्रियमाणस्येत्यर्थः । तत्र वाङ्मनसि संपद्यत इत्यत्र संशयः । किं वृत्तिमत्या वाच एव मनसि लयात्मकसंपत्तिरुच्यत उत वाग्वृत्तेरेवेति । पूर्वपक्षे स्वोपादाने स्वस्य लय इति न्यायासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् । तत्र श्रुतिबलाद्वाच एव मनसि लय इति प्राप्ते ब्रूमः । उक्तिर्वागिति भावव्युत्पत्त्या वाक्छब्देन वाग्वृत्तिरुच्यते । मनोवृत्तौ सत्यामेव मनसि वाग्वृत्तिः संप्रलीयते । कुतः । दर्शनात् । मनोवृत्तौ सत्यामेव लोके वाग्वृत्तिलयस्य दर्शनात् । तर्हि ' वाङ्मनसि ' [ छा० ६ । ८ । ६ ] इति श्रुतेः का गतिरित्यत आह— शब्दाच्चेति । स्वोपादान इत्यबाधितन्यायानुसारेण वाक्छब्दाद्वृत्तिवृत्तिमतोरभेदोपचारेण भावव्युत्पत्त्या वाऽर्थो ज्ञेय इत्यर्थः । नन्वनुपादाने वृत्तिलयो वा कथमिति चेन्नाग्निवृत्तिलयस्यानुपादानाप्सु दर्शनादिति ॥ १ ॥

उक्तश्रुतौ वाच एव श्रवणादिन्द्रियान्तराणां चक्षुरादीनां मनसि वृत्तिलयो नास्तीति भ्रमं धारयति—

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ २ ॥

यत एव मनसो वागुपादानत्वाभावात्मनसि वाचो वृत्तिलयमात्रमत एव

(दी०।) आरब्धकार्ययोर्यावदवस्थानं न तावन्मुक्तिस्तत्क्षये च विदेहकैवल्यमिति स्थितं द्वितीयं सगुणविद्याविदः करणानां लये नाविद्वदुत्क्रान्तिः [र]न्यस्यानुत्क्रान्तिरुत्क्रान्तौ च कश्चन विशेष इत्युच्यते तत्र श्रौतमेव क्रममाश्रित्य वचोवृत्तेर्लयमाह—वाङ्मनसीति । ' अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम् ' इत्यत्रापि वाग्वृत्तिर्मनसि संपद्यते । कस्माद्दर्शनात् । मरणावसरे वाचः प्रथमोपसंहारस्य वृत्तिवृत्तिमतोरभेदेन वाङ्मनसि शब्दात् । चकारोऽप्रकृतत्वमाह ॥ १ ॥

अत एवेति । इन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ' इत्यत्र सर्वाणीन्द्रियाणि

(ब०व०।)सर्वाणि चक्षुरादीन्यपि स्वानुपादाने मनसि सवृत्तिके स्ववृत्तिलयमात्रेणानुवर्तन्ते प्रलीयन्ते न तु स्वरूपेणेत्यर्थः । 'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः' [ प्र० ३।९ ] इति श्रुतिः सर्वेषामिन्द्रियाणां मनसि वृत्तिलयबोधिका द्रष्टव्या । तस्मादुत्क्रमणादूर्ध्वमुपशान्तदेहौघ्यः पुनर्जन्म मनसि स्थितैरिन्द्रियैः प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ २ ॥

एवं वाङ्मनसीति वाक्यं विचार्य 'मनः प्राणे' [छा० ६।८।६] इत्युत्तरवाक्ये किं सर्वेन्द्रियवृत्तिलयाधारस्य मनसः प्राणे स्वरूपलयो वृत्तिलयो वेति संशये 'अन्नमयं हि सोम्य मन आपोमयः प्राणः' [छा० ६।५।४] इति श्रुतौ प्राणमनसोरबन्धविकारत्वश्रवणादबन्धयोश्चोपादानोपादेयभावात्स्वरूपलय इति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

(मनसः प्राणे वृत्त्या प्रविलयः, अधि० २)

तन्मनः प्राण उत्तरान् ॥ ३ ॥

स्वोपादान इत्यादिन्यायाभावाद्भवत्विन्द्रियाणां मनसि वृत्तिलय इह तु न्यायसत्त्वात्स्वरूपलय इति प्रत्युदाहरणसंगतिरतिदेशत्वात्संगत्यनपेक्षा वा । तत्सर्वेन्द्रियवृत्तिलयाधिकरणम् । मनोऽपि प्राणे स्ववृत्तिलयेनैव लीयते न स्वरूपेणेति 'मनः प्राणे' इत्युत्तराद्वाक्यादवगन्तव्यम् । सुषुप्तिमूर्च्छाविस्थयोः सवृत्तिके प्राणे सत्येव मनोवृत्तिलयदर्शनादिति हेत्वनुषङ्गः । न ह्यबन्धयोरुपादानोपादेयत्वमात्रेण तद्विकारयोरप्युपादानोपादेयभावो युक्तो हिमघटयोस्तददर्शनादिति भावः ॥ ३ ॥

एवं 'मनः प्राणे' इति वाक्यं विचार्य 'प्राणस्तेजसि' इत्युत्तर-

(दी०।)वृत्तिभिर्मनोऽनुवर्तन्ते । अत एव दर्शनाच्छब्दाच्चेति । चकारोऽत्रापि पूर्ववत् ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणे मनसोऽन्नकारणत्वाभावात्तत्र सर्वात्मना लय इत्युक्तमत्र तु मनसः परम्परया विकारत्वादेकरूपे प्राणे लयः स्यादिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तन्मन इति । तन्मनो वृत्त्या प्राणे विलीयते । कुतः । मनः प्राण इत्युत्तराद्वाक्यात् ॥ ३ ॥

(ब० व० १) वाक्ये किं प्राणस्य वृत्तिलयस्तेजस्युत जीव इति संदेहे श्रुतिबलात्तेजस्येवेति प्राप्ते सिद्धान्तयति—

( प्राणस्य जीवे लयानन्तरं पुनर्भूतेषु लयः , अधि० ३ )

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ ॥

वाक्यक्रमादर्थक्रमाच्चाधिकरणक्रमो बोध्यः । स प्राणोऽध्यक्षे कार्यकरणसंघातस्वामिनि तत्साक्षिणि वा जीवे निवृत्तवृत्तिः सन्नवतिष्ठते । कुतः । तं जीवं प्रत्युपगमानुगमनावस्थानेभ्यः । यथा राजानं यात्रेच्छावन्तं सन्तं भृत्या आभिमुख्येनाऽऽगच्छन्ति ' एवमेवममात्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायान्ति ' [ बृ० ४ । ३ । ३८ ] इति श्रुतिरिन्द्रियाणां मुख्यप्राणसहितानां जीवं प्रत्याभिमुख्येनाऽऽगमनं दर्शयति । ' तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति ' [ बृ० ४ । ४ । २ ] इति श्रुतिर्गच्छन्तं जीवं प्रत्यनुगमनं प्राणस्य दर्शयति । ' सविज्ञानो भवति ' [ बृ० ४ । ४ । २ ] इति श्रुतिः करणव्युत्पत्त्या विज्ञानशब्दवाच्येन्द्रियजातस्य प्राणसहितस्य प्राप्तव्यकर्मफलज्ञानवति जीवेऽवस्थानं दर्शयति । तस्माज्जीव एव प्राणस्य वृत्तिलयः ॥ ४ ॥

ननु कथं तर्हि ' प्राणस्तेजसि ' इति श्रुतिरित्यत आह—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ५ ॥

तच्छ्रुतेः ' प्राणस्तेजसि ' इति श्रुतेः सूक्ष्मात्मना विद्यमानेषु तेजःसहितेषूत्तरदेहारम्भकेषु पञ्चभूतेषूपधिषूपहितत्वेन विद्यमाने जीवे प्राणस्य वृत्तिलय इत्यवगन्तव्यमुपगमादिश्रुत्यन्तरानुसारात् । तथा चोपहितजी-

(दी० १) पूर्वाधिकरणे प्राणस्याविकारत्वाद्विकारे विकाराणां न सर्वात्मना लय इत्युक्तं न्यायेन । अत्र तु न्यायाभावात् । प्राणस्तेजसीति श्रुतेस्तेजस्येव तस्य लय इति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—सोऽध्यक्ष इति । स प्राणस्तदध्यक्षे जीवे वृत्त्या प्रलीयते तस्मिन्नध्यक्षे प्रविलयस्य ' आत्मानमन्तकाले सर्वे प्राणा अभिसमायान्ति ' इत्यादिनाऽभ्युपगमादविशेषेण । आदिशब्देन ' तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामन्तं सर्वे प्राणाः ' इत्यादिविशेषादपि ॥ ४ ॥

कथं तर्हि प्राणस्तेजसीति श्रुतिरित्यत आह—भूतेष्विति । स प्राण-

(ब्र० व० १) वप्राप्तौ प्राणस्योपाधितेजआदिभूतप्राप्तेरर्थसिद्धत्वात्प्राणस्तेज-  
सीति श्रुत्युपपत्तिरित्यर्थः ॥ ५ ॥

ननु प्राणस्तेजसीत्येकस्यैव तेजसः श्रवणात्कथं तेजःसहितेषु भूतेष्वि-  
त्युक्तमित्यत आह—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ६ ॥

एकस्मिन्नेव तेजसि जीव उत्क्रान्तिसमयेनावतिष्ठत उत्तरदेहस्य  
पाञ्चभौतिकत्वेन पञ्चभूतेषु स्थितेरावश्यकत्वात् । दर्शयतो हीममर्थं  
रंहत्यधिकरणे व्याख्याते प्रश्ननिरूपणे । यद्वा श्रुतिस्मृती इममर्थं  
दर्शयतः । ‘ पृथिवीमय आपोमयो वायुमय आकाशमयस्तेजोमयः ’  
[ बृ० ४ । ४ । ५ ] इत्याद्या श्रुतिः ।

अण्व्यो मात्राविनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।

ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः [ मनु० १ । २७ ]

इति स्मृतिः । अण्व्यः सूक्ष्मा मीयन्त इति मात्राः प्राङ्मोक्षादविना-  
शिन्यो दशार्धानां पञ्चानां भूतानामित्यर्थः । ननु जीवस्योत्क्रान्तिकाले  
भूताश्रयत्वं ‘ तौ ह यद्वचतुः कर्म हैव तद्वचतुः ’ [ बृ० ३ । २ । १३ ]  
इति कर्माश्रयत्वबोधकश्रुतिविरुद्धमिति चेन्न । कर्मणो बन्धनिमित्तत्वे-  
नाऽऽश्रयत्वं भूतानां देहोपादानत्वेनाऽऽश्रयत्वमित्यविरोधात् । तौ  
याज्ञवल्क्यार्तभागौ यज्जीवाधारभूतमूचतुस्तत्कर्मैवेति श्रुतेर्वचनम् ॥ ६ ॥

( ज्ञान्यज्ञानिनोरुत्क्रान्तेरपि साम्यम्, अधि० ४ )

समाना चाऽऽसृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ७ ॥

पूर्वोक्तामुत्क्रान्तिमुपजीव्य संदिह्यते । किमुत्क्रान्तिरविदुष एवोत

(दी० १) संप्रोक्तोऽध्यक्षस्तेजःसहचरितेषु भूतेषु देहबीजभूतसूक्ष्मेषु व्यवति-  
ष्ठतइत्यवगन्तव्यम् ‘ प्राणस्तेजसि ’ इत्यतः श्रुतेः ॥ ५ ॥

एकस्मिन्स्तेजसि कथं तेजःसहचरितेषु भूतेषु इत्यत आह—नैकस्मि-  
न्निति । नैकस्मिन्नेव तेजसि शरीरान्तरप्राप्तिवैलायां जीवोऽवतिष्ठते ।  
कुतः । हि यस्माद्दर्शयतः श्रुतिस्मृती । ‘ पृथिवीमयः ’ इत्याद्या श्रुतिः ।  
स्मृतिरपि ‘ अण्व्यो मात्राः ’ इत्याद्या । प्रश्नप्रतिवचने च ‘ आपः  
पुरुषवचसः ’ इति ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरणे प्राणस्याऽऽत्मद्वारा तेजसि वृत्तिलय उक्तः स न

(अ० ४०।) विदुषो दहरादिसगुणब्रह्मोपासकस्यापीति । तत्र 'तयोर्ध्वमाय-  
न्नमृतत्वं मेति' [छा० ८।६।६] इति दहरोपासकस्य मोक्षश्रवणादविदुष  
एषोत्क्रान्तिरिति प्राप्ते ब्रूमः । आसृतिः सरणानुकूलो देवयानमार्गस्त-  
दुपक्रमात्पूर्वभाविनी योत्क्रान्तिः सा सगुणब्रह्मविदविदुषोः समानैव  
'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते' [छा० ६।८।६]  
इत्यादिसामान्यश्रवणात् । ननु कथं तर्हि सगुणविद्यायाममृतत्वश्रवण-  
मिति तत्राऽऽह—अमृतत्वं चेति । उष दाह इति धातोरिदं रूपमनुपो-  
ष्येति । रागादीन्क्लेशानदग्ध्वैवेदमापोक्षिकममृतत्वं ब्रह्मलोकप्राप्तिलक्षणं  
न मुख्यो मोक्षः । अत एव तयोर्ध्वमायन्निति मूर्धन्यनाडीद्वारोत्क्रान्ति-  
पूर्वकत्वममृतत्वस्य दर्शितम् । तस्माद्विद्वदविदुषोः समानैवोत्क्रान्तिरिति  
सिद्धम् ॥ ७ ॥

ननूत्क्रान्तिः समानेत्ययुक्तं मृतस्य स्वरूपत एवात्यन्तं ब्रह्मसंपत्तेरि-  
त्याक्षेप इदमारभ्यते—

(तेजःप्रभृतीनां भूतानां परमात्मनि वृत्त्या लयः, अधि० ५)

तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ८ ॥

तेजः परस्यां देवतायाम्' [छा० ६।८।६] इत्यत्र तेजः सजीवं  
सेन्द्रियजातं प्राणमनोभूतान्तरसहितं परमात्मनि संपद्यत इति सूक्ष्मशरी-  
रस्य लयः श्रूयते स लयः किमात्यन्तिक एवोतानात्यन्तिक इति संशयः ।  
पूर्वपक्षे मृतमात्रस्य मुक्तिः सिद्धान्ते तदभाव इति बोध्यम् । तत्र  
ब्रह्मण उपादानत्वादात्यन्तिक एव लय इति प्राप्ते ब्रूमः । तदुक्त-  
विशेषणं सूक्ष्मं तेज आऽपीतेरामोक्षादवतिष्ठते ।

(दी०।) विदुष एवेत्याक्षिप्य समाधत्ते—समानेति । समाना चेषोत्क्रान्तिर्वा-  
ङ्मनसीत्याद्या विद्वदविदुषोरासृत्युपक्रमादा, उत्तरमार्गोपक्रमात् । ननु  
विदुषोऽमृतत्वं प्राप्तस्य कुतो गमनमित्यत आह—अमृतत्वं चानुपोष्य ।  
अदग्ध्वाऽविद्यादिक्लेशबीजानि । इदममृतत्वंमिति ॥ ७ ॥

पूर्वाधिकरणे ब्रह्मविदोऽविदुषश्च समानोत्क्रान्तिरुक्ता सैवानुपपन्ना  
तेजःकार्यस्य ब्रह्मणि कारणे सर्वात्मना लयोपपत्तिरित्याक्षिप्य समाधत्ते—  
तदिति । तत्तेजआदि मृतसूक्ष्मं श्रोत्रादिकारणाश्रयभूतमाऽपीतेरा संसा-

(ब्र० व० १) योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।

स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ' [ क० ५ । ७ ]

इति संसारव्यपदेशात् । विधितत्त्वज्ञानशास्त्रयोर्मृतमात्रस्य मुक्तावा-  
नर्थक्यं च प्रसज्येत । तस्मात्सुपुताविवानात्यन्तिको लयः ॥ ८ ॥

ननूक्तलक्षणं तेजो यद्यस्ति तर्हि देहान्निर्गच्छत्पार्श्वस्थैरुपलभ्येत  
प्रतिहन्येत चेष्वादिवन्मूर्तान्तरेणेत्यत आह—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ९ ॥

चकारः स्वरूपसौक्ष्म्यसमुच्चयार्थः । उक्तं तेजः परिमाणतः स्वरूपतश्च  
सूक्ष्मं त्रसरेणुवच्चक्षुर्वच्च तस्य नाडीद्वारा निष्क्रमणश्रुत्या तथा सूक्ष्मत्वे-  
नोपलब्धेः । अत्र सूक्ष्मत्वेनैव स्वच्छत्वमुपलक्ष्यते । तथाचानुद्भूतरूप-  
त्वेन सूक्ष्मत्वाच्चक्षुर्वन्नोपलभ्यते । स्वच्छत्वान्मूर्तान्तरेण न प्रतिहन्यते ।  
स्वल्पत्वान्नाड्यादौ संचारोपपत्तिरिति ॥ ९ ॥

नोपमर्देनातः ॥ १० ॥

अत एव स्वच्छत्वलक्षणात्सौक्ष्म्यादप्रसक्तत्वरूपादस्य सूक्ष्मशरीरस्य  
स्थूलदेहस्य दाहच्छेदादिनिमित्तेनोपमर्देन नोपमर्द इत्यर्थः ॥ १० ॥

सूक्ष्मदेहसद्भावे चौष्ण्यलिङ्गकमनुमानमाह—

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ११ ॥

स्थूलदेह एव उपलभ्यमान ऊष्माऽस्यैव सूक्ष्मदेहस्य धर्मः । सत्येव

(दी० १) रमोक्षादवतिष्ठते ' योनिमन्ये प्रपद्यन्ते ' इत्यादिना संसारव्यप-  
देशात् ॥ ८ ॥

कुतस्तर्हि उत्क्रमे तत्तेजो न दृश्यत इत्यत आह—सूक्ष्ममिति ।  
चकारस्त्वर्थस्तेजसो दर्शनं व्यावर्तयति । तत्तेजः सूक्ष्मं स्वरूपतः प्रमा-  
णतश्च । तदाह—प्रमाणतश्च । कुतः । नाडीनिष्क्रमणादिभ्यस्तथासूक्ष्म-  
त्वस्योपलब्धेः ॥ ९ ॥

ननु सूक्ष्मशरीरस्य स्थूलशरीरान्तरत्वात्तन्नाशे नाश इत्यत आह—  
नोपेति । अत एव सूक्ष्मत्वान्न स्थूलशरीरस्योपमर्देनोपमृद्यते ॥ १० ॥

नन्वस्मिन्नेव शरीरे ऊष्मण उपलभ्यमानत्वात्ततोऽतिरिक्तं तेजः  
कल्पनीयमित्यत आह—अस्यैवेति । अस्यैव ऊष्मा । सूक्ष्मशरीरे सत्युप-

(ब्र० व० १) सूक्ष्मदेहे तदुपलब्धेस्तदभावे मृतदेहे तदुपलब्धेरित्यन्वयव्यतिरे-  
काभ्यां तद्धर्मस्यैवोपपत्तेरित्यर्थः ॥ ११ ॥

आसृत्युपक्रमाधिकरणे मुख्यामृतत्व उत्क्रान्त्यभावो दर्शितः स न  
युक्त इत्याक्षिपति—

( देहादेव प्राणोत्क्रान्तेर्निषेधः, अधि० ६ )

प्रतिषेधादिति चेन्न शरीरात् ॥ १२ ॥

व्यवहिताधिकरणेनास्य संगतिः । किं निर्गुणब्रह्मविद् उत्क्रान्ति-  
रस्ति न वेति संदेहेऽस्तीति प्राप्तम् । ननु ' अथाकामयमानो योऽकामो  
निष्काम आप्तकाम आत्मकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति '   
[ बृ० ४ । ४ । ६ ] इति परब्रह्मविदः शरीरात्प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधान्ना-  
स्त्युत्क्रान्तिरिति चेन्न । शारीराज्जीवादयं प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधो न  
शरीरात् । ' न तस्मात्प्राणा उत्क्रामन्ति ' [ बृ० माध्य० ४ ।  
४८ ] इति माध्यंदिनशाखायां जीवादेव प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेधस्य  
श्रुतत्वात् । तस्मात्प्राणादिसहितस्य जीवस्य परब्रह्मविदोऽप्युत्क्रान्तिर-  
स्तीति पूर्वपक्षः । श्रुत्यर्थस्तु—मुक्तिप्रक्रमार्थोऽथशब्दो बाह्यविषयकाम-  
नाशून्यत्वं मानसिकविषयकामनाशून्यत्वं निष्कामत्वं प्राप्तस्वरूपानन्द-  
तृप्तत्वमाप्तकामत्वं तत्र हेतुरात्मकाम इति ॥ १२ ॥

सिद्धान्तयति—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ १३ ॥

एकेषां काण्वानां शाखायां प्राणानां परब्रह्मविदेहात्स्पष्ट उत्क्रान्ति-

(दी० १) लब्धेरित्युपपत्तेः । चकारः श्रुतिमप्याह ' ऊष्म एवैषः ' इत्या-  
दिकाम् ॥ ११ ॥

पूर्वाधिकरणे संसारव्यपदेशेन तेजसो वृत्तिलय उक्तः । अत्रापि  
मरणव्यपदेशाद्देह्यपादानोत्क्रान्तिप्रतिषेध इति सिद्धान्तोपक्रमेण सूत्रे-  
णाऽऽक्षिपति—प्रतिषेधादिति । सूत्रावयवेन सिद्धान्तमाह—प्रतिषेधादिति  
चेत् । ' न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ' इत्यस्मात्प्रतिषेधाद्विद्यावतो  
न गमनमिति चेत्तन्न । शरीरात् । जीवादयं गमनप्रतिषेधो न  
शरीरात् ॥ १२ ॥

एवं शङ्कित्वा पुनः सिद्धान्तमाह—स्पष्ट इति । न शरीरापादानं

(ब० ७०।) प्रतिषेधः । हि यत उपलभ्यते अतो न तस्योत्क्रान्तिरस्तीत्यर्थः ।  
तथा हि ' यत्रायं पुरुषो म्रियत उदस्मात्प्राणाः क्रामन्त्याहो नेति '  
[ बृ० ३।२।११ ] इत्यार्तभागप्रश्ने द्वितीयमनुत्क्रान्तिपक्षमाश्रित्य याज्ञ-  
वल्क्यो नोत्क्रामन्तीत्युक्त्वा तर्हि प्राणोत्क्रान्त्यभावे मृतो न भवेदित्या-  
शङ्क्यात्रैव समवनीयन्त इति प्राणविलयं प्रतिज्ञाय तत्सिद्धये ' स  
उच्छ्रयत्याध्मायत्याध्मातो मृतः शेते ' [ बृ० ३।२।११ ] इत्युत्क्रा-  
न्त्यवधेर्देहस्योच्छ्रयनादिकमाह । एतत्सामान्यान्माध्यंदिनशाखायामपि  
तस्मादित्यनेन देहस्यैव ग्रहणं बोध्यम् । उत्पन्नात्मसाक्षात्कारस्य यत्र  
यदाऽयं स्थूलः प्रत्यक्षः पुरुषो देहो म्रियते सर्वचेष्टाशून्योऽतिशीतलो  
भूमौ शेते तदाऽस्माद्देहात्प्राणा उत्क्रामन्त्याहो पक्षान्तरे त अत्रैव नाशं  
यान्तीति प्रश्नार्थः । अत्र प्राणशब्देन सूक्ष्मदेहोक्तिः । स देह उच्छ्रयत्यु-  
च्छूनो भवति । नन्वयं रोगः कश्चनेत्यत आह—आध्मायतीति । बाह्येन  
वायुना पूरितो विविधाञ्छब्दानाद्भेरीवत्करोति यत आध्मातः  
शब्दवान्मृतो विलीनसूक्ष्मशरीरः सन्भूमौ शेते इत्यर्थः । तस्माज्जीवा-  
त्प्राणोत्क्रान्तेरप्राप्तत्वेन निषेधायोगाद्विद्वद्देहादेव प्राणोत्क्रान्तिप्रतिषेध  
इति न विदुषो मार्गोत्क्रान्ती स्तः ॥ १३ ॥

स्मर्यते च ॥ १४ ॥

महाभारते मार्गोत्क्रान्त्योरभावः ।

सर्वभूतात्मभूतस्य सम्यग्भूतानि पश्यतः ॥

देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः [ महाभा० १२।२७२।  
२२ ] इति ।

पदशब्दः प्राप्यवाची स्वातिरिक्तपदशून्यब्रह्मविदः पदैषिणो देवा  
अपि मार्गे मुह्यन्ति मार्गं न जानन्ति तदभावादित्यर्थः । तस्माद्विदुषः  
स्वरूपे ब्रह्मण्येव प्राणानां लयो नोत्क्रान्तिरिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

(दी०।) प्राणानामगमनम् । कुतः । हि यस्माद्देहेषां शाखिनां शरीरस्यैव  
स्पष्टो ह्यपादानभावः श्रूयते स उच्छ्रयतीत्यादिना देहस्यैवापादानतयो-  
पलम्भात् ॥ १३ ॥

स्मर्यत इति । स्मर्यतेऽपि भारते गत्युत्क्रान्त्योरभावः सर्वभूतात्मे-  
त्यादिना ॥ १४ ॥



(ब्र० व० १) ननु ब्रह्मणि प्राणलय इत्युक्तं पृथिव्यादिषु लयश्रुतेरित्याक्षेप इदमाह—

( तत्त्वज्ञानिनो वागादीनां परमात्मनि लयः, अधि० ७ ) ।

तानि परे तथा ह्याह ॥ १५ ॥

किं विदुषः प्राणशब्दाभिधयसूक्ष्मदेहलयः पृथिव्यादिषु तत्त्वज्ञानिणां परब्रह्म-  
णीति संदेहे 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' [ मु० ३ । २ । ७ ] इति  
विद्वद्विषयश्रुत्यैव पृथिव्यादिषु लयावगमात्तेष्वेव लय इति पूर्वपक्षः ।  
यद्यपि मनःसहितानि दशेन्द्रियाणि पञ्चभूतसूक्ष्मसहितानि पञ्चप्राण-  
सहितानि वा षोडशकलाः सन्ति तथाऽपि घ्राणमनसोरेकपृथिवीवि-  
कारत्वेनैक्यविवक्षया श्रुतौ पञ्चदशेत्युक्तम् । प्रतिष्ठाशब्देन तत्त्वकलो-  
पादानानि पृथिव्यादीन्युच्यन्ते । तानि कला गतास्तत्र लीना इति  
यावत् । तत्र सिद्धान्तः । तान्युक्तविशेषणानीन्द्रियाणि षोडशकला-  
त्मकसूक्ष्मदेहरूपाणि परे ब्रह्मणि लीयन्ते । तथा ह्याह श्रुतिः—'एवमे-  
वास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छ-  
न्ति' [ प्रश्न० ६ । ५ ] इति । यथा नद्यः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्त्येवमे-  
वास्य जीवस्य परे सर्वतोऽनवच्छिन्नप्रत्यग्रूपब्रह्मद्रष्टुरिमाः स्वानुभव-  
गम्याः कलाः पुरुषाश्रयास्तं प्राप्य लयं यान्तीत्यर्थः । स्वोपादाने  
स्वस्य लय इति व्याप्तिमूलकव्यावहारिकप्रमाणानुमानापेक्षया पूर्वश्रुतौ  
पृथिव्यादिषु लिङ्गशरीरलय उक्तस्तत्त्वावेदकश्रुत्यपेक्षया ब्रह्मविवर्तस्य  
सर्वस्य ब्रह्मणि लयो द्वितीयश्रुतावुक्त इत्यविरोधः । स्वोपादानेषु प्रली-  
नाः कलाः स्वोपादानैः सह ब्रह्मणि नश्यन्तीति श्रुतिद्वयतात्पर्यम् ॥ १५ ॥

( तत्त्वविदो वागादीनां निःशेषेण परमात्मनि लयः, अधि० ८ ) ।

अविभागो वचनात् ॥ १६ ॥

सोऽयं विद्वत्कलाविलयः किमविदुष इवानात्यन्तिक उताऽऽत्यन्तिक

(दी० १) पूर्वाधिकरण उच्छ्रयतीत्यादिना देहस्य प्रकृतत्वात्तदापादानोक्ता-  
न्तिप्रतिषेधः कृतस्तद्वदत्रापि 'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' इति वच-  
नादिन्द्रियाणां भूतेषु लय इत्याक्षिप्य समाधत्ते—तानीति । तानीन्द्रि-  
याणि भूतानि निर्गुणविद्यावतः परे परमात्मनि प्रलीयन्ते । कुतः । हि  
यस्मात्तथाऽऽह श्रुतिः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्तीति ॥ १५ ॥

पूर्वाधिकरणे विदुष इन्द्रियाणां परस्मिन्प्रविलय उक्तः स चानुष-

(ब्र० व० १) इति संदेहः । एकविषयत्वं संगतिः । पूर्वपक्षे मोक्षासिद्धिः सिद्धान्ते तत्सिद्धिरिति बोध्यम् । यत्र फलं नोच्यते तत्र पूर्वोत्तरपक्ष-सिद्धिः फलमिति मन्तव्यम् । तत्रानात्यन्तिको लय इति प्राप्ते ब्रूमः । विदुषः कलानां ब्रह्मणा सहात्यन्तमविभाग एव न सावशेषो लयः । कुतः । कलानां लयोक्त्यनन्तरं 'भिद्येते चासां नामरूपे, [प्रश्न० ६।५] इति कलानां शक्त्यात्मकनामरूपयोः पुरुषे लयमुक्त्वा 'स एषोऽकलोऽमृतो भवति' [ प्रश्न० ६ । ५ ] इति वचनादित्यर्थः ॥ १६ ॥

परविद्याचिन्तां प्रासङ्गिकीं समाप्य प्रकृतामपरविद्याचिन्तामनुसरति—

( उपासकस्योत्क्रान्तेर्विशेषवत्त्वम्, अधि० ९ ) ।

तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्या-  
सामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दा-  
नुगृहीतः शताधिकया ॥ १७ ॥

आसृत्युपक्रमाधिकरणे सगुणब्रह्मविदामविदुषां च समानोत्क्रान्ति-रित्युक्तं तत्र विद्वदुत्क्रान्तौ विशेषोऽत्रोच्यते । तस्य लीनवृत्तिकवागा-दिसमूहस्योत्क्रमिष्यतो जीवस्यौक आयतनं हृदयं तस्य यदग्रं नाडीद्वारमुखं तस्य ज्वलनं प्राप्तव्यकर्मफलज्ञानरूपं प्रद्योताख्यमादौ भवति तेन प्रद्योतेन प्रकाशितद्वारो विद्वानविद्वांश्च भवति । तथा हि श्रुतिः—'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति चक्षुष्टो वा मूर्ध्ना वाऽन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः ' [ बृ० ४ । ४ । २ ] इति । तत्र संशयः । किमविदुष इव विदुषोऽप्यनियतेन केनचिद्वारेणोत्क्रान्तिरुत

(दी० १) पन्नो वृत्त्याऽन्यत्राप्युपपत्तेरित्याक्षिप्य समाधत्ते—अविभाग इति । इन्द्रियाणां भूतानां च ब्रह्मणि प्रविलये ब्रह्मणोऽविभाग ऐक्यं निर्गुणविद्यावतो वृत्तिमतामेपां प्रविलय इत्यर्थः । कुतः । वचनात् । ' भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे ' इत्यादेः ॥ १६ ॥

व्यवहिताधिकरण आ सृत्युपक्रमाद्विदुषोऽविदुषश्च समाना गतिरुक्ता साऽनुपपन्ना विदुषोऽप्यनियतनाडीगमनादित्याक्षिप्य समाधत्ते । अथ वा पूर्वाधिकरणे निर्गुणविद्यावतोऽविभागेन परस्मिन्निन्द्रियलय उक्त-

(ब्र० व० १) मूर्धन्यनाडीद्वारेण नियतनेवेति । तत्र विद्वत्कलानां वचनादवि-  
 भागवच्चक्षुष्टो वेत्यनियमवचनादनियतेनेति प्राप्ते ब्रूमः । दहरादिसगुणब्र-  
 ह्मोपासकस्य मूर्धस्थानादेव निष्क्रमणं विद्यासामर्थ्यात् । अन्यथा द्वारानि-  
 यमाभावे विद्यात उत्कृष्टफलप्राप्तिर्न स्यादित्यर्थः । ननु द्वारानियमेऽप्यु-  
 त्कृष्टफलप्राप्तिर्भविष्यतीत्यत आह—तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्चेति । तस्याः  
 सगुणविद्यायाः शेषभूता गतिर्मूर्धन्यनाडीप्रभृतिभिर्मार्गस्तस्यानुस्मृति-  
 र्ध्यानं तद्विधानाच्च तेनैव ध्यातेन मार्गेण निष्क्रमणं युक्तम् । अन्यथा  
 द्वारानियमेऽपि फलप्राप्तौ मार्गध्यानविधिवैयर्थ्यं स्यात् । तस्माद्धृन्नि-  
 ष्ठेन ब्रह्मणा सूपासितेनानुगृहीतस्तद्भावमापन्नो विद्वान्मूर्धन्ययैव शतना-  
 डीभ्योऽधिकया निष्क्रामत्यविद्वांस्त्वितराभिर्नाडीभिः । तथा च श्रुति-  
 र्हादंब्रह्मविद्यायाम्—‘शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः-  
 सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ’ [छा०  
 ८। ६। ७] इति । विष्वङ् नाना गतयः । तस्माद्धृदयादुद्धतया मासुरया  
 मूर्धानं गतया सूर्यरश्मिभिरेकीकृतया ब्रह्मनाड्या विद्वान्निष्क्रामतीति  
 सिद्धम् ॥ १७ ॥

( निशायामपि मृतानां रश्मिप्राप्तिः, अधि, १० )

(दी० १) स्तद्वत्सगुणविद्यावतोऽपि स स्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य गतिवि-  
 शेषप्रदर्शनेन समाधत्ते—तदोक इति । तस्य विज्ञानात्मन ओक आयतनं  
 हृदयं तस्य हृदयस्याग्रज्वलनं तेन ज्वलनेन प्रकाशितानि द्वाराणि यस्य  
 सोऽयं तत्प्रकाशितद्वारः सर्वोऽपि जन्तुश्चक्षुरादिभ्यः स्थानेभ्य उत्क्रा-  
 मति । विद्वांस्तु हार्देन ब्रह्मणाऽनुगृहीतः शताधिकया मूर्धन्यया नाड्या ।  
 कुतः । विद्यासामर्थ्यादुपासनसामर्थ्यात् । तत्सामर्थ्यादपि अनयैव  
 गच्छतीति को नियम इत्यत आह—तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च । तस्या  
 विद्यायाः शेषभूता मूर्धन्या नाडी गतिरुत्तरमार्ग इति यावत् । तस्या-  
 नुस्मृतिरनुस्मरणं तस्ययोगस्तस्मादपि । चकारः सामर्थ्यमनाक्षेप्य-  
 माह ॥ १७ ॥

## रश्म्यनुसारी ॥ १८ ॥

(ब्र० व० १) हार्ददहरब्रह्मविद्यायामेव ब्रह्मनाडीरश्मिसंबन्धमुक्त्वा 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' [छा० ८।६। ५] इति पूर्वोक्तरीत्या ब्रह्मनाड्या निष्क्रामतो रश्म्यनुसारित्वमुक्तं तदाश्रित्य संदिह्यते । किं तद्रश्म्यनुसारित्वमहर्मृतस्यैव भवत्युत रात्रावपीति । पूर्वपक्षे रात्रौ मृतस्य सूर्यादियापेक्षा सिद्धान्ते तदनपेक्षयैव ब्रह्मलोकप्राप्तिरिति फलम् ॥ १८ ॥

तत्राहनि रात्रौ वा मृतो रश्म्यनुसारीति सिद्धान्तप्रतिज्ञामाक्षिप्य समाधत्ते—

निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावदे-

हभावित्वादर्थयति च ॥ १९ ॥

अहनि सूर्यरश्मिनाडीसंबन्धस्य सत्त्वात्तत्रैव मृतो रश्म्यनुसारी निशि तु न भवति तदसत्त्वादिति चेन्न । नाडीरश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । यावद्देहभावित्वं च श्रुतिर्दर्शयति 'अमुष्मादादित्यात्प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः' [छा० ८।६। २] इति । प्रतायन्ते विस्तृता भवन्ति रश्मयः सृप्ताः संबद्धाः । नन्वत्र संबन्धः श्रुतो न तस्य यावद्देहभावित्वमित्याशङ्क्य प्रमाणान्तरसूचकः सूत्रे चकारः प्रयुक्तो रात्रावप्यौष्ण्यस्य देहे दर्शनाद्रश्मिसंबन्धोऽनुमेय इति । तस्मादहनि रात्रौ वा मृतो विद्वानविलम्बेनैव रश्म्यनुसारीति सिद्धम् ॥ १९ ॥

(दक्षिणायनमृतस्योपासकस्य ज्ञानफलप्राप्तिः, अधि० ११)

(दी० १) पूर्वाधिकरणे मूर्धन्यनाड्या सगुणविदुत्क्रामतीत्युक्तं तद्विवसे मृतस्यैव न रात्रौ तत्र रश्मीनामभावादित्याक्षिप्य समाधत्ते—रश्मीति । 'अथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते' इत्येष दिवसे रात्रौ च रश्म्यनुसारी याति ॥ १८ ॥

निशि रात्रौ न रश्म्यनुसारी यातीति चेन्न रश्मिसंबन्धस्य यावद्देहभावित्वात् । असुखा (मुष्मा) दित्यादिना दर्शयति । चकारो निदाघनिशासु रश्मीनां स्पर्शोपलम्भमाह ॥ १९ ॥

## अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ २० ॥

(ब० व० १) किं दक्षिणायने मृतो विद्वान्विद्याफलं प्राप्नोति न वेति संदेह उत्तरायणप्राशस्त्यप्रसिद्धेर्भीष्मस्य तत्प्रतीक्षादर्शनाच्च न प्राप्नोतीति प्राप्तेऽतिदिशति पूर्वन्यायमतश्चेति । अत एव कालान्तरप्रतीक्षानुपपत्तेर्विद्याया नित्यवत्फलसंबन्धश्रवणाद्विद्वान्प्रतीक्षायने मृतो विद्वान्फलमाप्नोत्येवेत्यर्थः । अविदुषामुत्तरायणं प्रशस्तमित्यभिवदनरूपसदाचारप्रवृत्त्यर्थं पितृप्रसादलब्धस्वेच्छामरणज्ञापनार्थं वा भीष्मस्य विदुष उत्तरायणप्रतीक्षेति भावः ॥ २० ॥

ननु भगवद्गीतासु—

यत्र काले त्वनावृत्तिभाववृत्तिं चैव योगिनः ।

प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ [भ० गी० ८ । २३]

इति कालमेव प्रतिज्ञायाहरादिकालविशेषस्यानावृत्तये नियतत्वोपदेशात्कथं रात्रौ दक्षिणायने वा मृतो विद्वाननावृत्तिमाप्नुयादित्यत आह—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ २१ ॥

योगिनः स्मार्तविद्योपासकान्प्रत्ययमहरादिकालविशेषः स्मर्यते स्मार्तत्वप्रत्यासत्तेर्न श्रौतदहराद्युपासकान्प्रति । नन्वत्र योगो दहराद्युपासनमेवास्तु तत्राऽऽह—‘स्मार्ते चैते’ इति । ब्रह्मार्पणबुद्ध्या कृतनित्याग्निहोत्रादिकर्म योगः ‘अनाश्रितः कर्मफलम्’ इत्यादिस्मृतेः । धारणपूर्वकार्त्तुत्वानुभवः सांख्यम् । इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्’ इति स्मृतेः । तथा च ते योगसांख्ये स्मार्ते एव न श्रौतविद्यादिरूपे । तथा श्रुतिस्मृत्योरर्थभेदान्न श्रौतोपास्तिषु कालनियमः ।

(दी० १) पूर्वाधिकरणे रात्रौ मृतस्यापि रात्रौ रश्मीनां सद्भावेनोत्तरमार्गगमनमुक्तं तद्वदक्षिणायने मृतस्यानुपपन्नमित्याक्षिप्य समाधत्ते—अत इति । अतश्चात एव मरणस्यानियतकालत्वादयने दक्षिणेऽपि मृतो विद्वान्विद्याफलमाप्नोत्येव ॥ २० ॥

यत्र काल इत्यादिना दक्षिणायने मृतानां पुनरावृत्तिः स्मर्यत इत्यत आह—योगिन इति । योगिनः स्मार्तयोगवतस्तान्प्रति स्मर्यते काल-

(ब०४पा०१) यदि च श्रुत्युक्तदेवयानपितृयाणयोरेवात्र स्मृतावपि प्रत्यभिज्ञा-  
नात्स्मृतौ कालशब्देन तदभिमानिदेवताग्रहणं श्रुतिसमानार्थत्वाय क्रियते  
तदाऽहरादिकालाभिमानिदेवतानां सर्वदा सत्त्वान्न विदुषो मृतौ काल-  
नियमापेक्षेत्यनवद्यम् । तस्माद्यदाकदाचिन्मृतो विद्वान्विद्याफलं प्राप्नो-  
तीति सिद्धम् ॥ २१ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्मामृतवर्षिण्यां चतुर्थाध्याये  
द्वितीयः पादः ॥ २ ॥

एवं सगुणविद्याफलप्राप्तये देवयानमार्गं वक्तुं तदङ्गोत्क्रान्तिचिन्ता  
कृता संप्रत्यङ्गिनं देवयानमार्गं वक्तुमयं पाद आरभ्यते—

( अर्चिरादिकस्य ब्रह्मलोकमार्गस्यैकत्वम्, अधि० १ )

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ १ ॥

अस्ति ब्रह्मलोकप्राप्तिहेतौ मार्गे श्रुतीनां विप्रतिपत्तिः । नाडीसंबन्ध-  
रश्मिरूपो मार्गः क्वचिच्छूयते, क्वचित्तु 'तेऽर्चिषमभिसंभवन्त्यर्चिषोऽहः'  
[ छा० ५ । १० । १ ] इत्यादावग्न्यादिरूपः, अन्यत्र तु 'सूर्यद्वारेण  
ते विरजाः प्रयान्ति' [ मु० १ । २ । ११ ] इति श्रुतम् । विरजा  
विरजसो मार्गतत्प्राप्यफलविरोधिविधुरा इत्यर्थः । तत्र श्रुतिविप्रतिपत्त्या  
संशयः । किं परस्परं भिन्ना एवैते मार्गा उतानेकविशेषणयुक्त एक  
एवेति । पूर्वपक्षे येन केनचिन्मार्गेण गमनमिति विकल्पः सिद्धान्ते  
मार्गैक्याद्विकल्पाभाव इति बोध्यम् । तत्र प्रकरणभेदान्मार्गभेदः । तथा  
च विदुषां मृतिकालानियमवन्मार्गानियम इति प्राप्ते ब्रूमः । सर्वो हि  
ब्रह्मलोकप्रेप्सुरर्चिरादिनैवैकेन मार्गेण गन्तुमर्हति । कुतः । तत्प्रथितेः ।

(दी०) विनियोगः स्मार्ते चैते योगसांख्ये । आद्यश्चकारो ब्रह्मविदः प्रत्य-  
स्मरणमाह । आतिवाहिकानङ्गीकारेण कृता चिन्तेयम् ॥ २१ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां चतुर्थस्याध्यायस्य द्वितीयपादः ॥ २ ॥

पूर्वपाद उत्क्रान्तिर्निरूपितेदानीमुत्क्रान्तस्य विदुषोऽर्चिरादिका  
गतिर्निरूप्यते—अर्चिरिति । सर्वो ब्रह्म प्रेप्सुरर्चिरादिनैव मार्गेण

(ब० व० १) तस्यार्चिरादिमार्गस्य पञ्चाग्निविद्याप्रकरणे ' ये चामी अरण्ये  
 श्रद्धां सत्यमुपासते तेऽर्चिषमभिसंभवन्ति ' [बृ० ६।२।१५ ] इति पञ्चा-  
 ग्न्युपासकस्येवेतरस्यापि सगुणोपासकस्य श्रुतत्वादित्यर्थः । न च प्रक-  
 रणमेदान्मार्गमेदः । सर्वत्रार्चिराद्येकदेशप्रत्यभिज्ञानाद्वन्तव्यब्रह्मलोकाभे-  
 दाच्च सर्वत्र सर्वविशेषणोपसंहारेणानेकविशेषणयुक्तमार्गैक्यावगमात् ।  
 तस्माद्ब्रह्मलोकप्राप्तिहेतुमार्गः सर्वेषामेक एवेति सिद्धम् ॥ १ ॥

( संवत्सरादित्ययोर्मध्ये देवलोकवायुलोकौ संनिवेशयितव्यौ,  
 अधि० २ )

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ २ ॥

सर्वेषां मार्गविशेषणानां ग्रन्थनप्रकारः कथ्यते । ' स एतं देवयानं पन्था-  
 नमासाद्याग्निलोकमागच्छति स वायुलोकं स वरुणलोकं स इन्द्रलोकं  
 स प्रजापतिलोकं स ब्रह्मलोकम् । [ कौ० १ । ३ ] इति कौपीतकिनो  
 देवयानं मार्गमामनन्ति । स विद्वांस्तत्तल्लोकं प्राप्तस्तत्तल्लोकस्वामिनाऽ-  
 ग्न्यादिना नीयत इत्यर्थः । छन्दोगास्त्वेवमधीयते—तेऽर्चिषमभिसंभव-  
 न्त्यर्चिषोऽहुरह्म आपूर्यमाणपक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान्पडुदङ्ङेति मासांस्ता-  
 न्मासेभ्यः संवत्सरं संवत्सरादादित्यम् ' [ छा० ५ । १० । १ ] इति ।  
 उदङ्ङादित्यो यान्पणमासानेति तानिति योजना । अत्र श्रुतिद्वयेऽप्य-  
 ग्निरादौ पठितोऽनन्तरं च कौपीतकिश्रुतौ वायुः श्रुतः । सोऽर्चिरादि-  
 मार्गे कस्मादनन्तरं ग्रन्थितव्य इति संदेहे सर्वत्रार्चिराद्येकदेशप्रत्यभिज्ञा-  
 नान्मार्गैक्यवदग्न्यनन्तरं वायुप्रत्यभिज्ञानात्तत्रैव तस्य प्रवेश इति प्राप्ते  
 ब्रूमः । अब्दात्संवत्सरादनन्तरमादित्यात्पूर्वं वायुमभिसंविशन्ति गन्तारः ।  
 कुतः । अविशेषविशेषाभ्याम् । कौपीतकिश्रुतौ वायोः कुतश्चिदानन्तर्यं  
 पूर्वत्वं वा विशेषो न ज्ञायते तद्वाचकपदामावात् । बृहदारण्यके त्वादि-

(दी०)रंहति । कुतः । तत्प्रथितेः । तस्य मार्गस्य विदुषां प्रथितेः प्रसिद्धेः  
 ' ये चामी अरण्ये ' इत्यादिना ॥ १ ॥

पूर्वाधिकरणे विदुषोऽर्चिरादिमार्गेण गमनमुक्तम् । स मार्गो न  
 नियतो वायोरेतस्मिन्नश्रवणादित्याक्षिप्य समाधत्ते—वाप्सविति । वायु-  
 मब्दात्संवत्सराद्देवलोकं प्राप्येति शेषः । कुतः । अविशेषविशेषाभ्याम् ।

(बृ०५०।) त्यात्पूर्वत्वं विशेषो दृश्यते 'यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात्प्रैति स वायुमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते यथा रथचक्रस्य खं तेन स ऊर्ध्वमाक्रमते स आदित्यमागच्छति' [बृ०५।१०।१] इति । पुरुषो ध्याता लोको देहः प्रैति तदेति शेषः । तस्मै प्राप्ताय ध्यात्रे स वायुस्तत्र विजिहीते छिद्रं करोति यथा रथचक्रस्य छिद्रं तेन वायुदत्तेन छिद्रेण द्वारेणोर्ध्वमाक्रमते स ध्याता । क ऊर्ध्वस्तमाह—आदित्यमिति । तथा च तेनेति श्रुत्याऽऽदित्यगमनहेतुद्वारस्य वायोः पूर्वत्वस्याऽऽदित्यादवगमादग्न्यनन्तरपाठस्य बाधः । अत्रैवं क्रमो निष्पन्नः । नाडीरश्मिप्रवेशानन्तरमर्चिरादिवत्सरान्तं गच्छति विद्वांश्छान्दोग्यश्रुत्यनुसारात् । बृहदारण्यके मासानन्तरं संवत्सरस्यैवानुप्रवेशस्तस्य मासावयवित्वेन योग्यत्वात्संवत्सरानन्तरं देवलोकस्य देवलोकाद्वायोर्वायोरादित्यस्याऽऽदित्याच्चन्द्रमसश्चन्द्रात्तडिलोकस्य प्रवेशः । तथा च सूत्रे वायुपदं देवलोकोपलक्षकम् । अब्दादनन्तरं देवलोकसहितं वायुमागच्छति विद्वानिति सूत्रार्थः ॥ २ ॥

एवमग्न्यनन्तरश्रुतवायोः स्थानमुक्त्वा तत्रैव कौपीतकिश्रुतौ वाय्वनन्तरश्रुतवरुणादीनामर्चिरादिमार्गे स्थानमाह—

(वरुणादीनां संनिवेशादर्चिरादिमार्गस्य व्यवस्थापितत्वम्, अधि०३)

तडितोऽधि वरुणः संबन्धात् ॥ ३ ॥

किं कौपीतकिवाक्ये श्रुतो वरुणोऽर्चिरादिमार्गे संबध्यते न वेति संदेहे स्थानबोधकमानाभावान्न संबध्यत इति प्राप्ते ब्रूमः । तडितोऽधि विद्युल्लोकादुपरिष्ठाद्वरुणः संबध्यते । कुतः । संबन्धात् । तडित उपरि हि सजला मेघा दृश्यन्ते जलाधिपतिश्च वरुण इति तडिद्वरुणयोः संबन्धादित्यर्थः । वरुणानन्तरमिन्द्रादेः प्रवेशः कौपीतकिनां पाठक्रमे बाधकाभावादिति ॥ ३ ॥

(दी०।)स वायुलोकमित्यविशेषः । स वायुमागच्छतीत्युक्त्वाऽनन्तरं तद्वत्तेन मार्गेण स आगच्छतीति विशेषमाह ताभ्याम् ॥ २ ॥

पूर्वाधिकरणे वायोरब्दानन्तर्यमुक्तं तथाऽपि वरुणलोकादीनामर्चिरादिसंनिवेशानुपपत्तिस्तदवस्था नियामकाभावादिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—तडित इति । तडितो विद्युल्लोकादधि अनन्तरं वरुणलोकं वरुणस्य विद्युतां च संबन्धादिन्द्रप्रजापतिलोकयोरपि वरुणादधि आगन्तूनामन्ते निवेश इति न्यायेन संनिवेशः ॥ ३ ॥



(ब्र० व० १) एवमर्चिरादीनां क्रमं निरूप्य तेषामेव स्वरूपं निरूपयति—

( अर्चिरादीनामातिवाहिकत्वम्, अधि० ४ )

आतिवाहिकास्तलिङ्गात् ॥ ४ ॥

किमेतेऽर्चिरादयो मार्गचिह्नभूता उत गन्तॄणां विदुषां भोगभूमय आहोस्विदातिवाहिका इति संशयः । तत्रार्चिरादीनां वृक्षनद्यादिवन्मार्गचिह्नत्वमग्निलोकं वायुलोकमित्यादिलोकशब्दश्रवणाद्भोगभूमित्वं वेति प्राप्ते ब्रूमः । एतेऽर्चिरादय आतिवाहिकाः कार्यब्रह्मगन्तॄणां विदुषां गमयितारः । कुतः । तलिङ्गात् । ‘ अमानवः स एतान्ब्रह्म गमयति ’ [ छा० ५ । १० । २ ] इत्यमानवपुरुषस्य विद्युलोकं प्राप्तानुपासकान्प्रति गमयितृत्वश्रवणादित्यर्थः । न च \* यस्य गमयितृत्वं श्रुतं तस्यैव + तदिति वाच्यम् । तस्य वाक्यस्यार्चिरादिमानवपुरुषसमभिव्याहारप्राप्तमानवत्वनिवृत्तिपरत्वेन सिद्धवद्गमयितृत्वानुवादकत्वात् । अतः सिद्धवद्गमयितृत्वदर्शनालिङ्गात्पूर्वेषामप्यर्चिरादीनां पुरुषाणां नेतृत्वमिति । न च लोकशब्दमात्रेण भोगभूमित्वमिति युक्तं लीनेन्द्रियाणां विदुषां भोगायोगात् । तस्मादग्निस्वामिकं लोकं प्राप्य तेनाग्निना बाहकेनाहर्देवं प्राप्नोति तेन च देवतान्तरमिति योज्यम् ॥ ४ ॥

ननु लिङ्गमात्रं न पूर्वेषां नेतृत्वगमकं × न्यायामावादित्यत आह—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ५ ॥

यद्यर्चिरादयोऽचेतनास्तदा विदुषामपि निर्देहानां लीनेन्द्रियाणां ज्ञानाभावेनोभयोर्विद्वदर्चिराद्योर्व्यामोहादज्ञत्वात्कार्यब्रह्मप्राप्तिर्न स्यात् ।

(दी०) पूर्वाधिकरणेऽर्चिरादिमार्गे वरुणादीनां तडितोऽधि संबन्ध उक्तस्तावता मार्गो व्यवस्थितस्तथाऽपि तस्मिन्मार्गेऽर्चिरादिभ्यो गमनमधिगन्तुं विद्वानेकाकी प्रभुस्ततो न नियतो मार्गोऽयमित्याक्षिप्य समाधत्ते—आतीति । अतिवहन्तीत्यातिवाहिकाश्चेतना दे(ए)वार्चिरादयः । कुतः । तलिङ्गात् । तेषां चेतनानां तत्पुरुषोऽमानव इति लिङ्गात् ॥ ४ ॥

नन्वत्रैवायं पुमान्नेताऽस्त्वित्यत आह—उभयेति । उभयस्य गन्तॄणां

\* ख. अमानवस्य । + ख. पूर्वेषां मानवत्वं श्रुतम् । × ख. युक्त्यभावात् ।

(ब० व० १) लोके हि मूर्छितो यत्नहीनो यत्नवद्भिश्चेतनान्तरैर्नीयते नाचेत-  
नैरतो यत्नहीनश्चेतनश्चेतनान्तरैर्नीयत इति न्यायसहितालिङ्गात्पूर्वपाम-  
र्चिरादीनां देवतानां तत्सिद्धेर्नेतृत्वसिद्धेर्न न्यायहीनं लिङ्गमर्चिरा-  
दीनां देवत्वे रात्रौ दक्षिणायने वा मृतस्य विदुषो ब्रह्मलोकगतिर्युक्ततरा  
भवति देवानां सदा सत्त्वादिति ॥ ५ ॥

ननु नार्चिरादीनां नेतृत्वं विद्युल्लोकादमानवपुरुषस्यैव नेतृत्वश्रवणा-  
द्वरुणादीनां नेतृत्वायोगादित्यत आह—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ६ ॥

अमानवः पुरुषो विद्युल्लोकमागतो वैद्युतस्तेनैव ततो विद्युत्प्राप्ते-  
रुर्ध्वं नीयमाना विद्वांसः कार्यं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति 'अमानव एव ब्रह्म-  
लोकान्गमयति विद्युल्लोकस्थान्' इत्यमानवस्यैव गमयितृत्वश्रवणात् ।  
अमानवोपसर्जनत्वेन वरुणादीनां नेतृत्वं न प्राधान्येनार्चिरादिविद्युद-  
न्तानां तु प्राधान्येनैव नेतृत्वम् । तस्मान्नार्चिरादयो नेतार इति  
सिद्धम् ॥ ६ ॥

एवं गन्तव्यप्राप्तिहेतुं मार्गं निरूप्य फलभूतं गन्तव्यं निरू-  
पयति—

(उत्तरमार्गेण कार्यब्रह्मगमनम्, अधि० ५)

कार्यं तु बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ७ ॥

'स एतान्ब्रह्म गमयति' [छा० ५।१०।२] इत्यत्र संशयः  
किं परं निर्गुणं ब्रह्म गमयत्यमानवः पुरुष उत कार्यं सगुणं ब्रह्मेति ।

(दी० १) संपिण्डितकरणत्वेन स्थानानां स्वयमेव व्यामोहोऽचेतनत्वं तस्मा-  
न्नेतृणां चेतनासिद्धिस्तस्याः ॥ ५ ॥

वैद्युतेति । वरुणादिलोके तेषां नेतृणामभावात्पूर्वमपि चेतना न  
स्युरित्यत आह—वैद्युतेनैवामानवेनैव ततस्तस्माद्विद्युल्लोकादूर्ध्वं नीयते ।  
कृतः । तच्छ्रुतेः । तस्यामानवस्य पुरुषस्य नेतृत्वस्य तान्वैद्युतादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

पूर्वाधिकरण आतिवाहिकैः सगुणविद्याविघ्नीयत इत्युक्तं तदनुपपन्न-  
मेतस्य प्राप्यस्य ब्रह्मणः परत्वेन निर्गुणविद्यादिवदप्यत्रैव गच्छतीत्या-  
क्षिप्य सिद्धान्तमाह—कार्यमिति । यदार्चिरादिना गच्छन्ति ब्रह्म

(ब० व० १) पूर्वपक्षेऽर्चिरादिगत्या ब्रह्मलोकप्राप्त्यनन्तरं विदुषो लिङ्गशरीरल-  
येन परब्रह्मप्राप्तिः सिद्धान्ते कार्यब्रह्मप्राप्त्यर्थमेव गतिर्न परब्रह्मप्राप्त्यर्थ-  
मिति मन्तव्यम् । उत्तरत्र पूर्वपक्षयिष्यन्नादौ सिद्धान्तमाह—कार्य-  
मिति । कार्यमेव ब्रह्म गमयतीति बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः । अस्य  
कार्यब्रह्मणः परिच्छिन्नस्य गत्युपपत्तेर्गन्तव्यत्वोपपत्तेः । प्रत्यग्रूपस्यापरि-  
च्छिन्नस्य परस्य तदनुपपत्तेरित्यर्थः ॥ ७ ॥

विशेषितत्वाच्च ॥ ८ ॥

ब्रह्मलोकान्गमयति ' [बृ० ६ । २१ । ५] इति श्रुत्यन्तरे बहुवचनेन  
गन्तव्यब्रह्मणो विशेषितत्वात् । सावयवस्यावयवभेदेन भिन्नस्य ब्रह्मण  
एव गन्तव्यत्वं न निर्विशेषब्रह्मणः । लोकशब्दाच्च भोगभूमेरेव प्राप्यत्वं  
न परस्येति चकारार्थः ॥ ८ ॥

ननु नपुंसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात्कथं कार्यब्रह्माणि ब्रह्म  
गमयतीति व्यपदेशस्तत्राऽऽह—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ९ ॥

तुश्चोद्य\*निरासार्थः । परमेव हि ब्रह्म सत्यकामत्वादिगुणयुक्तं  
कार्यब्रह्मेत्युच्यते । तथा च कार्यब्रह्मणः कारणपरब्रह्मसामीप्यात्कारणे  
मुख्यस्य ब्रह्मपदस्य कार्ये व्यपदेशो लक्षणया प्रयोग इत्यर्थः । मुख्यासं-  
भवादिति भावः ॥ ९ ॥

(दी०) तत्कार्यं बादरिराचार्यो मन्यते । कुतः । अस्य कार्यस्य गतेरर्चिरा-  
दिगमनस्य तत्रोपपत्तेः संभवो गत्युपपत्तिः । तस्याः ॥ ७ ॥

ननु नायं तर्कगम्योऽर्थ इत्यत आह—विशेषितेति । ब्रह्मलोकानि-  
त्यादिना विशेषितत्वात् । चकारस्तर्कस्य श्रुतिमूलस्य (स्याऽऽ) दत्तव्य-  
तामाह ॥ ८ ॥

ननु, कार्यस्यापि ब्रह्मशब्दो नोपपद्यत इत्यत आह—तुशब्द-  
स्तत्र ब्रह्मशब्दानुपपत्तिं वारयति । का तर्ह्यत्रोपपत्तिरित्यत आह—  
सामीप्यात्कार्यस्य ब्रह्मणः परेण ब्रह्मणा । अतस्तस्य ब्रह्मशब्दस्य  
व्यपदेशः ॥ ९ ॥

\* ख. ब्रह्मशब्दानुपपत्तिं वारयति ।

(ब० १०१) ननु कार्यब्रह्मप्राप्तौ तेषां न पुनरावृत्तिरिति श्रुतिविरोधस्तत्राऽऽह—  
कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ १० ॥

कार्यब्रह्मलोकस्यात्यये नाशे सति तदध्यक्षेण तल्लोकस्वामिना हिर-  
ण्यगर्भेण सहातः कार्यब्रह्मणः परं ब्रह्म प्राप्नुवन्ति 'उत्पन्नात्मसाक्षा-  
त्कारा विद्वांसः' इत्युक्तश्रुत्याऽभिधानादवगन्तव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

स्मृतेश्च ॥ ११ ॥

ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे ।

परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥

इति स्मृतिश्च ब्रह्मलोकं प्राप्तानां क्रममुक्तिं दर्शयति । अतोऽपि नाना-  
वृत्तिश्रुतिविरोधः । प्रतिसंचरो महाप्रलयस्तस्मिन्प्राप्ते परस्य हिरण्यगर्भ-  
स्यान्तोऽधिकारसमाप्तिस्तदा कृतात्मानः शुद्धधियो ब्रह्मलोकवासिनः  
परं पदं प्राप्नुवन्तीति योजना । तस्मात्कार्यब्रह्मप्राप्त्यर्थमेवाचिरादिगतिर्न  
प्रत्यग्रूपपरब्रह्मप्राप्त्यर्थं घटाकाशस्येव महाकाशप्राप्त्यर्थं गतेरफलत्वा-  
दिति सिद्धम् ॥ ११ ॥

एवं सिद्धान्तमुक्त्वा पूर्वपक्षमाह—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ १२ ॥

नपुंसकब्रह्मशब्दस्य परस्मिन्नेव मुख्यत्वात्परमेव ब्रह्म गमयत्यमानव  
इति जैमिनिराचार्यो मन्यते ॥ १२ ॥

दर्शनाच्च ॥ १३ ॥

'तेषां न पुनरावृत्तिः' [ बृ० ६ । २ । १५ ] 'तयोर्ध्वमायन्नमृत-

(दी० १) ननु कार्यप्राप्तावनावृत्तिर्नोपपद्यत इत्यत आह—कार्येति । कार्यस्य  
ब्रह्मलोकस्याध्यक्षेण परमेष्ठिना सहातः परमेष्ठिनः परं ब्रह्म भवति ।  
अनावृत्त्याद्यभिधानात् ॥ १० ॥

नन्वेतद्विश्वास्यमिवेत्यत आह—स्मृतेरिति । ब्रह्मणा सहेत्याद्यायाः ।  
चशब्दाच्छ्रुतेरपि ते ब्रह्मलोक इत्याद्यायाः ॥ ११ ॥

पूर्वपक्षमाह—परमिति । ब्रह्मशब्दस्य ब्रह्मणि मुख्यत्वाद्यद्रूप्यमर्चि-  
रादिना तत्परमेवेति जैमिनिराचार्य आह ॥ १२ ॥

ननु अनुपपत्तेर्मुख्यार्थपरित्याग इत्यत आह—दर्शनादिति ।

(ब्र० ५०।) त्वमेति ' [छा० ८।६।६] इति च मुक्तेर्गतिपूर्वकत्वदर्शनाच्च परमेव गन्तव्यमित्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु ' प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये ' [ छा० ८।१४।१ ] इति मरणकाल उपासकस्य कार्यब्रह्मप्राप्तिसंकल्पश्रवणान्न परं गन्तव्य-मित्याशङ्क्याऽऽह—

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ॥ १४ ॥

अयं \* प्रतिपत्त्यभिसंधिः प्राप्तिसंकल्पः कार्ये ब्रह्मणि न कार्यब्रह्म-विषयो न भवतीति यावत् । किंतु परब्रह्मप्राप्तिविषयक एव + ' ते यदन्तरा तद्ब्रह्म ' [ छा० ८।१४।१ ] इति परस्यैव × प्रकृतत्वात् । ननु प्रकरणबलाद्वेश्मब्रह्मप्राप्तिसंकल्पस्य परविषयकत्वेऽपि तस्याः प्राप्ते-र्गतिपूर्वकत्वं कथमिति चेदुच्यते । ' तदपराजिता पूर्वब्रह्मणः प्रभुवि-मितं हिरण्मयं वेश्म ' [ छा० ८।५।३ ] इति दहरविद्यायां हिरण्य-गर्भवेश्मप्राप्तेर्गतिपूर्वकत्वावगमादस्या अपि परब्रह्मवेश्मप्राप्तेर्गतिपूर्वक-त्वमनुमीयते वेश्मप्रतिपत्तित्वसामान्यात् । यद्वा ' प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये ' इत्यत्रैव पदेर्गत्यर्थत्वाद्भूतेश्च मार्गसाध्यत्वान्मार्गसाध्य-गतिपूर्वकत्वं परवेश्मप्राप्तेरिति पूर्वपक्षः । श्रुत्यर्थस्तु तत्तत्र ब्रह्मलोके न केनाप्यविदुषा पराजितेत्यपराजिता पूरस्ति ब्रह्मणो हिरण्यगर्भस्य तेनैव प्रभुणा निर्मितं हिरण्मयं वेश्म चास्ति तत्प्रतिपद्यते ब्रह्म-चर्यसंपन्नो विद्वानिति । अत्र पूर्वपक्षे ' मुख्यत्वात् ' ' दर्शनाच्च ' इति हेतुद्वयं पूर्वमेव ÷ दूषितम् । यत्तु प्रकरणाद्वेश्मप्राप्तिसंकल्पः । परविषय इति तन्न । ' प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्यते ' इति वाक्यश्रुतिभ्यां = दुर्बल-प्रकरणविच्छेदेन वेश्मप्राप्तिसंकल्पस्य कार्यब्रह्मसमादिविषयत्वावग-

(दी०।) तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेतीत्यमृतप्राप्तेः । चकारो मुख्यार्थेनोपपत्तेर-भावमाह ॥ १३ ॥

' प्रजापतेः सभां वेश्म ' इत्यादिना स्पष्टं कार्यस्य ब्रह्मणोऽवगम इत्यत आह—न चेति । ' वेश्म प्रपद्ये ' इति प्रतिपत्तेरभिसन्धिरभिप्रायः

\* ख. अभिप्रायः । + ख. ते नामरूपे । × ख. प्रकरणत्वात् । ÷ ख. ' सामीप्यात्तु तद्व्यप-देशः ' ' कार्याख्ये तदध्यक्षेण ' इति सूत्राभ्याम् । = ख. ग. श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात् ( जै० सू० ३।३।७।१२ )

(ब्र० ४०१)मात् । स्तुत्यर्थत्वेन वाऽस्य परप्रकरणे कीर्तनम् । सगुणाविद्या हि गतिमपेक्ष्य प्रजापतिसभादिप्राप्तिफलहेतुरियं तु परविद्या गतिनिरपेक्षैव निरतिशयफलहेतुरतो महतीति स्तुतिः । तस्मात्कार्यब्रह्मप्राप्त्यर्थैव गतिरिति सिद्धम् ॥ १४ ॥

एवमर्चिरादिगत्या गन्तव्यं निरूप्य गन्तृन्निरूपयति—

( प्रतीकोपासकानां ब्रह्मलोकाप्रापणम्, अधि० ६ )

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण

उभयथाऽदोषात्तत्क्रतुश्च ॥ १५ ॥

किममानवः पुरुषः सर्वानुपासकान्ब्रह्मलोकं प्रापयत्युत प्रतीकोपासकभिन्नानिति संशयः । तत्र नियामकाभावात्सर्वानिति प्राप्ते ब्रूमः । प्रतीकोपासकभिन्नान्सर्वानुपासकान्नयत्यमानव इति बादरायण आचार्यो मन्यते । ननु तर्हि ' अनियमः सर्वेषाम् ' [ सू० ३ । ३ । ११ ] इत्यत्र सर्वोपासनेषु मार्गोपसंहारोक्तिविरोधस्तत्राऽऽह—उभयथाऽदोषादिति । कांश्चिदुपासनान्नयति कांश्चिन्नेत्युभयथाभावाभ्युपगमे दोषाभावादित्यर्थः । अनियमन्यायस्य प्रतीकभिन्नविषयत्वादिति भावः । नियामकमाह—तत्क्रतुश्चेति । क्रतुरुपासनं कार्यब्रह्मविषयकः क्रतुर्यस्योपासकस्यास्ति स तत्क्रतुस्तथा च यो यदुपासकः स तत्प्राप्नोतीति श्रुतिस्मृतिसिद्धत्वात्तदुपासकानामेव कार्यब्रह्मप्राप्तिरित्यर्थः । प्रतीकोपासनेषु नाम ब्रह्मेत्यादिषु ब्रह्मणः प्रतीकं प्रति विशेषणत्वेन प्रतीकस्यैव प्राधान्यान्न

(दी०)कार्यं ब्रह्मणि न च नैव नामरूपनिर्वाहकस्य ब्रह्मणः प्रकृतत्वात् ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणेऽर्चिरादिना प्राप्यस्य ब्रह्मणः कार्यत्वमुक्तम् । एवं चेत्प्रतीकोपासकैरपि तद्गम्यमित्याक्षिप्य समाधत्ते—अप्रतीकेति । प्रतीकालम्बना ये न भवन्ति तेऽप्रतीकालम्बनास्तान्प्रतीकोपासकव्यतिरिक्तानमानवः पुरुषो नयतीति बादरायण आचार्यो मन्यते । नन्वनियमन्यायविरोध उक्त इत्यत आह—उभयथाऽदोषादुभयथा प्रतीकालम्बनानामनयनेऽन्येषां नयने न्यायस्य प्रतीकालम्बनव्यतिरिक्तविषयत्वेनादो-

(ब० व० १) \* तदुपासकानां ब्रह्मोपासकत्वं पञ्चाग्न्युपासकानां त्वब्रह्मोपास-  
कत्वेऽपि श्रुतिबलाद्ब्रह्मप्राप्तिरिति ॥ १५ ॥

विशेषं च दर्शयति ॥ १६ ॥

किंच ' यावन्नाम्नो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति ' [ छा०  
७।१।५ ] इति नामप्रतीकोपासनफलादुत्तरोत्तरवागाद्युपासनानामुत्कृ-  
ष्टफलविशेषं दर्शयति श्रुतिः ' वाग्वाव नाम्नो भूयसी ' [ छा० ७।  
२।१ ] इत्याद्या । अयं फलविशेषः प्रतीकानामुत्कर्षापकर्षवतामुपा-  
स्यत्वे युज्यते न तु सर्वत्रैकस्य ब्रह्मण उपास्यत्वे । तस्माद्ब्रह्मोपासका-  
नामेव ब्रह्मप्राप्तिर्न प्रतीकोपासकानामिति सिद्धम् ॥ १६ ॥

इति श्रीब्रह्मसूत्रवृत्तौ चतुर्थाध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

एवं सगुणब्रह्मविदां प्राप्यमुक्त्वा निर्गुणब्रह्मविदां प्राप्यमाह—

( मुक्तिरूपस्य वस्तुनः पुरातनत्वम्, अधि० १ )

संपद्याऽऽविर्भावः स्वेनशब्दात् ॥ १ ॥

एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपे-  
णाभिनिष्पद्यते ' [ छा० ८।१२।३ ] इति श्रूयते तत्र संशयः ।  
यथा मुकृतिनः स्वीयेन रूपान्तरेण फलेनाभिनिष्पत्तिस्तथा निर्गुणवि-  
दोऽभिनिष्पत्तिरुताऽऽत्ममात्रेणाभिनिष्पत्तिरिति । पूर्वपक्षे स्वर्गमोक्षयो-

(दी०।) षात् । अत्र को हेतुरित्यत आह—तत्क्रतुश्च । तस्य ब्रह्मणश्च क्रतुः  
संकल्पस्तत्क्रतुर्ब्रह्मप्राप्तौ हेतुः । चशब्दस्तद्भावप्राप्तौ ॥ १५ ॥

ननु प्रतीकोपासनानां फलामावाद्ब्रह्मलोक एव फलं कल्प्यमित्यत  
आह—विशेषेति । यावन्नाम्नो गतमित्यादिना प्रतीकोपासनेषु फलस्य ।  
चकारोऽभ्युतफलेषु ब्रह्मलोकः फलं कल्प्यमिति कल्पनाभावमाह ॥ १६ ॥

इति ब्रह्मसूत्रदीपिकायां चतुर्थस्याध्यायस्य तृतीयः पादः ॥ ३ ॥

पूर्वपादे सगुणविद्याविदोऽर्चिरादिगतिः कार्यब्रह्मप्राप्तिश्चेत्युक्तमि-  
दानीं निर्गुणविद्याविदस्तत्संपत्तिरुच्यते—संपद्येति । परं ज्योतिरुपसंपद्य

(ब० व० १) रविशेषः सिद्धान्ते विशेष इति फलम् । अत्र फलनिरूपणाद-  
ध्यायपादसंगत्योः स्फुटत्वम् । तत्र स्वर्गवन्मोक्षस्याभिनिष्पत्तिः फल-  
त्वाविशेषादिति प्राप्ते ब्रूमः । संपद्य स्वप्रकाशमात्मानं साक्षाद-  
नुभूयते नैवाऽऽत्ममात्रेणाऽऽविर्भावः । अवस्थानवान्भवति मुक्तः ।  
कुतः । स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत इति स्वशब्दादित्यर्थः । फलत्व-  
हेतुकानुमानं मोक्षनित्यत्वश्रुतिबाधितमिति ॥ १ ॥

ननु स्वरूपात्मकमोक्षस्य सदा सत्त्वात्कः पुनः पूर्वावस्थातो विशेष  
इत्यत आह—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

यः स्वरूपेणाभिनिष्पद्यते स सर्वानर्थविनिर्मुक्तः स्वप्रकाशनिरति-  
शयानन्दात्मनाऽवतिष्ठते । पूर्वत्रावस्थात्रयकलुषितः संसारी वेति  
विशेषः । ननु स्वरूपाभिनिष्पन्नो मुक्त इति कुतोऽवगम्यते तत्राऽऽह—  
प्रतिज्ञानादिति । ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’ इत्युपक्रम्य ‘एतं त्वेव ते  
भूयोऽनुश्याख्यास्यामि’ [ छा० ८ । ९ । ३ ] इति सकलदोषमुक्त-  
स्यैवाऽऽत्मनो व्याख्येयत्वेन प्रतिज्ञानादित्यर्थः ॥ २ ॥

ननु कार्यज्योतिरुपसन्नस्य कथं मुक्तत्वमित्यत आह—

आत्मा प्रकरणात् ॥ ३ ॥

अत्र ज्योतिरात्मैव न भौतिकं तेजः ‘य आत्माऽपहतपाप्मा’  
[ छा० ८ । ७ । १ ] इत्यात्मप्रकरणादित्यर्थः ॥ ३ ॥

( मुक्तस्य ब्रह्मणोऽभिन्नत्वम्, २ )

(दी० १) स्वेन केवलेनैवाऽऽत्मनाऽऽविर्भवति । कुतः । ‘स्वेन रूपेणाभिनि-  
ष्पद्यते’ इति स्वशब्दात् ॥ १ ॥

कः पुनर्विशेषः पूर्वोत्तरयोः स्वरूपयोरित्यत आह—मुक्त इति ।  
योऽत्राभिनिष्पद्यत इत्युक्तः सन्सर्वसंबन्धविनिर्मुक्तः । कुतः । य आत्मे-  
त्यादिना तावृशस्यैव प्रतिज्ञानात् ॥ २ ॥

ज्योतिरुपसंपद्येति कार्ये ज्योतिषि संपत्तेः कथमात्मरूपेणाऽऽविर्भाव  
इत्यत आह—‘आत्मा प्रकरणात्’ ज्योतिःशब्देनाऽऽत्माऽभिधीयते ।  
कुतः । प्रकरणात् । य आत्मेत्यादेः ॥ ३ ॥



## अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

(ब० ४०।) परं ज्योतिरुपसंपद्य मुक्तो विद्वानित्युक्तं तं मुक्तमुपजीव्य संदिह्यते किं मुक्तो ब्रह्माभिन्नत्वेनावतिष्ठत उत ब्रह्माविभागेनेति । तत्र भिन्नत्वेनेति भ्रान्तिं वारयति—अविभागेनेति । निरतिशयानन्दब्रह्मात्मनैवावतिष्ठते मुक्तः । कुतः । दृष्टत्वात् । ‘ ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति ’ ‘ तत्त्वमसि ’ इत्यादिश्रुतिष्वमेवस्य दृष्टत्वादित्यर्थः ॥ ४ ॥

( मुक्तस्वरूपभूतस्य ब्रह्मणो युगपत्सविशेषत्वनिर्विशेषत्वे, अधि० ३ )

## ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ५ ॥

पूर्वसिद्धं ब्रह्माभिन्नं मुक्तमुपजीव्य संदिह्यते स मुक्तो ब्रह्मात्मकः किं सत्येन सर्वज्ञत्वादिप्रपञ्चेन सहावतिष्ठत उत शशविषाणवदसन्नेव सर्वज्ञत्वादिरिति सच्चिन्मात्रेणावतिष्ठते । आहोस्विद्वस्तुतो निष्प्रपञ्चोऽपि व्यावहारिकसर्वज्ञत्वादिमानिति । तत्राऽऽद्यं पूर्वपक्षमाह— ब्राह्मेणेति । ब्रह्मसंबन्धिना सत्येन सर्वज्ञत्वादिना सहावतिष्ठते ब्रह्मात्मको मुक्त इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । उपन्यासविधिव्यपदेशेभ्यः । उपन्यास उद्देशः स च सोऽन्वेष्टव्य इत्यादिविधानार्थमागतः । ‘ य आत्माऽपहतपाप्मा ’ (छा० ८।७।१) इत्यादिरूपः । विधिरज्ञातज्ञापनम् । स च ‘तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति’ [छा० ७।२।५।२] इत्यादिरूपः । उद्देशविधिविलक्षणो व्यपदेशः । स च सर्वज्ञः सर्वेश्वर इत्यादिरूपः । अयं हि नोद्देशो विध्यमात्रास्त्रापि विधिः सिद्धवन्निर्वेदादत एभ्यो हेतुभ्यः सप्रपञ्च एवाऽऽत्मेति ॥ ५ ॥

(दी०।) पूर्वाधिकरणे स्वेन सता संपत्तिरुक्ता सा सुषुप्तिवत्स्यादित्याक्षिप्य समाधत्ते—अविभागेनेति । परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते यः स त्वविभागेन च । कुतः । तत्त्वमसीत्यादेर्दृष्टत्वात् ॥ ४ ॥

पूर्वाधिकरणेऽविभागेन ब्रह्मसंपत्तिरुक्ता तद्ब्रह्म स्वभावेन सविशेषमित्याक्षिपति—ब्राह्मेणेति । ब्राह्मेण स्वेन रूपेणापहतपाप्मत्वादिना सर्वज्ञत्वादिना च निष्पद्यत इति जैमिनिराचार्यो मन्यते । कुतः । उपन्यासादिभ्यः । उपन्यासो य आत्मेत्यादिः । आदिशब्देन स तत्र पर्येतीत्यैश्वर्यादिभ्यः ॥ ५ ॥

(ब्र० ४०१) अधुना द्वितीयं पूर्वपक्षमाह—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ६ ॥

जीवात्मनस्तदात्मकत्वाच्चिदेकरसत्वाच्चितितन्मात्रेण चैतन्यमात्रात्मनाऽवस्थिते मुक्ते ब्रह्मात्मनि सर्वज्ञ इत्यादिशब्दा निरर्थका एव प्रयुज्यन्त इत्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

सर्वज्ञत्वादीनां धर्माणामसंभवाद्धर्मिस्वरूपाद्यन्तर्भिन्नत्वेऽत्यन्ताभिन्नत्वे वा तेषां गवाश्ववद्धर्मिवच्च धर्मत्वानुपपत्तेरिति प्राप्ते सिद्धान्तपति—

( अचिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तस्योपासकस्य भोग्यवस्तूनां सृष्टौ मानससंकल्पस्यैव हेतुत्वम्, अधि० ४ )

एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ७ ॥

एवं पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि पूर्वोपन्यासादिभ्यः पूर्वस्य ब्राह्मस्य रूपस्य सर्वज्ञत्वादेर्व्यावहारिकस्य भावादब्रह्मणो मुक्तात्मनः सप्रपञ्चत्वनिष्प्रपञ्चत्वयोरविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते । आविद्यकधर्माणां सर्वज्ञत्वादीनामुपपत्तेर्न तेषां तुच्छत्वमत एव सर्वात्मनाऽविद्यानिवृत्तौ विदेहकैवल्यं निष्प्रपञ्चमेव । एतदभिप्रेत्योक्तं भगवता भाष्यकारेण व्यवहारापेक्षयेति । न ह्यौपनिषदानां मोक्षेऽपि व्यवहृतिर्मता मूलाभावादिति भावः ॥ ७ ॥

एवं परविद्याफलमभिधायापरविद्याफलं प्रपञ्चयितुमुपक्रमते—

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ८ ॥

दहरविद्यायां श्रूयते—‘ स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादे-

(दी०१) चितीति । चितितन्मात्रेण चैतन्यमेवाऽऽत्मनो रूपमतश्चैतन्यमात्रेणैवाभिनिष्पद्यते । तदेव कुत इत्यत आह—‘ एवं वा अरे इत्यादिना । तदात्मकत्वाच्चैतन्यमात्रात्मकत्वात् । आत्मनो वस्तुतः सत्यसंकल्पत्वादीनामुपाधिधर्मत्वादित्यौडुलोमिराचार्यो मन्यते ॥ ६ ॥

एवमपीति । एवमपि पारमार्थिकचैतन्यमात्रस्वरूपाभ्युपगमेऽपि पूर्वस्याप्युपन्यासादिभ्योऽवगतस्य ब्राह्मस्यैश्वर्यरूपस्य भावादप्रत्याख्यानादविरोधं बादरायण आचार्यो मन्यते बादरायणमतं सिद्धान्तः ॥ ७ ॥  
पूर्वाधिकरणे ब्रह्मणो विशेषसंभवादविशेषप्रवृत्तावपि न विशेषत्वश्रु-

(ब्र० व० १) वास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति ' [छा० ८।२।१] इत्यादि तत्र संशयः । किं ब्रह्मलोकस्थस्य विदुषो भोगहेतवः पित्रादयः संकल्पादेव सिध्यन्त्युत यत्नान्तरसहकृतात्संकल्पादिति । तत्र लोके भोगसाधनस्य प्रयत्नसाध्यत्वदर्शनादत्रापि यत्नसापेक्षेच्छाऽत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो विभूतिसिद्धिर्न केवलेच्छात इति प्राप्ते ब्रूमः । संकल्पादेवाऽस्य विदुषः पित्रादिविभूतिप्राप्तिः । कुतः । साधनान्तरनिरासकैवकारश्रुतेः । श्रुत्या च लौकिकानुमानस्य बाध इति । किंच यदि संकल्पः साधनान्तरसापेक्षस्तार्हि तदभावे विदुषो बन्ध्यसंकल्पत्वापत्तौ सत्यसंकल्पत्वं न स्यात् । संकल्पानुगुणसाधनान्तरमिष्टमेवेति ॥ ८ ॥

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ९ ॥

अत एव सत्यसंकल्पत्वादेव विद्वाननन्याधिपतिर्भवति । यदि विदुषः कश्चनाधिपतिः स्यात्तर्हि तदधीनभोगस्य संकल्पमात्रादसिद्धेः सत्यसंकल्पत्वं न स्यात्तस्मादीश्वरात्मकस्य विदुषः संकल्पादेव सर्वैश्वर्यप्राप्तिरिति सिद्धम् ॥ ९ ॥

( एकस्यापि पुरुषस्य देहभावामावयोरैच्छिकत्वम् , अधि० ५ )

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ १० ॥

संकल्पादेवेति श्रुत्या विदुषस्तावन्मनोऽस्तीत्यवगतं शरीरेन्द्रियाणि सन्त्युत न सन्त्याहोस्वित्सन्ति न सन्ति चेति संदेहे यथा संकल्पादेवेत्यवधारणश्रुत्या साधनान्तरामावस्तथा बादरिराचार्यः शरीरेन्द्रियाणा-

(दी० १) तिरौपाधिकी शेषे व्यवस्थापिता । नैवं योगि\*संकल्पातिरिक्तसाधनवानिति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते-संकल्पेति । पित्रादयः संकल्पादेव समुत्तिष्ठन्ति न तु निमित्तान्तरात् । कुतः । तत्तस्य संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्तीति तादृशस्य समुत्थानस्य श्रुतेः ॥ ८ ॥

अत एवेति । अत एव सत्यसंकल्पादेवानन्याधिपतिश्च । अस्य नान्याधिपतिरपि ॥ ९ ॥

पूर्वाधिकरणे संकल्पातिरिक्तसाधनानां सगुणविद्याविदो योगिनोऽसत्त्वमुक्तं तच्छ्रुतेः । नैवमत्र श्रुतिरस्ति, अतोऽपि मनोतिरिक्तानां

ब्र० ४०।)ममावं मन्यते । आह ह्येवमाज्ञायः—‘मनसैतान्कामान्पश्यन्नमते ’  
[ छा० ८।१२।५ ] ‘य एते ब्रह्मलोके ’ [ छा० ८।१३।१ ]  
[ति । यदि विदुषः शरीरादिकं स्यात्तदा मनसेति विशेषणमन्ययोग्य-  
वच्छेदकमवधारणपरं पीडयेतेत्येकः पूर्वपक्षः ॥ १० ॥

पूर्वपक्षान्तरमाह—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ११ ॥

शरीरेन्द्रियाणां मनस इव भावं सत्तां जैमिनिराचार्यो मन्यते ‘ एक-  
श भवति त्रिधा भवति ’ [ छा० ७।२६।२ ] इत्यादिना विदुषोऽ-  
नेकधा भावविकल्पामननात् । न हि शरीरभेदं विना कदाचिदे-  
कधामावः कदाचिद्विधामाव इत्याद्यनेकधामावविकल्पः संभवतीति  
भावः ॥ ११ ॥

सिद्धान्तमाह—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ १२ ॥

अत एव मनसेति विशेषणाद्विकल्पामननाच्चेति लिङ्गद्वयाद्यदा शरी-  
रेदिसंकल्पस्तदा सशरीरेन्द्रियत्वं यदा तु तत्संकल्पामावस्तदा शरीरे-  
न्द्रियराहित्यमित्युभयविधं विदुष ऐश्वर्यं बादरायण आचार्यो मन्यते  
द्वादशाहवत् । यथा ‘ द्वादशाहसृष्टिकामा उपेयुः ’ इत्युपेयुश्चोदनाग-  
म्यत्वाद्द्वादशाहस्य सत्रत्वं ‘ द्वादशाहेन प्रजाकामं याजयेत् ’ इत्यहर्ग-  
गत्वे सति यजतिचोदनागम्यत्वादहीनत्वं चेत्युभयविधत्वं तद्वदि-  
यर्थः ॥ १२ ॥

(टी०)साधनानां समत्वमेवेति प्रत्युदाहरणेनाऽऽक्षिप्य पक्षान्तरमाह—अमा-  
वमिति । मनोतिरिक्तानां शरीरस्येन्द्रियादीनामभावं बादरिराचार्यो  
मन्यते । कुतः । हि यस्मादेवमाहभ्रुतिः—मनसैवैतानित्यादिना ॥ १० ॥

भावमिति । जैमिनिराचार्यो मनोवच्छरीरस्यापि सेन्द्रियस्य भाव-  
मुक्तं प्रतिमन्यते । कुतः । स एकधा भवतीत्यादिना विकल्पस्याऽऽ-  
मननात् ॥ ११ ॥

द्वादशेति । बादरायणः पुनराचार्योऽत एव लिङ्गदर्शनादुभयविधं  
मन्यते भावमभावं च द्वादशाहवत् । यथा द्वादशाहः सत्रमहीनश्च तद्वत् ।  
अतः सिद्धान्तः ॥ १२ ॥

(ब० ४००१) ननु विदुषः शरीराद्यभावे कथं भोगस्तत्राऽऽह—

तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ॥ १३ ॥

तनोः सेन्द्रियशरीरस्याभावकाले संध्यवद्यथा स्वप्ने मानसिकविषयभोगो जाग्रद्भोगविलक्षणस्तद्वद्भोगः । कुतः । 'मनसैतान्कामान्पश्यन्नमते' इति श्रुतेर्भोगे साधनान्तरं धारयन्त्या एवमेवोपपत्तेरित्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु देहाद्यभावेऽपि भोगसत्त्वे सशरीरताङ्गीकारो व्यर्थस्तत्राऽऽह—

भावे जाग्रद्वत् ॥ १४ ॥

देहादिभावकाले जाग्रद्भोगः स्वप्नभोगविलक्षणो भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

ननु विकल्पामननलिङ्गेन विदुषोऽनेकशरीराणि सन्तीत्युक्तं तद्व्यर्थं निरात्मकेषु तेषु भोगायोगादित्याक्षेप इदमाह—

(सर्वेषां देहानां सात्मकत्वम्, अधि० ६)

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ १५ ॥

किं विदुषा सृज्यमानानि शरीराणि दारुयन्त्रवन्निरात्मकान्युतास्मदादिदेहवत्सात्मकानीति संदेहः । पूर्वपक्षे विदुष एकस्मिन्नेव देहे भोगः सिद्धान्ते सर्वेष्वपीति बोध्यम् । तत्रानाद्यन्तःकरणपरिच्छिन्नस्य भोक्तुर्विदुषः शरीरान्तरेषु प्रवेशायोगान्निरात्मकानीति प्राप्ते ब्रूमः । विदुषा सृज्यमानेषु सेन्द्रियमनःसु बहुषु देहेषु विदुष आवेशोऽभिव्यक्तिर्विद्यासामर्थ्यादुपपद्यते पुरातनान्तःकरणपरिच्छेदस्य विद्वांसं योगसामर्थ्याद्यापकं प्रत्यप्रतिबन्धकत्वात्प्रदीपवत् । यथा प्रदीप एकोऽनेकवर्तिषु

(दी०१) ननु शरीराभावे सुषुप्तवन्न विषयोपलम्भ इत्यत आह—तन्वभाव इति । तनोः सेन्द्रियस्य शरीरस्याभावे सन्ध्यवत्स्वप्नवत्संकल्परूपाणां पित्रादीनां मोक्ष उपपत्तेः ॥ १३ ॥

ननु शरीरस्य समत्वेऽपि विषयोपलम्भो न नियत इत्यत आह—भाव इति । भावे पुनस्तनोर्जाग्रद्वत्पित्राद्युपपत्तेः ॥ १४ ॥

पूर्वाधिकरणे स एकधा भवतीतिवाक्योदाहरणेनानेकशरीरग्रहणमुक्तं न क्रमेण युगपदित्याक्षिप्य समाधत्ते—प्रदीपवदिति । शरीरान्त-

प्रविशति तद्वद्विद्वाननेकागन्तुकान्तःकरणद्वारा देहेषु प्रविशति । तथाहि दर्शयति शास्त्रम्—‘ एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा ’ [ छा० ७ । २६ । २ ] इत्यादि । यद्यपि विदुषः सर्वेषु देहेष्वेकत्वं दीपानां तु भिन्नत्वमिति वैषम्यमस्ति तथाऽप्युत्पादकदीपगतैक्यं सादृश्यादुत्पन्नदीपेषूपचर्यत इति साम्यं बोध्यम् । तस्मात्सर्वाणि शरीराणि सात्मकान्येव ॥ १५ ॥

ननु विदुषो न शरीरवत्त्वं युक्तं ‘ तत्केन कं पश्येत् ’ [ बृ० ४ । ५ । १५ ] इति । ‘ न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्विजानीयात् ’ [ बृ० ४ । ३ । ३० ] इति च विशेषविज्ञानाभावश्रवणादित्यत आह—

स्वाप्ययसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ १६ ॥

सुषुप्तिपरममुक्त्योरन्यतरापेक्षयेदं विशेषविज्ञानाभावश्रवणम् । हि यतः प्रकरणादेवमाविष्कृतम् । सुषुप्तिप्रकरणे ‘ न तु तद्वितीयमस्ति ततोऽन्यत् ’ इत्यादि श्रुतं परममुक्त्यपेक्षया च ‘ तत्केन ’ इत्यादि तस्मान्नेदं सगुणविदः शरीराङ्गीकारे बाधकमित्यर्थः । तत्तत्र सुषुप्तौ द्वितीयं विभक्तं न त्वस्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

योगिनां भौतिकेष्वेव स्वातन्त्र्यं न भूतेष्वित्याह—

( ब्रह्मलोकगतानामुपासकानां जगत्सृष्टौ स्वातन्त्र्याभावेऽपि भोग-  
मोक्षयोस्तेषां स्वातन्त्र्यसिद्धिः, अधि० ७ )

जगव्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ॥ १७ ॥

पूर्वं संकल्पमात्रेण देहादिसर्गे यदैश्वर्यमुक्तं विदुषस्तस्य जगदुत्पत्त्या-  
दावपवादोऽत्र क्रियते । किं विदुष ऐश्वर्यमीश्वरस्येव निरङ्कुशमुत  
सातिशयमिति । पूर्वपक्ष ईश्वरनानात्वं सिद्धान्ते तदैक्यमिति बोध्यम् ।  
राणां स्वीकारे शरीरान्तरेष्वावेशः प्रदीपवत् । यथैकस्य प्रदीपस्य  
प्रदीपसहस्रेष्वावेशस्तद्वत् । कुत एतत् । हि यस्मात्तथा दर्शयति श्रुतिः—  
स एकधा भवतीत्यादिना ॥ १५ ॥

मुक्तस्यानेकशरीरावासिताऽनुपपन्ना तत्केन कं पश्येदित्यादिनिषेधा-  
दित्यत आह—स्वाप्ययेति । स्वाप्ययः सुषुप्तिः संपत्तिर्मुक्तिस्तयोरन्यत-  
रापेक्षं यत्र त्वस्येत्यादिप्रतिषेधवचनम् । कुतः । हि यस्मात्सुषुप्तौ मुक्तौ  
वेदमाविष्कृतमुदाहृतम् ॥ १६ ॥

पूर्वाधिकरणे शरीरेन्द्रियादीनां कर्तृत्वमुक्तं योगिनस्तद्वज्जगद्व्यापार-  
कर्तृत्वमपीति दृष्टान्तेनाऽऽक्षिप्य समाधत्ते—जगदिति । योगिनां भौति-  
केष्वेव स्वातन्त्र्यं न भूतेष्वित्याह—जगद्व्यापारवर्जम् । कुतः । प्रकरणात् ।

तत्र विदुषोऽनन्याधिपतित्वान्निरङ्कुशमैश्वर्यमिति प्राप्ते ब्रूमः । जगदुत्पत्त्यादिव्यापारवज्रं सातिशयमेवाणिमाद्यैश्वर्यं विदुषो जगद्व्यापारस्तु परमेश्वरस्यैव सृष्टिवाक्येषु सर्वत्र तस्यैव प्रकरणाद्विदुषश्च तत्रासंनिहितत्वात् । नित्यसिद्धं हि परमेश्वरस्य निरङ्कुशमैश्वर्यम् । चकारो महाभूतसृष्टौ योगिनामशक्यत्वमप्याह । कथं वा विदुष ईश्वरप्रसादायत्तमागन्तुकमैश्वर्यं निरङ्कुशमिति वक्तुं शक्यं तस्मात्सातिशयमैश्वर्यं विदुषः ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ १८ ॥

ननु ' \*आप्नोति स्वाराज्यम् ' [ तै० १ । ६ । ३ ] इति प्रत्यक्षश्रुत्यैश्वर्योपदेशान्निरङ्कुशं विदुष ऐश्वर्यमिति चेन्न । आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः । अधिकारे तत्तद्यापारे नियोजयत्यादित्यादीनित्याधिकारिकः सूर्यादिमण्डलस्थः परमात्मा तस्योत्तरवाक्ये ' आप्नोति मनसस्पतिम् ' [ तै० १ । ६ । २ ] इत्यत्र प्राप्यत्वेनोक्तेर्विदुषः सातिशयमैश्वर्यमिति गम्यते । यदि पूर्ववाक्य एव निरतिशयमैश्वर्यमुक्तं तदेदमीश्वरप्राप्तिवचनं व्यर्थं स्यादतः सातिशयमैश्वर्यं विदुषः ॥ १८ ॥

ननूपाधिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽसत्त्वे कुतोऽयं विभाग इत्यत आह—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ १९ ॥

सगुणे ब्रह्मणि +विकारावर्ति च निर्गुणं स्वरूपमस्ति । तथा हि ब्रह्मणि सगुणत्वनिर्गुणत्वयोः स्थितिमाह श्रुतिः ' एतावानस्य महिमा [ छा० ३ । ११ । ६ ] इति । सगुणत्वमुक्त्वा ' अतो ज्यायांश्च पुरुषः ' इति निर्गुणत्वमाह । एतावान्सहस्रशीर्षेत्यादिरस्य परस्य सर्वभूतसृष्टिवाक्येषु परमात्मनः प्रकृतत्वात् । न चापि ते परमात्मवत्प्रकृता इत्याह—असंनिहितत्वात् । योगिनाम् । चकारो महाभूतसृष्टौ योगिनामशक्यत्वमाह ॥ १७ ॥

प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षोपदेशादाप्नोति स्वाराज्यमित्यादेर्योगिनां जगद्व्यापारस्वातन्त्र्यमिति चेन्न । कुतः । आधिकारिको य आदित्यमण्डलस्थस्तस्योक्तेः ॥ १८ ॥

ननूपाधिव्यतिरिक्तस्य ब्रह्मणोऽसत्त्वे कुतोऽयं विभाग इत्यत आह—विकारेति । विकारावर्त्यपि नित्यमुक्तं पारमेश्वरं न केवलं विकारमात्र-

\* ख. ' आप्नोति । स्वाराज्यम् ' इत्यभेदयोगिनां जगद्व्यापारे स्वातन्त्र्यमिति चेन्न कुतः ।

+ ख. विकाररहितम् ।

महिमा विभूतिरित्यर्थः । अयं भावः—यथा सगुणे स्थितं निर्गुणं स्वरूपमुपासको न प्राप्नोति तदुपासकत्वाभावात्तथा तद्गतं जगत्स्रष्टृत्वा-  
दिकमप्यैश्वर्यं न प्राप्नोति \*तदुपास्त्यभावादुपास्त्यभावश्च श्रुत्यभा-  
वादिति ॥ १९ ॥

अत्र दृष्टान्तार्थं निर्गुणं स्वरूपमुक्तं तत्र प्रमाणान्तरमाह—

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ २० ॥

एवं ब्रह्मणो निर्गुणत्वं श्रुतिस्मृती दर्शयतः । ‘न तत्र सूर्यो भाति  
न चन्द्रतारकम्’ [ क० ५ । १५ ] इत्याद्या श्रुतिः ‘न तद्भासयते  
सूर्यः’ [ भ० गी० ५ । ६ ] इत्याद्या स्मृतिरिति ॥ २० ॥

ननु परमेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वमुक्तं तत्समानशीलाश्च योगिन इत्यत  
आह—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ २१ ॥

उपासकस्योपास्यदेवतया सह भोगमात्रेण साम्यं श्रुतं न जगद्वापा-  
रेण ‘तमाहाऽऽपो वै खलु पीयन्ते लोकोऽसौ’ इति । तस्माल्लिङ्गाद्विदुषः  
सातिशयमैश्वर्यं गम्यत इत्यर्थः । तं ब्रह्मलोकस्थमुपासकं हिरण्यगर्भं  
आह आपो वै खल्वमृतमप्यो मया पीयन्ते भुज्यन्ते तवाप्यसावमृतोद-  
कलक्षणो लोको भोग्य इत्यर्थः ॥ २१ ॥

ननु यदीश्वरैश्वर्येणातिशयेन सहितं विदुष ऐश्वर्यं सातिशयं तर्हि  
लौकिकैश्वर्यवदनित्यं स्यात्तथा च विदुषोऽप्यावृत्तिः प्रसज्येतेत्याश-  
ङ्क्य दयासिन्धुर्भगवान्वादरायणः समाधत्ते—

गोचरं सवितुमण्डलाद्यधिष्ठानम् । तथा हि द्विरूपां हि यस्मात्स्थिति-  
माहाऽऽघ्रायः—एतावानस्य महिमेत्यादिना ॥ १९ ॥

नन्वत्र पादत्रयमुपलभ्यते न त्वस्य प्रमाणं किञ्चिदित्यत आह—  
दर्शयत इति । एवं विकारावर्ति रूपं श्रुतिस्मृती दर्शयतः । श्रुतिर्न तत्र  
सूर्य इत्याद्या । स्मृतिर्न जायत इत्याद्या । चकारो मुक्तेरपि सत्त्व-  
माह ॥ २० ॥

ननु परमेश्वरस्य जगत्कर्तृत्वमुक्तं तत्समानशीलाश्च योगिन इत्यत  
आह—भोगेति । अनादिसिद्धेन परमेश्वरेण भोगमात्रं समानं योगिनां  
यथैतां देवतामित्यादिना । तदेव लिङ्गं जगद्वापाराभावे । चकारादनेके-  
श्वरादिदोषश्च ॥ २१ ॥



अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ २२ ॥

येऽर्चिरादिमार्गेण ब्रह्मलोकं प्राप्तास्तेषामनावृत्तिरेव तेषां न पुनरा-  
वृत्तिरित्यादिक्रममुक्त्यभिधायकशब्दादित्यर्थः । निर्गुणब्रह्मविदामावृ-  
त्तिशङ्कैव नास्ति यतः सगुणविदामपि निर्गुणाश्रयणेनैवानावृत्तिर्ना-  
न्यथा । तस्माद्ब्रह्मविदां निरस्तानर्थवातस्वप्रभनिरतिशयानन्दब्रह्मात्म-  
नाऽवस्थितिरिति सिद्धम् । सूत्रावृत्तिः शास्त्रसमाप्तिद्योतनार्था ॥ २२ ॥

यः सर्वश्रुतिबन्धिवन्दिततनुर्मायात्मनिर्द्वान्तगः

सुप्तोऽस्मिन्मवपत्तने परिमिते कल्पान्तकल्पान्तरे ।

यः सर्वापरिपन्थिसाङ्गनयजप्रज्ञाप्रवाहान्तज-

प्रज्ञालभ्यसुखाकृतिः कृतिमिमां रामः स गृह्णातु नः ॥ १ ॥

अस्मिन्पद्येऽध्यायचतुष्टयार्थः सूचितः ।

विदुषां कण्ठभूषेयं कृता वृत्तिर्मया प्रभो ।

व्यासवाङ्मणिसंहृद्धा प्रीतये तेऽस्तु सर्वदा ॥ २ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमन्मुकुन्दगोविन्दश्रीचिरणाशि-  
क्षितश्रीरामकिंकरधर्मकृतौ ब्रह्मसूत्रवृत्तौ ब्रह्माभूतवर्षिण्यां चतुर्थस्या-  
ध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

ननु एवं सति सातिशयत्वादन्तवत्त्वमैश्वर्यस्य स्यात्ततश्चैषामावृत्ति-  
रिति चेत्—अनावृत्तिरिति । नाऽऽवृत्तिश्च शब्दात् । सूत्राभ्यासः शास्त्र-  
समाप्तिं द्योतयति ॥ २२ ॥

सूत्राणि सूक्ष्माणि हि चर्मनेत्रै-

र्बोद्धुं न शक्यानि सुवर्णसंघात ।

तेषां प्रबोधाय सुवर्णजालं

निःसारितं भूरि विधाय दीपम् ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यानन्दात्मपूज्यपादशिष्यस्य

श्रीमच्छंकरानन्दभगवतः कृतौ ब्रह्मसूत्रदीपिकायां

चतुर्थस्याध्यायस्य चतुर्थः पादः ॥ ४ ॥

## श्रीमद्द्वैपायनप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमपत्रकम् ।

( सूत्राणि )

अ० पा० सू० पृ०

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवा-

|                                                |   |   |    |     |
|------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| दित्वमधीयत एके ... ..                          | २ | ३ | ४३ | २२१ |
| अकरणत्वाच्च न दोषस्तथाहि दर्शयति ...           | २ | ४ | ११ | २३४ |
| अक्षरधिया त्वविरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौप-     |   |   |    |     |
| सदवत्तदुक्तम् .... ..                          | ३ | ३ | ३३ | ३१६ |
| अक्षरमम्बरान्तधृतेः ... ..                     | १ | ३ | १० | ८१  |
| अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् .... | ४ | १ | १६ | ३८४ |
| अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ....  | ३ | १ | ४  | २४६ |
| अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ...     | ३ | ३ | ५५ | ३३६ |
| अङ्गित्वानुपपत्तेश्च .... ..                   | २ | २ | ८  | १७३ |
| अङ्गेषु यथाश्रयभावः .... ..                    | ३ | ३ | ६१ | ३४० |
| अचलत्वं चापेक्ष्य ... ..                       | ४ | १ | ९  | ३८० |
| अणवश्च ... ..                                  | २ | ४ | ७  | २३१ |
| अणुश्च ... ..                                  | २ | ४ | १३ | २३५ |
| अत एव च नित्यत्वम् ... ..                      | १ | ३ | २९ | १०० |
| अत एव च सर्वाण्यनु ... ..                      | ४ | २ | २  | ३८८ |
| अत एव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ... ..             | ३ | ४ | २५ | ३५५ |
| अत एव चानन्याधिपतिः .... ..                    | ४ | ४ | ९  | ४१४ |
| अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ... ..                | ३ | २ | १८ | २७३ |
| अत एव न देवता भूतं च ... ..                    | १ | २ | २७ | ७१  |
| अत एव प्राणः ... ..                            | १ | १ | २३ | ३४  |
| अतः प्रबोधोऽस्मात् ... ..                      | ३ | २ | ८  | २६७ |
| अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ... ..                    | ४ | २ | २० | ४०० |
| अतस्त्वितरज्ज्यायो लिङ्गाच्च ... ..            | ३ | ४ | ३९ | ३६३ |
| अतिदेशाच्च ... ..                              | ३ | ३ | ४६ | ३३१ |
| अतोऽनन्तेन तथाहि लिङ्गम् ... ..                | ३ | २ | २६ | २७८ |
| अतोऽन्याऽपि ह्येकेषामुभयोः ... ..              | ४ | १ | १७ | ३८५ |
| अत्ता चराचरग्रहणात् ... ..                     | १ | २ | ९  | ५३  |

| ( सूत्राणि )                                                          | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|-----------------------------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ... ..                                           | १  | १   | १   | १   |
| अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः ... ..                                   | १  | २   | २१  | ६३  |
| अदृष्टानियमात् ... ..                                                 | २  | ३   | ५१  | २२५ |
| अधिकं तु मेदनिर्देशात् ... ..                                         | २  | १   | २२  | १५९ |
| अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्वर्शनात् ...                          | ३  | ४   | ८   | ३४६ |
| अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ... ..                                           | २  | २   | ३९  | १९२ |
| अध्ययनमात्रवतः ... ..                                                 | ३  | ४   | १२  | ३४७ |
| अनभिभवं च दर्शयति ... ..                                              | ३  | ४   | ३५  | ३६२ |
| अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ....                                         | १  | २   | १७  | ६०  |
| अनारब्धकार्ये एव तु तद्वधेः ....                                      | ४  | १   | १५  | ३८३ |
| अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ....                                           | ३  | ४   | ५०  | ३७२ |
| अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ... ..                             | ४  | ४   | २२  | ४२० |
| अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमानाम्याम्...                            | ३  | ३   | ३१  | ३१४ |
| अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम्....                                      | ३  | १   | १२  | २५२ |
| अनुकृतेस्तस्य च ... ..                                                | १  | ३   | २२  | ९२  |
| अनुज्ञापरिहारौ देहसंबन्धाज्ज्योतिरादिवत् ...                          | २  | ३   | ४८  | २२३ |
| अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ... ..                                         | १  | २   | ३   | ५०  |
| अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्तत्त्ववद्दृष्टश्च तदु-<br>क्तम् ... .. | ३  | ३   | ५०  | ३३२ |
| अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ... ..                                | ३  | ४   | १९  | ३५१ |
| अनुस्मृतेर्षादरिः ... ..                                              | १  | २   | ३०  | ७२  |
| अनुस्मृतेश्च ....                                                     | २  | २   | २५  | १८३ |
| अनेन सर्वगतत्त्वमायामशब्दादिभ्यः ... ..                               | ३  | २   | ३७  | २८३ |
| अन्तर उपपत्तेः ....                                                   | १  | २   | १३  | ५६  |
| अन्तरा चापि तु तद्वृष्टेः... ..                                       | ३  | ४   | ३६  | ३६२ |
| अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ....                                      | ३  | ३   | ३५  | ३१९ |
| अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्ना-<br>विशेषात् ....      | २  | ३   | १५  | २०४ |
| अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ...                           | १  | २   | १८  | ६१  |
| अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ....                                          | २  | २   | ४१  | १९२ |
| अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ... ..                                          | १  | १   | २०  | ३०  |

( सूत्राणि )

|                                                   | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वाद्विशेषः...          | २  | २   | ३६  | १९० |
| अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ...                   | २  | २   | ५   | १७१ |
| अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ....          | ३  | ३   | ६   | २९० |
| अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ....              | २  | २   | ९   | १७३ |
| अन्यथा भेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत्...     | ३  | ३   | ३६  | ३२० |
| अन्यभावव्यावृत्तेश्च ...                          | १  | ३   | १२  | ८२  |
| अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलाषात् ...               | ३  | १   | २२  | २५९ |
| अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैव- |    |     |     |     |
| मेके ...                                          | १  | ४   | १८  | १३६ |
| अन्यार्थश्च परामर्शः ...                          | १  | ३   | २०  | ९१  |
| अन्वयादिति चेत्स्याद्वधारणात् ....                | ३  | ३   | १७  | २९९ |
| अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ...                   | २  | २   | १७  | १७८ |
| अपि च सप्त ...                                    | ३  | १   | १५  | २५४ |
| अपि च स्मर्यते ...                                | १  | ३   | २३  | ९३  |
| " " ....                                          | २  | ३   | ४५  | २२२ |
| " " ...                                           | ३  | ४   | ३०  | ३५९ |
| " " ...                                           | ३  | ४   | ३७  | ३६२ |
| अपि चैवमेके ....                                  | ३  | २   | १३  | २७१ |
| अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ...            | ३  | २   | २४  | २७७ |
| अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ....                | २  | १   | ८   | १५१ |
| अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण ...                |    |     |     |     |
| उभयथा दोषात्तत्कृतिश्च ...                        | ४  | ३   | १५  | ४०९ |
| अबाधाच्च ...                                      | ३  | ४   | २९  | ३५९ |
| अभावं बादरिराह ह्येवम् ...                        | ४  | ४   | १०  | ४१४ |
| अभिध्योपदेशाच्च ...                               | १  | ४   | २४  | १४१ |
| अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ....         | २  | १   | ५   | १४९ |
| अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ...                      | १  | २   | २९  | ७२  |
| अभिसंध्यादिष्वपि चैवम् ...                        | २  | ३   | ५२  | २२५ |
| अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ...                       | २  | २   | ६   | १७२ |
| अम्बुवदग्रहणात् न तथात्वम् ...                    | ३  | २   | १९  | २७३ |
| अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ...                   | ३  | २   | १४  | २७१ |

( सूत्राणि )

अ० पा० सू० पृ०

|                                                  |   |   |    |     |
|--------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ....                     | ४ | ३ | १  | ४०१ |
| अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचा-   |   |   |    |     |
| व्यत्वादेवं व्योमवच्च ...                        | १ | २ | ७  | ५१  |
| अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ...                  | १ | ३ | २१ | ९२  |
| अवस्थितिर्वैशेष्यादिति चेन्नाभ्युपगमाद्धृदि हि   | २ | ३ | २४ | २१० |
| अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ...                     | १ | ४ | २२ | १३९ |
| अविभागेन दृष्टत्वात् ....                        | ४ | ४ | ४  | ४१२ |
| अविभागो वचनात् ....                              | ४ | २ | १६ | ५१५ |
| अविरोधश्चन्दनवत् ...                             | २ | ३ | २३ | २०९ |
| अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ...                     | ३ | १ | २५ | २६० |
| अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ...                      | २ | १ | २३ | १६० |
| अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः .... | ३ | १ | ६  | २४७ |
| असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ...            | २ | २ | २१ | १८१ |
| असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ....            | २ | १ | ७  | १५१ |
| असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् | २ | १ | १७ | १५७ |
| असंततेश्चाव्यतिकरः ...                           | २ | ३ | ४९ | २२४ |
| असंभवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ...                      | २ | ३ | ९  | १९९ |
| असार्धत्रिकी ...                                 | ३ | ४ | १० | ३४७ |
| अस्ति तु ...                                     | २ | ३ | २  | १९६ |
| अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ...                 | १ | १ | १९ | २७  |
| अस्यैव चोपपत्तेरेण ऊष्मा ...                     | ४ | २ | ११ | ३९३ |

आ.

|                                    |   |   |    |     |
|------------------------------------|---|---|----|-----|
| आकाशस्तलिङ्गात् ...                | १ | १ | २२ | ३२  |
| आकाशे चाविशेषात् ..                | २ | २ | २४ | १८३ |
| आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ... | १ | ३ | ४१ | ११३ |
| आचारदर्शनात् ....                  | ३ | ४ | ३  | ३४४ |
| आतिवाहिकास्तलिङ्गात् ...           | ४ | ३ | ४  | ४०४ |
| आत्मकृतेः परिणामात् ...            | १ | ४ | २६ | १४२ |
| आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ....      | ३ | ३ | १६ | २९८ |
| आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ....    | २ | १ | २८ | १६३ |
| आत्मशब्दाच्च ...                   | ३ | ३ | १५ | २९७ |

( सूत्राणि । )

|                                          | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| आत्मा प्रकरणात् ... ..                   | ४  | ४   | ३   | ४११ |
| आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ... ..  | ४  | १   | ३   | ३७६ |
| आदरादलोपः .... ..                        | ३  | ३   | ४०  | ३२४ |
| आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ... ..      | ४  | १   | ६   | ३७८ |
| आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ... ..           | ३  | ३   | १४  | २९६ |
| आनन्दमयोऽभ्यासात् .... ..                | १  | १   | १२  | २४  |
| आनन्दादयः प्रधानस्य ... ..               | ३  | ३   | ११  | २९५ |
| आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् .... .. | ३  | १   | १०  | २५१ |
| आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकवि-  |    |     |     |     |

|                                                |   |   |    |     |
|------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| न्यस्तगृहीतेर्दर्शयति च ... ..                 | १ | ४ | १  | ११७ |
| आपः ... ..                                     | २ | ३ | ११ | २०१ |
| आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ... ..            | ४ | १ | १२ | ३८१ |
| आभास एव च ... ..                               | २ | ३ | ५० | २२४ |
| आमनन्ति चैनमस्मिन् .... ..                     | १ | २ | ३२ | ७४  |
| आत्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिकीयते ... .. | ३ | ४ | ४५ | ३६८ |
| आवृत्तिसकृदुपदेशात् .... ..                    | ४ | १ | १  | ३७५ |
| आसीनः संभवात् ... ..                           | ४ | १ | ७  | ३७९ |
| आह च तन्मात्रम् ... ..                         | ३ | २ | १६ | २७२ |

इ.

|                                                              |   |   |    |     |
|--------------------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| इतरपरामर्शात्स इति चेन्नासंभवात् .... ..                     | १ | ३ | १८ | ८८  |
| इतरव्यपदेशाद्विज्ञाकरणादिदोषप्रसक्तिः ... ..                 | २ | १ | २१ | १५८ |
| इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ... ..                         | ४ | १ | १४ | ३८३ |
| इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ... .. | २ | २ | १९ | १८० |
| इतरे त्वर्थसामान्यात् .... ..                                | ३ | ३ | १३ | २९६ |
| इतरेषां चानुपलब्धेः ... ..                                   | २ | १ | २  | १४७ |
| इयदामननात् ... ..                                            | ३ | ३ | ३४ | ३१८ |

ई.

|                               |   |   |    |    |
|-------------------------------|---|---|----|----|
| ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्सः ... .. | १ | ३ | १३ | ८३ |
| ईक्षतेर्नाशब्दम् ... ..       | १ | १ | ५  | १६ |

( सूत्राणि । )

अ० पा० सू० पृ०

उ.

|                                                |   |   |    |     |
|------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| उक्तमिष्यत एवंभावादित्यौलुलोमिः ... ..         | १ | ४ | २१ | १३९ |
| उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् .... ..                | २ | ३ | १९ | २०८ |
| उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु .... ..          | १ | ३ | १९ | ८८  |
| उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ... ..            | २ | २ | २० | १८१ |
| उत्पत्त्यसंभवात् ... ..                        | २ | २ | ४२ | १९३ |
| उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ... ..               | २ | २ | २७ | १८४ |
| उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ... | १ | १ | २७ | ३९  |
| उपादानात् ... ..                               | २ | ३ | ३५ | २१६ |
| उपपत्तेश्च ... ..                              | ३ | २ | ३५ | २८३ |
| उपपद्यते चाप्युलभ्यते च ... ..                 | २ | १ | ३६ | १६७ |
| उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेलोकावत् ... ..      | ३ | ३ | ३० | ३१३ |
| उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ... ..     | ३ | ४ | ४२ | ३६६ |
| उपमदं च .... ..                                | ३ | ४ | १६ | ३४९ |
| उपलब्धिवदनियमः ... ..                          | २ | ३ | ३७ | २१७ |
| उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्वि ... ..    | २ | १ | २४ | १६० |
| उपसंहारोऽर्थाभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ...       | ३ | ३ | ५  | २८९ |
| उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् .... ..                  | ३ | ३ | ४१ | ३२५ |
| उभयथा च दोषात् ... ..                          | २ | २ | १६ | १७८ |
| ” ” ... ..                                     | २ | २ | २३ | १८३ |
| उभयथाऽपि न कर्मातस्तदभावः ... ..               | २ | २ | १२ | १७५ |
| उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् .... ..            | ३ | २ | २७ | २७९ |
| उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ... ..                 | ४ | ३ | ५  | ४०४ |

ऊ.

|                                 |   |   |    |     |
|---------------------------------|---|---|----|-----|
| ऊर्ध्वरेतःसु च शब्दे हि .... .. | ३ | ४ | १७ | ३४९ |
|---------------------------------|---|---|----|-----|

ए.

|                                            |   |   |    |     |
|--------------------------------------------|---|---|----|-----|
| एक आत्मनः शरीरे भावात् ... ..              | ३ | ३ | ५३ | ३३५ |
| एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ... ..           | २ | ३ | ८  | १९९ |
| एतेन योगः प्रत्युक्तः ... ..               | २ | १ | ३  | १४७ |
| एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ... .. | २ | १ | १२ | १५४ |

# वर्णानुक्रमपत्रकम् ।

७

( सूत्राणि । )

|                                            | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ... ..   | १  | ४   | २८  | १४३ |
| एवं चाऽऽत्माकात्स्न्यम् .... ..            | २  | २   | ३४  | १८९ |
| एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तदवस्थाव- |    |     |     |     |
| धृतेः .... ..                              | ३  | ४   | ५२  | ३७३ |
| एवमप्युपन्यासात्पूर्वभावादविरोधं बादरायणः  | ४  | ४   | ७   | ४१३ |

ऐ.

|                                                |   |   |    |     |
|------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् .... .. | ३ | ४ | ५१ | ३७२ |
|------------------------------------------------|---|---|----|-----|

क.

|                                                   |   |   |    |     |
|---------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| कम्पनात् ... ..                                   | १ | ३ | ३९ | ११० |
| करणवञ्चेन्न भोगादिभ्यः ... ..                     | २ | २ | ४० | १९२ |
| कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ... ..                 | २ | ३ | ३३ | २१५ |
| कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च .... ..                      | १ | २ | ४  | ५०  |
| कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिविद्विरोधः ... ..           | १ | ४ | १० | १२७ |
| कामकारेण चैके ... ..                              | ३ | ४ | १५ | ३४८ |
| कामाच्च नानुमानापेक्षा ... ..                     | १ | १ | १८ | २७  |
| कामादीतरत्र तत्र चाऽऽयतनादिभ्यः ... ..            | ३ | ३ | ३९ | ३२३ |
| काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वमा- |   |   |    |     |

|             |   |   |    |     |
|-------------|---|---|----|-----|
| धात् ... .. | ३ | ३ | ६० | ३४० |
|-------------|---|---|----|-----|

|                                                      |   |   |    |     |
|------------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| कारणत्वेन चाऽऽकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः            | १ | ४ | १४ | १३१ |
| कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ... ..                 | ४ | ३ | ७  | ४०५ |
| कार्याख्यानादपूर्वम् ... ..                          | ३ | ३ | १८ | ३०० |
| कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात्...          | ४ | ३ | १० | ४०७ |
| कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः | २ | ३ | ४२ | २२० |
| कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेतमनेवं च       | ३ | १ | ८  | २४९ |
| कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ... ..                 | ३ | ४ | ४८ | ३७१ |
| कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ... ..         | २ | १ | २६ | १६२ |
| क्षणिकत्वाच्च ... ..                                 | २ | २ | ३१ | १८३ |
| क्षत्रियत्वगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ....    | १ | ३ | ३५ | १८७ |

ग.

|                                            |   |   |    |    |
|--------------------------------------------|---|---|----|----|
| गतिशब्दाभ्यां तथाहि दृष्टं लिङ्गं च ... .. | १ | ३ | १५ | ८६ |
|--------------------------------------------|---|---|----|----|



( सूत्राणि । )

|                                               | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|-----------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| गतिसामान्यात् ... ..                          | १  | १   | १०  | २१  |
| गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः...        | ३  | ३   | २९  | ३१३ |
| गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ... ..                   | ३  | ३   | ६४  | ३४१ |
| गुणाद्वा लोकवत् .... ..                       | २  | ३   | २५  | २१० |
| गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ... .. | १  | २   | ११  | ५४  |
| गौणश्चेन्नाऽऽत्मशब्दात् ... ..                | १  | १   | ६   | १७  |
| गौण्यसंभवात् ... ..                           | २  | ३   | ३   | १९६ |
| ” ... ..                                      | २  | ४   | २   | २२७ |

च.

|                                                |   |   |    |     |
|------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ... ..      | २ | ४ | १० | २३३ |
| चमसवद्विशेषात् ... ..                          | १ | ४ | ८  | १२५ |
| चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति काष्णार्जिनिः.... | ३ | १ | ९  | २५१ |
| चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्त- |   |   |    |     |
| द्भावभावित्वात् ... ..                         | २ | ३ | १६ | २०५ |
| चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ...    | ४ | ४ | ६  | ४१३ |

छ.

|                                               |   |   |    |     |
|-----------------------------------------------|---|---|----|-----|
| छन्दत उभयाविरोधात् ... ..                     | ३ | ३ | २८ | ३१२ |
| छन्दोभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोर्पणनिगदात्त- |   |   |    |     |
| थाहि दर्शनम् ... ..                           | १ | १ | २५ | ३७  |

ज.

|                                                   |   |   |    |     |
|---------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| जगद्वाचित्वात् ... ..                             | १ | ४ | १६ | १३४ |
| जगद्वापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च ....        | ४ | ४ | १७ | ४१७ |
| जन्माद्यस्य यतः .... ..                           | १ | १ | २  | ५   |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद्व्याख्यातम् ...  | १ | ४ | १७ | १३५ |
| जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादा- |   |   |    |     |
| श्रितत्वादिह तद्योगात् ... ..                     | १ | १ | २१ | ४३  |
| ज्ञेयत्वावचनाच्च ... ..                           | १ | ४ | ४  | १२१ |
| ज्ञोऽत एव .... ..                                 | २ | ३ | १८ | २०७ |
| ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ... ..           | २ | ४ | १४ | २३६ |

( सूत्राणि । )

|                                        | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|----------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| ज्योतिरुपक्रमेण तु तथा ह्यधीयत एके ... | १  | ४   | ९   | १२६ |
| ज्योतिर्दर्शनात् ... ..                | १  | ३   | ४०  | ११२ |
| ज्योतिश्चरणाभिधानात् ... ..            | १  | १   | २४  | १५  |
| ज्योतिषि भाषाञ्च ... ..                | १  | ३   | ३२  | १०३ |
| ज्योतिषैकेषामसत्यञ्चे ... ..           | १  | ४   | १३  | १३१ |

त.

|                                                     |   |   |    |     |
|-----------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| त इन्द्रियाणि तद्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात्....       | २ | ४ | १७ | २३८ |
| तच्छ्रुतेः ... ..                                   | ३ | ४ | ३४ | ३४४ |
| तडितोऽभि वरुणः संबन्धात् ... ..                     | ४ | ३ | ३  | ४०३ |
| तत्तु समन्वयात् ... ..                              | १ | १ | ४  | ८   |
| तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ....                            | २ | ४ | ४  | २२८ |
| तत्प्राक्भुतेश्च ... ..                             | २ | ४ | ३  | २२७ |
| तत्रापि च तद्यापाराद्विरोधः ... ..                  | ३ | १ | १६ | २५४ |
| तथा च दर्शयति ... ..                                | २ | ३ | २७ | २११ |
| तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ... ..                       | ३ | ४ | २४ | ३५४ |
| तथाऽन्यप्रतिषेधात् ... ..                           | ३ | २ | ३६ | २८३ |
| तथा प्राणाः ....                                    | २ | ४ | १  | २२६ |
| तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्यपदेशात् ४     | १ | १ | १३ | ३८२ |
| तदधीनत्वादर्थवत् ....                               | १ | ४ | ३  | १२० |
| तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ... ..                  | २ | १ | १४ | १५५ |
| तदन्तरप्रपिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूप-    |   |   |    |     |
| णाभ्याम् ... ..                                     | ३ | १ | १  | २४४ |
| तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ... ..                  | १ | ३ | ३७ | १०९ |
| तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ... ..             | ३ | २ | ७  | २६६ |
| तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ... ..               | २ | ३ | १३ | २०२ |
| तदव्यक्तमाह हि ... ..                               | ३ | २ | २३ | २७७ |
| तदाऽपीतेः संसारव्यपदेशात् ... ..                    | ४ | २ | ८  | ३९२ |
| तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ... ..                   | १ | ३ | २६ | ९६  |
| तदोकोग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्- |   |   |    |     |
| च्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शता-        |   |   |    |     |
| धिकया ... ..                                        | ४ | २ | १७ | ३९७ |

| ( सूत्राणि )                                       | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|----------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| तद्वृणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ... ..    | २  | ३   | २९  | २१२ |
| तद्वृणतस्य तु नातद्भाषो जैमिनेरपि नियमातद्वृणा-    |    |     |     |     |
| मावेभ्यः ... ..                                    | ३  | ४   | ४०  | ३६४ |
| तद्वृणो विधानात् ... ..                            | ३  | ४   | ६   | ३४५ |
| तद्वृणतुव्यपदेशाच्च ... ..                         | १  | १   | १४  | २५  |
| तन्निर्धारणानियमस्तद्वृष्टेः पृथग्यप्रतिबन्धः फलम् | ३  | ३   | ४२  | ३२५ |
| तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ... ..                   | १  | १   | ७   | १८  |
| तन्मनः प्राण उत्तरात् ... ..                       | ४  | २   | ३   | ३८९ |
| तन्वभावे संध्यवदुपपत्तेः ... ..                    | ४  | ४   | १३  | ४१६ |
| तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथाऽनुमेयमिति चेदेवमप्य-     |    |     |     |     |
| विमोक्षप्रसङ्गः .... ..                            | २  | १   | ११  | १५३ |
| तस्य च नित्यत्वात् ... ..                          | २  | ४   | १६  | २३७ |
| तानि परे तथा ह्याह ... ..                          | ४  | २   | १५  | ३९६ |
| तुल्यं तु दर्शनम् .... ..                          | ३  | ४   | ९   | ३४६ |
| तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य .... ..                  | ३  | १   | २१  | २५६ |
| तेजोऽतस्तथा ह्याह ... ..                           | २  | ३   | १०  | २०० |
| अयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ... ..             | १  | ४   | ६   | १२२ |
| अयात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् .... ..                | ३  | १   | २   | २४५ |

द.

|                                       |   |   |    |     |
|---------------------------------------|---|---|----|-----|
| दर्शनाच्च .... ..                     | ३ | १ | २० | २५६ |
| ” .... ..                             | ३ | २ | २१ | २७४ |
| ” .... ..                             | ३ | ३ | ४८ | ३३१ |
| ” .... ..                             | ३ | ३ | ६६ | ३४२ |
| ” .... ..                             | ४ | ३ | १३ | ४०७ |
| दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने .... .. | ४ | ४ | २० | ४१९ |
| दर्शयति च ... ..                      | ३ | ३ | ४  | २८९ |
| ” ... ..                              | ३ | ३ | २२ | ३०४ |
| दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ... ..      | ३ | २ | १७ | २७२ |
| दहर उत्तरेभ्यः ... ..                 | १ | ३ | १४ | ८४  |
| दृश्यते तु ... ..                     | २ | १ | ६  | १५० |

वर्णानुक्रमपत्रकम्—

११

| ( सूत्राणि । )                     | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| देवादिवदपि लोके ... ..             | २  | १   | २५  | १६१ |
| देहयोगाद्वा सोऽपि ... ..           | ३  | २   | ६   | २६५ |
| द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ... .. | १  | ३   | १   | ७५  |
| द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः .... | ४  | ४   | १२  | ४१५ |

ध.

|                                            |   |   |    |     |
|--------------------------------------------|---|---|----|-----|
| धर्मं जैमिनिरत एव ... ..                   | ३ | २ | ४० | २८५ |
| धर्मोपपत्तेश्च ... ..                      | १ | ३ | ९  | ८१  |
| धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धे: ... .. | १ | ३ | १६ | ८७  |
| ध्यानाच्च ....                             | ४ | १ | ८  | ३८० |

न.

|                                             |   |    |     |     |
|---------------------------------------------|---|----|-----|-----|
| न कर्माविभागोदिति चेन्नानादित्वात् ... ..   | २ | १  | ३५  | १६६ |
| न च कर्तुः करणम् ....                       | २ | २  | ४३  | १९३ |
| न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसंधिः ... ..        | ४ | ३  | १४  | ४०८ |
| न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ... ..   | २ | २  | ३५  | १८९ |
| न च स्मार्तमतद्वर्माभिलापात् ....           | १ | २  | १९  | ६२  |
| न चाऽऽधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ३     | ४ | ४१ | ३६५ |     |
| न तु दृष्टान्तभावात् ... ..                 | २ | १  | ९   | १५१ |
| न तृतीये तथोपलब्धे: ....                    | ३ | १  | १८  | २५५ |
| न प्रतीके न हि सः ....                      | ४ | १  | ४   | ३७७ |
| न प्रयोजनवत्त्वात् ... ..                   | २ | १  | ३२  | १६५ |
| न भावोऽनुपलब्धे: ... ..                     | २ | २  | ३०  | १८६ |
| न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ....    | ३ | २  | १२  | २७० |
| न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसंबन्धभूमा |   |    |     |     |
| ह्यास्मिन् ....                             | १ | १  | २९  | ४१  |
| न वा तत्सहभावाश्रुते: ... ..                | ३ | ३  | ६५  | ३४२ |
| न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ... ..  | ३ | ३  | ७   | २९१ |
| न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ... ..            | २ | ४  | ९   | २३२ |
| न वा विशेषात् ... ..                        | ३ | ३  | २१  | ३०३ |
| न वियदश्रुते: ....                          | २ | ३  | १   | १९५ |
| न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ... ..  | २ | १  | ४   | १४८ |

(सूत्राणि ।)

|                                                   | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|---------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ...        | १  | ४   | ११  | १२८ |
| न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः   | ३  | ३   | ५१  | ३३३ |
| न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ...        | ३  | २   | ११  | २६९ |
| नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ...          | २  | ३   | २१  | २०९ |
| मातिचिरेण विशेषात् ...                            | ३  | १   | २३  | २५९ |
| नाऽऽत्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताम्यः ...          | २  | ३   | १७  | २०६ |
| नाना शब्दादिभेदात् ...                            | ३  | ३   | ५८  | ३३८ |
| नानुमानमतच्छब्दात् ...                            | १  | ३   | ३   | ७७  |
| नामाव उपलब्धेः....                                | २  | २   | २८  | १८४ |
| नाविशेषात् ...                                    | ३  | ४   | १३  | ३४८ |
| नासतोऽवृष्टत्वात् ....                            | २  | २   | २६  | १८४ |
| नित्यमेव च भावात् ...                             | २  | २   | १४  | १७७ |
| नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वाऽ-     |    |     |     |     |
| व्यथा ...                                         | २  | ३   | ३२  | २१४ |
| नियमाच्च ...                                      | ३  | ४   | ७   | ३४५ |
| निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च...                    | ३  | २   | २   | २६२ |
| निशि नेति चेन्न संबन्धस्य यावद्देहभावित्वाद्दर्श- |    |     |     |     |
| यति च ....                                        | ४  | २   | १९  | ३९९ |
| नेतरोऽनुपपत्तेः ...                               | १  | १   | १६  | २६  |
| नैकस्मिन्दर्शयतो हि ...                           | ४  | २   | ६   | ३९१ |
| नैकस्मिन्नसंभवात् ...                             | २  | २   | ३३  | १८७ |
| नोपमर्देनातः...                                   | ४  | २   | १०  | ३९३ |

प,

|                                          |   |   |    |     |
|------------------------------------------|---|---|----|-----|
| पञ्चवृत्तिर्भनोवद्यपदिश्यते...           | २ | ४ | १२ | २३४ |
| पटवच्च ...                               | २ | १ | १९ | १५८ |
| पत्यादिशब्देभ्यः ....                    | १ | ३ | ४३ | ११६ |
| पत्युरसामञ्जस्यात्...                    | २ | २ | ३७ | १९१ |
| पयोभ्युवञ्चेत्त्रापि...                  | २ | २ | ३  | १७० |
| परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ....             | ४ | ३ | १२ | ४०७ |
| परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः.... | ३ | २ | ३१ | २८० |

( सूत्राणि )

अ० पा० सू० पृ०

|                                                              |   |   |    |     |
|--------------------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| परात्तु तच्छ्रुतेः ... ..                                    | २ | ३ | ४१ | २१९ |
| पराभिधानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ               | ३ | २ | ९  | २६५ |
| परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि ...                         | ३ | ४ | १८ | ३५० |
| परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्वनुबन्धः                | ३ | ३ | ५२ | ३३४ |
| पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ... ..                 | ३ | ४ | २३ | ३५३ |
| पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ....                | २ | ३ | ३१ | २१४ |
| पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ... ..                   | ३ | ३ | २४ | ३०५ |
| पुरुषार्थोऽतः शब्दादिति बादरायणः ... ..                      | ३ | ४ | १  | ३४३ |
| पुरुषाश्मवदिति चेत्तथाऽपि .... ..                            | २ | २ | ७  | १७२ |
| पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ... ..                     | ३ | २ | ४१ | २८५ |
| पूर्ववद्वा ... ..                                            | ३ | २ | २९ | २८० |
| पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात्क्रियामानसवत् ...                | ३ | ३ | ४५ | ३३० |
| पृथगुपदेशात् ... ..                                          | २ | ३ | २८ | २११ |
| पृथिव्याधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः .... ..                       | २ | ३ | १२ | २०१ |
| प्रकरणाच्च .... ..                                           | १ | २ | १० | ५४  |
| प्रकरणात् ... ..                                             | १ | ३ | ६  | ७८  |
| प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ... ..                                | ३ | २ | १५ | २७२ |
| प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्             | ३ | २ | २५ | २७८ |
| प्रकाशादिवच्चैवं परः ... ..                                  | २ | ३ | ४६ | २२२ |
| प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्वात् ... ..                            | ३ | २ | २८ | २७९ |
| प्रकृतिश्च प्रतिज्ञावृष्टान्तानुपरोधात् ... ..               | १ | ४ | २३ | १४० |
| प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः            | ३ | २ | २२ | २७५ |
| प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमाश्मरथ्यः ... ..                      | १ | ४ | २० | १३९ |
| प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः .... ..                   | २ | ३ | ६  | १९७ |
| प्रतिषेधाच्च ... ..                                          | ३ | २ | ३० | २८० |
| प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ... ..                          | ४ | २ | १२ | ३९४ |
| प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ...          | २ | २ | २२ | १८२ |
| ऋत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाऽऽधिकारिकमण्डल-<br>स्थोक्तेः .... .. | ४ | ४ | १८ | ४१८ |
| प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ...                | ३ | १ | ५  | २४७ |
| प्रदानवदेव तदुक्तम् ... ..                                   | ३ | ३ | ४३ | ३२७ |

( सूत्राणि । )

|                                            | म० | पा० | सू० | पृ० |
|--------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ....          | ४  | ४   | १५  | ४१६ |
| प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ...          | २  | ३   | ५३  | २२५ |
| प्रवृत्तेश्च ....                          | २  | २   | २   | १७० |
| प्रसिद्धेश्च ....                          | १  | ३   | १७  | ८७  |
| प्राणगतेश्च ....                           | ३  | १   | ३   | २४६ |
| प्राणवता शब्दात् ....                      | २  | ४   | १५  | २३७ |
| प्राणभृच्च ...                             | १  | ३   | ४   | ७८  |
| प्राणस्तथाऽनुगमात् ...                     | १  | १   | २८  | ४०  |
| प्राणादयो वाक्यशेषात् ...                  | १  | ४   | १२  | १३० |
| प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भवे | ३  | ३   | १२  | २९५ |

फ.

|                   |   |   |    |     |
|-------------------|---|---|----|-----|
| फलमत उपपत्तेः ... | ३ | २ | ३८ | २८४ |
|-------------------|---|---|----|-----|

ब.

|                                    |   |   |    |     |
|------------------------------------|---|---|----|-----|
| बहिस्तूभयथाऽपि स्मृतेराचाराच्च ... | ३ | ४ | ४३ | ३६७ |
| बुद्ध्यर्थः पादवत् ...             | ३ | २ | ३३ | २८२ |
| ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ....       | ४ | १ | ५  | ३७८ |
| ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः... | ४ | ४ | ५  | ४१२ |

भ.

|                                             |   |   |    |     |
|---------------------------------------------|---|---|----|-----|
| भाक्तं वाऽनात्मविच्चात्तथा हि दर्शयति ...   | ३ | १ | ७  | २४८ |
| भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ....             | ४ | ४ | ११ | ४१५ |
| भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ...                | १ | ३ | ३३ | १०४ |
| भावशब्दाच्च ...                             | ३ | ४ | २२ | ३५३ |
| भावे चोपलब्धेः ...                          | २ | १ | १५ | १५६ |
| भावे जाग्रद्वत् ...                         | ४ | ४ | १४ | ४१६ |
| भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ....         | १ | १ | २६ | ३८  |
| भूतेषु तच्छ्रुतेः ...                       | ४ | २ | ५  | ३९० |
| भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ...              | १ | ३ | ८  | ७९  |
| भूतः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ... | ३ | ३ | ५७ | ३३७ |
| भेदव्यपदेशाच्च ...                          | १ | १ | १७ | २७  |

( सूत्राणि । )

|                                            | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| भेदव्यपदेशाच्चान्यः ....                   | १  | १   | २१  | ३२  |
| भेदव्यपदेशात् ...                          | १  | ३   | ५   | ७८  |
| भेदश्रुतेः ...                             | २  | ४   | १८  | २३९ |
| भेदादिति चेन्नैकस्यामपि ...                | ३  | ३   | २   | २८७ |
| भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत्स्याल्लोकवत् .... | २  | १   | १३  | १५४ |
| भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ....                | ४  | ४   | २१  | ४१९ |
| भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ...      | ४  | १   | १९  | ३८६ |

म.

|                                                    |   |   |    |     |
|----------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः ...                | १ | ३ | ३१ | १०२ |
| मञ्जवर्णाच्च ...                                   | २ | ३ | ४४ | २२२ |
| मन्त्रादिवद्वाऽविरोधः ...                          | ३ | ३ | ५६ | ३३७ |
| महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ....          | २ | २ | ११ | १७४ |
| महद्वच्च ...                                       | १ | ४ | ७  | १२४ |
| मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ....                 | ४ | ४ | २१ | २४२ |
| माञ्जवर्णिकमेव च गीयते... ..                       | १ | १ | १५ | २६  |
| मायामात्रं तु कात्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात्... | ३ | २ | ३  | २६३ |
| मुक्तः प्रतिज्ञानात् ....                          | ४ | ४ | २  | ४११ |
| मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ...                         | १ | ३ | २  | ७६  |
| मुग्धेऽर्धसंपत्तिः परिशेषात् ...                   | ३ | २ | १० | २६९ |
| मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ...                        | ३ | ४ | ४९ | ३७१ |

य.

|                                           |   |   |    |     |
|-------------------------------------------|---|---|----|-----|
| यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्...             | ४ | १ | ११ | ३८० |
| यथा च तक्षोमयथा ...                       | २ | ३ | ४० | २१८ |
| यथा च प्राणादिः ...                       | २ | १ | २० | १५८ |
| यदेव विद्ययेति हि ...                     | ४ | १ | १८ | ३८६ |
| यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ...       | ३ | ३ | ३२ | ३१५ |
| यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्... | २ | ३ | ३० | २१३ |
| यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ...          | २ | ३ | ७  | १९८ |
| युक्तेः शब्दान्तराच्च ....                | २ | १ | १८ | १५७ |
| योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ... | ४ | २ | २१ | ४०० |



|                  | ( सूत्राणि । ) | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|------------------|----------------|----|-----|-----|-----|
| योनिश्च हि गीयते | ... ..         | १  | ४   | २७  | १४३ |
| योनेः शरीरम्     | ... ..         | ३  | १   | २७  | २६१ |

र.

|                                    |         |   |   |    |     |
|------------------------------------|---------|---|---|----|-----|
| रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम्          | .... .. | २ | २ | १  | १६९ |
| रश्म्यनुसारी                       | ... ..  | ४ | २ | १८ | ३९९ |
| रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात् | ... ..  | २ | २ | १५ | १७७ |
| रूपोपन्यासाच्च                     | ... ..  | १ | २ | २३ | ६६  |
| रेतःसिग्योगोऽथ                     | ... ..  | ३ | १ | २६ | २६१ |

ल.

|                                  |         |   |   |    |     |
|----------------------------------|---------|---|---|----|-----|
| लिङ्गभूयस्त्वात्तद्वि बलीयस्तदपि | ... ..  | ३ | ३ | ४४ | ३२८ |
| लिङ्गाच्च                        | .... .. | ४ | १ | २  | ३७३ |
| लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्            | ... ..  | २ | १ | ३३ | १६५ |

व.

|                                     |        |   |   |    |     |
|-------------------------------------|--------|---|---|----|-----|
| वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात्  | ... .. | १ | ४ | ५  | १२१ |
| वाक्यान्वयात्                       | ... .. | १ | ४ | १९ | १३७ |
| वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च           | ... .. | ४ | २ | १  | ३८७ |
| वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम्         | ... .. | ४ | ३ | २  | ४०२ |
| विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम्        | ... .. | २ | १ | ३१ | १६४ |
| विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात्             | ... .. | ३ | ३ | ५९ | ३३९ |
| विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह      | ... .. | ४ | ४ | १९ | ४१८ |
| विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् | ... .. | १ | १ | १३ | २५  |
| विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः...    | ... .. | २ | २ | ४४ | १९४ |
| विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात्... | ... .. | ३ | १ | १७ | २५४ |
| विद्यैव तु निर्धारणात्              | ... .. | ३ | ३ | ४७ | ३३१ |
| विधिर्वा धारणवत्                    | ... .. | ३ | ४ | २० | ३५२ |
| विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च     | ... .. | २ | ३ | १४ | २०३ |
| विप्रतिषेधाच्च                      | ... .. | २ | २ | ४५ | १९५ |
| विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम्             | ... .. | २ | २ | १० | १७४ |
| विभागः शतवत्                        | ... .. | ३ | ४ | ११ | ३४७ |

घर्णानुक्रमपत्रकम्—

१७

( सूत्राणि । )

|                                                    | भ० | पा० | सू० | पृ० |
|----------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ...  | १  | ३   | २७  | ९७  |
| विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ... ..                       | १  | २   | २   | ४९  |
| विशेषं च दर्शयति ... ..                            | ४  | ३   | १६  | ४१० |
| विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ....                | १  | २   | २२  | ६५  |
| विशेषणाच्च .... ..                                 | १  | २   | १२  | ५५  |
| विशेषानुग्रहश्च ... ..                             | ३  | ४   | ३८  | ३६३ |
| विशेषितत्वाच्च ... ..                              | ४  | ३   | ८   | ४०६ |
| विहारोपदेशात् .... ..                              | २  | ३   | ३४  | २१६ |
| विहितत्वाच्चाऽऽश्रमकर्माणि .... ..                 | ३  | ४   | ३२  | ३६० |
| वृद्धिह्वासमाकत्वमन्तर्मावादुभयसामञ्जस्यादेव       | ३  | २   | २०  | २७४ |
| वेधाद्यर्थभेदात् .... ..                           | ३  | ३   | २५  | ३०६ |
| वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ... ..                  | ४  | ३   | ६   | ४०५ |
| वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ... ..                 | २  | २   | २९  | १८५ |
| वैलक्षण्याच्च ... ..                               | २  | ४   | १९  | २३९ |
| वैशेष्यास्तु तद्वादस्तद्वादः .... ..               | २  | ४   | २२  | २४३ |
| वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ... ..                | १  | २   | २४  | ६७  |
| वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति ... | २  | १   | ३४  | १६५ |
| व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ...       | ३  | ३   | ५४  | ३३५ |
| व्यतिरेकानवस्थितेश्वानपेक्षत्वात् ... ..           | २  | २   | ४   | १७१ |
| व्यतिरेको गन्धवत् ... ..                           | २  | ३   | २६  | २११ |
| व्यतिहारो विशिष्यन्ति हीतरवत् ... ..               | ३  | ३   | ३७  | ३२१ |
| व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देशविपर्ययः ...    | २  | ३   | ३६  | २१६ |
| व्याप्तेश्च समञ्जसम् ... ..                        | ३  | ३   | ९   | २९३ |

श.

|                                                  |   |   |    |     |
|--------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| शक्तिविपर्ययात् ... ..                           | २ | ३ | ३८ | २१७ |
| शब्द इति चेन्नातः प्रमथात्प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् | १ | ३ | २८ | ९८  |
| शब्दविशेषात् .... ..                             | १ | २ | ५  | ५१  |
| शब्दश्चातोऽकामकारे ... ..                        | ३ | ४ | ३१ | ३५९ |
| शब्दाच्च ... ..                                  | २ | ३ | ४  | १९७ |
| शब्दादिभ्योऽन्तः प्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा   |   |   |    |     |

( सूत्राणि । )

|                                                 | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|-------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते...      | १  | २   | २६  | ७०  |
| शब्दादेव प्रमितः ... ..                         | १  | ३   | २४  | ९४  |
| शमदमाद्युपेतः स्यात्तथाऽपि तु तद्विधेस्तदङ्गतया |    |     |     |     |
| तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ... ..                  | ३  | ४   | २७  | ३५७ |
| शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ... ..         | १  | २   | २०  | ६२  |
| शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ... ..        | १  | १   | ३०  | ४३  |
| शास्त्रयोनित्वात् ... ..                        | १  | १   | ३   | ३   |
| शिष्टेश्च ... ..                                | ३  | ३   | ६२  | ३४१ |
| शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात्सूच्यते हि      | १  | ३   | ३४  | १०५ |
| शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः   | ३  | ४   | २   | ३४४ |
| श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्स्मृतेश्च ... ..      | १  | ३   | ३८  | ११० |
| श्रुतत्वाच्च ... ..                             | १  | १   | ११  | २१  |
| ” ... ..                                        | ३  | २   | ३९  | २८४ |
| श्रुतिश्च ... ..                                | ३  | ४   | ४६  | ३६९ |
| श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ... ..                 | २  | १   | २७  | १६२ |
| श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ... ..               | १  | २   | १६  | ५९  |
| श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ... ..           | ३  | ३   | ४९  | ३३१ |
| श्रेष्ठश्च ... ..                               | २  | ४   | ८   | २३१ |

स.

|                                                         |   |   |    |     |
|---------------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ... ..                 | ३ | ३ | ८  | २९२ |
| संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ... .. | २ | ४ | २० | २४१ |
| संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्वतिदर्श-            |   |   |    |     |
| नात् ... ..                                             | ३ | १ | १३ | २५३ |
| संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलाषाच्च ... ..                 | १ | ३ | ३६ | १०८ |
| स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ... ..                | ३ | २ | ९  | २६८ |
| संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ... ..                         | ४ | ४ | ८  | ४१३ |
| सत्त्वाच्चावरस्य ... ..                                 | २ | १ | १६ | १५६ |
| संधे सृष्टिराह हि ... ..                                | ३ | २ | १  | २६२ |
| सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ... ..                         | ३ | ४ | ५  | २२८ |
| समन्वारम्भणात् ... ..                                   | ३ | ४ | ५  | ३४५ |

( सूत्राणि । )

|                                                                    | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|--------------------------------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ....                            | २  | २   | १३  | १७६ |
| समाकर्षात् ... ..                                                  | १  | ४   | १५  | १३३ |
| समाध्यभावाच्च ... ..                                               | २  | ३   | ३९  | २१७ |
| समान एवं चाभेदात् ... ..                                           | ३  | ३   | १९  | ३०२ |
| समाननामरूपत्वाच्चाऽऽवृत्तावप्यविरोधो दर्शना-<br>त्स्मृतेश्च ... .. | १  | ३   | ३०  | १०० |
| समाना चाऽऽसृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ...                       | ४  | २   | ७   | ३९१ |
| समाहारात् .... ..                                                  | ३  | ३   | ६३  | ३४१ |
| समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ....                               | २  | २   | १८  | १७९ |
| संपत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ....                            | १  | २   | ३   | ७३  |
| संपद्याऽऽविर्भावः स्वेनशब्दात् ... ..                              | ४  | ४   | १   | ४१० |
| संबन्धादेवमन्यत्रापि ... ..                                        | ३  | ३   | २०  | ३०३ |
| संबन्धानुपपत्तेश्च ... ..                                          | २  | २   | ३८  | १९१ |
| संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः... ..                                   | ३  | ३   | २३  | ३०४ |
| संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्....                             | १  | २   | ८   | ५२  |
| सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ... ..                                    | १  | २   | १   | ४८  |
| सर्वथाऽनुपपत्तेश्च ... ..                                          | २  | २   | ३२  | १८६ |
| सर्वथाऽपि त एवोभयलिङ्गात् ... ..                                   | ३  | ४   | ३४  | ३६१ |
| सर्वधर्मोपपत्तेश्च ... ..                                          | २  | १   | ३७  | १६८ |
| सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ...                           | ३  | ३   | १   | २८६ |
| सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ...                      | ३  | ४   | २८  | ३५७ |
| सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ... ..                          | ३  | ४   | २६  | ३५६ |
| सर्वाभिदादन्यत्रेमे ... ..                                         | ३  | ३   | १०  | २९४ |
| सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ... ..                                     | २  | १   | ३०  | १६४ |
| सहकारित्वेन च ... ..                                               | ३  | ४   | ३३  | ३६० |
| सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्या-<br>दिवत् ... ..      | ३  | ४   | ४७  | ३६९ |
| साक्षाच्चोभयान्नानात् ... ..                                       | १  | ४   | २५  | १४२ |
| साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ... ..                                    | १  | २   | २८  | ७१  |
| सा च प्रशासनात्... ..                                              | १  | ३   | ११  | ८२  |
| सामाख्यापत्तिरुपपत्तेः ....                                        | ३  | १   | २२  | २५७ |

| ( सूत्राणि )                                   |     |     |     |     | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|------------------------------------------------|-----|-----|-----|-----|----|-----|-----|-----|
| सामान्यास्तु ...                               | ... | ... | ... | ... | ३  | २   | ३२  | २८१ |
| सामीप्यास्तु तद्व्यपदेशः ...                   | ... | ... | ... | ... | ४  | ३   | ९   | ४०६ |
| सांपराये तर्तव्यामावात्तथा ह्यन्ये ...         | ... | ... | ... | ... | ३  | ३   | २७  | ३११ |
| सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ...              | ... | ... | ... | ... | ३  | १   | ११  | २५२ |
| मुखविशिष्टाभिधानादेव च ...                     | ... | ... | ... | ... | १  | २   | १५  | ५८  |
| सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्मेदेन ...              | ... | ... | ... | ... | १  | ३   | ४२  | ११४ |
| सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ...                    | ... | ... | ... | ... | १  | ४   | २   | १२० |
| सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ...             | ... | ... | ... | ... | ४  | २   | ९   | ३९३ |
| सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ...        | ... | ... | ... | ... | ३  | २   | ४   | २६४ |
| सैव हि सत्यादयः ...                            | ... | ... | ... | ... | ३  | ३   | ३८  | ३२२ |
| सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ...                   | ... | ... | ... | ... | ४  | २   | ४   | ३९० |
| स्तुतयेऽनुमतिर्वा ...                          | ... | ... | ... | ... | ३  | ४   | १४  | ३४८ |
| स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ...  | ... | ... | ... | ... | ३  | ४   | २१  | ३५२ |
| स्थानविशेषात्प्रकाशादिवत् ...                  | ... | ... | ... | ... | ३  | २   | ३४  | २८२ |
| स्थानादिव्यपदेशाच्च ...                        | ... | ... | ... | ... | १  | २   | १४  | ५८  |
| स्थित्यदनाभ्यां च ...                          | ... | ... | ... | ... | १  | ३   | ७   | ७९  |
| स्पष्टो ह्येकेषाम् ...                         | ... | ... | ... | ... | ४  | २   | १३  | ३९४ |
| स्मरन्ति च ...                                 | ... | ... | ... | ... | २  | ३   | ४७  | २२३ |
| " ...                                          | ... | ... | ... | ... | ३  | १   | १४  | २५० |
| " ...                                          | ... | ... | ... | ... | ४  | १   | १०  | ३८० |
| स्मर्यते च ...                                 | ... | ... | ... | ... | ४  | २   | १४  | ३९५ |
| स्मर्यतेऽपि च लोके ...                         | ... | ... | ... | ... | ३  | १   | १९  | २५६ |
| स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ...                  | ... | ... | ... | ... | १  | २   | २५  | ६९  |
| स्मृतेश्च ...                                  | ... | ... | ... | ... | १  | २   | ६   | ५१  |
| " ...                                          | ... | ... | ... | ... | ४  | ३   | ११  | ४०७ |
| स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्यनव- |     |     |     |     |    |     |     |     |
| काशदोषप्रसङ्गात् ...                           | ... | ... | ... | ... | २  | १   | १   | १४५ |
| स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ...                 | ... | ... | ... | ... | २  | ३   | ५   | १९७ |
| स्वपक्षदोषाच्च ...                             | ... | ... | ... | ... | २  | १   | १०  | १५२ |
| " ...                                          | ... | ... | ... | ... | २  | १   | २९  | १६३ |
| स्वशब्दोन्मानाभ्यां च ...                      | ... | ... | ... | ... | २  | ३   | २२  | २०९ |

वर्णानुक्रमपत्रकम् ।

२१

( सूत्राणि । )

|                                               | अ० | पा० | सू० | पृ० |
|-----------------------------------------------|----|-----|-----|-----|
| स्वात्मना चोत्तरयोः ... ..                    | २  | ३   | २०  | २०८ |
| स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च    |    |     |     |     |
| सववच्च तन्नियमः ... ..                        | ३  | ३   | ३   | २८८ |
| स्वाप्यसंपत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ... | ४  | ४   | १६  | ४१७ |
| स्वाप्ययात् ... ..                            | १  | १   | ९   | २०  |
| स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ... ..          | ३  | ४   | ४४  | ३६८ |

ह.

|                                                 |   |   |    |     |
|-------------------------------------------------|---|---|----|-----|
| हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ....                | २ | ४ | ६  | २२९ |
| तानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगान- |   |   |    |     |
| वत्तदुक्तम् ... ..                              | ३ | ३ | २६ | ३०७ |
| हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ... ..       | १ | ३ | २५ | ९५  |
| हेयत्वावचनाच्च ... ..                           | १ | १ | ८  | १९  |